ओ३म्

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मिता

संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां समन्विता ॥

—:o:—

अजमेरनगरे

वैदिक-यन्त्रालये

मुद्रिता

संवत् १९७७, दयानन्दाब्दाः ३७

पञ्चमवारम्
५०००

मूल्य १॥)
डाकव्यय ≡)

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मिता

संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां समन्विता ॥

अजमेरनगरे

वैदिकयन्त्रालये

मुद्रिता.

संवत् १९७७, दयानन्दाब्दाः ३७

आषाढकृष्ण

पञ्चमवारम् ५००० | मूल्यम् १।।।)
डाकव्यय ≈।।

अथ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाविषयसूचीपत्रम् ॥

इति ॥

ओ३म् ॥

अथ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ॥

ओ३म् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ॥ ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ १ ॥ तैत्तिरीय आरण्यके । नवमप्रपाठके प्रथमानुवाके ॥

ब्रह्मानन्तमनादिविश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतं विद्या यस्य सनातनी निगमभृद्वैधर्म्यविध्वंसिनी । वेदाख्या विमला हिता हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा तन्नत्वा निगमार्थभाष्यमतिना भाष्यं तु तन्तन्यते ॥ १ ॥ कालरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे भाद्रमासे सिते दले । प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारम्भः कृतो मया ॥ २ ॥ दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः सरस्वत्यस्याग्रे निवसति हिता हीशशरणा । इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा वेदमननाऽस्त्यनेनेदं भाष्यं रचितमिति बोद्धव्यमनघाः ॥ ३ ॥ मनुष्येभ्यो हितायैव सत्यार्थं सत्यमानतः । ईश्वरानुग्रहेणेदं वेदभाष्यं विधीयते ॥ ४ ॥ संस्कृतप्राकृताभ्यां यद्भाषाभ्यामन्वितं शुभम् । मन्त्रार्थवर्णनं चात्र क्रियते कामधुङ्मया ॥ ५ ॥ आर्य्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी । तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा ॥ ६ ॥ येनाधुनिकभाष्यैर्ये टीकाभिर्वेददूषकाः । दोषाः सर्वे विनश्येयुरन्यथार्थविवर्णनाः ॥ ७ ॥ सत्यार्थश्च प्रकाश्येत वेदानां यः सनातनः । ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नोऽयं सुसिध्यताम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ ॥

(सहनाव०) हे सर्वशक्तिमन् ईश्वर आप की कृपा रक्षा और सहाय से हम लोग परस्पर एक दूसरे की रक्षा करें (सहनौभु०) और हम सब लोग परमप्रीति से मिल के सब से उत्तम ऐश्वर्य अर्थात् चक्रवर्त्ति राज्य आदि सामग्री से आनन्द को आप के अनुग्रह से सदा भोगें (सहवी०) हे कृपानिधे आप के सहाय से हम लोग एक दूसरे के सामर्थ्य को पुरुषार्थ से सदा बढ़ाते रहैं (तेजस्वि०) और हे प्रकाशमय सब विद्या के देनेवाले परमेश्वर आप के सामर्थ्य से ही हम लोगों का पढ़ा और पढ़ाया सब संसार

में प्रकाश को प्राप्त हो । और हमारी विद्या सदा बढ़ती रहै (माविद्विषा०) हे प्रीति के उत्पादक आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग परस्पर विरोध कभी न करें किन्तु एक दूसरे के मित्र होके सदा वर्त्तें (ओं शान्तिः०) हे भगवन् आपकी करुणा से हम लोगों के तीन ताप एक (आध्यात्मिक) जो कि ज्वरादि रोगों से शरीर में पीड़ा होती है दूसरा (आधिभौतिक) जो दूसरे प्राणियों से होता है और तीसरा (आधिदैविक) जो कि मन और इन्द्रियों के विकार अशुद्धि और चञ्चलता से क्लेश होता है इन तीनों तापों को आप शान्त अर्थात् निवारण कर दीजिये जिस से हम लोग सुख से इस वेदभाष्य को यथावत् बना के सब मनुष्यों का उपकार करें यही आप से चाहते हैं सो कृपा करके हम लोगों को सब दिनों के लिये सहाय कीजिये ॥ १ ॥

(ब्रह्मानन्त०) जो ब्रह्म अनन्त आदि विशेषणों से युक्त है जिस की वेदविद्या सनातन है उसको अत्यन्त प्रेम भक्ति से मैं नमस्कार करके इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ करता हूं ॥ १ ॥ (कालरा०) विक्रम के संवत् १९३३ भाद्रमास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपद् रविवार के दिन इस वेदभाष्य का आरम्भ मैंने किया है ॥ २ ॥ (दयाया०) सब सज्जन लोगों को यह बात विदित हो कि जिन का नाम स्वामी दयानन्द सरस्वती है उन्हों ने इस वेदभाष्य को रचा है ॥ ३ ॥ (मनुष्या०) ईश्वर की कृपा के सहाय से सब मनुष्यों के हित के लिये इस वेदभाष्य का विधान मैं करता हूं ॥ ४ ॥ (संस्कृतभा०) सो यह वेदभाष्य दो भाषाओं में किया जाता है एक संस्कृत और दूसरी प्राकृत इन दोनों भाषाओं में वेदमन्त्रों के अर्थ का वर्णन मैं करता हूं ॥ ५ ॥ (आर्य्याणां०) इस वेदभाष्य में अप्रमाण लेख कुछ भी नहीं किया जाता है किन्तु जो ब्रह्मा से ले के व्यासपर्य्यन्त मुनि और ऋषि हुए हैं उन की जो व्याख्यारीति है उस से युक्त ही बनाया जायगा ॥ ६ ॥ (येनाधु०) यह भाष्य ऐसा होगा कि जिससे वेदार्थ से विरुद्ध अब के बने भाष्य और टीकाओं से वेदों में भ्रम से जो मिथ्या दोषों के आरोप हुए हैं वे सब निवृत्त हो जायंगे ॥ ७ ॥ (सत्यार्थस्य०) और इस भाष्य में वेदों का जो सत्य अर्थ है सो संसार में प्रसिद्ध हो कि वेदों के सनातन अर्थ को सब लोग यथावत् जान लें इसलिये यह प्रयत्न मैं करता हूं सो परमेश्वर के सहाय से यह काम अच्छे प्रकार सिद्ध हो यही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है ॥ ८ ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ॥ यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥१॥ यजुर्वेदे । अध्याये ३० । मन्त्रः ३ ॥

हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप हे परमकारुणिक हे अनन्तविद्य हे विद्याविज्ञानप्रद (देव) हे सूर्यादिसर्वजगद्विद्याप्रकाशक हे सर्वानन्दप्रद (सवितः) हे सकलजगदुत्पादक (नः) अस्माकम् (विश्वानि) सर्वाणि (दुरितानि) दुःखानि सर्वान्दुष्टगुणांश्च (परासुव) दूरे गमय (यद्भद्रं) यत्कल्याणं सर्वदुःखरहितं सत्यविद्याप्राप्त्याऽभ्युदयनिःश्रेयससुखकरं भद्रमस्ति (तन्नः) अस्मभ्यं (आसुव) आसमन्तादुत्पादय कृपया प्रापय । अस्मिन् वेदभाष्यकरणानुष्ठाने ये दुष्टा विघ्नास्तान् प्राप्तेः पूर्वमेव परासुव दूरं गमय यच्च शरीरबुद्धिसहायकौशलसत्यविद्याप्रकाशादि भद्रमस्ति, तत्स्वकृपाकटाक्षेण हे परब्रह्मन् नोऽस्मभ्यं प्रापय भवत्कृपाकटाक्षसुसहायप्राप्त्या सत्यविद्योज्ज्वलं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं भवद्रचितानां वेदानां यथार्थं भाष्यं वयं विदधीमहि । तदिदं सर्वमनुष्योपकाराय भवत्कृपया भवेत् । अस्मिन् वेदभाष्ये सर्वेषां मनुष्याणां परमश्रद्धयात्यन्ता प्रीतिर्यथा स्यात् तथैव भवता कार्यमित्योम् ॥

भाषार्थ ॥

हे सत्यस्वरूप हे विज्ञानमय हे सदानन्दस्वरूप हे अनन्तसामर्थ्ययुक्त हे परमकृपालो हे अनन्तविद्यामय हे विज्ञानविद्याप्रद (देव) हे परमेश्वर आप सूर्यादि सब जगत् का और विद्या का प्रकाश करने वाले हो तथा सब आनन्दों के देने वाले हो (सवितः) हे सर्वजगदुत्पादक सर्वशक्तिमन् आप सब जगत् को उत्पन्न करने वाले हैं (नः) हमारे (विश्वानि) सब जो (दुरितानि) दुःख हैं उन को और हमारे सब दुष्ट गुणों को कृपा से आप (परासुव) दूर कर दीजिये अर्थात् हम से उन को और हम को उन से सदा दूर रखिये (यद्भद्रं) और जो सब दुःखों से रहित कल्याण है जो कि सब सुखों से युक्त भोग है उस को हमारे लिये सब दिनों में प्राप्त कीजिये सो सुख दो प्रकार का है एक जो सत्यविद्या की प्राप्ति में अभ्युदय अर्थात् चक्रवर्त्ति राज्य इष्ट मित्र धन पुत्र स्त्री और शरीर से अत्यन्त उत्तम सुख का होना और दूसरा जो निःश्रेयस सुख है कि जिस को मोक्ष कहते हैं और जिस में ये दोनों सुख होते हैं उसी को भद्र कहते हैं (तन्न आसुव) उस सुख को आप हमारे लिये सब प्रकार से प्राप्त करिये और आप की कृपा के सहाय से सब विघ्न हम से दूर रहैं कि जिससे

इस वेदभाष्य के करने का हमारा अनुष्ठान सुख से पूरा हो इस अनुष्ठान में हमारे शरीर में आरोग्य बुद्धि सज्जनों का सहाय चतुरता और सत्यविद्या का प्रकाश सदा बढ़ता रहै इस भद्रस्वरूप सुख को आप अपनी सामर्थ्य से ही हम को दीजिये जिस कृपा के सामर्थ्य से हम लोग सत्यविद्या से युक्त जो आप के बनाये वेद हैं उन के यथार्थ अर्थ से युक्त भाष्य को सुख से विधान करें सो यह वेदभाष्य आप की कृपा से संपूर्ण हो के सब मनुष्यों का सदा उपकार करनेवाला हो और आप अन्तर्यामी की प्रेरणा से सब मनुष्यों का इस वेदभाष्य में श्रद्धासहित अत्यन्त उत्साह हो जिससे वेदभाष्य करने में जो हम लोगों का प्रयत्न है सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो इसी प्रकार से आप हमारे और सब जगत् के ऊपर कृपादृष्टि करते रहैं जिससे इस बड़े सत्य काम को हम लोग सहज से सिद्ध करें ॥ १ ॥

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ॥ स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥ यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ॥ दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ २ ॥ यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ॥ अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥ यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ॥ दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ४ ॥ अथर्ववेदसंहितायाम् । काण्डे १० । प्रपाठके २३ । अनुवाके ४ । मं० १ । ३२ । ३३ । ३४ ॥

भाष्यम् ॥

(यो भूतं च०) यो भूतभविष्यद्वर्तमानान् कालान् (सर्वं यश्चाधि०) सर्वं जगच्चाधितिष्ठति सर्वाधिष्ठाता सन् कालादूर्ध्वं विराजमानोऽस्ति । (स्वर्य०) यस्य च केवलं निर्विकारं स्वः सुखस्वरूपमस्ति यस्मिन् दुःखं लेशमात्रमपि नास्ति यदानन्दघनं ब्रह्मास्ति (तस्मै ज्ये०) तस्मै ज्येष्ठाय सर्वोत्कृष्टाय ब्रह्मणे महतेऽत्यन्तं नमोऽस्तु नः ॥ १ ॥ (यस्य भू०) यस्य भूमिः प्रमा यथार्थज्ञानसाधनं पादाविवास्ति (अन्तरिक्षमु०) अन्तरिक्षं यस्योदरतुल्यमस्ति यश्च सर्वस्मादूर्ध्वं सूर्यरश्मिप्रकाशमयमाकाशं दिवं मूर्द्धानं शिरोवच्चक्रे कृतवानस्ति तस्मै० ॥ २ ॥ (यस्य सू०) यस्य सूर्यश्चन्द्रमाश्च

पुनः पुनः सर्गादौ नवीने चक्षुषी इव भवतः । योऽग्निमास्यं मुखवच्चक्रे कृतवानस्ति । तस्मै० ॥ ३ ॥ (यस्य वातः०) वातः समष्टिर्वायुर्यस्य प्राणापानाविवास्ति (अङ्गिरसः) अङ्गिरा अङ्गारा अङ्कना अञ्चना इति निरुक्ते अ० ३ । खं० १७ ॥ प्रकाशिकाः किरणाश्चक्षुषी इव भवतः । यो दिशः प्रज्ञानीः प्रज्ञापिनीर्व्यवहारसाधिकाश्चक्रे तस्मै ह्यनन्तविद्याय ब्रह्मणे महते सततं नमोस्तु ॥ ४ ॥

भाषार्थ ॥

(यो भूतं च०) जो परमेश्वर एक भूतकाल जो व्यतीत हो गया है (च) अनेक चकारों से दूसरा जो वर्त्तमान है (भव्यं च) और तीसरा भविष्यत् जो होनेवाला है इन तीनों कालों के बीचमें जो कुछ होता है उन सब व्यवहारों को वह यथावत् जानता है (सर्वं यश्चाधितिष्ठति) तथा जो सब जगत् को अपने विज्ञान से ही ज्ञाता रचता पालन लय कर्त्ता और संसार के सब पदार्थों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है (स्वर्यस्य च केवलं) जिस का सुख ही केवल स्वरूप है जो कि मोक्ष और व्यवहार सुख का भी देने वाला है (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) ज्येष्ठ अर्थात् सब से बड़ा सब सामर्थ्य से युक्त ब्रह्म जो परमात्मा है उस को अत्यन्त प्रेम से हमारा नमस्कार हो जो कि सब कालों के ऊपर विराजमान है, जिस को लेशमात्र भी दुःख नहीं होता उस आनन्दघन परमेश्वर को हमारा नमस्कार प्राप्त हो ॥ १ ॥ (यस्य भूमिः प्रमा०) जिस परमेश्वर के होने और ज्ञान में भूमि जो पृथिवी आदि पदार्थ हैं सो प्रमा अर्थात् यथार्थज्ञान की सिद्धि होने का दृष्टान्त है, तथा जिसने अपनी सृष्टि में पृथिवी को पादस्थानी रचा है (अन्तरिक्षमुतोदरम्) अन्तरिक्ष जो पृथिवी और सूर्य के बीच में आकाश है सो जिसने उदरस्थानी किया है (दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं) और जिसने अपनी सृष्टि में दिव अर्थात् प्रकाश करनेवाले पदार्थों को सब के ऊपर मस्तकस्थानी किया है अर्थात् जो पृथिवी से लेके सूर्यलोकपर्यन्त सब जगत् को रच के उसमें व्यापक होके जगत् के सब अवयवों में पूर्ण होके सब को धारण कर रहा है (तस्मै०) उस परब्रह्म को हमारा अत्यन्त नमस्कार हो ॥ २ ॥ (यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्र०) और जिसने नेत्रस्थानी सूर्य और चन्द्रमा को किया है जो कल्प २ के आदि में सूर्य और चन्द्रमादि पदार्थों को वारंवार नये २ रचता है (अग्निं यश्चक्र आस्यं) और जिसने मुखस्थानी अग्नि को उत्पन्न किया है (तस्मै०) उसी ब्रह्म को हम लोगों का नमस्कार हो ॥ ३ ॥ (यस्य वातः प्राणापानौ) जिसने ब्रह्माण्ड के वायु को प्राण और अपान की नाईं किया

है (चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्) तथा जो प्रकाश करनेवाली किरण हैं वे चक्षु की नाईं जिस ने की हैं अर्थात् उनसे ही रूप ग्रहण होता है (दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्त०) और जिस ने दश दिशाओं को सब व्यवहारों के सिद्ध करनेवाली बनाई हैं ऐसा जो अनन्त विद्यायुक्त परमात्मा सब मनुष्यों का इष्टदेव है उस ब्रह्म को निरन्तर हमारा नमस्कार हो ॥ ४ ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः । यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥ यजुः० अ० २५ । मं० १३ ॥

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳशान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्मशान्तिः सर्वꣳशान्तिः शान्तिरेवशान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ ६ ॥ यतोयतः समीहसे ततो नो अभयङ्कुरु । शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥ ७ ॥ यजु० अ० ३६ । मं० १७ । २२ ॥

यस्मिन्नृचः सामयजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः । यस्मिꣳश्चित्तꣳसर्वमोतं प्रजानां तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ८ ॥ यजुः० अ० ३४ । मं० ५ ॥

भाष्यम् ॥

(य आत्मदाः) य आत्मदा विद्याविज्ञानप्रदः (बलदाः) यः शरीरेन्द्रियप्राणात्ममनसां पुष्ट्युत्साहपराक्रमदृढत्वप्रदः (यस्य०) यं विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांस उपासते यस्यानुशासनं च मन्यन्ते । (यस्यच्छाया०) यस्याश्रय एव मोक्षोऽस्ति यस्यच्छायाऽकृपाऽनाश्रयो मृत्युर्जन्ममरणकारकोऽस्ति (कस्मै०) तस्मै कस्मै प्रजापतये प्रजापतिर्वै कस्तस्मै हविषा विधेमेति । शतपथब्राह्मणे । काण्डे ७ अ० ३ ॥ सुखस्वरूपाय ब्रह्मणे देवाय प्रेमभक्तिरूपेण हविषा वयं विधेम सततं तस्यैवोपासनं कुर्वीमहि ॥ ५ ॥ (द्यौः शान्तिः०) हे सर्वशक्तिमन् परमेश्वरः त्वद्भक्त्या त्वत्कृपया च द्यौरन्तरिक्षं पृथिवी जलमोषधयो वनस्पतयो विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसो ब्रह्मवेदः सर्वं जगच्चास्मदर्थं

शान्तं निरुपद्रवं सुखकारकं सर्वदास्तु । अनुकूलं भवतु नः । येन वयं वेदभाष्यं सुखेन विदधीमहि । हे भगवन्ननया सर्वशान्त्या विद्याबुद्धिविज्ञानारोग्यसर्वोत्तमसहायैर्भवान् मां सर्वथा वर्धयतु तथा सर्वं जगच्च ॥ ६ ॥ (यतोय०) हे परमेश्वर यतो यतो देशात्त्वं समीहसे जगद्रचनपालनार्थां चेष्टां करोषि ततस्ततो देशान्नोऽस्मानभयं कुरु । यतः सर्वथा सर्वेभ्यो देशेभ्यो भयरहिता भवत्कृपया वयं भवेम (शन्नः कु०) तथा तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोऽस्मानभयं कुरु । एवं सर्वेभ्यो देशेभ्यस्तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोऽस्मान् शं कुरु धर्मार्थकाममोक्षादिसुखयुक्तान् स्वानुग्रहेण सद्यः संपादय ॥ ७ ॥ (यस्मिन्नृ०) हे भगवन् कृपानिधे यस्मिन्मनसि ऋचः सामानि यजूंषि च प्रतिष्ठितानि भवन्ति यस्मिन् यथार्थमोक्षविद्या च प्रतिष्ठिता भवति । (यस्मिंश्चि०) यस्मिंश्च प्रजानां चित्तं स्मरणात्मकं सर्वमोतमस्ति सूत्रे मणिगणवत्प्रोतमस्ति । कस्यां क इव रथनाभौ अरा इव तन्मे मम मनो भवत्कृपया शिवसंकल्पं कल्याणप्रियं सत्यार्थप्रकाशं चास्तु येन वेदानां सत्यार्थः प्रकाश्येत हे सर्वविद्यामय सर्वार्थवित् मदुपरि कृपां विधेहि यया निर्विघ्नेन वेदार्थभाष्यं सत्यार्थं पूर्णं वयं कुर्वीमहि । भवद्यशो वेदानां सत्यार्थं विस्तारयेमहि । यं दृष्ट्वा वयं सर्वे सर्वोत्कृष्टगुणा भवेम । ईदृशीं करुणामस्माकमुपरि करोतु भवान् । एतदर्थं प्रार्थ्यतेऽनया प्रार्थनयाऽस्मान् शीघ्रमेवानुगृह्णातु । यत इदं सर्वोपकारकं कृत्यं सिद्धं भवेत् ॥

भाषार्थ ॥

(य आत्मदा:०) जो जगदीश्वर अपनी कृपा से ही अपने आत्मा का विज्ञान देने वाला है जो सब विद्या और सत्य सुखों की प्राप्ति करानेवाला है जिस की उपासना सब विद्वान् लोग करते आये हैं और जिसका अनुशासन जो वेदोक्त शिक्षा है उस को अत्यन्त मान्य से सब शिष्ट लोग स्वीकार करते हैं जिस का आश्रय करना ही मोक्षसुख का कारण है और जिसकी अकृपा ही जन्ममरणरूप दुःखों को देनेवाली है अर्थात् ईश्वर और उसका उपदेश जो सत्यविद्या सत्यधर्म और सत्य मोक्ष हैं उनको नहीं मानना और जो वेद से विरुद्ध हो के अपनी कपोलकल्पना अर्थात् दुष्ट इच्छा से बुरे कामों में वर्त्तता है उस पर ईश्वर की अकृपा होती है वही सब दुःखों का कारण है और जिसकी आज्ञापालन ही सब सुखों का मूल है (कस्मै०) जो सुखस्वरूप

और सब प्रजा का पति है उस परमेश्वर देव की प्राप्ति के लिये सत्य प्रेम भक्तिरूप सामग्री से हम लोग नित्य भजन करें जिससे हम लोगों को किसी प्रकार का दुःख कभी न हो ॥ ५ ॥ (द्यौः शा०) हे सर्वशक्तिमन् भगवन् ! आप की भक्ति और कृपा से ही द्यौः जो सूर्यादि लोकों का प्रकाश और विज्ञान है यह सब दिन हमको सुखदायक हो तथा जो आकाश में पृथिवी जल ओषधि वनस्पति वट आदि वृक्ष जो संसार के सब विद्वान् ब्रह्म जो वेद ये सब पदार्थ और इनसे भिन्न भी जो जगत् है वे सब सुख देने-वाले हम को सब काल में हों कि सब पदार्थ सब दिन हमारे अनुकूल रहें, जिससे इस वेदभाष्य के काम को सुखपूर्वक हम लोग सिद्ध करें । हे भगवन् ! इस सब शान्ति से हम को विद्या बुद्धि विज्ञान आरोग्य और सब उत्तम सहाय को कृपा से दीजिये तथा हम लोगों और सब जगत् को उत्तम गुण और सुख के दान से बढ़ाइये ॥ ६ ॥ (यतोय०) हे परमेश्वर ! आप जिस २ देश से जगत् के रचन और पालन के अर्थ चेष्टा करते हैं उस २ देश से भय से रहित करिये अर्थात् किसी देश से हम को किञ्चित् भी भय न हो (शन्नः कुरु०) वैसे ही सब दिशाओं में जो आप की प्रजा और पशु हैं उन से भी हम को भयरहित करें तथा हम से उनको सुख हो और उनको भी हम से भय न हो तथा आप की प्रजा में जो मनुष्य और पशु आदि हैं उन सब से जो धर्म अर्थ काम और मोक्ष पदार्थ हैं उन को आप के अनुग्रह से हम लोग शीघ्र प्राप्त हों जिस से मनुष्यजन्म के धर्मादि जो फल हैं वे सुख से सिद्ध हों ॥ ७ ॥ (यस्मिन्नृचः०) हे भगवन् कृपानिधे ! (ऋचः) ऋग्वेद (साम) सामवेद (यजूँषि) यजुर्वेद और इन तीनों के अन्तर्गत होने से अथर्ववेद भी ये सब जिसमें स्थिर होते हैं तथा जिसमें मोक्षविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या और सत्यासत्य का प्रकाश होता है (यस्मिँश्चि०) जिसमें सब प्रजा का चित्त जो स्मरण करने की वृत्ति है सो सब गँठी हुई है जैसे माला के मणिएं सूत्र में गंठे हुये होते हैं और जैसे रथ के पहिये के बीच के भाग में अरे लगे रहते हैं कि उस काष्ठ में जैसे अन्य काष्ठ लगे रहते हैं ऐसा जो मेरा मन है सो आप की कृपा से शुद्ध हो तथा कल्याण जो मोक्ष और सत्य धर्म का अनुष्ठान तथा असत्य के परित्याग करने का संकल्प जो इच्छा है इससे युक्त सदा हो जिस मन से हम लोगों को आप के किये वेदों के सत्य अर्थ का यथावत् प्रकाश हो हे सर्वविद्यामय सर्वार्थवित् जगदीश्वर ! हम पर आप कृपा धारण करें जिससे हम लोग विघ्नों से सदा अलग रहें और सत्य अर्थ सहित इस वेदभाष्य को संपूर्ण बना के आप के बनाए वेदों के सत्य अर्थ की विस्ताररूप जो कीर्ति है उस को जगत् में सदा के लिये बढ़ावें और इस भाष्य को देख के वेदों के अनुसार सत्य का अनुष्ठान करके हम सब लोग श्रेष्ठ गुणों

से युक्त सदा हों इसलिये हम लोग आप की प्रार्थना प्रेम से सदा करते हैं इसको आप कृपा से शीघ्र सुनें जिससे यह जो सब का उपकार करनेवाला वेदभाष्य का अनुष्ठान है सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो ॥

इतीश्वरप्रार्थनाविषयः ॥

अथ वेदोत्पत्तिविषयः ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ १ ॥ यजु० अ० ३१ । मं० ७ ॥

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् । सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् । स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १० । प्रपा० २३ । अनु० ४ । मं० २० ॥

(तस्माद्यज्ञात्स०) तस्माद्यज्ञात्सच्चिदानन्दादिलक्षणात्पूर्णात्पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वोपास्यात्सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋचः) ऋग्वेदः (यजुः) यजुर्वेदः (सामानि) सामवेदः (छन्दांसि) अथर्ववेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम् । सर्वहुत इति वेदानामपि विशेषणं भवितुमर्हति वेदाः सर्वहुताः । यतः सर्वमनुष्यैर्होतुमादातुं ग्रहीतुं योग्याः सन्त्यतः । जज्ञिरे अजायतेति क्रियाद्वयं वेदानामनेकविद्यावत्त्वद्योतनार्थम् । तथा तस्मादिति पदद्वयमीश्वरादेव वेदा जाता इत्यवधारणार्थम् ॥ वेदानां गायत्र्यादिच्छन्दोन्वितत्वात्पुनश्छन्दांसीतिपदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्तिं ज्ञापयतीत्यवधेयम् । यज्ञो वै विष्णुः ॥ श० कां० १ । अ० १ । ब्रा० १ । कं० १३ । इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । य० अ० ५ । मं० १५ । इति सर्वजगत्कर्त्तृत्वं विष्णौ परमेश्वर एव घटते नान्यत्र । वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः परमेश्वरः ॥ १ ॥ (यस्मादृचो०) यस्मात्सर्वशक्तिमतः ऋचः ऋग्वेदः (अपातक्षन्) अपातक्षत् उत्पन्नोऽस्ति यस्मात् परब्रह्मणः (यजुः) यजुर्वेदः अपाकषन् प्रादुर्भूतोऽस्ति । तथैव यस्मात्सामानि सामवेदः (आङ्गिरसः) अथर्ववेदश्चोत्पन्नोऽस्ति ।

एवमेव यस्येश्वरस्याङ्गिरसोऽथर्ववेदो मुखं मुखवत् मुख्योऽस्ति । सामानि लोमानीव सन्ति । यजुर्यस्य हृदयमृचः प्राणश्चेति रूपकालङ्कारः । यस्माच्चत्वारो वेदा उत्पन्नाः स कतमः स्विद्देवोऽस्ति तं त्वं ब्रूहीति प्रश्नः । अस्योत्तरम् (स्कम्भं तं०) तं स्कम्भं सर्वजगद्धारकं परमेश्वरं त्वं जानीहीति तस्मात्स्कम्भात्सर्वाधारात्परमेश्वरात् पृथक् कश्चिदप्यन्यो देवो वेदकर्त्ता नैवास्तीति मन्तव्यम् ॥ २ ॥ एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ॥ श० कां० १४ । प्र० ५ । ब्रा० ४ । कं० १० ॥ अस्यायमभिप्रायः । याज्ञवल्क्योऽभिवदति । हे मैत्रेयि ! महत आकाशादपि बृहतः परमेश्वरस्यैव सकाशादृग्वेदादिवेदचतुष्टयं (निःश्वसितं) निःश्वासवत्सहजतया निःसृतमस्तीति वेद्यम् । यथा शरीराच्छ्वासो निःसृत्य पुनस्तदेव प्रविशति तथैवेश्वराद्वेदानां प्रादुर्भावतिरोभावौ भवत इति निश्चयः ॥

भाषार्थ ॥

प्रथम ईश्वर को नमस्कार और प्रार्थना करके पश्चात् वेदों की उत्पत्ति का विषय लिखा जाता है कि वेद किसने उत्पन्न किये हैं (तस्मात् यज्ञात्स०) सत् जिसका कभी नाश नहीं होता चित् जो सदा ज्ञानस्वरूप है, जिसको अज्ञान का लेश भी कभी नहीं होता आनन्द जो सदा सुखस्वरूप और सब को सुख देने वाला है इत्यादि लक्षणों से युक्त पुरुष जो सब जगह में परिपूर्ण हो रहा है जो सब मनुष्यों को उपासना के योग्य इष्टदेव और सब सामर्थ्य से युक्त है उसी परब्रह्म से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद और (छन्दांसि) इस शब्द से अथर्व भी ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि वेदों को ग्रहण करें और वेदोक्त रीति से ही चलें (जज्ञिरे) और (अजायत) इन दोनों क्रियाओं के अधिक होने से वेद अनेक विद्याओं से युक्त हैं ऐसा जाना जाता है वैसे ही (तस्मात्) इन दोनों पदों के अधिक होने से यह निश्चय जानना चाहिये कि ईश्वर से ही वेद उत्पन्न हुए हैं किसी मनुष्य से नहीं । वेदों में सब मन्त्र गायत्र्यादि छन्दों से युक्त ही हैं फिर (छन्दांसि) इस पद के कहने से चौथा जो अथर्ववेद है उस की उत्पत्ति का प्रकाश होता है । शतपथ आदि ब्राह्मण और वेदमन्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि यज्ञ शब्द से विष्णु का और विष्णु शब्द से सर्वव्यापक जो परमेश्वर है उसी का ग्रहण होता है क्योंकि सब जगत् की उत्पत्ति करनी परमेश्वर में ही घटती है अन्यत्र नहीं ॥ १ ॥ (यस्मादृचो अपा०) जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर उसी से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद

(सामानि) सामवेद (आङ्गिरसः) अथर्ववेद ये चारों उत्पन्न हुए हैं इसी प्रकार रूपकालङ्कार से वेदों की उत्पत्ति का प्रकाश ईश्वर करता है कि अथर्ववेद मेरे मुख की समतुल्य, सामवेद लोमों के समान, यजुर्वेद हृदय के समान और ऋग्वेद प्राण की नाईं है । (ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) कि चारों वेद जिससे उत्पन्न हुए हैं सो कौनसा देव है उसको तुम मुझ से कहो । इस प्रश्न का यह उत्तर है कि (स्कम्भं तं०) जो सब जगत् का धारणकर्त्ता परमेश्वर है उसका नाम स्कम्भ है उसी को तुम वेदों का कर्त्ता जानो और यह भी जानो कि उस को छोड़ के मनुष्यों को उपासना करने के योग्य दूसरा कोई इष्टदेव नहीं है क्योंकि ऐसा अभागा कौन मनुष्य है जो वेदों के कर्त्ता सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को छोड़ के दूसरे को परमेश्वर मान के उपासना करै ॥ २ ॥ (एवं वा अरे०) याज्ञवल्क्य महाविद्वान् जो महर्षि हुए हैं वह अपनी पण्डिता मैत्रेयी स्त्री को उपदेश करते हैं कि हे मैत्रेयि ! जो आकाशादि से भी बड़ा सर्वव्यापक परमेश्वर है उससे ही ऋक् यजुः साम और अथर्व ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं जैसे मनुष्य के शरीर से श्वासा बाहर को आकर फिर भीतर को जाती है इसी प्रकार सृष्टि के आदि में ईश्वर वेदों को उत्पन्न करके संसार में प्रकाश करता है और प्रलय में संसार में वेद नहीं रहते, परन्तु उस के ज्ञान के भीतर वे सदा बने रहते हैं बीजाङ्कुरवत् जैसे बीज में अङ्कुर प्रथम ही रहता है वही वृक्षरूप हो के फिर भी बीज के भीतर रहता है इसी प्रकार से वेद भी ईश्वर के ज्ञान में सब दिन बने रहते हैं उन का नाश कभी नहीं होता क्योंकि वह ईश्वर की विद्या है इस से इनको नित्य ही जानना ॥

अत्र केचिदाहुः । निरवयवात्परमेश्वराच्छब्दमयो वेदः कथमुत्पद्येतेति । अत्र ब्रूमः । न सर्वशक्तिमतीश्वरे शङ्केयमुपपद्यते । कुतः । मुखप्राणादिसाधनमन्तरापि तस्य कार्यं कर्त्तुं सामर्थ्यस्य सदैव विद्यमानत्वात् अन्यच्च यथा मनसि विचारणावसरे प्रश्नोत्तरादिशब्दोच्चारणं भवति तथेश्वरेपि मन्यताम् । योस्ति खलु सर्वशक्तिमान् स नैव कस्यापि सहायं कार्यं कर्त्तुं गृह्णाति । यथास्मदादीनां सहायेन विना कार्यं कर्त्तुं सामर्थ्यं नास्ति । न चैवमीश्वरे । यदा निरवयवेनेश्वरेण सकलं जगद्रचितं तदा वेदरचने का शङ्कास्ति । कुतः । वेदस्य सूक्ष्मरचनवज्जगत्यपि महदाश्चर्यभूतं रचनमीश्वरेण कृतमस्त्यतः ॥

भाषार्थ ॥

इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसा प्रश्न करते हैं कि ईश्वर निराकार है उससे शब्दरूप वेद कैसे उत्पन्न हो सके हैं इस का यह उत्तर है कि परमेश्वर शक्तिमान् है,

उस में ऐसी शङ्का करनी सर्वथा व्यर्थ है क्योंकि मुख और प्राणादि साधनों के विना भी परमेश्वर में मुख और प्राणादि के काम करने का अनन्त सामर्थ्य है कि मुख के विना मुख का काम और प्राणादि के विना प्राणादि का काम वह अपने सामर्थ्य से यथावत् कर सक्ता है यह दोष तो हम जीव लोगों में आसक्ता है कि मुखादि के विना मुखादि का कार्य नहीं करसक्ते हैं क्योंकि हम लोग अल्प सामर्थ्य वाले हैं और इसमें यह दृष्टान्त भी है कि मन में मुखादि अवयव नहीं हैं तथापि जैसे उस के भीतर प्रश्नोत्तर आदि शब्दों का उच्चारण मानस व्यापार में होता है वैसे ही परमेश्वर में भी जानना चाहिये और जो सम्पूर्ण सामर्थ्य वाला है सो किसी कार्य्य के करने में किसी का सहाय ग्रहण नहीं करता क्योंकि वह अपने सामर्थ्य से ही सब कार्य्यों को कर सक्ता है जैसे हम लोग विना सहाय से कोई काम नहीं कर सकते वैसा ईश्वर नहीं है जैसे देखो कि जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था उस समय निराकार ईश्वर ने सम्पूर्ण जगत् को बनाया तब वेदों के रचने में क्या शङ्का रही जैसे वेदों में अत्यन्त सूक्ष्म विद्या का रचन ईश्वर ने किया है वैसे ही जगत् में भी नेत्र आदि पदार्थों का अत्यन्त आश्चर्यरूप रचन किया है तो क्या वेदों की रचना निराकार ईश्वर नहीं कर सकता ॥

ननु जगद्रचने तु खल्वीश्वरमन्तरेण न कस्यापि सामर्थ्यमस्ति वेदरचने त्वन्यस्यान्यग्रन्थरचनवत् स्यादिति । अत्रोच्यते । ईश्वरेण रचितस्य वेदस्याध्ययनानन्तरमेव ग्रन्थरचने कस्यापि सामर्थ्यं स्यान्न चान्यथा । नैव कश्चिदपि पठनश्रवणमन्तरा विद्वान् भवति । यथेदानीम् । किञ्चिदपि शास्त्रं पठित्वोपदेशं श्रुत्वा व्यवहारं च दृष्ट्वैव मनुष्याणां ज्ञानं भवति । तद्यथा । कस्यचित्सन्तानमेकान्ते रक्षयित्वाऽन्नपानादिकं युक्त्या दद्यात्तेन सह भाषणादिव्यवहारं लेशमात्रमपि न कुर्य्याद्यावत्तस्य मरणं न स्यात् । यथा तस्य किञ्चिदपि यथार्थं ज्ञानं न भवति । यथा च महारण्यस्थानां मनुष्याणामुपदेशमन्तरा पशुवत्प्रवृत्तिर्भवति । तथैवादिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं वेदोपदेशमन्तरा सर्वमनुष्याणां प्रवृत्तिर्भवेत् । पुनर्ग्रन्थरचनस्य तु का कथा ॥

भाषार्थ ॥

प्रश्न जगत् के रचने में तो ईश्वर के विना किसी जीव का सामर्थ्य नहीं है परन्तु जैसे व्याकरण आदि शास्त्र रचने में मनुष्यों का सामर्थ्य होता है वैसे वेदों के रचने में भी जीव का सामर्थ्य हो सकता है । उत्तर—नहीं किन्तु जब ईश्वर ने प्रथम वेद रचे हैं उन को पढ़ने के पश्चात् ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य किसी

मनुष्य को हो सकता है उसके पढ़ने और ज्ञान से विना कोई भी मनुष्य विद्वान् नहीं हो सकता जैसे इस समय में किसी शास्त्र को पढ़ के किसी का उपदेश सुनके और मनुष्यों के परस्पर व्यवहारों को देख के ही मनुष्यों को ज्ञान होता है अन्यथा कभी नहीं होता। जैसे किसी मनुष्य के बालक को जन्म से एकान्त में रखके उसको अन्न और जल युक्ति से देवे उसके साथ भाषणादि व्यवहार लेशमात्र भी कोई मनुष्य न करे कि जब तक उसका मरण न हो तब तक उसको इसी प्रकार से रक्खे तो मनुष्यपने का भी ज्ञान नहीं हो सकता तथा जैसे बड़े वन में मनुष्यों को विना उपदेश के यथार्थ ज्ञान नहीं होता किन्तु पशुओं की नाईं उनकी प्रवृत्ति देखने में आती है वैसे ही वेदों के उपदेश के विना भी सब मनुष्यों की प्रवृत्ति हो जाती फिर ग्रन्थ रचने के सामर्थ्य की तो कथा क्या ही कहनी है। इससे वेदों को ईश्वर के रचित मानने से ही कल्याण है अन्यथा नहीं॥

नैवं वाच्यम्। ईश्वरेण मनुष्येभ्यः स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं तच्च सर्वग्रन्थेभ्य उत्कृष्टमस्ति नैव तेन विना वेदानां शब्दार्थसम्बन्धानामपि ज्ञानं भवितुमर्हति तदुन्नत्या ग्रन्थरचनमपि करिष्यन्त्येव पुनः किमर्थं मन्यते वेदोत्पादनमीश्वरेण कृतमिति। एवं प्राप्ते वदामहे। नैव पूर्वोक्तायाशिक्षितायैकान्ते रक्षिताय बालकाय महारण्यस्थेभ्यो मनुष्येभ्यश्चेश्वरेण स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं किम्। कथं नास्मदादयोऽप्यन्येभ्यः शिक्षाग्रहणमन्तरेण वेदाध्ययनेन च विना पण्डिता भवन्ति। तस्मात् किमागतं न शिक्षया विनाध्ययनेन च स्वाभाविकज्ञानमात्रेण कस्यापि निर्वाहो भवितुमर्हति। यथास्मदादिभिरप्यन्येषां विदुषां विद्वत्कृतानां ग्रन्थानां च सकाशादनेकविधं ज्ञानं गृहीत्वैव ग्रन्थान्तरं रच्यते। तथेश्वरज्ञानस्य सर्वेषां मनुष्याणामपेक्षावश्यं भवति। किञ्च न सृष्टेरारम्भसमये पठनपाठनक्रमो ग्रन्थश्च कश्चिदप्यासीत्तदानीमीश्वरोपदेशमन्तरा न च कस्यापि विद्यासम्भवो बभूव पुनः कथं कश्चिज्जनो ग्रन्थं रचयेत्। मनुष्याणां नैमित्तिकज्ञाने स्वातन्त्र्याभावात्। स्वाभाविकज्ञानमात्रेणैव विद्याप्राप्त्यनुपपत्तेश्च। यच्चोक्तं स्वकीयं ज्ञानमुत्कृष्टमित्यादि तदप्यसमञ्जसम्। तस्य साधनकोटौ प्रविष्टत्वात्। चक्षुर्वत्। यथा चक्षुर्मनः साहित्येन विना ह्यकिञ्चित्करमस्ति। तथान्येषां विदुषामीश्वरज्ञानस्य च साहित्येन विना स्वाभाविकज्ञानमप्यकिञ्चित्करमेव भवतीति॥

भाषार्थ॥

प्र०—ईश्वर ने मनुष्यों को स्वाभाविक ज्ञान दिया है सो सब ग्रन्थों से उत्तम है क्योंकि उसके विना वेदों के शब्द अर्थ और सम्बन्ध का ज्ञान कभी नहीं हो सकता और जब

उस ज्ञान की क्रम से वृद्धि होगी तब मनुष्य लोग विद्या पुस्तकों को भी रच लेंगे पुनः वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से क्यों माननी ? । उ०—जो प्रथम दृष्टान्त बालक का एकान्त में रखने का और दूसरा वनवासियों का भी कहा था क्या उन को स्वाभाविक ज्ञान ईश्वर ने नहीं दिया है वे स्वाभाविक ज्ञान से विद्वान् क्यों नहीं होते इससे यह बात निश्चित है कि ईश्वर का किया उपदेश जो वेद है उसके विना किसी मनुष्य को यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता । जैसे हम लोग वेदों के पढ़ने, विद्वानों की शिक्षा और उनके किये ग्रन्थों को पढ़े विना पण्डित नहीं होते वैसे ही सृष्टि की आदि में भी परमात्मा जो वेदों का उपदेश नहीं करता तो आज पर्यन्त किसी मनुष्य को धर्मादि पदार्थों की यथार्थ विद्या नहीं होती इससे क्या जाना जाता है कि विद्वानों की शिक्षा और वेद पढ़ने के विना केवल स्वाभाविक ज्ञान से किसी मनुष्य का निर्वाह नहीं हो सकता जैसे हम लोग अन्य विद्वानों से वेदादि शास्त्रों के अनेक प्रकार के विज्ञान को ग्रहण करके ही पीछे ग्रन्थों को भी रच सकते हैं वैसे ही ईश्वर के ज्ञान की भी अपेक्षा सब मनुष्यों को अवश्य है, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में पढ़ने और पढ़ाने की कुछ भी व्यवस्था नहीं थी तथा विद्या का कोई ग्रन्थ भी नहीं था उस समय ईश्वर के किये वेदोपदेश के विना विद्या के नहीं होने से कोई मनुष्य ग्रन्थ की रचना कैसे कर सकता क्योंकि सब मनुष्यों को सहायकारी ज्ञान में स्वतन्त्रता नहीं है और स्वाभाविक ज्ञानमात्र से विद्या की प्राप्ति किसी को नहीं हो सकती इसीसे ईश्वर ने सब मनुष्यों के हितके लिये वेदों की उत्पत्ति की है और जो यह कहा था कि अपना ज्ञान सब वेदादि ग्रन्थों से श्रेष्ठ है सो भी अन्यथा है क्योंकि वह स्वाभाविक जो ज्ञान है सो साधनकोटि में है जैसे मनके संयोग के विना आंख से कुछ भी नहीं दीख पड़ता तथा आत्मा के संयोग के विना मन से भी कुछ नहीं होता वैसे ही जो स्वाभाविक ज्ञान है सो वेद और विद्वानों की शिक्षा के ग्रहण करने में साधनमात्र ही है तथा पशुओं के समान व्यवहार का भी साधन है परन्तु वह स्वाभाविक ज्ञान धर्म अर्थ काम और मोक्षविद्या का साधन स्वतन्त्रता से कभी नहीं हो सकता ॥

वेदोत्पादन ईश्वरस्य किं प्रयोजनमस्तीत्यत्र वक्तव्यम् । उच्यते वेदानामनुत्पादने खलु तस्य किं प्रयोजनमस्तीति । अस्योत्तरं तु वयं न जानीमः । सत्यमेवमेतत् । तावद्वेदोत्पादने यदस्ति प्रयोजनं तच्छृणुत । ईश्वरेऽनन्ता विद्यास्ति न वा । अस्ति । सा किमर्थास्ति । स्वार्था । ईश्वरः परोपकारं न करोति किम् । करोति तेन किम् । तेनेदमस्ति विद्या स्वार्था परार्था च भवति तस्यास्तद्विषयत्वात् । यद्यस्मदर्थमीश्वरो विद्योपदेशं न कुर्याच्चदान्यतरपक्षे सा निष्फला स्यात् ।

तस्मादीश्वरेण स्वविद्याभूतवेदस्योपदेशेन सप्रयोजनता संपादिता । परमकारुणिको हि परमेश्वरोऽस्ति पितृवत् । यथा पिता स्वसन्ततिं प्रति सदैव करुणां दधाति । तथेश्वरोऽपि परमकृपया सर्वमनुष्यार्थं वेदोपदेशमुपचक्रे । अन्यथान्धपरम्परया मनुष्याणां धर्मार्थकाममोक्षसिद्ध्या विना परमानन्द एव न स्यात् । येन कृपायमाणेनेश्वरेण प्रजासुखार्थं कंदमूलफलतृणादिकं रचितं स कथं न सर्वसुखप्रकाशिकां सर्वविद्यामयीं वेदविद्यामुपदिशेत् । किञ्च ब्रह्माण्डस्थोत्कृष्टसर्वपदार्थप्राप्त्या यावत्सुखं भवति न तावत् विद्याप्राप्तिसुखस्य सहस्रतमेनांशेनापि तुल्यं भवत्यतो वेदोपदेश ईश्वरेण कृत एवास्तीति निश्चयः ॥

भाषार्थ ॥

प्र०—वेदों के उत्पन्न करने में ईश्वर को क्या प्रयोजन था ? । उ०—मैं तुम से पूछता हूं कि वेदों के उत्पन्न नहीं करने में उसको क्या प्रयोजन था ? जो तुम यह कहो कि इसका उत्तर हम नहीं जान सकते तो ठीक है क्योंकि वेद तो ईश्वर की नित्य विद्या है उस की उत्पत्ति वा अनुत्पत्ति हो ही नहीं सकती, परन्तु हम जीव लोगों के लिये ईश्वर ने जो वेदों का प्रकाश किया है सो उसकी हम पर परमकृपा है जो वेदोत्पत्ति का प्रयोजन है सो आप लोग सुनें । प्र०—ईश्वर में अनन्त विद्या है वा नहीं । उ०—है । प्र०—सो उसकी विद्या किस प्रयोजन के लिये है । उ०—अपने ही लिये जिससे सब पदार्थों का रचना और जानना होता है । प्र०—अच्छा तो मैं आप से पूछता हूं कि ईश्वर परोपकार को करता है वा नहीं । उ०—ईश्वर परोपकारी है इससे क्या आया । प्र०—इससे यह बात आती है कि विद्या जो है सो स्वार्थ और परार्थ के लिये होती है क्योंकि विद्या का यही गुण है कि स्वार्थ और परार्थ इन दोनों को सिद्ध करना । जो परमेश्वर अपनी विद्या को हम लोगों के लिये उपदेश न करे तो विद्या से जो परोपकार करना गुण है सो उसका नहीं रहे इससे परमेश्वर ने अपनी वेदविद्या का हम लोगों के लिये उपदेश करके सफलता सिद्ध करी है क्योंकि परमेश्वर हम लोगों का माता पिता के समान है । हम सब लोग जो उसकी प्रजा हैं उन पर नित्य कृपादृष्टि रखता है । जैसे अपने सन्तानों के ऊपर पिता और माता सदैव करुणा को धारण करते हैं कि सब प्रकार से हमारे पुत्र सुख पावें वैसे ही ईश्वर भी सब मनुष्यादि सृष्टि पर कृपादृष्टि सदैव रखता है, इससे ही वेदों का उपदेश हम लोगों के लिये किया है । जो परमेश्वर अपनी वेदविद्या का उपदेश मनुष्यों के लिये न करता तो धर्म अर्थ काम मोक्ष की सिद्धि किसी को यथावत् प्राप्त न होती, उसके विना परम आनन्द भी किसी को नहीं होता जैसे परमकृपालु ईश्वर ने प्रजा के सुख के लिये कन्द मूल फल और घास आदि छोटे २ भी पदार्थ रचे हैं सो ही ईश्वर सब सुखों के प्रकाश करने-

वाली सब सत्यविद्याओं से युक्त वेदविद्या का उपदेश भी प्रजा के सुख के लिये क्यों न करता, क्योंकि जितने ब्रह्माण्ड में उत्तम पदार्थ हैं उनकी प्राप्ति से जितना सुख होता है सो सुख विद्याप्राप्ति होने के सुख के हज़ारहवें अंश के भी तुल्य नहीं हो सकता। ऐसा सर्वोत्तम विद्या पदार्थ जो वेद है उसका उपदेश परमेश्वर क्यों न करता। इससे निश्चय करके यह जानना कि वेद ईश्वर के ही बनाये हैं॥

ईश्वरेण लेखनीमषीपात्रादिसाधनानि वेदपुस्तकलेखनाय कुतो लब्धानि। अत्रोच्यते। अहहह! महतीयं शङ्का भवता कृता विना हस्तपाद्याद्यवयवैः काष्ठलोष्ठादिसामग्रीसाधनैश्च यथेश्वरेण जगद्रचितं तथा वेदा अपि रचिताः सर्वशक्तिमतीश्वरे वेदरचनं प्रत्येवं माशङ्कि। किन्तु पुस्तकस्था वेदा तेनादौ नोत्पादिताः। किं तर्हि ज्ञानमध्ये प्रेरिताः। केषाम्। अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसाम्। ननु ज्ञानरहिता जडाः सन्ति। मैवं वाच्यं सृष्ट्यादौ मनुष्यदेहधारिणस्ते ह्यासन्। कुतः जडे ज्ञानकार्यासम्भवात्। यत्रार्थासम्भवोस्ति तत्र लक्षणा भवति। तद्यथा। कश्चिदाप्तः कञ्चित्प्रति वदति मञ्चाः क्रोशन्तीति। अत्र मञ्चस्था मनुष्याः क्रोशन्तीति विज्ञायते। तथैवात्रापि विज्ञातव्यम्। विद्याप्रकाशसंभवो मनुष्येष्वेव भवितुमर्हतीति। अत्र प्रमाणम्। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः॥ श० कां० ११। अ० ५। एषां ज्ञानमध्ये प्रेरयित्वा तद्द्वारा वेदाः प्रकाशिताः। सत्यमेवमेतत्। परमेश्वरेण तेभ्यो ज्ञानं दत्तं ज्ञानेन तैर्वेदानां रचनं कृतमिति विज्ञायते। मैवं विज्ञायि। ज्ञानं किंप्रकारकं दत्तम्। वेदप्रकारकम्। तदीश्वरस्य वा तेषाम्। ईश्वरस्यैव। पुनस्तेनैव प्रणीता वेदा आहोस्वित्तैश्च। यस्य ज्ञानं तेनैव प्रणीताः। पुनः किमर्था शङ्का कृता तैरेव रचिता इति। निश्चयकरणार्था॥

भाषार्थ॥

प्र०—वेदों के रचने और वेद पुस्तक लिखने के लिये ईश्वर ने लेखनी स्याही और दवात आदि साधन कहां से लिये क्योंकि उस समय में कागज़ आदि पदार्थ तो बने ही न थे।

उ०—वाह वाह वाह जी आपने बड़ी शङ्का करी आप की बुद्धि की क्या स्तुति करें, अच्छा आपसे मैं पूछता हूं कि हाथ पग आदि अङ्गों से विना तथा काष्ठ लोह आदि सामग्री साधनों से विना ईश्वर ने जगत् को क्योंकर रचा है। जैसे हाथ आदि अवयवों से विना उसने सब जगत् को रचा है वैसे ही वेदों को भी सब साधनों के विना रचा है क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान्

है इससे ऐसी शङ्का उस में आप को करनी योग्य नहीं परन्तु इसके उत्तर में इस बात को जानो कि वेदों को पुस्तकों में लिख के सृष्टि की आदि में ईश्वर ने प्रकाशित नहीं किये थे। प्र०—तो किस प्रकार से किये थे?। उ०—ज्ञान के बीच में। प्र०—किनके ज्ञान में। उ०—अग्नि वायु आदित्य और अङ्गिरा के। प्र०—वे तो जड़ पदार्थ हैं। उ०—ऐसा मत कहो वे सृष्टि की आदि में मनुष्यदेहधारी हुए थे क्योंकि जड़ में ज्ञान के कार्य का असम्भव है और जहां २ असम्भव होता है वहां २ लक्षणा होती है, जैसे किसी सत्यवादी विद्वान् पुरुष ने किसी से कहा कि खेतों में मञ्चान पुकारते हैं इस वाक्य में लक्षणा से यह अर्थ होता है कि मञ्चान के ऊपर मनुष्य पुकार रहे हैं इसी प्रकार से यहां भी जानना कि विद्या के प्रकाश होने का सम्भव मनुष्यों में ही हो सकता है अन्यत्र नहीं। इसमें (तेभ्यः०) इत्यादि शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण लिखा है उन चार मनुष्यों के ज्ञान के बीच में वेदों का प्रकाश करके उनसे ब्रह्मादि के बीच में वेदों का प्रकाश कराया था। प्र०—सत्य बात है कि ईश्वर ने उन को ज्ञान दिया होगा और उन-ने अपने ज्ञान से वेदों का रचन किया होगा। उ०—ऐसा तुमको कहना उचित नहीं क्योंकि तुम यह भी जानते हो कि ईश्वर ने उन को ज्ञान किस प्रकार का दिया था? उ०—उन को वेदरूप ज्ञान दिया था। प्र०—अच्छा तो मैं आप से पूछता हूँ कि वह ज्ञान ईश्वर का है वा उनका। उ०—वह ज्ञान ईश्वर का ही है। प्र०—फिर आप से मैं पूछता हूं कि वेद ईश्वर के बनाये हैं वा उन के। उ०—जिसका ज्ञान है उसी ने वेदों को बनाया। प्र०—फिर उन्हीं ने वेद रचे हैं यह शङ्का आपने क्यों की थी?। उ०—निश्चय करने और कराने के लिये ॥

ईश्वरो न्यायकार्य्यस्ति वा पक्षपाती। न्यायकारी। तर्हि चतुर्णामेव हृदयेषु वेदाः प्रकाशिताः कुतो न सर्वेषामिति। अत्राह। अत ईश्वरे पक्षपातस्य लेशोऽपि नैवागच्छति किन्त्वनेन तस्य न्यायकारिणः परमात्मनः सम्यग्न्यायः प्रकाशितो भवति कुतः न्यायेत्यस्यैव नामास्ति यो यादृशं कर्म कुर्य्यात्तस्मै तादृशमेव फलं दद्यात्। अत्रैव वेदितव्यम् तेषामेव पूर्वपुण्यमासीद्यतः खल्वेतेषां हृदये वेदानां प्रकाशः कर्तुं योग्योऽस्ति। किं च ते तु सृष्टेः प्रागुत्पन्नास्तेषां पूर्वपुण्यं कुत आगतम्। अत्र ब्रूमः। सर्वे जीवाः स्वरूपतोऽनादयस्तेषां कर्म्माणि सर्वं कार्य्यं जगच्च प्रवाहेणै-वानादीनि सन्तीति। एतेषामनादित्वस्य प्रमाणपूर्वकं प्रतिपादनमग्रे करिष्यते ॥

भाषार्थ ॥

प्र०—ईश्वर न्यायकारी है वा पक्षपाती। उ०—न्यायकारी। प्र०—जब परमेश्वर न्याय-

कारी है तो सब के हृदयों में वेदों का प्रकाश क्यों नहीं किया क्योंकि चारों के हृदयों में प्रकाश करने से ईश्वर में पक्षपात आता है । उ०—इससे ईश्वर में पक्षपात का लेश कदापि नहीं आता किन्तु उस न्यायकारी परमात्मा का साक्षात् न्याय ही प्रकाशित होता है क्योंकि न्याय उसको कहते हैं कि जो जैसा कर्म करे उस को वैसा ही फल दिया जाय । अब जानना चाहिये कि उन्हीं चार पुरुषों का ऐसा पूर्वपुण्य था कि उनके हृदय में वेदों का प्रकाश किया गया । प्र०—वे चार पुरुष तो सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए थे उन का पूर्वपुण्य कहां से आया । उ०—जीव जीवों के कर्म और स्थूल कार्य्य जगत् ये तीनों अनादि हैं जीव और कारण जगत् स्वरूप से अनादि हैं कर्म और स्थूल कार्य्य जगत् प्रवाह से अनादि हैं इसकी व्याख्या प्रमाणपूर्वक आगे लिखी जायगी ॥

किं गायत्र्यादिच्छन्दोरचनमपीश्वरेणैव कृतं । इयं कुतः शङ्काभूत् । किमीश्वरस्य गायत्र्यादिच्छन्दोरचनज्ञानं नास्ति । अस्त्येव तस्य सर्वविद्यावत्त्वात् । अतो निर्मूला सा शङ्कास्ति । चतुर्मुखेण ब्रह्मणा वेदा निरमायिषतेत्यैतिह्यम् । मैवं वाच्यम् । ऐतिह्यस्य शब्दप्रमाणान्तर्भावात् । आप्तोपदेशः शब्दः ॥ न्यायःशास्त्रे अ० १ सू० ७ इति गोतमाचार्येणोक्तत्वात् । शब्द ऐतिह्यमित्यादि च । अस्यैवोपरि । आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथा दृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा साक्षात्करणमर्थस्याप्तिस्तया प्रवर्त्तत इत्याप्तः । इति न्यायभाष्ये वात्स्यायनोक्तेः । अतः सत्यस्यैवैतिह्यत्वेन ग्रहणं नानृतस्य । यत्सत्यप्रमाणमाप्तोपदिष्टमैतिह्यं तद् ग्राह्यं नातो विपरीतमिति अनृतस्य प्रमत्तगीतत्वात् । एवमेव व्यासेनर्षिभिश्च वेदा रचिता इत्याद्यपि मिथ्यैवास्तीति मन्यताम् । नवीनपुराणग्रन्थानां तन्त्रग्रन्थानां च वैयर्थ्यापत्तेश्चेति ॥

भाषार्थ ॥

प्र०—क्या गायत्र्यादि छन्दों का भी रचन ईश्वर ने ही किया है ? । उ०—यह शङ्का आप को कहां से हुई ? । प्र०—मैं तुम से पूछता हूं क्या गायत्र्यादि छन्दों के रचने का ज्ञान ईश्वर को नहीं है ? । उ०—ईश्वर को सब ज्ञान है । अच्छा तो ईश्वर के समस्त विद्यायुक्त होने से आप की यह शङ्का भी निर्मूल है । प्र०—चार मुख के ब्रह्मा जी ने वेदों को रचा ऐसे इतिहास को हम लोग सुनते हैं । उ०—ऐसा मत कहो क्योंकि इतिहास को शब्दप्रमाण के भीतर गिना है (आप्तो०) अर्थात् सत्यवादी विद्वानों का जो उपदेश है उस को शब्दप्रमाण में गिनते हैं ऐसा न्यायदर्शन में गोतमाचार्य ने लिखा है तथा शब्दप्रमाण से जो युक्त है वही इतिहास मानने के योग्य है अन्य

नहीं इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने आप्त का लक्षण कहा है जो कि साक्षात् सब पदार्थविद्याओं का जाननेवाला कपट आदि दोषों से रहित धर्मात्मा है कि जो सदा सत्यवादी सत्यमानी और सत्यकारी है जिसको पूर्णविद्या से आत्मा में जिस प्रकार का ज्ञान है उस के कहने की इच्छा की प्रेरणा से सब मनुष्यों पर कृपादृष्टि से सब सुख होने के लिये सत्य उपदेश का करने वाला है और जो पृथिवी से ले के परमेश्वर पर्यन्त सब पदार्थों को यथावत् साक्षात् करना और उसी के अनुसार वर्त्तना इसी का नाम आप्ति है इस आप्ति से जो युक्त हो उसको आप्त कहते हैं उसी के उपदेश का प्रमाण होता है इससे विपरीत मनुष्य का नहीं क्योंकि सत्य वृत्तान्त का ही नाम इतिहास है अनृत का नहीं। सत्यप्रमाणयुक्त जो इतिहास है वही सब मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य है इससे विपरीत इतिहास का ग्रहण करना किसी को योग्य नहीं क्योंकि प्रमादी पुरुष के मिथ्या कहने का इतिहास में ग्रहण ही नहीं होता इसी प्रकार व्यासजी ने चारों वेदों की संहिताओं का संग्रह किया है इत्यादि इतिहासों को भी मिथ्या ही जानना चाहिये जो आजकल के बने ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण और ब्रह्मयामल आदि तन्त्रग्रन्थ हैं इन में कहे इतिहासों का प्रमाण करना किसी मनुष्य को योग्य नहीं क्योंकि इनमें असम्भव और अप्रमाण कपोलकल्पित मिथ्या इतिहास बहुत लिख रक्खे हैं और जो सत्यग्रन्थ शतपथ ब्राह्मणादि हैं उनके इतिहासों का कभी त्याग नहीं करना चाहिये ॥

यो मन्त्रसूक्तानामृषिर्लिखितस्तेनैव तद्रचितमिति कुतो न स्यात्। मैवं वादि। ब्रह्मादिभिरपि वेदानामध्ययनश्रवणयोः कृतत्वात्। यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै०। इति श्वेताश्वतरोपनिषदादिवचनस्य विद्यमानत्वात्। एवं यदर्षीणामुत्पत्तिरपि नासीत्तदा ब्रह्मादीनां समीपे वेदानां वर्त्तमानत्वात्। तद्यथा। अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ॥ १ ॥ अ० १। अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः। अ० २। इति मनुसाक्ष्यत्वात्। अग्न्यादीनां सकाशाद् ब्रह्मापि वेदानामध्ययनं चक्रेऽन्येषां व्यासादीनां तु का कथा ॥

भाषार्थ ॥

प्र०—जो सूक्त और मन्त्रों के ऋषि लिखे जाते हैं उन्होंने ही वेद रचे हों ऐसा क्यों नहीं माना जाय ?। उ०—ऐसा मत कहो क्योंकि ब्रह्मादि ने भी वेदों को पढ़ा है सो श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में यह वचन है कि जिसने ब्रह्मा को उत्पन्न किया और ब्रह्मादि को सृष्टि की आदि में अग्नि आदि के द्वारा वेदों का भी उपदेश किया है उसी

परमेश्वर के शरण को हम लोग प्राप्त होते हैं इसी प्रकार ऋषियोंने भी वेदों को पढ़ा है क्योंकि जब मरीच्यादि ऋषि और व्यासादि मुनियों का जन्म भी नहीं हुआ था उस समय में भी ब्रह्मादि के समीप वेदों का वर्त्तमान था इस में मनु के श्लोकों की भी साक्षी है कि पूर्वोक्त अग्नि वायु रवि और अङ्गिरा से ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था जब ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था तो व्यासादि और हम लोगों की तो कथा क्या ही कहनी है॥

कथं वेदः श्रुतिश्च द्वेनाम्नी ऋक्संहितादीनां जाते इति। अर्थवशात् (विद) ज्ञाने (विद) सत्तायाम् । (विद्लृ) लाभे (विद) विचारणे। एतेभ्यो हलश्चेति सूत्रेण करणाधिकरणकारकयोर्घञ्प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते । तथा (श्रु) श्रवणे । इत्यस्माद्धातोः करणकारके क्तिन्प्रत्यये कृते श्रुतिशब्दो व्युत्पद्यते। विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः। तथाऽऽदिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं ब्रह्मादिभिः सर्वाः सत्यविद्याः श्रूयन्तेऽनया सा श्रुतिः । न कस्यचिद्देहधारिणः सकाशात्कदाचित्कोपि वेदानां रचनं दृष्टवान् । कुतः । निरवयवेश्वरात्तेषां प्रादुर्भावात् । अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसस्तु निमित्तीभूता वेदप्रकाशार्थमीश्वरेण कृता इति विज्ञेयम् । तेषां ज्ञानेन वेदानामनुत्पत्तेः । वेदेषु शब्दार्थसम्बन्धाः परमेश्वरादेव प्रादुर्भूताः तस्य पूर्णविद्यावत्त्वात् । अतः किं सिद्धमग्निवायुरव्यङ्गिरोमनुष्यदेहधारिजीवद्वारेण परमेश्वरेण श्रुतिर्वेदः प्रकाशीकृत इति बोध्यम् ॥

भाषार्थ ॥

प्र०—वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वेदादि संहिताओं के क्यों हुए हैं? । उ०—अर्थभेद से क्योंकि एक (विद) धातु ज्ञानार्थ है दूसरा (विद) सत्तार्थ है तीसरे (विद्लृ) का लाभ अर्थ है—चौथे (विद) का अर्थ विचार हैं, इन चार धातुओं से करण और अधिकरणकारक में घञ् प्रत्यय करने से वेदशब्द सिद्ध होता है तथा (श्रु) धातु श्रवण अर्थ में है इससे करणकारक में क्तिन् प्रत्यय के होने से श्रुति शब्द सिद्ध होता है जिन के पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिन को पढ़ के विद्वान् होते हैं, जिन से सब सुखों का लाभ होता है और जिन से ठीक २ सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है इस से ऋक्संहितादि का वेद नाम है वैसे ही सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त और ब्रह्मादि से लेके हम लोग पर्यन्त जिससे सब सत्यविद्याओं को सुनते आते हैं इससे वेदों का श्रुति नाम पड़ा है

क्योंकि किसी देहधारी ने वेदों के बनाने वाले को साक्षात् कभी नहीं देखा इस कारण से जाना गया कि वेद निराकार ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं और उनको सुनते सुनाते ही आज पर्यन्त सब लोग चले आते हैं तथा अग्नि वायु आदित्य और अङ्गिरा इन चारों मनुष्यों को जैसे वादित्र को कोई बजावे वा काठ की पुतली को चेष्टा करावे इसी प्रकार ईश्वर ने उनको निमित्तमात्र किया था क्योंकि उनके ज्ञान से वेदों की उत्पत्ति नहीं हुई किन्तु इससे यह जानना कि वेदों में जितने शब्द अर्थ और सम्बन्ध हैं वे सब ईश्वर ने अपने ही ज्ञान से उनके द्वारा प्रकट किये हैं॥

वेदानामुत्पत्तौ कियन्ति वर्षाणि व्यतीतानि। अत्रोच्यते एको वृन्दः षण्णवतिः कोट्योऽष्टौ लक्षाणि द्विपञ्चाशत्सहस्राणि नवशतानि षट्सप्ततिश्चैतावन्ति (१९६०८५२९७६) वर्षाणि व्यतीतानि सप्तसप्ततितमोऽयं संवत्सरो वर्त्तत इति वेदितव्यम्। एतावन्त्येव वर्षाणि वर्त्तमानकल्पसृष्टेश्चेति। कथं विज्ञायत एतावन्त्येव वर्षाणि व्यतीतानीति। अत्राहास्यां वर्त्तमानायां सृष्टौ वैवस्वतस्य सप्तमस्यास्य मन्वन्तरस्येदानीं वर्त्तमानत्वादस्मात्पूर्वं षण्णां मन्वन्तराणां व्यतीतत्वाच्चेति। तद्यथा स्वायम्भवः स्वारोचिष औत्तमिस्तामसो रैवतश्चाक्षुषो वैवस्वतश्चेति सप्तैते मनवस्तथा सावर्ण्यादय आगामिनः सप्तैते मिलित्वा १४ चतुर्दशैव भवन्ति। तत्रैकसप्ततिश्चतुर्युगानि ह्येकैकस्य मनोः परिमाणं भवति। ते चैकस्मिन्ब्राह्मदिने १४ चतुर्दश भुक्तभोगा भवन्ति। एकसहस्रं १००० चातुर्युगानि ब्राह्मदिनस्य परिमाणं भवति ब्राह्म्या रात्रेरपि तावदेव परिमाणं विज्ञेयम्। सृष्टेर्वर्त्तमानस्य दिनसंज्ञास्ति प्रलयस्य च रात्रिसंज्ञेति। अस्मिन्ब्राह्मदिने षट् मनवस्तु व्यतीताः सप्तमस्य वैवस्वतस्य वर्त्तमानस्य मनोरष्टाविंशतितमोऽयं कलिर्वर्त्तते। तत्रास्य वर्त्तमानस्य कलियुगस्यैतावन्ति ४९७६ चत्वारि सहस्राणि नवशतानि षट्सप्ततिश्च वर्षाणि तु गतानि सप्तसप्ततितमोऽयं संवत्सरो वर्त्तते। यमार्य्या विक्रमस्यैकोनविंशतिशतं त्रयस्त्रिंशत्तमोत्तरं संवत्सरं वदन्ति॥

अत्र विषये प्रमाणम्॥

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः। एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत॥ १॥ चत्वार्य्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम्। तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः॥ २॥ इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु। एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च॥ ३॥ यदेतत् परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्। एतद्द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते॥ ४॥ दैविकानां

युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया । ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च ॥ ५ ॥ तद्वैयुगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः । रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदोजनाः ॥ ६ ॥ यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् । तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७ ॥ मन्वन्तराण्यसंख्यानि सृष्टिः संहार एव च । क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८ ॥ मनु० अध्याये १ ॥

कालस्य परिमाणार्थं ब्राह्माहोरात्रादयः सुगमबोधार्थाः संज्ञाः क्रियन्ते । यतः सहजतया जगदुत्पत्तिप्रलययोर्वर्षाणां वेदोत्पत्तेश्च परिगणनं भवेत् । मन्वन्तरपर्य्यावृत्तौ सृष्टेर्नैमित्तिकगुणानामपि पर्य्यावर्त्तनं किञ्चित् किञ्चिद्भवत्यतो मन्वन्तरसंज्ञा क्रियते । अत्रैवं संख्यातव्यम् । एकं दशशतं चैव सहस्रमयुतं तथा । लक्षं च नियुतं चैव कोटिरर्बुदमेव च ॥ १ ॥ वृन्दः खर्वो निखर्वश्च शङ्खः पद्मं च सागरः । अन्त्यं मध्यं परार्द्धं च दशवृद्ध्या यथाक्रमम् ॥ २ ॥ इति सूर्यसिद्धान्तादिषु संख्यायते । अनया रीत्या वर्षादिगणना कार्येति ॥ सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि ॥ य० अ० १५ । मं० ६५ ॥ सर्वं वै सहस्रम् । सर्वस्य दातासि ॥ श० कां० ७ । अ० ५ ॥ सर्वस्य जगतः सर्वमिति नामास्ति कालस्य चानेन सहस्रमहायुगसंख्यया परिमितस्य दिनस्य नक्तस्य च ब्रह्माण्डस्य प्रमा परिमाणस्य कर्त्ता परमेश्वरोऽस्ति मन्त्रस्यास्य सामान्यार्थे वर्त्तमानत्वात्सर्वमभिवदतीति । एवमेवाग्रेपि योजनीयम् । ज्योतिषशास्त्रे प्रतिदिनचर्य्याऽभिहिताऽऽर्य्यैः क्षणमारभ्य कल्पकल्पान्तस्य गणितविद्यया स्पष्टं परिगणनं कृतमद्यपर्यन्तमपि क्रियते प्रतिदिनमुच्चार्य्यते ज्ञायते चातः कारणादियं व्यवस्थैव सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकर्तुं योग्यास्ति नान्येति निश्चयः । कुतो ह्यार्य्यैर्नित्यमोंतत् सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्द्धे वैवस्वते मन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणेऽमुकसंवत्सरायनर्तुमासपक्षदिननक्षत्रलग्नमुहूर्तेऽत्रेदं कृतं क्रियते चेत्याबालवृद्धैः प्रत्यहं विदितत्वादितिहासस्यास्य सर्वत्रार्य्यावर्त्तदेशे वर्त्तमानत्वात्सार्वत्रैकरसत्वादशक्येयं व्यवस्था केनापि विचालयितुमिति विज्ञायताम् । अन्यद्युगव्याख्यानमग्रे करिष्यते तत्र द्रष्टव्यम् ॥

भाषार्थ ॥

प्र०—वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष होगये हैं ? । उ०—एक वृन्द छानवे

करोड़ आठ लाख बावन हज़ार नवसौ छहत्तर अर्थात् (१९६०८५२९७६) वर्ष वेदों की और जगत् की उत्पत्ति में हो गये हैं और यह संवत् ७७ सतहत्तरवां वर्त्त रहा है।

प्र०—यह कैसे निश्चय हो कि इतने ही वर्ष वेद और जगत् की उत्पत्ति में बीत गये हैं।

उ०—यह जो वर्त्तमान सृष्टि है इसमें सातवें (७) वैवस्वतमनु का वर्त्तमान है इससे पूर्व छः मन्वन्तर हो चुके हैं स्वायम्भव १ स्वारोचिष २ औत्तमि ३ तामस ४ रैवत ५ चाक्षुष ६, ये छः तो बीतगये हैं और ७ सातवां वैवस्वत वर्त्त रहा है और सावर्णि आदि ७ सात मन्वन्तर आगे भोगेंगे ये सब मिलकर १४ मन्वन्तर होते हैं और एकहत्तर चतुर्युगियों का नाम मन्वन्तर धरा गया है सो उसकी गणना इस प्रकार से है कि (१७२८०००) सत्रह लाख अट्ठाईस हज़ार वर्षों का नाम सतयुग रक्खा है (१२९६०००) बारह लाख छानवे हज़ार वर्षों का नाम त्रेता (८६४०००) आठ लाख चौंसठ हज़ार वर्षों का नाम द्वापर और (४३२०००) चार लाख बत्तीस हज़ार वर्षों का नाम कलियुग रक्खा है तथा आर्यों ने एक क्षण और निमेष से लेके एक वर्ष पर्यन्त भी काल की सूक्ष्म और स्थूल संज्ञा बांधी है और इन चारों युगों के (४३२००००) तितालीस लाख बीस हज़ार वर्ष होते हैं जिनका चतुर्युगी नाम है। एकहत्तर (७१) चतुर्युगियों के अर्थात् (३०६७२००००) तीस करोड़ सरसठ लाख बीस हज़ार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है और ऐसे ६ छः मन्वन्तर मिल कर अर्थात् (१८४०३२००००) एक अर्ब चौरासी करोड़ तीन लाख बीस हज़ार वर्ष हुए और सातवें मन्वन्तर के भोग में यह (२८) अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है इस चतुर्युगी में कलियुग के (४९७६) चार हज़ार नवसौ छहत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है और बाकी (४२७०२४) चार लाख सत्ताईस हज़ार चौबीस वर्षों का भोग होनेवाला है। जानना चाहिये कि (१२०५३२९७६) बारह करोड़ पांच लाख बत्तीस हज़ार नवसौ छहत्तर वर्ष तो वैवस्वतमनु के भोग हो चुके हैं और (१८६१८७०२४) अठारह करोड़ एकसठ लाख सत्तासी हज़ार चौबीस वर्ष भोगने के बाकी रहे हैं। इन में से यह वर्त्तमान वर्ष (७७) सतहत्तरवां है जिस को आर्य लोग विक्रम का (१९३३) उन्नीससौ तेतीसवां संवत् कहते हैं। जो पूर्व चतुर्युगी लिख आये हैं उन एक हज़ार चतुर्युगियों की ब्राह्मदिन संज्ञा रक्खी है और उतनी ही चतुर्युगियों की रात्रि संज्ञा जानना चाहिये सो सृष्टि की उत्पत्ति करके हज़ार चतुर्युगी पर्यन्त ईश्वर इस को बना रखता है इसी का नाम ब्राह्मदिन रक्खा है और हज़ार चतुर्युगी पर्यन्त सृष्टि को मिटा के प्रलय अर्थात् कारण में लीन रखता है उस का नाम ब्राह्मरात्रि रक्खा है अर्थात् सृष्टि के वर्त्तमान होने का नाम दिन और प्रलय होने का नाम रात्रि है यह जो वर्त्तमान ब्राह्म-

दिन है इसके (१९६०८५२९७६) एक अर्ब छानवे करोड़ आठ लाख बावन हजार नवसौ छहत्तर वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में भी व्यतीत हुए हैं और (२३३३२२७०२४) दो अर्ब तेतीस करोड़ बत्तीस लाख सत्ताईस हजार चौबीस वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाकी रहे हैं इनमें से अन्त का यह चौबीसवां वर्ष भोग रहा है आगे आनेवाले भोग के वर्षों में से एक २ घटाते जाना और गत वर्षों में क्रम से एक २ वर्ष मिलाते जाना चाहिये जैसे आजपर्य्यन्त घटाते बढ़ाते आये हैं। ब्राह्मदिन और ब्राह्मरात्रि अर्थात् ब्रह्म जो परमेश्वर उसने संसार के वर्त्तमान और प्रलय की संज्ञा की है इसीलिये इसका नाम ब्राह्मदिन है इसी प्रकरण में मनुस्मृति के श्लोक साक्षी के लिये लिख चुके हैं सो देख लेना इन श्लोकों में दैववर्षों की गणना की है अर्थात् चारों युगों के बारह हजार (१२०००) वर्षों की दैवयुग संज्ञा की है इसी प्रकार असंख्यात मन्वन्तरों में कि जिनकी संख्या नहीं हो सकती अनेक वार सृष्टि हो चुकी है और अनेक वार होगी सो इस सृष्टि को सदा से सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर सहज स्वभाव से रचता पालन और प्रलय करता है और सदा ऐसे ही करेगा क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति वर्तमान प्रलय और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों को मनुष्य लोग सुख से गिन लें इसीलिये यह ब्राह्मदिन आदि संज्ञा बांधी है और सृष्टि का स्वभाव नया पुराना प्रतिमन्वन्तर में बदलता जाता है इसीलिये मन्वन्तर संज्ञा बांधी है वर्त्तमान सृष्टि की कल्पसंज्ञा और प्रलय की विकल्पसंज्ञा की है और इन वर्षों की गणना इस प्रकार से करना चाहिये कि (एकं दशशतं चैव) एक (१) दश (१०) शत (१००) हजार (१०००) दशहजार (१००००) लाख (१०००००) नियुत (१००००००) करोड़ (१०००००००) अर्बुद (१००००००००) वृन्द (१०००००००००) खर्व (१००००००००००) निखर्व (१०००००००००००) शंख (१००००००००००००) पद्म (१०००००००००००००) सागर (१००००००००००००००) अन्त्य (१०००००००००००००००) मध्य (१००००००००००००००००) और परार्द्ध्य (१०००००००००००००००००) और दश २ गुणा बढ़ाकर इसी गणित से सूर्यसिद्धान्त आदि ज्योतिषग्रन्थों में गिनती की है * (सहस्रस्य प्र०) सब संसार की सहस्र संज्ञा है तथा पूर्वोक्त ब्राह्मदिन और रात्रि की भी सहस्रसंज्ञा लीजाती है क्योंकि यह मन्त्र सामान्य अर्थ में वर्त्तमान है सो हे परमेश्वर ! आप इस हजार चतुर्युगी का दिन और रात्रि को प्रमाण अर्थात् निर्माण करने वाले हो इसी प्रकार ज्योतिषशास्त्र में यथावत् वर्षों की संख्या आर्य लोगों ने गिनी है सो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके आज

* कहीं २ इसी संख्या को १९ (उन्नीस अंक पर्यन्त गिनते हैं सो यहां भी जान लेना।

पर्यन्त दिन २ गिनते और क्षण से लेके कल्पान्त की गणितविद्या को प्रसिद्ध करते चले आते हैं अर्थात् परम्परा से सुनते सुनाते लिखते लिखाते और पढ़ते पढ़ाते आज पर्यन्त हम लोग चले आते हैं। यही व्यवस्था सृष्टि और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की ठीक है और सब मनुष्यों को इसी को ग्रहण करना योग्य है क्योंकि आर्य्य लोग नित्यप्रति ओं तत्सत् परमेश्वर के इन तीन नामों का प्रथम उच्चारण करके कार्यों का आरम्भ और परमेश्वर का ही नित्य धन्यवाद करते चले आते हैं कि आनन्द में आज पर्यन्त परमेश्वर की सृष्टि और हम लोग बने हुए हैं और बही खाते की नाईं लिखते लिखाते पढ़ते पढ़ाते चले आये हैं कि पूर्वोक्त ब्राह्मदिन के दूसरे प्रहर के ऊपर मध्यान्ह के निकट दिन आया है और जितने वर्ष वैवस्वतमनु के भोग होने को बाकी हैं उतने ही मध्यान्ह में बाकी रहे हैं इसीलिये यह लेख है (श्री ब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्द्धे०) यह वैवस्वतमनु का वर्त्तमान है इस के भोग में यह (२८) अट्ठाईसवां कलियुग है। कलियुग के प्रथम चरण का भोग हो रहा है तथा वर्ष ऋतु अयन मास पक्ष दिन नक्षत्र मुहूर्त लग्न और पल आदि समय में हमने फलाना काम किया था और करते हैं अर्थात् जैसे विक्रम के संवत् १९३३ फाल्गुन मास कृष्णपक्ष षष्ठी शनिवार के दिन चतुर्थ प्रहर के आरम्भ में यह बात हम ने लिखी है इसी प्रकार से सब व्यवहार आर्य्य लोग बालक से वृद्ध पर्य्यन्त करते और जानते चले आये हैं। जैसे बही खाते में मिती डालते हैं वैसे ही महीना और वर्ष बढ़ाते घटाते चले जाते हैं इसी प्रकार आर्य्य लोग तिथिपत्र में भी वर्ष मास और दिन आदि लिखते चले आते हैं और यही इतिहास आज पर्य्यन्त सब आर्य्यावर्त्त देश में एकसा वर्त्तमान हो रहा है और सब पुस्तकों में भी इस विषय में एक ही प्रकार का लेख पाया जाता है किसी प्रकार का इस विषय में विरोध नहीं है इसीलिये इसको अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य नहीं हो सकता क्योंकि जो सृष्टि की उत्पत्ति से ले के बराबर मितीवार लिखते न आते तो इस गिनती का हिसाब ठीक २ आर्य्य लोगों को भी जानना कठिन होता अन्य मनुष्यों का तो क्या ही कहना है और इस से यह भी सिद्ध होता है कि सृष्टि के आरम्भ से लेके आज पर्यन्त आर्य्य लोग ही बड़े २ विद्वान् और सभ्य होते चले आये हैं। जब जैन और मुसलमान आदि लोग इस देश के इतिहास और विद्यापुस्तकों का नाश करने लगे तब आर्य्य लोगों ने सृष्टि के गणित का इतिहास कण्ठस्थ कर लिया और जो पुस्तक ज्योतिषशास्त्र के बच गये हैं उन में और उन के अनुसार जो वार्षिकपञ्चाङ्गपत्र बनते जाते हैं इन में भी मिती से मिती बराबर लिखी चली आती है, इसको अन्यथा कोई नहीं कर सकता। यह वृत्तान्त इतिहास का इसलिये है कि पूर्वापर

काल का प्रमाण यथावत् सब को विदित रहे और सृष्टि की उत्पत्ति प्रलय तथा वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की गिनती में किसी प्रकार का भ्रम किसी को न हो सो यह बड़ा उत्तम काम है इस को सब लोग यथावत् जान लेवें परन्तु इस उत्तम व्यवहार को लोगों ने टका कमाने के लिये बिगाड़ रक्खा है यह शोक की बात है और टके के लोभ ने भी जो इस के पुस्तकव्यवहार को बना रक्खा नष्ट न होने दिया यह बड़े हर्ष की बात है। चारों युगों के चार भेद और उनके वर्षों की घट बढ़ संख्या क्यों हुई है इसकी व्याख्या आगे करेंगे वहां देख लेना चाहिये यहां इस का प्रसङ्ग नहीं है इसलिये नहीं लिखा ॥

एतावता कथनेनैवाध्यापकैर्विलसनमोक्षमूलराख्यभिधैर्यूरोपाख्यखण्डस्थैर्मनुष्यरचितो वेदोऽस्ति श्रुतिर्नास्तीति यदुक्तं यच्चोक्तं चतुर्विंशतिरेकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशच्च शतानि वर्षाणि वेदोत्पत्तौ व्यतीतानीति तत्सर्वं भ्रममूलमस्तीति वेद्यम्। तथैव प्राकृतभाषया व्याख्यानकारिभिरप्येवमुक्तं तदपि भ्रान्तमेवास्तीति च ॥

इति वेदोत्पत्तिविचारः ॥

भाषार्थ ॥

इससे जो अध्यापक विलसन साहब और अध्यापक मोक्षमूलर साहब आदि यूरोपखण्ड वासी विद्वानों ने बात कही है कि वेद मनुष्य के रचे हैं किन्तु श्रुति नहीं है, उनकी यह बात ठीक नहीं है और दूसरी यह है—कोई कहता है (२४००) चौबीससौ वर्ष वेदों की उत्पत्ति को हुए, कोई (२९००) उनतीससौ वर्ष, कोई (३०००) तीन हजार वर्ष और कोई कहता है (३१००) एकतीससौ वर्ष वेदों को उत्पन्न हुए बीते हैं, उन की यह भी बात झूठी है क्योंकि उन लोगों ने हम आर्य्य लोगों की नित्यप्रति की दिनचर्या का लेख और संकल्प पठन विद्या को भी यथावत् न सुना और न विचारा है, नहीं तो इतने ही विचार से यह भ्रम उन को नहीं होता इससे यह जानना अवश्य चाहिये कि वेदों की उत्पत्ति परमेश्वर से ही हुई है और जितने वर्ष अभी ऊपर गिन आये हैं उतने ही वर्ष वेदों और जगत् की उत्पत्ति में भी हो चुके हैं इससे क्या सिद्ध हुआ कि जिन २ ने अपनी २ देशभाषाओं में अन्यथा व्याख्यान वेदों के विषय में किया है उन २ का भी व्याख्यान मिथ्या है क्योंकि जैसा प्रथम लिख आये हैं जब पर्यन्त हजार चतुर्युगी व्यतीत न हो चुकेंगी तब पर्यन्त ईश्वरोक्त वेद का पुस्तक यह जगत् और हम सब मनुष्य लोग भी ईश्वर के अनुग्रह से सदा वर्त्तमान रहेंगे ॥

इति वेदोत्पत्तिविचारः ॥

अथ वेदानां नित्यत्वविचारः ॥

ईश्वरस्य सकाशाद्वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो नित्यत्वमेव भवति तस्य सर्वसामर्थ्यस्य नित्यत्वात् ॥

भाषार्थ ॥

अब वेदों के नित्य होने का विचार किया जाता है सो वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं इससे वे स्वतः नित्यस्वरूप ही हैं क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य ही है ॥

अत्र केचिदाहुः । न वेदानां शब्दमयत्वान्नित्यत्वं सम्भवति । शब्दोऽनित्यः कार्य्यत्वात् । घटवत् । यथा घटः कृतोऽस्ति तथा शब्दोऽपि । तस्माच्छब्दानित्यत्वे वेदानामप्यनित्यत्वं स्वीकार्य्यम् । मैवं मन्यताम् । शब्दो द्विविधो नित्यकार्य्यभेदात् । ये परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थसम्बन्धाः सन्ति ते नित्या भवितुमर्हन्ति । येऽस्मदादीनां वर्त्तन्ते ते तु कार्य्याश्च कुतः । यस्य ज्ञानक्रिये नित्ये स्वभावसिद्धे अनादी स्तस्तस्य सर्वं सामर्थ्यमपि नित्यमेव भवितुमर्हति । तद्विद्यामयत्वाद्वेदानामनित्यत्वं नैव घटते ॥

भाषार्थ ॥

प्र०—इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसी शङ्का करते हैं कि वेदों में शब्द छन्द पद और वाक्यों के योग होने से नित्य नहीं हो सकते जैसे विना बनाने से घड़ा नहीं बनता इसी प्रकार से वेदों को भी किसी ने बनाया होगा क्योंकि बनाने के पहिले नहीं थे और प्रलय के अन्त में भी न रहेंगे इससे वेदों को नित्य मानना ठीक नहीं है । उ०—ऐसा आपको कहना उचित नहीं क्योंकि शब्द दो प्रकार का होता है एक नित्य और दूसरा कार्य, इन में से जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध परमेश्वर के ज्ञान में हैं वे सब नित्य ही होते हैं और जो हम लोगों की कल्पना से उत्पन्न होते हैं वे कार्य्य होते हैं क्योंकि जिसका ज्ञान और क्रिया स्वभाव से सिद्ध और अनादि है उसका सब सामर्थ्य भी नित्य ही होता है इससे वेद भी उसकी विद्यास्वरूप होने से नित्य ही हैं क्योंकि ईश्वर की विद्या अनित्य कभी नहीं हो सकती ॥

किं च भोः सर्वस्यास्य जगतो विभागं प्राप्तस्य कारणरूपस्थितौ सर्वस्थूलकार्य्याभावे पठनपाठनपुस्तकानामभावात्कथं वेदानां नित्यत्वं स्वीक्रियते । अत्रोच्यते । इदं तु पुस्तकपत्रमसीपदार्थादिषु घटते तथास्मत् क्रियापक्षे च नेतरस्मिन् ।

अतः कारणादीश्वरविद्यामयत्वेन वेदानां नित्यत्वं वयं मन्यामहे । किं च न पठनपाठनपुस्तकानित्यत्वे वेदानित्यत्वं जायते । तेषामीश्वरज्ञानेन सह सदैव विद्यमानत्वात् । यथाऽस्मिन्कल्पे वेदेषु शब्दाक्षरार्थसम्बन्धाः सन्ति तथैव पूर्वमासन्नग्रे भविष्यन्ति च । कुतः । ईश्वरविद्याया नित्यत्वादव्यभिचारित्वाच्च । अतएवेदमुक्तमृग्वेदे । सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयदिति । अस्यायमर्थः । सूर्यचन्द्रग्रहणमुपलक्षणार्थं यथा पूर्वकल्पे सूर्यचन्द्रादिरचनं तस्य ज्ञानमध्ये ह्यासीत्तथैव तेनाऽस्मिन्कल्पेपि रचनं कृतमस्तीति विज्ञायते । कुतः । ईश्वरज्ञानस्य वृद्धिक्षयविपर्ययाभावात् । एवं वेदेष्वपि स्वीकार्यं वेदानां तेनैव स्वविद्यातः सृष्टत्वात् ॥

भाषार्थ ॥

प्र०—जब सब जगत के परमाणु अलग २ हो के कारणरूप होजाते हैं तब जो कार्यरूप सब स्थूल जगत् है उसका अभाव होजाता है, उस समय वेदों के पुस्तकों का भी अभाव होजाता है फिर वेदों को नित्य क्यों मानते हो ? । उ०—यह बात पुस्तक पत्र मसी और अक्षरों की बनावट आदि पक्ष में घटती है तथा हम लोगों के क्रियापक्ष में भी बन सकती है वेदपक्ष में नहीं घटती क्योंकि वेद तो शब्द अर्थ और सम्बन्धस्वरूप ही हैं मसी कागज पत्र पुस्तक और अक्षरों की बनावटरूप नहीं हैं । यह जो मसी लेखनादि क्रिया है सो मनुष्यों की बनाई है इससे यह अनित्य है और ईश्वर के ज्ञान में सदा बने रहने से वेदों को हम लोग नित्य मानते हैं इससे क्या सिद्ध हुआ कि पढ़ने पढ़ाने और पुस्तक के अनित्य होने से वेद अनित्य नहीं हो सकते क्योंकि वे बीजाङ्कुरन्याय से ईश्वर के ज्ञान में नित्य वर्त्तमान रहते हैं सृष्टि की आदि में ईश्वर से वेदों की प्रसिद्धि होती है और प्रलय में जगत के नहीं रहने से उनकी अप्रसिद्धि होती है इस कारण से वेद नित्यस्वरूप ही बने रहते हैं जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द अक्षर अर्थ और सम्बन्ध वेदों में हैं इसी प्रकार से पूर्वकल्प में थे और आगे भी होंगे क्योंकि जो ईश्वर की विद्या है सो नित्य एक ही रस बनी रहती है उनके एक अक्षर का भी विपरीतभाव कभी नहीं होता, सो ऋग्वेद से लेके चारों वेदों की संहिता अब जिस प्रकार की हैं कि इन में शब्द अर्थ सम्बन्ध पद और अक्षरों का जिस क्रम से वर्त्तमान है इसी प्रकार का क्रम सब दिन बना रहता है क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है उसकी वृद्धि क्षय और विपरीतता कभी नहीं होती इस कारण से वेदों को नित्यस्वरूप ही मानना चाहिये ॥

अत्र वेदानां नित्यत्वे व्याकरणशास्त्रादीनां साक्ष्यर्थं प्रमाणानि लिख्यन्ते। तत्राह महाभाष्यकारः पतञ्जलिमुनिः ॥ नित्याः शब्दा नित्येषु शब्देषु कूटस्थैर विचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिरिति । इदं वचनं प्रथमाह्निक-मारभ्य बहुषु स्थलेषु व्याकरणमहाभाष्येऽस्ति । तथा श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः । इदम्। अइउण सूत्रभाष्ये चोक्तमिति। अस्यायमर्थः । वैदिका लौकिकाश्च सर्वे शब्दा नित्याः सन्ति । कुतः । शब्दानां मध्ये-कूटस्था विनाशरहिता अचला अनपाया अनुपजना अविकारिणो वर्णाः सन्त्यतः । अपायो लोपो निवृत्तिर्ग्रहणम् उपजन आगमः । विकार आदेशः । एते न विद्यन्ते येषु शब्देषु तस्मान्नित्याः शब्दाः ॥

भाषार्थ ॥

यह जो वेदों के नित्य होने का विषय है इस में व्याकरणादि शास्त्रों का प्रमाण साक्षी के लिये लिखते हैं इन में से जो व्याकरण शास्त्र है सो संस्कृत और भाषाओं के सब शब्दविद्या का मुख्य मूल प्रमाण है उसके बनाने वाले महामुनि पाणिनि और पतञ्जलि हैं उन का ऐसा मत है कि सब शब्द नित्य हैं क्योंकि इन शब्दों में जितने अक्षरादि अवयव हैं वे सब कूटस्थ अर्थात् विनाशरहित हैं और वे पूर्वापर विचलते भी नहीं उन का अभाव वा आगम कभी नहीं होता तथा कान से सुन के जिन का ग्रहण होता है बुद्धि से जो जाने जाते हैं जो वाक् इन्द्रिय से उच्चारण करने से प्रकाशित होते हैं और जिन का निवास का स्थान आकाश है उन को शब्द कहते हैं इस से वैदिक अर्थात् जो वेद के शब्द और वेदों से जो शब्द लोक में आये हैं वे लौकिक कहाते हैं वे भी सब नित्य ही होते हैं क्योंकि उन शब्दों के मध्य में सब वर्ण अविनाशी और अचल हैं तथा इन में लोप आगम और विकार नहीं बन सकते इस कारण से पूर्वोक्त शब्द नित्य हैं ॥

ननु गणपाठाष्टाध्यायीमहाभाष्येष्वपायादयो विधीयन्ते पुनरेतत्कथं संगच्छते । इत्येवं प्राप्ते ब्रूते महाभाष्यकारः । सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः । एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ॥ १ ॥ दाधाघ्वदाबित्यस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनम् । अस्यायमर्थः सर्वे संघाताः सर्वेषां पदानां स्थान आदेशा भवन्ति । अर्थाच्छब्दसंघातान्तराणां स्थानेष्वन्ये शब्दसंघाताः प्रयुज्यन्ते । तद्यथा । वेदपार । गम् । ड । सुँ । भू । शप् । तिप् । इत्येतस्य वाक्यसमुदायस्य स्थाने वेदपारगोऽभवदितीदं समुदायान्तरं प्रयुज्यते । अस्मिन्प्रयुक्तसमुदाये गम् ड सुँ शप् तिप् इत्येतेषाम् अम् ड् उँ श् प् इ प् इत्येतेऽप्रयन्तीति

केषांचिद्बुद्धिर्भवति सा भ्रममूलैवास्ति । कुतः । शब्दानामेकदेशविकारे चाप्युपलक्षणात् । नैव शब्दस्यैकदेशापाय एकदेशोपजन एकदेशविकारिणि सति दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेराचार्यस्य मते शब्दानां नित्यत्वमुपपन्नं भवत्यतः । तथैवा डागमो भू इत्यस्य स्थाने भो इति विकार चैव संगतिः कार्य्येति । । श्रोत्रोपलब्धिरिति) श्रोत्रेन्द्रियेण ज्ञानं यस्य बुद्ध्या नितरां ग्रहीतुं योग्य उच्चारणेनाभिप्रकाशितो यो यस्याकाशो देशोऽधिकरणं वर्त्तते स शब्दो भवतीति बोध्यम् । अनेन शब्दलक्षणेनापि शब्दो नित्य एवास्तीत्यवगम्यते । कथम् । उच्चारणश्रवणादिप्रयत्नक्रियायाः क्षणप्रध्वंसित्वात् । एकैकवर्णवर्त्तिनी वाक् इति महाभाष्यप्रामाण्यात् । प्रतिवर्णं वाक्क्रिया परिणमते अतस्तस्या एवानित्यत्वं गम्यते न च शब्दस्येति ॥

भाषार्थ ॥

प्र०—गणपाठ अष्टाध्यायी और महाभाष्य में अक्षरों के लोप आगम औ विकार आदि कहे हैं फिर शब्दों का नित्यत्व कैसे हो सकता है इस प्रश्न का उत्तर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि देते हैं कि शब्दों के समुदायों के स्थानों में अन्य शब्दों के समुदायों का प्रयोगमात्र होता है जैसे वेदपारगम् ङ सुँ भू शप् तिप् इस पदसमुदाय वाक्य के स्थान में वेदपारगोऽभवत् इस समुदायान्तर का प्रयोग किया जाता है इस में किसी पुरुष की ऐसी बुद्धि होती है कि अम् ङ् उँ श् प् इप् इन की निवृत्ति होजाती है सो उस की बुद्धि में भ्रममात्र है क्योंकि शब्दों के समुदाय के स्थानों में दूसरे शब्दों के समुदायों के प्रयोग किये जाते हैं सो यह मत दाक्षी के पुत्र पाणिनिमुनिजी का है जिनने अष्टाध्यायी आदि व्याकरण के ग्रन्थ किये हैं सो मत इस प्रकार से है कि शब्द नित्य ही होते हैं क्योंकि जो उच्चारण और श्रवणादि हम लोगों की क्रिया है उस के क्षणभङ्ग होने से अनित्य गिनी जाती है इससे शब्द अनित्य नहीं होते क्योंकि यह जो हम लोगों की वाणी है वही वर्ण २ के प्रति अन्य २ होती जाती है परन्तु शब्द तो सदा अखण्ड एकरस ही बने रहते हैं ॥

ननु च भोः शब्दोऽप्युपरतागतो भवति । उच्चारित उपागच्छति । अनुच्चारितोऽनागतो भवति । वाक्क्रियावत् । पुनस्तस्य कथं नित्यत्वं भवेत् । अत्रोच्यते । नाकाशवत् पूर्वस्थितस्य शब्दस्य साधनाभावादभिव्यक्तिर्भवति । किन्तु तस्य प्राणवाक्क्रियया।भिव्यक्तिश्च । तद्यथा । गौरित्यत्र यावद्वागगकारेऽस्ति न तावदौकारं यावदौकारे न तावद्विसर्जनीये । एवं वाक्क्रियोच्चारणस्यापायोपजनौ भवतः न च शब्दस्याखण्डैकरसस्य तस्य सर्वत्रोपलब्धत्वात् । यत्र खलु

वायुवाक्क्रिये न भवतस्तत्रोच्चारणश्रवणे अपि न भवतः । अतः शब्दस्त्वाकाशवदेव सदा नित्योऽस्तीत्यादि व्याकरणमतेन सर्वेषां शब्दानां नित्यत्वमस्ति किमुत वैदिकानामिति ॥

भाषार्थ ॥

प्र०—शब्द भी उच्चारण किये के पश्चात् नष्ट होजाता है और उच्चारण के पूर्व सुना नहीं जाता है जैसे उच्चारणक्रिया अनित्य है वैसे ही शब्द भी अनित्य हो सकता है फिर शब्दों को नित्य क्यों मानते हो ? । उ०—शब्द तो आकाश की नाईं सर्वत्र एकरस भर रहे हैं परन्तु जब उच्चारणक्रिया नहीं होती तब प्रसिद्ध सुनने में नहीं आते । जब प्राण और वाणी की क्रिया से उच्चारण किये जाते हैं तब शब्द प्रसिद्ध होते हैं । जैसे गौः इस के उच्चारण में जब पर्यन्त उच्चारणक्रिया गकार में रहती है तब पर्यन्त औकार में नहीं, जब औकार में है तब गकार और विसर्जनीय में नहीं रहती इसी प्रकार वाणी की क्रिया की उत्पत्ति और नाश होता है शब्दों का नहीं किन्तु आकाश में शब्द की प्राप्ति होने से शब्द तो अखण्ड एकरस सर्वत्र भर रहे हैं परन्तु जब पर्यन्त वायु और वाक् इन्द्रिय की क्रिया नहीं होती तब पर्यन्त शब्दों का उच्चारण और श्रवण भी नहीं होता इससे यह सिद्ध हुआ कि शब्द आकाश की नाईं नित्य ही हैं जब व्याकरण शास्त्र के मत से सब शब्द नित्य होते हैं तो वेदों के शब्दों की कथा तो क्या ही कहनी है क्योंकि वेदों के शब्द तो सब प्रकार से नित्य ही बने रहते हैं ॥

एवं जैमिनिमुनिनापि शब्दस्य नित्यत्वं प्रतिपादितम् ॥ नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् । पूर्वमीमांसा । अ० १ पा० १ सू० १८ अस्यायमर्थः । (तु) शब्देनानित्यशङ्का निवार्य्यते । विनाशरहितत्वाच्छब्दो नित्योऽस्ति कस्माद्दर्शनस्य परार्थत्वात् । दर्शनस्योच्चारणस्य परस्यार्थस्य ज्ञापनार्थत्वात् । शब्दस्यानित्यत्वं नैव भवति । अन्यथाऽयं गोशब्दार्थोऽस्तीत्यभिज्ञाऽनित्येन शब्देन भवितुमयोग्यास्ति । नित्यत्वे सति ज्ञाप्यज्ञापकयोर्विद्यमानत्वात् । सर्वमेतत्संगतं स्यात् । अतश्चैकमेव गोशब्दं युगपदनेकेषु स्थलेष्वनेक उच्चारका उपलभन्ते पुनः पुनस्तमेव चेति । एवं जैमिनिना शब्दनित्यत्वेऽनेके हेतवः प्रदर्शिताः ॥

भाषार्थ ॥

इसी प्रकार जैमिनि मुनि ने भी शब्द को नित्य माना है शब्द में जो अनित्य होने की शङ्का आती है उसका (तु) शब्द से निवारण किया है शब्द नित्य ही हैं अर्थात् नाशरहित हैं क्योंकि उच्चारणक्रिया से जो शब्द का श्रवण होता है सो अर्थ

के जनाने ही के लिये है इससे शब्द अनित्य नहीं हो सकता जो शब्द का उच्चारण किया जाता है उस की ही प्रत्यभिज्ञा होती है कि श्रोत्रद्वारा ज्ञान के बीच में वही शब्द स्थिर रहता है फिर उसी शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है । जो शब्द अनित्य होता तो अर्थका ज्ञान कौन कराता क्योंकि वह शब्द ही नहीं रहा फिर अर्थ को कौन जनावे और जैसे अनेक देशों में अनेक पुरुष एक काल में ही एक गो शब्द का उच्चारण करते हैं इसी प्रकार उसी शब्द का उच्चारण बारंबार भी होता है इस कारण से भी शब्द नित्य हैं जो शब्द अनित्य होता तो यह व्यवस्था कभी नहीं बन सकती, सो जैमिनि मुनि ने इस प्रकार के अनेक हेतुओं से पूर्वमीमांसा शास्त्र में शब्द को नित्य सिद्ध किया है ॥

अन्यच्च वैशेषिकसूत्रकारः कणादमुनिरप्यत्राह ॥ तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् । वैशेषिके । अ० १ आ० १ सू० ३ अस्यायमर्थः । तद्वचनात्तयोर्धर्मेश्वरयोर्वचनाद्धर्मस्यैव कर्त्तव्यतया प्रतिपादनादीश्वरेणैवोक्तत्वाच्चाम्नायस्य वेदचतुष्टयस्य प्रामाण्यं सर्वैर्नित्यत्वेन स्वीकार्यम् ॥

भाषार्थ ॥

इसी प्रकार वैशेषिकशास्त्र में कणादमुनि ने भी कहा है (तद्वचना०) वेद ईश्वरोक्त हैं इन में सत्य विद्या और पक्षपातरहित धर्म का ही प्रतिपादन है इससे चारों वेद नित्य हैं ऐसा ही सब मनुष्यों को मानना उचित है क्योंकि ईश्वर नित्य है इससे उसकी विद्या भी नित्य है ॥

तथा स्वकीयन्यायशास्त्रे गोतममुनिरप्यत्राह ॥ मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् । अ० २ आ० १ सू० ६७ अस्यायमर्थः । तेषां वेदानां नित्यानामीश्वरोक्तानां प्रामाण्यं सर्वैः स्वीकार्यम् । कुतः । आप्तप्रामाण्यात् धर्मात्मभिः कपटछलादिदोषरहितैर्दयालुभिः सत्योपदेष्टृभिर्विद्यापारगैर्महायोगिभिः सर्वैर्ब्रह्मादिभिराप्तैर्वेदानां प्रामाण्यं स्वीकृतमतः किंवत् । मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत् । यथा सत्यपदार्थविद्याप्रकाशकानां मन्त्राणां विचाराणां सत्यत्वेन प्रामाण्यं भवति । यथाचायुर्वेदोक्तस्यैकदेशोक्तौषधसेवनेन रोगनिवृत्त्या तद्भिन्नस्यापि भागस्य तादृशस्य प्रामाण्यं भवति । तथा वेदोक्तार्थस्यैकदेशप्रत्यक्षेणेतरस्यादृष्टार्थविषयस्य वेदभागस्यापि प्रामाण्यमङ्गीकार्यम् एतत्सूत्रस्योपरि भाष्यकारेण वात्स्यायनमुनिनाप्येवं प्रतिपादितम् ॥ द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम् । य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनामित्यायुर्वेदप्रामाण्यवद्वेदप्रामाण्यमनुमातव्यमिति । नित्यत्वाद्वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादित्युक्तम् ॥ अस्यायमभिप्रायः. यथाप्तोपदेशस्य शब्दस्य

प्रामाण्यं भवति । तथा सर्वथाप्तेनेश्वरेणोक्तानां वेदानां सर्वैराप्तैः प्रामाण्येनाङ्गीकृतत्वाद्वेदाः प्रमाणमिति बोध्यम् । अत ईश्वरविद्यामयत्वाद्वेदानां नित्यत्वमेवोपपन्नं भवतीति दिक् ॥

भाषार्थ ॥

वैसे ही न्यायशास्त्र में गोतम मुनि भी शब्द को नित्य कहते हैं (मन्त्रायु०) वेदों को नित्य ही मानना चाहिये क्योंकि सृष्टि के आरम्भ से लेके आज पर्यन्त ब्रह्मादि जितने आप्त होते आये हैं वे सब वेदों को नित्य ही मानते आये हैं उन आप्तों का अवश्य ही प्रमाण करना चाहिये क्योंकि आप्त लोग वे होते हैं जो धर्मात्मा कपट छलादि दोषों से रहित सब विद्याओं से युक्त महायोगी और सब मनुष्यों के सुख होने के लिये सत्य का उपदेश करनेवाले हैं जिनमें लेशमात्र भी पक्षपात वा मिथ्याचार नहीं होता उन्होंने वेदों का यथावत् नित्य गुणों से प्रमाण किया है जिन्होंने आयुर्वेद को बनाया है जैसे आयुर्वेद वैद्यक शास्त्र के एक देश में कहे औषध और पथ्य के सेवन करने से रोग की निवृत्ति से सुख प्राप्त होता है जैसे उसके एक देश के कहे के सत्य होने से उस के दूसरे भाग का भी प्रमाण होता है इसी प्रकार वेदों का भी प्रमाण करना सब मनुष्यों को उचित है क्योंकि वेद के एक देश में कहे अर्थ का सत्यपन विदित होने से उससे भिन्न जो वेदों के भाग हैं कि जिन का अर्थ प्रत्यक्ष न हुआ हो उनका भी नित्य प्रमाण अवश्य करना चाहिये क्योंकि आप्त पुरुष का उपदेश मिथ्या नहीं हो सकता (मन्त्रायु०) इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने वेदों का नित्य होना स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि जो आप्त लोग हैं वे वेदों के अर्थ को देखने दिखाने और जनाने वाले हैं जो २ उस २ मन्त्र के अर्थ के द्रष्टा वक्ता होते हैं वे ही आयुर्वेद आदि के बनानेवाले हैं जैसे उन का कथन आयुर्वेद में सत्य है वैसे ही वेदों के नित्य मानने का उनका जो व्यवहार है सो भी सत्य ही है ऐसा मानना चाहिये क्योंकि जैसे आप्तों के उपदेश का प्रमाण अवश्य होता है वैसे ही सब आप्तों का भी जो परम आप्त सब का गुरु परमेश्वर है उस के किये वेदों का भी नित्य होने का प्रमाण अवश्य ही करना चाहिये ॥

अत्र विषये योगशास्त्रे पतञ्जलिमुनिरप्याह ॥ स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ पातञ्जलयोगशास्त्रे । अ० १ पा० १ सू० २६ । यः पूर्वेषां सृष्ट्यादावुत्पन्नानामग्निवाय्वादित्याङ्गिरोब्रह्मादीनां प्राचीनानामस्मदादीनामिदानींतनानामग्रे भविष्यतां च सर्वेषामेव ईश्वर एव गुरुरस्ति । गृणाति वेदद्वारोपदिशति सत्यानर्थान् स गुरुः । स च सर्वदा नित्योऽस्ति । तत्र कालगतेर-

प्रचारत्वात् । न स ईश्वरोऽविद्यादिक्लेशैः पापकर्मभिस्तद्वासनया च कदाचिद्युक्तो भवति । यस्मिन् निरतिशयं नित्यं स्वाभाविकं ज्ञानमस्ति तदुक्तत्वाद्वेदानामपि सत्यार्थवत्त्वनित्यत्वे वेद्ये इति ॥

भाषार्थ ॥

इस विषय में योगशास्त्र के कर्त्ता पतञ्जलि मुनि भी वेदों को नित्य मानते हैं (स एष०) जो कि प्राचीन अग्नि वायु आदित्य अङ्गिरा और ब्रह्मादि पुरुष सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए थे उन से, लेके हम लोग पर्यन्त और हम से आगे जो होने वाले हैं इन सब का गुरु परमेश्वर ही है क्योंकि वेदद्वारा सत्य अर्थों का उपदेश करने से परमेश्वर का नाम गुरु है सो ईश्वर नित्य ही है क्योंकि ईश्वर में क्षणादि काल की गति का प्रचार ही नहीं है और वह अविद्या आदि क्लेशों से और पापकर्म तथा उनकी वासनाओं के भोगों से अलग है । जिस में अनन्त विज्ञान सर्वदा एकरस बना रहता है उसी के रचे वेदों का भी सत्यार्थपना और नित्यपना भी निश्चित है ऐसा ही सब मनुष्यों को जानना चाहिये ॥

एवमेव स्वकीयसांख्यशास्त्रे पञ्चमाध्याये कपिलाचार्य्योऽप्यत्राह ॥ निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम् ॥ सू० ५१ ॥ अस्यायमर्थः । वेदानां निजशक्त्यभिव्यक्तेः पुरुषसहचारिप्रधानसामर्थ्यात् प्रकटत्वात्स्वतःप्रामाण्यनित्यत्वे स्वीकार्य्ये इति ॥

भाषार्थ ॥

इसी प्रकार से सांख्यशास्त्र में कपिलाचार्य भी कहते हैं (निज०) परमेश्वर की (निज) अर्थात् स्वाभाविक जो विद्या शक्ति है उससे प्रकट होने से वेदों का नित्यत्व और स्वतःप्रमाण सब मनुष्यों को स्वीकार करना चाहिये ॥

अस्मिन् विषये स्वकीयवेदान्तशास्त्रे कृष्णद्वैपायनो व्यासमुनिरप्याह ॥ सू० शास्त्रयोनित्वात् । अ० १ पा० १ सू० ३ । अस्यायमर्थः । ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति । यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात्संभवति । यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति सिद्धं लोके किमुवक्तव्यमितीदं वचनं शङ्कराचार्य्येणास्य सूत्रस्योपरि स्वकीयव्याख्याने गदितम् । अतः किमागतं

सर्वज्ञस्येश्वरस्य शास्त्रमपि नित्यं सर्वार्थज्ञानयुक्तं च भवितुमर्हति । अन्यच्च । तस्मिन्नेवाध्याये । सू० अतएव च नित्यत्वम् । पा० ३ सू० २९ । अस्यायमर्थः । अत ईश्वरोक्तत्वान्नित्यधर्मकत्वाद्वेदानां स्वतःप्रमाण्यं सर्वविद्यावत्त्वं सर्वेषु कालेष्वव्यभिचारित्वान्नित्यत्वं च सर्वैर्मनुष्यैर्मन्तव्यमिति सिद्धम् । न वेदस्य प्रामाण्यसिद्ध्यर्थमन्यत्प्रमाणं स्वीक्रियते । किंत्वेतत्साक्षित्वद्विज्ञेयम् । वेदानां स्वतःप्रमाणत्वात् । सूर्यवत् । यथा सूर्यः स्वप्रकाशः सन् संसारस्थान्महतोऽल्पांश्च पर्वतादीन् त्रसरेण्वन्तान् पदार्थान्प्रकाशयति तथा वेदोऽपि स्वयं स्वप्रकाशः सन् सर्वा विद्याः प्रकाशयतीत्यवधेयम् ॥

भाषार्थ ॥

इसी प्रकार से वेदान्तशास्त्र में वेदों के नित्य होने के विषय में व्यासजी ने भी लिखा है (शास्त्र०) इस सूत्र के अर्थ में शङ्कराचार्य्य ने भी वेदों को नित्य मान के व्याख्यान किया है कि ऋग्वेदादि जो चारों वेद हैं वे अनेक विद्याओं से युक्त हैं सूर्य्य के समान सब सत्य अर्थों के प्रकाश करनेवाले हैं उनका बनानेवाला सर्वज्ञादि गुणों से युक्त परब्रह्म है क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई जीव सर्वज्ञगुणयुक्त इन वेदों को बनासके ऐसा संभव कभी नहीं हो सकता किन्तु वेदार्थविस्तार के लिये किसी जीवविशेष पुरुष से अन्य शास्त्र बनाने का संभव होता है। जैसे पाणिनि आदि मुनियों ने व्याकरणादि शास्त्रों को बनाया है उन में विद्या के एक २ देश का प्रकाश किया है सो भी वेदों के आश्रय से बना सके हैं और जो सब विद्याओं से युक्त वेद हैं उन को सिवाय परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं बना सकता क्योंकि परमेश्वर से भिन्न सब विद्याओं में पूर्ण कोई भी नहीं है किन्च परमेश्वर के बनाये वेदों के पढ़ने विचारने और उसी के अनुग्रह से मनुष्यों को यथाशक्ति विद्या का बोध होता है अन्यथा नहीं ऐसा शंकराचार्य्य ने भी कहा है इससे क्या आया कि वेदों के नित्य होने में सब आर्य्य लोगों की साक्षी है और यह भी कारण है कि जो ईश्वर नित्य और सर्वज्ञ है उस के किये वेद भी नित्य और सर्वज्ञ होने के योग्य हैं अन्य का बनाया ऐसा ग्रन्थ कभी नहीं हो सकता (अतएव०) इस सूत्र से भी यही आता है कि वेद नित्य हैं और सब सज्जन लोगों को भी ऐसा ही मानना उचित है तथा वेदों के प्रमाण और नित्य होने में अन्य शास्त्रों के प्रमाणों को साक्षी के समान जानना चाहिये क्योंकि वे अपने ही प्रमाण से नित्य सिद्ध हैं जैसे सूर्य के प्रकाश में सूर्य का ही प्रमाण है अन्य का नहीं और जैसे सूर्य्य प्रकाशस्वरूप है पर्वत से लेके त्रसरेणु पर्य्यन्त पदार्थों का प्रकाश करता है वैसे वेद भी स्वयंप्रकाश हैं और सब सत्यविद्याओं का भी प्रकाश कर रहे हैं ॥

अतएव स्वयमीश्वरः स्वप्रकाशितस्य वेदस्य स्वस्य च सिद्धिकरं प्रमाणमाह ॥ सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ॥ कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ १ ॥ य० अ० ४० । मं० ८ ॥ अस्यायमभिप्रायः । यः पूर्वोक्तः सर्वव्यापकत्वादिविशेषणयुक्त ईश्वरोऽस्ति (स पर्य्यगात्) परितः सर्वतोऽगात् गतवानाप्तवानस्ति । नैवैकः परमाणुरपि तद्व्याप्त्या विनास्ति (शुक्रं) तद्ब्रह्म सर्वजगत्कर्तृवीर्य्यवदनन्तबलवदस्ति (अकायं) तत्स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरत्रयसम्बन्धरहितम् (अव्रणं) नैवतस्मिंश्छिद्रं कर्तुं परमाणुरपि शक्नोति । अतएव छेदरहितत्वादक्षतम् (अस्नाविरं) तन्नाडीसम्बन्धरहितत्वाद्बन्धनावरणविमुक्तम् (शुद्धं) तदविद्यादिदोषेभ्यः सर्वदा पृथग्वर्त्तमानम् (अपापविद्धम्) नैव तत्पापयुक्तं पापकारि न कदाचिद्भवति (कविः) सर्वज्ञः (मनीषी) यः सर्वेषां मनसामीषी साक्षी ज्ञातास्ति (परिभूः) सर्वेषामुपरि विराजमानः (स्वयंभूः) यो निमित्तोपादानसाधारणकारणत्रयरहितः । स एव सर्वेषां पिता नह्यस्य कश्चित् जनकः स्वसामर्थ्येन सदैव सदा वर्त्तमानोऽस्ति । (शाश्वतीभ्यः) य एवंभूतः सच्चिदानन्दस्वरूपः परमात्मा (सः) सर्गादौ स्वकीयाभ्यः शाश्वतीभ्यो निरन्तराभ्यः समाभ्यः प्रजाभ्यो याथातथ्यतो यथार्थस्वरूपेण वेदोपदेशेन (अर्थान् व्यदधात्) विधत्तवानतो यदा यदा सृष्टिं करोति तदा तदा प्रजाभ्यो हिताय सृष्टौ सर्वविद्यासमन्वितं वेदशास्त्रं स एव भगवानुपदिशति । अतएव नैव वेदानामनित्यत्वं केनापि मन्तव्यम् । तस्य विद्यायाः सर्वदैकरसवर्त्तमानत्वात् ॥

भाषार्थ ॥

ऐसी ही परमेश्वर ने अपने और अपने किये वेदों के नित्य और स्वतःप्रमाण होने का उपदेश किया है सो आगे लिखते हैं (स पर्य्यगात्) यह मन्त्र ईश्वर और उस के किये वेदों का प्रकाश करता है कि जो ईश्वर सर्वव्यापक आदि विशेषणयुक्त है सो सब जगत् में परिपूर्ण हो रहा है उस की व्याप्ति से एक परमाणु भी रहित नहीं है सो ब्रह्म (शुक्रं) सब जगत् का करने वाला और अनन्त विद्यादि बल से युक्त है (अकायं) जो स्थूल सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों के संयोग से रहित है अर्थात् वह कभी जन्म नहीं लेता (अव्रणं) जिस में एक परमाणु भी छिद्र नहीं कर सकता इसीसे वह सर्वथा छेदरहित है (अस्नाविरं) वह नाड़ियों के बन्धन से अलग है जैसा वायु और रुधिर

नाड़ियों में बंधा रहना है ऐसा बन्धन परमेश्वर में नहीं होता (शुद्धं) जो अविद्या अज्ञानादि क्लेश और सब दोषों से पृथक् है (अपापविद्धम्) जो ईश्वर पापयुक्त वा पाप करने वाला कभी नहीं होता क्योंकि वह स्वभाव से ही धर्मात्मा है (कविः) जो सब का जानने वाला है (मनीषी) जो सब का अन्तर्यामी है और भूत भविष्यत् तथा वर्त्तमान इन तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जानता है (परिभूः) जो सब के ऊपर विराजमान हो रहा है (स्वयंभूः) जो कभी उत्पन्न नहीं होता और उसका कारण भी कोई नहीं किन्तु वही सब का कारण अनादि और अनन्त है इस से वही सब का माता पिता है और अपने ही सत्य सामर्थ्य से सदा वर्त्तमान रहता है इत्यादि लक्षणों से युक्त जो सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर है (शाश्वतीभ्यः०) उसने सृष्टि की आदि में अपनी प्रजा को जो कि उस के सामर्थ्य में सदा से वर्त्तमान है उस के सब सुखों के लिये (अर्थान् व्यदधात्) सत्य अर्थों का उपदेश किया है इसी प्रकार जब २ परमेश्वर सृष्टि को रचता है तब २ प्रजा के हित के लिये सृष्टि की आदि में सब विद्याओं से युक्त वेदों का भी उपदेश करता है और जब २ सृष्टि का प्रलय होता है तब २ वेद उस के ज्ञान में सदा बने रहते हैं इस से उन को सदैव नित्य मानना चाहिये ॥

यथा शास्त्रप्रमाणेन वेदा नित्याः सन्तीति निश्चयोस्ति । तथा युक्त्यापि । तद्यथा । नासत आत्मलाभो न सत आत्महानम् । योस्ति स भविष्यति । इति न्यायेन वेदानां नित्यत्वं स्वीकार्य्यम् । कुतः । यस्य मूलं नास्ति नैव तस्य शाखादयः संभवितुमर्हन्ति । वन्ध्यापुत्रविवाहदर्शनवत् पुत्रो भवेच्चेत्तदा वन्ध्यात्वं न सिध्येत् स नास्ति चेत्पुनस्तस्य विवाहदर्शने कथं भवतः । एवमेवात्रापि विचारणीयम् । यदीश्वरे विद्यानन्ता न भवेत्कथमुपदिशेत् । स नोपदिशेच्चेन्नैव कस्यापि मनुष्यस्य विद्यासंबन्धो दर्शनं च स्याताम् । निर्मूलस्य प्ररोहाभावात् । नह्यस्मिन् जगति निर्मूलमुत्पन्नं किञ्चिद्दृश्यते । यस्य सर्वेषां मनुष्याणां साक्षादनुभवोऽस्ति सोऽत्र प्रकाश्यते । यस्य प्रत्यक्षोऽनुभवस्तस्यैव संस्कारो यस्य संस्कारस्तस्यैव स्मरणं ज्ञानं तेनैव प्रवृत्तिनिवृत्ती भवतो नान्यथेति । तद्यथा । येन संस्कृतभाषा पठ्यते तस्याऽस्या एव संस्कारो भवति नाऽन्यस्याः । येन देशभाषाऽधीयते तस्या एव संस्कारो भवति नातोऽन्यथा । एवं सृष्ट्यादावीश्वरोपदेशाऽध्यापनाभ्यां विना नैव कस्यापि विद्याया अनुभवः स्यात् । पुनः कथं संस्कारस्तेन विना कुतः स्मरणं न च स्मरणेन विना विद्याया लेशोपि कस्यचिद्भवितुमर्हति ॥

भाषार्थ ।

जैसे शास्त्रों के प्रमाणों से वेद नित्य हैं वैसे ही युक्ति से भी उन का नित्यपन सिद्ध होता है क्योंकि असत् से सत् का होना अर्थात् अभाव से भाव का होना कभी नहीं हो सकता तथा सत् का अभाव भी नहीं हो सकता । जो सत्य है उसी से आगे प्रवृत्ति भी हो सकती है और जो वस्तु ही नहीं है उससे दूसरी वस्तु किसी प्रकार से नहीं हो सकती । इस न्याय से भी वेदों को नित्य ही मानना ठीक है क्योंकि जिसका मूल नहीं होता है उस की डाली पत्र पुष्प और फल आदि भी कभी नहीं हो सकते । जैसे कोई कहे कि वन्ध्या के पुत्र का विवाह मैंने देखा, यह उस की बात असम्भव है क्योंकि जो उस के पुत्र होता तो वह वन्ध्या ही क्यों होती और जब पुत्र ही नहीं है तो उस का विवाह और दर्शन कैसे हो सकते हैं वैसे ही जब ईश्वर में अनन्तविद्या है तभी मनुष्यों को विद्या का उपदेश भी किया है और जो ईश्वर में अनन्तविद्या न होती तो वह उपदेश कैसे कर सकता और यह जगत् को भी कैसे रच सकता । जो मनुष्यों को ईश्वर अपनी विद्या का उपदेश न करता तो किसी मनुष्य को विद्या जो यथार्थ ज्ञान है सो कभी नहीं होता क्योंकि इस जगत् में निर्मूल का होना वा बढ़ना सर्वथा असम्भव है इस से यह जानना चाहिये कि परमेश्वर से वेदविद्या मूल को प्राप्त होके मनुष्यों में विद्यारूप वृक्ष विस्तृत हुआ है इस में और भी युक्ति है कि जिन का सब मनुष्यों को अनुभव और प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसी का दृष्टान्त देते हैं देखो कि जिस का साक्षात् अनुभव होता है उसी का ज्ञान में संस्कार होता है, संस्कार से स्मरण, स्मरण से इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति होती है अन्यथा नहीं । जो संस्कृतभाषा को पढ़ता है उसके मन में उसी का संस्कार होता है अन्य भाषा का नहीं और जो किसी देशभाषा को पढ़ता है इस को देशभाषा का संस्कार होता है अन्य का नहीं, इसी प्रकार जो वेदों का उपदेश ईश्वर न करता तो किसी मनुष्य को विद्या का संस्कार नहीं होता जब विद्या का संस्कार न होता तो उसका स्मरण भी नहीं होता, स्मरण के बिना किसी मनुष्य को विद्या का लेश भी न हो सकता । इस युक्ति से क्या जाना जाता है कि ईश्वर के उपदेश से वेदों को सुन पढ़ और विचार के ही मनुष्यों को विद्या का संस्कार आज पर्यन्त होता चला आता है अन्यथा कभी नहीं हो सकता ॥

किं च भो मनुष्याणां स्वाभाविकी या प्रवृत्तिर्भवति तत्र सुखदुःखानुभवश्च तयोरुत्तरोत्तरकाले क्रमानुक्रमाद्विद्यावृद्धेर्भविष्यत्येव पुनः किमर्थमीश्वराद्वेदोत्पत्तेः स्वीकार इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । एतद्वेदोत्पत्तिप्रकरणे परिहृतं चैव निर्णयः ।

यथेदानीमस्मदादीनां पठनेन विना कश्चिदपि विद्वान् भवति तस्य ज्ञानोन्नतिश्च। तथा नैवेश्वरोपदेशागमनेन विना कस्यापि विद्याज्ञानोन्नतिर्भवेत्। अशिक्षितबालकवनस्थवत्। यथोपदेशमन्तरा न बालकानां वनस्थानां च विद्या मनुष्यभाषाविज्ञाने अपि भवतः पुनर्विद्योत्पत्तेस्तु का कथा तस्मादीश्वराद्वेदविद्याऽऽगता सा नित्यैवास्ति तस्य सत्यगुणवत्त्वात्। यन्नित्यं वस्तु वर्त्तते तस्य नामगुणकर्माण्यपि नित्यानि भवन्ति तदाधारस्य नित्यत्वात्। नैवाधिष्ठानमन्तरा नामगुणकर्मादयो गुणाः स्थितिं लभन्ते तेषां पराश्रितत्वात्। यन्नित्यं नास्ति न तस्यैतान्यपि नित्यानि भवन्ति। नित्यं चोत्पत्तिविनाशाभ्यां हीनं भवितुमर्हति। उत्पत्तिर्हि पृथग्भूतानां द्रव्याणां या संयोगविशेषाद्भवति। तेषामुत्पन्नानां कार्यद्रव्याणां सति वियोगे विनाशश्च संयोगाभावात्। अदर्शनं च विनाशः। ईश्वरस्यैकरसत्वान्नैव तस्य संयोगवियोगाभ्यां संस्पर्शोऽपि भवति। अत्र कणादमुनिकृतं सूत्रं प्रमाणमस्ति। सदकारणवन्नित्यम् ॥ १ ॥ वैशेषिक। अ० ४ । पा० ४ । सू० १ ॥ अस्यायमर्थः। यत्कार्यं कारणादुत्पद्य विद्यमानं भवति तदनित्यमुच्यते तस्य प्रागुत्पत्तेरभावात्। यत्तु कस्यापि कार्यं नैव भवति किन्तु सदैव कारणरूपमेव तिष्ठति। तन्नित्यं कथ्यते। यद्यत्संयोगजन्यं तत्तत्कर्त्रपेक्षं भवति कर्त्तापि संयोगजन्यश्चेत्तर्हि तस्याप्यन्योऽन्यः कर्त्तेत्यागच्छेत्। एवं पुनः पुनः प्रसङ्गादनवस्थापातः यच्च संयोगेन प्रादुर्भूतं नैव तस्य प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगकरणे सामर्थ्यं भवितुमर्हति तस्मात्तेषां सूक्ष्मत्वात्। यद्यस्मात्सूक्ष्मं तत्तस्यात्मा भवति स्थूलं सूक्ष्मस्य प्रवगाहत्वात्। अयोऽग्निवत्। यथा सूक्ष्मत्वादग्निः कठिनं स्थूलमयः प्रविश्य तस्यावयवानां पृथग्भावं करोति। तथा जलमपि पृथिव्याः सूक्ष्मत्वात्तत्कणान् प्रविश्य संयुक्तमेकं पिण्डं करोति छिनत्ति च। तथा परमेश्वरः संयोगवियोगाभ्यां पृथग्भूतो विभुरस्त्यतो नियमेन रचनं विनाशं च कर्त्तुमर्हति। न चान्यथा। यथा संयोगवियोगान्तर्गतत्वादस्मदादीनां प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगवियोगकरणे सामर्थ्यमस्ति। तथेश्वरेऽपि भवेत्। अन्यच्च। यतः संयोगवियोगारम्भो भवति। न तदादौ पृथग्भूतोऽस्ति। तस्य संयोगवियोगारम्भस्यादिकारणत्वात्। आदिकारणस्याभावात्संयोगवियोगारम्भस्यानुत्पत्तेश्च। एवंभूतस्य सदा निर्विकारस्वरूपस्याजस्यानादेर्नित्यस्य सत्यसामर्थ्यस्येश्वरस्य सकाशाद्वेदानां प्रादुर्भावात्तस्य ज्ञाने सदैव वर्त्तमानत्वात्सत्यार्थवत्त्वं नित्यत्वं चैतेषामस्तीति सिद्धम् ॥

इति वेदानां नित्यत्वविचारः ॥

भाषार्थ ॥

प्र०-मनुष्यों को स्वभाव से जो चेष्टा है उस में सुख और दुःख का अनुभव भी होता है उससे उत्तर २ काल में क्रमानुसार से विद्या की वृद्धि भी अवश्य होगी तब वेदों को भी मनुष्य लोग रच लेंगे फिर ईश्वर ने वेद रचे ऐसा क्यों मानना । उ०-इस का समाधान वेदोत्पत्ति के प्रकरण में कर दिया है वहां यही निर्णय किया है कि जैसे इस समय में अन्य विद्वानों से पढ़े विना कोई भी विद्यावान् नहीं होता और इसी के विना किसी पुरुष में ज्ञान की वृद्धि भी देखने में नहीं आती वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में ईश्वरोपदेश की प्राप्ति के विना किसी मनुष्य को विद्या और ज्ञान की बढ़ती कभी नहीं हो सकती । इस में अशिक्षित बालक और वनवासियों का दृष्टान्त दिया था कि जैसे उस बालक और वन में रहने वाले मनुष्य को यथावत् विद्या का ज्ञान नहीं होता तथा अच्छी प्रकार उपदेश के विना उनको लोकव्यवहार का भी ज्ञान नहीं होता फिर विद्या की प्राप्ति तो अत्यन्त कठिन है । इससे क्या जानना चाहिये कि परमेश्वर के उपदेश वेदविद्या आने के पश्चात् ही मनुष्यों को विद्या और ज्ञान की उन्नति करनी भी सहज हुई है क्योंकि उसके सब गुण सत्य हैं इससे उस की विद्या जो वेद है वह भी नित्य ही है जो नित्य वस्तु है उस के नाम गुण और कर्म भी नित्य ही होते हैं क्योंकि उन का आधार नित्य है और विना आधार के नाम गुण और कर्मादि स्थिर नहीं हो सकते क्योंकि वे द्रव्यों के आश्रय सदा रहते हैं । जो अनित्य वस्तु है उस के नाम गुण और कर्म भी अनित्य होते हैं सो नित्य किस को कहना ? जो उत्पत्ति और विनाश से पृथक् है तथा उत्पत्ति क्या कहाती है कि जो अनेक द्रव्यों के संयोग विशेष से स्थूल पदार्थ का उत्पन्न होना और जब वे पृथक् २ होके उन द्रव्यों के वियोग से जो कारण में उन की परमाणुरूप अवस्था होती है उस को विनाश कहते हैं और जो द्रव्य संयोग से स्थूल होते हैं वे चक्षु आदि इन्द्रियों से देखने में आते हैं फिर उन स्थूल द्रव्यों के परमाणुओं का जब वियोग हो जाता है तब सूक्ष्म के होने से वे द्रव्य देख नहीं पड़ते इस का नाम नाश है क्योंकि अदर्शन को ही नाश कहते हैं जो द्रव्य संयोग और वियोग से उत्पन्न और नष्ट होता है उसी को कार्य और अनित्य कहते हैं और जो संयोग वियोग से अलग है उस का न कभी उत्पत्ति और न कभी नाश होता है इस प्रकार का पदार्थ एक परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण है क्योंकि वह सदा अखण्ड एकरस ही बना रहता है इसी से उसको नित्य कहते हैं इस में कणादमुनि के सूत्र का भी प्रमाण है (सत्कार०) जो किसी का कार्य है कि कारण से उत्पन्न होके विद्यमान होता है उस को अनित्य कहते हैं जैसे मट्टी से घड़ा हो के वह नष्ट भी हो जाता है इसी प्रकार परमेश्वर के सामर्थ्य कारण से सब जगत् उत्पन्न हो के

विद्यमान होता है फिर प्रलय में स्थूलाकार नहीं रहता किन्तु वह कारणरूप तो सदा ही बना रहता है इससे क्या आया कि जो विद्यमान हो और जिस का कारण कोई भी न हो अर्थात् स्वयं कारणरूप ही हो उसको नित्य कहते हैं क्योंकि जो २ संयोग से उत्पन्न होता है सो २ बनाने वाले की अपेक्षा अवश्य रखता है, जैसे कर्म नियम और कार्य्य ये सब कर्त्ता नियन्ता और कारण को ही सदा बनाते हैं और जो कोई ऐसा कहे कि कर्त्ता को भी किसी ने बनाया होगा तो उससे पूछना चाहिये उस कर्त्ता के कर्त्ता को किसने बनाया है इसी प्रकार यह अनवस्थाप्रसंग अर्थात् मर्यादारहित होता है जिस की मर्यादा नहीं है वह व्यवस्था के योग्य नहीं ठहर सक्ता और जो संयोग से उत्पन्न होता है वह प्रकृति और परमाणु आदि के संयोग करने में समर्थ ही नहीं हो सक्ता इससे क्या आया कि जो जिससे सूक्ष्म होता है वही उसका आत्मा होता है अर्थात् स्थूल में सूक्ष्म व्यापक होता है जैसे लोहे में अग्नि प्रविष्ट हो के उस के सब अवयवों में व्याप्त होता है और जैसे जल पृथिवी में प्रविष्ट होके उस के कणों के संयोग से विगड़ा करने में हेतु होता है तथा उस का छेदन भी करता है वैसे ही परमेश्वर सब संयोग और वियोग से पृथक् सब में व्यापक प्रकृति और परमाणु आदि से भी अत्यन्त सूक्ष्म और चेतन है इसी कारण से प्रकृति और परमाणु आदि द्रव्यों के संयोग करके जगत् को रच सकता है जो ईश्वर उन से स्थूल होता तो उन का ग्रहण और रचन कभी नहीं कर सक्ता क्योंकि जो स्थूल पदार्थ होते हैं वे सूक्ष्म पदार्थ के नियम करने में समर्थ नहीं होते जैसे हम लोग प्रकृति और परमाणु आदि के संयोग और वियोग करने में समर्थ नहीं हैं क्योंकि जो संयोग वियोग के भीतर है वह उस के संयोग वियोग करने में समर्थ नहीं हो सकता तथा जिस वस्तु से संयोग वियोग का आरम्भ होता वह वस्तु संयोग और वियोग से अलग ही होता है क्योंकि वह संयोग और वियोग के आरम्भ के नियमों का कर्त्ता और आदिकारण होता है तथा आदिकारण के अभाव से संयोग और वियोग का होना ही असम्भव है। इससे क्या जानना चाहिये कि जो सदा निर्विकारस्वरूप अज अनादि नित्य सत्यसामर्थ्य से युक्त और अनन्त विद्यावाला ईश्वर है उस की विद्या से वेदों के प्रकट होने और उस के ज्ञान में वेदों के सदैव वर्त्तमान रहने से वेदों को सत्यार्थयुक्त और नित्य सब मनुष्यों को मानना योग्य है। यह संक्षेप से वेदों के नित्य होने का विचार किया ॥

इति वेदानां नित्यत्वविचारः ॥

अथ वेदविषयविचारः ॥

अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति। विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्। तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति। तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणप-

(विष्णोः) व्यापकस्य परमेश्वरस्य (परमं) प्रकृष्टानन्दस्वरूपं (पदं) पदनीयं सर्वोत्तमोपायैर्मनुष्यैः प्रापणीयं मोक्षाख्यमस्ति तत् (सूरयः) विद्वांसः सदा सर्वेषु कालेषु पश्यन्ति कीदृशं तत् (आततम्) आसमन्तात्ततं विस्तृतं यद्देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितमस्ति। अतः सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वात्। कस्यां किमिव (दिवीवचक्षुराततम्) दिवि मार्त्तण्डप्रकाशे नेत्रदृष्टेर्व्याप्तिर्यथा भवति। तथैव तत्पदं ब्रह्मापि वर्त्तते मोक्षस्य च सर्वस्मादधिकोत्कृष्टत्वात् तदेव द्रष्टुं प्राप्तुमिच्छन्ति। अतो वेदा विशेषेण तस्यैव प्रतिपादनं कुर्वन्ति। एतद्विषयकं वेदान्तसूत्रं व्यासोऽप्याह। तत्तु समन्वयात्। अ० १। पा० १। सू० ४। अस्यायमर्थः। तदेव ब्रह्म सर्वत्र वेदवाक्येषु समन्वितं प्रतिपादितमस्ति। क्वचित्साक्षात्क्वचित्परम्परया च। अतः परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति। तथा यजुर्वेदप्रमाणम्। यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा॥ प्रजापतिः प्रजया सᳪंरराणस्त्रीणि ज्योतीᳪंषि सचते स षोडशी॥ य० अ० ८। मं० ३६। एतस्यार्थः। (यस्मात्) नैव परब्रह्मणः सकाशात् (परः) उत्तमः पदार्थः (जातः) प्रादुर्भूतः प्रकटः (अन्यः) भिन्नः कश्चिदप्यस्ति (प्रजापतिः) प्रजापतिरिति ब्रह्मणो नामास्ति प्रजापालकत्वात् (य आविवेश भु०) यः परमेश्वरः (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (भुवनानि) सर्वलोकान् (आविवेश) व्याप्तवानस्ति (सᳪंरराणः) सर्वप्राणिभ्योऽत्यन्तं सुखं दत्तवान्सन् (त्रीणि ज्योतीᳪंषि) त्रीण्यग्निसूर्यविद्युदाख्यानि सर्वजगत्प्रकाशकानि (प्रजया) ज्योतिषोऽन्यया सृष्ट्या सह तानि (सचते) समवेतानि करोति कृतवानस्ति (सः) अतः स एवेश्वरः (षोडशी) येन षोडशकला जगति रचितास्ता विद्यन्ते यस्मिन्यस्य वा तस्मात्स षोडशीत्युच्यते। अतोऽयमेव परमोऽर्थो वेदितव्यः॥ ओमित्येतदक्षरमिदᳪं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्॥ इदं माण्डूक्योपनिषद्वचनमस्ति। अस्यायमर्थः। ओमित्येतद्यस्य नामास्ति तदक्षरम्। यन्न क्षीयते कदाचिद्यच्चराचरं जगदश्नुते व्याप्नोति तद्ब्रह्मैवास्तीति विज्ञेयम्। अस्यैव सर्वैर्वेदादिभिः शास्त्रैः सकलेन जगता वोपगतं व्याख्यानं मुख्यतया क्रियतेऽतोऽयं प्रधानविषयोऽस्तीत्यवधार्य्यम्। किं च नैव प्रधानस्याग्रेऽप्रधानस्य ग्रहणं भवितुमर्हति। प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्य्यसम्प्रत्यय इति व्याकरणमहाभाष्यवचनप्रामाण्यात्। एवमेव सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्येऽर्थे मुख्यतात्पर्यमस्ति। तत्प्राप्तिप्रयोजना एव सर्व उपदेशाः सन्ति। अतस्तदुपदेशपुरःसरेणैव त्रयाणां कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां पारमार्थिकव्यावहारिकफलसिद्धये यथायोग्योपकाराय चानुष्ठानं सर्वैर्मनुष्यैर्यथावत्कर्त्तव्यमिति॥

भाषार्थ ॥

और भी इस विषय में ऋग्वेद का प्रमाण है कि (तद्वि०) (विष्णुः) अर्थात् व्यापक जो परमेश्वर है उस का (परमं) अत्यन्त उत्तम आनन्दस्वरूप (पदं) जो प्राप्त होने के योग्य अर्थात् जिस का नाम मोक्ष है उस को (सूरयः) विद्वान् लोग (सदा-पश्यन्ति) सब काल में देखते हैं वह कैसा है कि सब में व्याप्त हो रहा है और उसमें देश काल और वस्तु का भेद नहीं है अर्थात् उस देश में है और इस देश में नहीं तथा उस काल में था और इस काल में नहीं, उस वस्तु में है और इस वस्तु में नहीं, इसी कारण से वह पद सब जगह में सब को प्राप्त होता है क्योंकि वह ब्रह्म सब ठिकाने परिपूर्ण है इस में यह दृष्टान्त है कि (दिवीव चक्षुराततम्) जैसे सूर्य का प्रकाश आवरण-रहित आकाश में व्याप्त होता है और जैसे उस प्रकाश में नेत्र की दृष्टि व्याप्त होती है इसी प्रकार परब्रह्म-पद भी स्वयंप्रकाश सर्वत्र व्याप्तवान् हो रहा है, उस पद की प्राप्ति से कोई भी प्राप्ति उत्तम नहीं है इसलिये चारों वेद उसी की प्राप्ति कराने के लिये विशेष करके प्रतिपादन कर रहे हैं इस विषय में वेदान्तशास्त्र में व्यासमुनि के सूत्र का भी प्रमाण है (तत्तुसमन्वयात्) सब वेदवाक्यों में ब्रह्म का ही विशेष करके प्रतिपादन है । कहीं २ साक्षात्रूप और कहीं २ परम्परा से, इसी कारण से वह परब्रह्म वेदों का परम अर्थ है तथा इस विषय में यजुर्वेद का भी प्रमाण है कि (यस्मान्नजा०) जिस परब्रह्म से (अन्यः) दूसरा कोई भी (परः) उत्तम पदार्थ (जातः) प्रकट (नास्ति) अर्थात् नहीं है (य आविवेशभु०) जो सब विश्व अर्थात् सब जगह में व्याप्त हो रहा है (प्रजापतिः प्र०) वही सब जगत् का पालनकर्त्ता और अध्यक्ष है जिस ने (त्रीणिज्योतींषि) अग्नि सूर्य और बिजुली इन तीन ज्योतियों को प्रजा के प्रकाश होने के लिये (सचते) रचके संयुक्त किया है और जिस का नाम (षोडशी) है अर्थात् (१) ईक्षण जो यथार्थविचार (२) प्राण जो कि सब विश्व का धारण करनेवाला (३) श्रद्धा सत्य में विश्वास (४) आकाश (५) वायु (६) अग्नि (७) जल (८) पृथिवी (९) इन्द्रिय (१०) मन अर्थात् ज्ञान (११) अन्न (१२) वीर्य अर्थात् बल और पराक्रम (१३) तप अर्थात् धर्मानुष्ठान सत्याचार (१४) मन्त्र अर्थात् वेदविद्या (१५) कर्म अर्थात् सब चेष्टा (१६) नाम अर्थात् दृश्य और अदृश्य पदार्थों की संज्ञा, ये ही सोलह कला कहाती हैं । ये सब ईश्वर ही के बीच में हैं इससे उस को षोडशी कहते हैं । इन षोडश कलाओं का प्रतिपादन प्रश्नोपनिषद् के ६ छठे प्रश्न में लिखा है, इस से परमेश्वर ही वेदों का मुख्य अर्थ है और उससे पृथक् जो यह जगत् है सो वेदों का गौण अर्थ है और इन दोनों में से प्रधान का ही ग्रहण होता

है। इस से क्या आया कि वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर ही के प्राप्त कराने और प्रतिपादन करने में है। उस परमेश्वर के उपदेशरूप वेदों से कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों काण्डों का इस लोक और परलोक के व्यवहारों के फलों की सिद्धि और यथावत् उपकार करने के लिये सब मनुष्य इन चार विषयों के अनुष्ठानों में पुरुषार्थ करें, यही मनुष्यदेह धारण करने के फल हैं॥

तत्र द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः स सर्वः क्रियाप्रधानोऽस्ति। नैतेन विना विद्याभ्यासज्ञाने अपि पूर्णे भवतः। कुतः। बाह्यमानसव्यवहारयोर्बाह्याभ्यन्तरे युक्तत्वात्। स चानेकविधोऽस्ति। परन्तु तस्यापि खलु द्वौ भेदौ मुख्यौ स्तः। एकः परमपुरुषार्थसिद्ध्यर्थोऽर्थात् ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाज्ञापालनधर्मानुष्ठानज्ञानेन मोक्षमेव साधयितुं प्रवर्त्तते। अपरो लोकव्यवहारसिद्धये यो धर्मेणार्थकामौ निर्वर्त्तयितुं संयोज्यते। स यदा परमेश्वरस्य प्राप्तिमेव फलमुद्दिश्य क्रियते तदाऽयं श्रेष्ठफलापन्नो निष्कामसंज्ञां लभते। अस्य खल्वनन्तसुखेन योगात्। यदा चार्थकामफलसिद्ध्यवसानो लौकिकसुखाय योज्यते तदा सोऽपरः सकामएव भवति। अस्य जन्ममरणफलभोगेन युक्तत्वात्। स चाग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधपर्यन्तेषु यज्ञेषु सुगन्धिमिष्टपुष्टरोगनाशकगुणैर्युक्तस्य सम्यक् संस्कारेण शोधितस्य द्रव्यस्य वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणार्थमग्नौ होमः क्रियते स तद्द्वारा सर्वजगत्सुखकार्येव भवति। यं च भोजनाच्छादनयानकलाकौशलयंत्रसामाजिकनियमप्रयोजनसिद्ध्यर्थं विधत्ते सोधिकतया स्वसुखायैव भवति॥

भाषार्थ ॥

उन में से दूसरा कर्मकाण्ड विषय है सो सब क्रियाप्रधान ही होता है, जिस के विना विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकते क्योंकि मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है वह अनेक प्रकार का है परन्तु उस के दो भेद मुख्य हैं। एक परमार्थ, दूसरा लोकव्यवहार अर्थात पहिले से परमार्थ और दूसरे से लोकव्यवहार की सिद्धि करनी होती है। प्रथम जो परमपुरुषार्थरूप कहा उस में परमेश्वर की (स्तुति) अर्थात् उसके सर्वशक्तिमत्त्वादि गुणों का कीर्त्तन, उपदेश और श्रवण करना (प्रार्थना) अर्थात् जिस करके ईश्वर से सहायता की इच्छा करनी (उपासना) अर्थात् ईश्वर के स्वरूप में मग्न होके उसकी सत्यभाषणादि आज्ञा का यथावत् पालन करना, सो उपासना वेद और पातञ्जलयोगशास्त्र की रीति से ही करनी चाहिये तथा धर्म का स्वरूप न्यायाचरण है, न्यायाचरण उस को कहते हैं जो पक्षपात को छोड के सब प्रकार से सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना, इसी धर्म का जो ज्ञान और अनुष्ठान का

यथावत् करना है सो ही कर्मकाण्ड का प्रधान भाग है और दूसरा यह है कि जिससे पूर्वोक्त अर्थ काम और इन की सिद्धि करनेवाले साधनों की प्राप्ति होती है सो इस भेद को इस प्रकार से जानना कि जब मोक्ष अर्थात् सब दुःखों से छूट के केवल परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये धर्म से युक्त सब कर्मों का यथावत् करना यही निष्काम मार्ग कहाता है क्योंकि इस में संसार के भोगों की कामना नहीं की जाती इसी कारण से इस का फल अक्षय है और जिस में संसार के भोगों की इच्छा से धर्मयुक्त काम किये जाते हैं उसको सकाम कहते हैं इस हेतु से इस का फल नाशवान् होता है क्योंकि सब कर्मों करके इन्द्रिय भोगों को प्राप्त हो के जन्ममरण से नहीं छूट सकता सो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त जो कर्मकाण्ड है उसमें चार प्रकार के द्रव्यों का होम करना होता है एक सुगन्धगुणयुक्त जो कस्तूरी केशरादि हैं दूसरा मिष्टगुणयुक्त जो कि गुड़ और सहत आदि कहाते हैं, तीसरा पुष्टिकारक गुणयुक्त जो घृत दुग्ध और अन्न आदि हैं और चौथा रोगनाशक गुणयुक्त जो कि सोमलतादि ओषधि आदि हैं, इन चारों का परस्पर शोधन संस्कार और यथायोग्य मिला के अग्नि में युक्तिपूर्वक जो होम किया जाता है वह वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करनेवाला होता है इस से सब जगत् को सुख होता है और जिस को भोजन छादन विमानादि यान कलाकुशलता यन्त्र और सामाजिक नियम होने के लिये करते हैं वह अधिकांश से कर्त्ता को ही सुख देने वाला होता है॥

अत्र पूर्वमीमांसायाः प्रमाणम् । द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ॥ अ० ४ । पा० ३ । सू० १ ॥ द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात् ॥ अ० ४ । पा० ३ । सू० ८ ॥ अनयोरर्थः । द्रव्यं संस्कारः कर्म चैतत्त्रयं यज्ञकर्त्रा कर्त्तव्यम् । द्रव्याणि पूर्वोक्तानि चतुःसंख्याकानि सुगन्धादिगुणयुक्तान्यत्र गृहीत्वा तेषां परस्परमुत्तमोत्तमगुणसंपादनार्थं संस्कारः कर्त्तव्यः । यथा सूपादीनां संस्कारार्थं सुगन्धयुक्तं घृतं चमसे संस्थाप्याग्नौ प्रतप्य सधूमे जाते सति तं सूपपात्रे संरुध्य तन्मुखं बद्ध्वा, सच तथैव तद्वा यः पूर्वं धूपसुगन्ध उत्थितः स सर्वः सुगन्धो हि जलं भूत्वा पतितः सन्सर्वं सूपं सुगन्धमेव करोति तेन पुष्टिरुचिकरश्च भवति । तथैव यज्ञाग्नौ वाष्पो जायते स वायुं वृष्टिजलं च निर्दोषं कृत्वा सर्वजगते सुखायैव भवति । अत्रोक्तम् । यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् होता भवति ॥ ऐ० ब्रा० पं० १ । अ० २ ॥ जनानां समूहो जनता तत्सुखायैव यज्ञो भवति यस्मिन्यज्ञेऽमुना प्रकारेण विद्वान् संस्कृतद्रव्याणामग्नौ होमं करोति । कुतः । तस्य परार्थत्वात् । यज्ञः परोपकारायैव भवति । अतएव

फलस्य श्रुतिः श्रवणमर्थवादोऽनर्थवारणाय भवति । तथैव होमक्रियार्थानां द्रव्याणां पुरुषाणां च यः संस्कारो भवति स एव क्रतुधर्मो बोध्यः । एवं क्रतुना यज्ञेन धर्मो जायते नान्यथेति ॥

भाषार्थ ॥

इस में पूर्वमीमांसा धर्मशास्त्र की भी सम्मति है (द्रव्य०) एक तो द्रव्य, दूसरा संस्कार और तीसरा उनको यथावत् उपयोग करना ये तीनों बात यज्ञ के कर्त्ता को अवश्य करनी चाहिये सो पूर्वोक्त सुगन्धादियुक्त चार प्रकार के द्रव्यों का अच्छी प्रकार संस्कार करके अग्नि में होम करने से जगत् का अत्यन्त उपकार होता है जैसे दाल और शाक आदि में सुगन्ध द्रव्य और घी इन दोनों को चमचे में अग्नि पर तपा के उन में छोंक देने से वे सुगन्धित हो जाते हैं क्योंकि उस सुगन्ध द्रव्य और घी के अणु उन को सुगन्धित करके दाल आदि पदार्थों को पुष्टि और रुचि बढ़ाने वाले कर देते हैं, वैसे ही यज्ञ से जो भाफ उठता है वह भी वायु और वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगत् को सुख करता है इससे वह यज्ञ परोपकार के लिये ही होता है, इसमें ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण है कि (यज्ञोपि त०) अर्थात् जनता नाम जो मनुष्यों का समूह है उसी के सुख के लिये यज्ञ होता है और संस्कार किये द्रव्यों का होम करने वाला जो विद्वान् मनुष्य है वह भी आनन्द को प्राप्त होता है क्योंकि जो मनुष्य जगत् का जितना उपकार करेगा उसको उतना ही ईश्वर की व्यवस्था से सुख प्राप्त होगा इसलिये यज्ञ का अर्थवाद * यह है कि अनर्थ दोषों को हटा के जगत् में आनन्द को बढ़ाता है परन्तु होम के द्रव्यों का उत्तम संस्कार और होम के करने वाले मनुष्यों को होम करने की श्रेष्ठ विद्या अवश्य होनी चाहिये, सो इसी प्रकार के यज्ञ करने से सबको उत्तम फल प्राप्त होता है विशेष करके यज्ञकर्त्ता को, अन्यथा नहीं ॥

अत्र प्रमाणम् । अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद्वृष्टिरग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति ॥ श० कां० ५ । अ० ३ ॥ अस्यायमभिप्रायः । अग्नेः सकाशाद्धूमबाष्पौ जायेते यदा यमग्निर्वृक्षौषधिवनस्पतिजलादिपदार्थान्प्रविश्य तान्संहतान् विभिद्य तेभ्यो रसं च पृथक् करोति । पुनस्ते लघुत्वमापन्ना वाय्वाधारेणोपर्य्याकाशं गच्छन्ति । तत्र यावान् जलांशस्तावतो बाष्पसंज्ञास्ति । यश्च निःस्नेहो भागः स पृथिव्यंशोऽस्ति । अत एवोभयभागयुक्तो धूमइत्युपचर्य्यते । पुनर्धूमगमनानन्तरमाकाशे जलसंचयो भवति । तस्मादभ्रं घना जायन्ते । तेभ्यो वायुदलेभ्यो वृष्टिर्जायते । अतोऽग्नेरेवैता यवादय ओषधयो जायन्ते ताभ्योऽन्नमन्नाद्वीर्यं वीर्य्याच्छरीराणि भवन्तीति ॥

---

* इस शब्द का अर्थ आगे वेदसंज्ञा प्रकरण में लिखा जायगा ॥

भाषार्थ ॥

इस में शतपथ ब्राह्मण का भी प्रमाण है कि (अग्ने०) जो होम करने के द्रव्य अग्नि में डाले जाते हैं उन से धुआं और भाफ उत्पन्न होते हैं क्योंकि अग्नि का यही स्वभाव है कि पदार्थों में प्रवेश करके उन को भिन्न २ कर देता है फिर वे हलके होके वायु के साथ ऊपर आकाश में चढ़ जाते हैं उन में जितना जलका अंश है वह भाफ कहाता है और जो शुष्क है वह पृथ्वी का भाग है, इन दोनों के योग का नाम धूम है। जब वे परमाणु मेघमण्डल में वायु के आधार से रहते हैं फिर वे परस्पर मिल के बादल होके उन से वृष्टि, वृष्टि से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से धातु, धातुओं से शरीर और शरीर से कर्म बनता है ॥

अत्र विषये तैत्तिरीयोपनिषद्यप्युक्तम् । तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः ओषधिभ्योऽन्नं अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । आनन्दवल्ल्यां प्रथमेनुवाके ॥ स तपोतप्यत् तपस्तप्त्वा अन्नं ब्रह्मेति विजानात् । अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते अन्नेन जातानि जीवन्ति अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति भृगुवल्ल्यां द्वितीयेऽनुवाके । अन्नं ब्रह्मेत्युच्यते जीवनस्य बृहद्धेतुत्वात् शुद्धान्नजलवाय्वादिद्वारैव प्राणिनां सुखं भवति नातोन्यथेति ॥

भाषार्थ ॥

इस विषय में तैत्तिरीय उपनिषद् का भी प्रमाण है कि (तस्माद्वा०) परमात्मा के अनन्त सामर्थ्य से आकाश वायु अग्नि जल और पृथ्वी आदि तत्व उत्पन्न हुए हैं और उन में ही पूर्वोक्त क्रम के अनुसार शरीर आदि उत्पत्ति, जीवन और प्रलय को प्राप्त होते हैं। यहां ब्रह्म का नाम अन्न और अन्न का नाम ब्रह्म भी है क्योंकि जिस का जो कार्य है वह उसी में मिलता है वैसे ही ईश्वर के सामर्थ्य से जगत् की तीनों अवस्था होती हैं और सब जीवों के जीवन का मुख्य साधन है इस से अन्न को ब्रह्म कहते हैं। जब होम से वायु जल और ओषधि आदि शुद्ध होते हैं तब सब जगत् को सुख और अशुद्ध होने से सब को दुःख होता है इस से इन की शुद्धि अवश्य करनी चाहिये ॥

तत्र द्विविधः प्रयत्नोऽस्तीश्वरकृतो जीवकृतश्च ईश्वरेण खल्वग्निमयः सूर्यो निर्मितः सुगन्ध्यादिश्च स निरन्तरं सर्वस्माज्जगतो रसानाकर्षति । तस्य सुग-

न्यदुर्गन्धाणुसंयोगत्वेन तज्जलवायू अपीष्टानिष्टगुणयोगान्मध्यगुणौ भवतस्तयोः सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वात् । तज्जलवृष्ट्यौषध्यन्नरेतः शरीराण्यपि मध्यमान्येव भवन्ति । तन्मध्यमत्वाद्बलबुद्धिवीर्यपराक्रमधैर्यशौर्यादयोपि गुणा मध्यमा एव जायन्ते । कुतः । यस्य यादृशं कारणमस्ति तस्य तादृशमेव कार्यं भवतीति दर्शनात् । अयं खल्वीश्वरसृष्टेर्दोषो नास्ति । कुतः । दुर्गन्धादिविकारस्य मनुष्यसृष्ट्यन्नभावात् । यतो दुर्गन्धादिविकारस्योत्पत्तिर्मनुष्यादिभ्य एव भवति तस्मादस्य निवारणमपि मनुष्यैरेव करणीयमिति । यथेश्वरेणाज्ञा दत्ता सत्यभाषणमेव कर्त्तव्यं नानृतमिति यस्तामुल्लङ्घ्य प्रवर्त्तते स पापीयान्भूत्वा क्लेशं चेश्वरव्यवस्थया प्राप्नोति । तथा यज्ञः कर्त्तव्य इतीयमप्याज्ञा तेनैव दत्तास्ति तामपि य उल्लङ्घयति सोपि पापीयान्सन् क्लेशवांश्च भवति ॥

भाषार्थ ॥

सो उन की शुद्धि करने में दो प्रकार का प्रयत्न है । एक तो ईश्वर का किया हुआ और दूसरा जीव का, उन में से ईश्वर का किया यह है कि उस ने अग्निरूप सूर्य और सुगन्धरूप पुष्पादि पदार्थों को उत्पन्न किया है वह सूर्य निरन्तर सब जगत् के रसों को पूर्वोक्त प्रकार से ऊपर खैंचता है और जो पुष्पादि का सुगन्ध है वह भी दुर्गन्ध को निवारण करता रहता है, परन्तु वे परमाणु सुगन्ध और दुर्गन्ध युक्त होने से जल और वायु को भी मध्यम करदेते हैं । उस जल की वृष्टि से ओषधि अन्न वीर्य और शरीर आदि भी मध्यम गुणवाले हो जाते हैं और उन के योग से बुद्धि बल पराक्रम धैर्य और शूरवीरतादि गुण भी निकृष्ट ही होते हैं क्योंकि जिस का जैसा कारण होता है उस का वैसा ही कार्य होता है । यह दुर्गन्ध से वायु और वृष्टि जल का दोषयुक्त होना सर्वत्र देखने में आता है, सो यह दोष ईश्वर की सृष्टि से नहीं किन्तु मनुष्यों ही की सृष्टि से होता है, इस कारण से उस का निवारण करना भी मनुष्यों ही को उचित है । जैसे ईश्वर ने सत्यभाषणादि धर्मव्यवहार करने की आज्ञा दी है मिथ्याभाषणादि की नहीं, जो इस आज्ञा से उलटा काम करता है वह अत्यन्त पापी होता है और ईश्वर की न्यायव्यवस्था से उसको क्लेश भी होता है, वैसे ही ईश्वर ने मनुष्यों को यज्ञ करने की आज्ञा दी है इस को जो नहीं करता वह भी पापी हो के दुःख का भागी होता है ॥

कुतः । सर्वोपकाराकरणात् । यत्र खलु यावान्मनुष्यादिप्राणिसमुदायो भवति तत्र तावानेव दुर्गन्धसमुदायो जायते न चैवायमीश्वरसृष्टिनिमित्तो भवि-

तुमर्हन्ति । कुतः । तस्य मनुष्यादिप्राणिसमुदायनिमित्तोत्पन्नत्वात् । यस्तु खलु मनुष्याः स्वसुखार्थं हस्त्यादिप्राणिनामेकत्र बाहुल्यं कुर्वन्ति । अतस्तज्जन्योऽप्यधिको दुर्गन्धो मनुष्यसुखेच्छानिमित्तक एव जायते । एवं वायुवृष्टिजलदूषकः सर्वो दुर्गन्धो मनुष्यनिमित्तादेवोत्पद्यतेऽतस्तस्य निवारणमपि मनुष्या एव कर्त्तुमर्हन्ति ॥

भाषार्थ ॥

क्योंकि सब के उपकार करने वाले यज्ञ को नहीं करने से मनुष्यों को दोष लगता है जहां जितने मनुष्य आदि के समुदाय अधिक होते हैं वहां उतनाही दुर्गन्ध भी अधिक होता है । वह ईश्वर की सृष्टि से नहीं किन्तु मनुष्यादि प्राणियों के निमित्त से ही उत्पन्न होता है क्योंकि हस्ति आदि के समुदायों को मनुष्य अपनेही सुख के लिये इकट्ठा करते हैं इससे उन पशुओं से भी जो अधिक दुर्गन्ध उत्पन्न होता है सो मनुष्यों के ही सुख की इच्छा से होता है, इससे क्या आया कि जब वायु और वृष्टिजल को बिगाड़नेवाला सब दुर्गन्ध मनुष्यों के ही निमित्त से उत्पन्न होता है तो उस का निवारण करना भी उन को ही योग्य है ॥

तेषां मध्यान्मनुष्या एवोपकारानुपकारौ वेदितुमर्हाः सन्ति । मननं विचारस्तद्योगादेव मनुष्यत्वं जायते । परमेश्वरेण हि सर्वदेहधारिप्राणिनां मध्ये मनस्विनो विज्ञानं कर्त्तुं योग्या मनुष्या एव सृष्टास्तद्देहेषु परमाणुसंयोगविशेषेण विज्ञानभवनानुकूलानामवयवानामुत्पादितत्वात् । अतस्त एव धर्माधर्मयोर्ज्ञानमनुष्ठानाननुष्ठाने च कर्त्तुमर्हन्ति न चान्ये । अस्मात्कारणात्सर्वोपकाराय सर्वैर्मनुष्यैर्यज्ञः कर्त्तव्य एव ॥

भाषार्थ ॥

क्योंकि जितने प्राणी देहधारी जगत् में हैं उन में से मनुष्य ही उत्तम हैं इस से वे ही उपकार और अनुपकार को जानने को योग्य हैं । मनन नाम विचार का है जिस के होने से ही मनुष्य नाम होता है अन्यथा नहीं क्योंकि ईश्वर ने मनुष्य के शरीर में परमाणु आदि के संयोगविशेष इस प्रकार के रचे हैं कि जिन से उन को ज्ञान की उन्नति होती है, इसी कारण से धर्म का अनुष्ठान और अधर्म का त्याग करने को भी वे ही योग्य होते हैं अन्य नहीं । इस से सब के उपकार के लिये यज्ञ का अनुष्ठान भी उन्हीं को करना उचित है ॥

किंच भोः कस्तूर्य्यादीनां सुरभियुक्तानां द्रव्याणामग्नौ प्रक्षेपणेन विनाशात्कथमुपकाराय यज्ञो भवितुमर्हतीति । किन्त्वीदृशैरुत्तमैः पदार्थैर्मनुष्यादिभ्यो भोजनादिदानेनोपकारे कृते होमादप्युत्तमं फलं जायते पुनः किमर्थं यज्ञकरणमिति । अत्रोच्यते । नात्यन्तो विनाशः कस्यापि संभवति । विनाशो हि यद्दृश्यं भूत्वा पुनर्न दृश्येतेति विज्ञायते । परन्तु दर्शनं त्वया कतिविधं स्वीक्रियते । अष्टविधं चेति । किंच तत् । अत्राहुर्गोतमाचार्य्या न्यायशास्त्रे । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥ १ ॥ अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च ॥ २ ॥ प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ॥ ३ ॥ आप्तोपदेशः शब्दः ॥ ४ ॥ अ० १ आह्निकम् १ । सू० ४ । ५ । ६ । ७ । प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावसाधनभेदादष्टधाप्रमाणं मया मन्यत इति । तत्र यदिन्द्रियार्थसम्बन्धात्सत्यमव्यभिचारिज्ञानमुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षम् । सन्निकृष्ट दर्शनान्मनुष्योयं नान्य इत्याद्युदाहरणम् ॥ १ ॥ यत्र लिङ्गज्ञानेन लिङ्गिनो ज्ञानं जायते तदनुमानम् । पुत्रं दृष्ट्वाऽऽसीदस्य पितेत्याद्युदाहरणम् । २ । उपमानं सादृश्यज्ञानं यथा देवदत्तोऽस्ति तथैव यज्ञदत्तोप्यस्तीति साधर्म्यादुपदिशतीत्याद्युदाहरणम् । ३ । शब्द्यते प्रत्याय्यते दृष्टोऽदृष्टश्चार्थो येन स शब्दः । ज्ञानेन मोक्षो भवतीत्याद्युदाहरणम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ ॥

प्र०—सुगन्धयुक्त जो कस्तूरी आदि पदार्थ हैं उन को अन्य द्रव्यों में मिला के अग्नि में डालनेसे उनका नाश होजाता है फिर यज्ञ से किसी प्रकार का उपकार नहीं हो सक्ता किन्तु ऐसे उत्तम २ पदार्थ मनुष्यों को भोजनादि के लिये देने से होम से भी अधिक उपकार हो सकता है फिर यज्ञ करना किसलिये चाहिये ? उ०—किसी पदार्थ का विनाश नहीं होता केवल वियोगमात्र होता है, परन्तु यह तो कहिये कि आप विनाश किसको कहते हैं ? उ०—जो स्थूल होके प्रथम देखने में आकर फिर न देख पड़े उसको हम विनाश कहते हैं । प्र०—आप कितने प्रकार का दर्शन मानते हैं ? उ०—आठ प्रकार का । प्र० कौन २ से ? उ०—प्रत्यक्ष १ अनुमान २ उपमान ३ शब्द ४ ऐतिह्य ५ अर्थापत्ति ६ सम्भव ७ और अभाव ८ इस भेद से हम आठ प्रकार का दर्शन मानते हैं । (इन्द्रियार्थ०) इन में से प्रत्यक्ष उसको कहते हैं कि जो चक्षु आदि इन्द्रिय और रूप आदि विषयों के सम्बन्ध से सत्यज्ञान उत्पन्न हो जैसे दूरसे देखने में संदेह हुआ कि वह मनुष्य है वा कुछ और फिर उस के समीप होने से निश्चय होता है कि यह मनुष्य ही है अन्य नहीं

इत्यादि प्रत्यक्ष के उदाहरण हैं ॥१॥ (अथतत्पू०) और जो किसी पदार्थ के चिह्न देखने से उसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान हो वह अनुमान कहाता है जैसे किसी के पुत्र को देखने से ज्ञान होता है कि इस के माता पिता आदि हैं वा अवश्य थे इत्यादि उस के उदाहरण हैं ॥ २ ॥ (प्रसिद्ध०) तीसरा उपमान कि जिस से किसी का तुल्य धर्म देख के समान धर्मवाले का ज्ञान हो जैसे किसी ने किसी से कहा कि जिस प्रकार का यह देवदत्त है उसी प्रकार का वह यज्ञदत्त भी है। उस के पास जाके इस काम को कर ला, इस प्रकार के तुल्य धर्म से जो ज्ञान होता है उसको उपमान कहते हैं ॥३॥ (आप्तोप०) चौथा शब्दप्रमाण है कि जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अर्थ का निश्चय करानेवाला है, जैसे ज्ञान से मोक्ष होता है यह आप्तों के उपदेश शब्दप्रमाण का उदाहरण है ॥ ४ ॥

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥ ५ ॥ शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥ ६ ॥ अ० २। आ० २। सू० १। २॥ न चतुष्ट्वमिति सूत्रद्वयस्य संक्षिप्तोर्थः क्रियते। (ऐतिह्यं) शब्दोपगतमाप्तोपदिष्टं ग्राह्यम्। देवासुराः संयत्ता आसन्नित्यादि ॥५॥ (अर्थापत्तिः) अर्थादापद्यते सार्थापत्तिः केनचिदुक्तं सत्सु घनेषु वृष्टिर्भवतीति किमत्र प्रसज्यते असत्सु घनेषु न भवतीत्याद्युदाहरणम् ॥ ६ ॥ (सम्भवः) सम्भवति येन यस्मिन्वा स सम्भवः केनचिदुक्तं मातापितृभ्यां सन्तानं जायते सम्भवोस्तीति वाच्यम्। परन्तु कश्चिद्ब्रूयात्कुम्भकरणस्य क्रोशचतुष्टयपर्यन्तं श्मश्रुणः केशा ऊर्ध्वं स्थिता आसन् षोडशक्रोशमूर्ध्वं नासिका चासम्भवत्वान्मिथ्यैवास्तीति विज्ञायते। इत्याद्युदाहरणम् ॥७॥ (अभावः) कोपि ब्रूयाद्घटमानयेति स तत्र घटमपश्यन्नत्र घटो नास्तीत्यभावलक्षणेन यत्र घटो वर्त्तमानस्तस्मादानीयते॥ ८॥ इति प्रत्यक्षादीनां संक्षेपतोर्थः। एवमष्टविधं दर्शनमर्थाज्ज्ञानं मया मन्यते सत्यमेवमेतत्। नैवमङ्गीकारेण विना समग्रौ व्यवहारपरमार्थौ कस्यापि सिध्येताम् ॥

भाषार्थ ॥

(ऐतिह्यं) सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश का नाम इतिहास है जैसा देव और असुर युद्ध करने के लिये तत्पर हुए थे जो यह इतिहास ऐतरेय शतपथ ब्राह्मणादि सत्य ग्रन्थों में लिखा है उसी का ग्रहण होता है अन्य का नहीं यह पांचवां प्रमाण है ॥ ५ ॥ और छठा (अर्थापत्तिः) जो एक बात किसी ने कही हो उस से विरुद्ध दूसरी बात समझी जावे जैसे किसी ने कहा कि बादलों के होने से वृष्टि होती है दूसरे ने इतने ही कहने से जान लिया कि बादलों के बिना वृष्टि कभी नहीं होस-

कती इस प्रकार के प्रमाण से जो ज्ञान होता है उस को अर्थापत्ति कहते हैं ॥ ६ ॥ सातवां (संभवः) जैसे किसी ने किसी से कहा कि माता पिता से सन्तानों की उत्पत्ति होती है तो दूसरा मान ले कि इस बात का तो संभव है परन्तु जो कोई ऐसा कहे कि रावण के भाई कुम्भकरण की मूंछ चार कोश तक आकाश में ऊपर खड़ी रहती थी और उस की नाक (१६) सोलह कोश पर्यन्त लम्बी चौड़ी थी, उस की यह बात मिथ्या समझी जायगी क्योंकि ऐसी बात का सम्भव कभी नहीं हो सकता ॥ ७ ॥ और आठवां (अभावः) जैसे किसी ने किसी से कहा कि तुम घड़ा ले आओ और जब उसने वहां नहीं पाया तब वह जहां पर घड़ा था वहां से ले आया ॥ ८ ॥ इन आठ प्रकार के प्रमाणों को मैं मानता हूं यहां इन आठों का अर्थ संक्षेप से किया है * । उ०—यह बात सत्य है कि इन के विना माने सम्पूर्ण व्यवहार और परमार्थ किसी का सिद्ध नहीं हो सकता, इस से इन आठों को हम लोग भी मानते हैं ॥

यथा कश्चिदेकं मृत्पिण्डं विशेषतश्चूर्णीकृत्य वेगयुक्ते वायौ बाहुवेगेनाकाशं प्रतिक्षिपेत्तस्य नाशो भवतीत्युपचर्य्यते । चक्षुषा दर्शनाभावात् (णश्) अदर्शने अस्माद् घञ्प्रत्यये कृते नाश इति शब्दः सिध्यति । अतो नाशो बाह्येन्द्रिया-ऽदर्शनमेव भवितुमर्हति । किंच यदा परमाणवः पृथक् २ भवन्ति तदा ते चक्षुषा नैव दृश्यन्ते तेषामतीन्द्रियत्वात् । यदा चैते मिलित्वा स्थूलभावमापद्यन्ते तदैव तद्द्रव्यं दृष्टिपथमागच्छति स्थूलस्यैन्द्रियकत्वात् । यद्द्रव्यं विभक्तं विभागानर्हं भवति तस्य परमाणुसंज्ञा चेति व्यवहारः ते हि विभक्ता अतीन्द्रियाः सन्त आकाशे वर्त्तन्त एव ॥

भाषार्थ ॥

नाश को समझने के लिये यह दृष्टान्त है कि कोई मनुष्य मट्टी के ढेले को पीस के वायु के बीच में बल से फेंक दे फिर जैसे वे छोटे २ कण आंख से नहीं दीखते क्योंकि (णश्) धातु का अदर्शन ही अर्थ है जब अणु अलग २ हो जाते हैं तब वे देखने में नहीं आते इसी का नाम नाश है और जब परमाणु के संयोग से स्थूल द्रव्य अर्थात् बड़ा होता है तब वह देखने में आता है और परमाणु इसको कहते हैं कि जिसका विभाग फिर कभी न होसके परन्तु यह बात केवल एकदेशी है क्योंकि उसका भी ज्ञान से विभाग हो सकता है जिसकी परिधि और व्यास बन सकता है उसका भी टुकड़ा हो सकता है यहां तक कि

* कहीं २ शब्द में ऐतिह्य और अनुमान में अर्थापत्ति संभव और अभाव को मानने से ४ (चार) प्रमाण रहते हैं ॥

जब पर्य्यन्त वह एकरस न हो जाय तब पर्य्यन्त ज्ञान से बराबर कटता ही चला जायगा ॥

तथैवाग्नौ यद्द्रव्यं प्रक्षिप्यते तद्विभागं प्राप्य देशान्तरे वर्त्तत एव न हि तस्याभावः कदाचिद्भवति । एवं यद्दुर्गन्धादिदोषनिवारकं सुगन्ध्यादि द्रव्यमस्ति तच्चाग्नौ हुतं सद्वायोर्वृष्टिजलस्य शुद्धिकरं भवति ॥ तस्मिन्निर्दोषे सति सृष्टये महानुपकारो भवति सुखं चातःकारणाद्यज्ञः कर्त्तव्य एवेति । किंच भोः । वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणमेव यज्ञस्य प्रयोजनमस्ति चेत्तर्हि गृहाणां मध्ये सुगन्धद्रव्यरक्षणेनैतत्सेत्स्यति पुनः किमर्थमेतावानाडम्बरः । नैवं शक्यम् । नैव तेनाशुद्धो वायुः सूक्ष्मो भूत्वाऽऽकाशं गच्छति तस्य पृथक्त्वलघुत्वाभावात् । तत्र तस्य स्थितौ सत्यां नैव बाह्यो वायुरागन्तुं शक्नोत्यवकाशाभावात् । तत्र पुनः सुगन्धदुर्गन्धयुक्तस्य वायोर्वर्त्तमानत्वादारोग्यादिकं फलमपि भवितुमशक्यमेवास्ति ॥

भाषार्थ ॥

वैसे ही जो सुगन्ध आदि युक्त द्रव्य अग्नि में डाला जाता है उसके अणु अलग २ हो के आकाश में रहते ही हैं क्योंकि किसी द्रव्य का वस्तुता से अभाव नहीं होता इस से वह द्रव्य दुर्गन्धादि दोषों का निवारण करने वाला अवश्य होता है । फिर उससे वायु और वृष्टिजल की शुद्धि के होने से जगत् का बड़ा उपकार और सुख अवश्य होता है इस कारण से यज्ञ को करना ही चाहिये। प्र०—जो यज्ञ से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करनामात्र ही प्रयोजन है तो इस की सिद्धि अतर और पुष्पादि के घरों में रखने से भी हो सकती है, फिर इतना बड़ा परिश्रम यज्ञ में क्यों करना ? उ०—यह कार्य्य अन्य किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि अतर और पुष्पादि का सुगन्ध तो उसी दुर्गन्ध वायु में मिल के रहता है उस को छेदन करके बाहर नहीं निकाल सकता और न वह ऊपर चढ़ सकता है क्योंकि उस में हलकापन नहीं होता उसके उसी अवकाश में रहने से बाहर का शुद्ध वायु उस ठिकाने में जा भी नहीं सकता क्योंकि खाली जगह के विना दूसरे का प्रवेश नहीं हो सकता फिर सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त वायु के वहीं रहने से रोगनाशादि फल भी नहीं होते ॥

यदा तु खलु तस्मिन् गृहेऽग्निमध्ये सुगन्ध्यादिद्रव्यस्य होमः क्रियते तदाऽग्निना पूर्वो वायुर्भेदं प्राप्य लघुत्वमापन्न उपर्य्याकाशं गच्छति । तस्मिन् गते सति तत्रावकाशत्वाच्चतसृभ्यो दिग्भ्यः शुद्धो वायुराद्रवति तेन गृहाकाशस्य पूर्णत्वादारोग्यादिकं फलमपि जायते ॥

भाषार्थ ॥

और जब अग्नि उस वायु को वहां से हलका करके निकाल देता है तब वहां शुद्ध वायु भी प्रवेश कर सकता है इसी कारण यह फल यज्ञ से ही हो सकता है अन्य प्रकार से नहीं क्योंकि जो होम के परमाणुयुक्त शुद्ध वायु है सो पूर्वस्थित दुर्गन्धवायु को निकाल के उस देशस्थ वायु को शुद्ध करके रोगों का नाश करने वाला होता और मनुष्यादि सृष्टि को उत्तम सुख को प्राप्त करता है ॥

यो होमेन सुगन्धयुक्तद्रव्यपरमाणुयुक्त उपरिगतो वायुर्भवति स वृष्टिजलं शुद्धं कृत्वा वृष्ट्याधिक्यमपि करोति तद्द्वारौषध्यादीनां शुद्धेरुत्तरोत्तरं जगति महत्सुखं वर्धतइति निश्चीयते । एतत्खल्वग्निसंयोगरहितसुगन्धेन वायुना भवितुमशक्यमस्ति तस्माद्धोमकरणमुत्तममेव भवतीति निश्चेतव्यम् ॥

भाषार्थ ॥

जो वायु सुगन्ध्यादि द्रव्य के परमाणुओं से युक्त होमद्वारा आकाश में चढ़ के वृष्टिजल को शुद्ध कर देता और उससे वृष्टि भी अधिक होती है क्योंकि होम करके नीचे गर्मी अधिक होने से जल भी ऊपर अधिक चढ़ता है । शुद्ध जल और वायु के द्वारा अन्नादि ओषधि भी अत्यन्त शुद्ध होती हैं ऐसे प्रतिदिन सुगन्ध के अधिक होने से जगत् में नित्यप्रति अधिक २ सुख बढ़ता है यह फल अग्नि में होम करने के विना दूसरे प्रकार से होना असम्भव है इससे होम का करना अवश्य है ॥

अन्यच्च दूरस्थले केनचित्पुरुषेणाग्नौ सुगन्धद्रव्यस्य होमः क्रियते तद्युक्तो वायुर्दूरस्थमनुष्यस्य घ्राणेन्द्रियेण संयुक्तो भवति । सोत्र सुगन्धोवायुरस्तीति जानात्येव। अनेन विज्ञायते वायुना सह सुगन्धं दुर्गन्धं च द्रव्यं गच्छतीति । तद्यदा स दूरं गच्छति तदा तस्य घ्राणेन्द्रियसंयोगो न भवति पुनर्बालबुद्धीनां भ्रमो भवति स सुगन्धो नास्तीति परन्तु तस्य हुतस्य पृथग्भूतस्य वायुस्थस्य सुगन्धयुक्तस्य द्रव्यस्य देशान्तरे वर्त्तमानत्वात्तैर्न विज्ञायते । अन्यदपि खलु होमकरणस्य बहुविधमुत्तमं फलमस्ति तद्विचारेण बुधैर्विज्ञेयमिति ॥

भाषार्थ ॥

और भी सुगन्ध के नाश नहीं होने में कारण है कि किसी पुरुष ने दूर देश में सुगन्ध चीजों का अग्नि में होम किया हो । उस सुगन्ध से युक्त जो वायु है सो होम के स्थान से दूर देश में स्थित हुए मनुष्य के नाक इन्द्रिय के साथ संयुक्त

होने से उसको यह ज्ञान होता है कि यहां सुगन्ध वायु है । इससे जाना जाता है कि द्रव्य के अलग होने में भी द्रव्य का गुण द्रव्य के साथ ही बना रहता है और वह वायु के साथ सुगन्ध और दुर्गन्ध युक्त सूक्ष्म होके जाता आता है परन्तु जब वह द्रव्य दूर चला जाता है तब उस के नाक इन्द्रिय से संयोग भी छूट जाता है फिर बालबुद्धि मनुष्यों को ऐसा भ्रम होता है कि वह सुगन्धित द्रव्य नहीं रहा परन्तु यह उनको अवश्य जानना चाहिये कि वह सुगन्ध द्रव्य आकाश में वायु के साथ बना ही रहता है । इनसे अन्य भी होम करने के बहुतसे उत्तम फल हैं उनको बुद्धिमान् लोग विचार से जान लेंगे ॥

यदि होमकरणस्यैतत्फलमस्ति तद्धोमकरणमात्रेणैव सिध्यति पुनस्तत्र वेदमन्त्राणां पाठः किमर्थः क्रियते । अत्र ब्रूमः । एतस्मादन्यदेव फलमस्ति । किम् । यथा हस्तेन होमो नेत्रेण दर्शनं त्वचास्पर्शनं च क्रियते तथा वाचा वेदमन्त्रा अपि पठ्यन्ते। तत्पाठेनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाः क्रियन्ते। होमेन किं फलं भवतीत्यस्य ज्ञानं तत्पाठानुवृत्त्या वेदमन्त्राणां रक्षणमीश्वरस्यास्तित्वसिद्धिश्च । अन्यच्च सर्वकर्मादावीश्वरस्य प्रार्थना कार्य्येत्युपदेशः । यज्ञे तु वेदमन्त्रोच्चारणात्सर्वत्रैव तत्प्रार्थना भवतीति वेदितव्यम् ॥

भाषार्थ ॥

प्र०—होम करने का जो प्रयोजन है सो तो केवल होम से ही सिद्ध होता है फिर वहां वेदमन्त्रों के पढ़ने का क्या काम है ? उ०—उनके पढ़ने का प्रयोजन कुछ और ही है । प्र०—वह क्या है ? उ०—जैसे हाथ से होम करते आंख से देखते और त्वचा से स्पर्श करते हैं वैसे ही वाणी से वेदमन्त्रों को भी पढ़ते हैं क्योंकि उन के पढ़ने से वेदों की रक्षा ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना होती है तथा होम से जो २ फल होते हैं उनका स्मरण भी होता है वेदमन्त्रों के वारंवार पाठ करने से वे कण्ठस्थ भी रहते हैं और ईश्वर का होना भी विदित होता है कि कोई नास्तिक न होजाय क्योंकि ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक ही सब कर्मों का आरम्भ करना होता है सो वेदमन्त्रों के उच्चारण से यज्ञ में तो उसकी प्रार्थना सर्वत्र होती है इसलिये सब उत्तम कर्म वेदमन्त्रों से ही करना उचित है ॥

कश्चिदत्राह वेदमन्त्रोच्चारणं विहायान्यस्य कस्यचित्पाठस्तत्र क्रियेत तदा किं दूषणमस्तीति । अत्रोच्यते । नान्यस्य पाठे कृते सत्येतत्प्रयोजनं सिध्यति । कुतः । ईश्वरोक्ताभावान्निरतिशयसत्यविरहाच्च । यद्यद्धि यत्र कचित्सत्यं प्रसिद्धमस्ति

तत्तत्सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम् । यद्यत्खल्वनृतं तत्तदनीश्वरोक्तं वेदाद्बहिरिति च । अत्रार्थे मनुराह त्वमेकोह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः ॥ अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्य्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥ १ ॥ अ० १ । श्लो० ३ ॥ चातुर्वर्ण्यं त्रयोलोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् । भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥ २ ॥ बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् । तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ ३ ॥ अ० १२ । श्लो० ९७ । ९९ ॥

भाषार्थ ॥

प्र०—यज्ञ में वेदमन्त्रों को छोड़ के दूसरे का पाठ करे-तो क्या दोष है ? उ०—अन्य के पाठ में यह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता ईश्वर के वचन से जो सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है सो अन्य के वचन से कभी नहीं हो सकता । क्योंकि जैसा ईश्वर का वचन सर्वथा भ्रान्तिरहित सत्य होता है वैसा अन्य का नहीं और जो कोई वेदों के अनुकूल अर्थात् आत्मा की शुद्धि आप्त पुरुषों के ग्रन्थों का बोध और उनकी शिक्षा से वेदों को यथावत् जान के कहता है उसका भी वचन सत्य ही होता है और जो केवल अपनी बुद्धि से कहता है वह ठीक २ नहीं हो सक्ता इससे यह निश्चय है कि जहां २ सत्य दीखता और सुनने में आता है वहां २ वेदों में से ही फैला है और जो २ मिथ्या है सो २ वेद से नहीं किन्तु वह जीवों ही की कल्पना से प्रसिद्ध हुआ है क्योंकि जो ईश्वरोक्त ग्रन्थ से सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है सो दूसरे से कभी नहीं हो सकता । इस विषय में मनु का प्रमाण है कि (त्वमे०) मनुजी से ऋषि लोग कहते हैं कि स्वयंभू जो सनातन वेद हैं जिनमें असत्य कुछ भी नहीं और जिनमें सब सत्यविद्याओं का विधान है उनके अर्थ को जाननेवाले केवल आप ही हैं ॥ १ ॥ (चातु०) अर्थात् चार वर्ण, चार आश्रम, भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान आदि की सब विद्या वेदों से ही प्रसिद्ध होती हैं ॥ २ ॥ क्योंकि (बिभर्त्ति०) यह जो सनातन वेद शास्त्र है सो सब विद्याओं के दान से संपूर्ण प्राणियों का धारण और सब सुखों को प्राप्त करता है इस कारण से हम लोग उसको सर्वथा उत्तम मानते हैं और इसी प्रकार मानना भी चाहिये क्योंकि सब जीवों के लिये सब सुखों का साधन यही है ॥

किं यज्ञानुष्ठानार्थं भूमिं खनित्वा वेदिः प्रणीतादीनि पात्राणि कुशतृणं यज्ञशाला ऋत्विजश्चैतत्सर्वं करणीयमस्ति । अत्र ब्रूमः । यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धं तत्तत्कर्त्तव्यं नेतरत् । तद्यथा । भूमिं खनित्वा वेदीरचनीया तस्यां होमे कृतेऽग्नेस्तीव्रत्वाद्धुतं द्रव्यं सद्यो विभेदं प्राप्याकाशं गच्छति । तथा वेदिदृष्टान्तेन त्रिकोणचतुष्कोणगोलश्येनाद्याकारकरणाद्रेखागणितमपि साध्यते । तत्र चेष्टकानां परिगणितत्वादनया गणितविद्यापि गृह्यते । एवमेवोत्तरेपि पदार्थाः

सप्रयोजनाः सन्त्येव परन्त्वेवं प्रणीतायां रक्षितायां पुण्यं स्यादेवं पापमिति यदु-च्यते । तत्र पापनिमित्ताभावात्सा कल्पना मिथ्यैवास्ति किंतु खलु यज्ञसिद्ध्यर्थं यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धमस्ति तत्तदेव ग्राह्यम् । कुतः । तैर्विना तदसिद्धेः ॥

भाषार्थ ॥

प्र०—क्या यज्ञ करने के लिये पृथिवी खोद के वेदिरचन, प्रणीता प्रोक्षणी और चमसादि पात्रों का स्थापन, दर्भ का रखना, यज्ञशाला का बनाना और ऋत्विजों का करना यह सब करना ही चाहिये ? उ०—करना तो चाहिये परन्तु जो २ युक्तिसिद्ध हैं सो २ ही करने के योग्य हैं क्योंकि जैसे वेदि बना के उसमें होम करने से वह द्रव्य शीघ्र भिन्न २ परमाणुरूप होके वायु और अग्नि के साथ आकाश में फैल जाता है ऐसे ही वेदि में भी अग्नि तेज होने और होम का साकल्य इधर उधर बिखरने से रोकने के लिये वेदि अवश्य रचनी चाहिये और वेदि के त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल तथा श्येन पक्षी आदि के तुल्य बनाने के दृष्टान्त से रेखागणित विद्या भी जानी जाती है, कि जिससे त्रिभुज आदि रेखाओं का भी मनुष्यों को यथावत् बोध हो तथा उसमें जो ईंटों की संख्या की है उससे गणितविद्या भी समझी जाती है । इस प्रकार से कि जब इतनी लम्बी चौड़ी और गहरी वेदि हो तो उस में इतनी बड़ी ईंटें इतनी लगेंगी इत्यादि वेदि के बनाने में बहुत प्रयोजन हैं तथा सुवर्ण, चांदी वा काष्ठ के पात्र इस कारण से बनाते हैं कि उनमें जो घृतादि पदार्थ रक्खे जाते हैं वे बिगड़ते नहीं और कुश इसलिये रखते हैं कि जिससे यज्ञशाला का मार्जन हो और चिंवटी आदि कोई जन्तु वेदि की ओर अग्नि में न गिरने पावें, ऐसे ही यज्ञशाला बनाने का यह प्रयोजन है कि जिस से अग्नि की ज्वाला में वायु अत्यन्त न लगे और वेदि में कोई पक्षी किंवा उनकी बीठ भी न गिरे, इसी प्रकार ऋत्विजों के बिना यज्ञ का काम कभी नहीं हो सकता इत्यादि प्रयोजन के लिये यह सब विधान यज्ञ में अवश्य करना चाहिये इनसे भिन्न द्रव्य की शुद्धि और संस्कार आदि भी अवश्य करने चाहिये परन्तु इस प्रकार से प्रणीतापात्र रखने से पुण्य और इस प्रकार रखने से पाप होता है इत्यादि कल्पना मिथ्या ही है किन्तु जिस प्रकार करने में यज्ञ का कार्य्य अच्छा बने वही करना अवश्य है अन्य नहीं ॥

यज्ञे देवताशब्देन किं गृह्यते । याश्च वेदोक्ताः । अत्र प्रमाणानि । अग्निर्देवता वातो देवता सूर्य्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥ १ ॥

यजुः अ० १४ । मं० २० ॥ अत्र कर्मकाण्डे देवताशब्देन वेदमन्त्राणां ग्रहणम् । गायत्र्यादीनि छन्दांसि ह्यग्न्यादिदेवताख्यान्येव गृह्यन्ते । तेषां कर्मकाण्डादिविषेद्योतकत्वात् । यस्मिन्मन्त्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्त्तते स एव मन्त्रोऽग्निदेवतो गृह्यते । एवमेव वातः सूर्य्यश्चन्द्रमा वसवो रुद्रा आदित्या मरुतो विश्वेदेवा बृहस्पतिरिन्द्रो वरुणश्चेत्येतच्छब्दयुक्ता मन्त्रा देवताशब्देन गृह्यन्ते तेषामपि तत्तदर्थस्य द्योतकत्वात्परमात्मेश्वरेण कृतसंकेतत्वाच्च ॥

भाषार्थ ॥

प्र०-यज्ञ में देवता शब्द से किस का ग्रहण होता है ? उ०—जो २ वेद में कहे हैं उन्हीं का ग्रहण होता है इसमें यह यजुर्वेद का प्रमाण है कि (अग्निर्देव०) कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञक्रिया में मुख्य करके देवता शब्द से वेदमन्त्रों का ही ग्रहण करते हैं क्योंकि जो गायत्र्यादि छन्द हैं वे ही देवता कहाते हैं और इन वेदमंत्रों से ही सब विद्याओं का प्रकाश भी होता है इसमें यह कारण है कि जिन २ मन्त्रों में अग्नि आदि शब्द हैं उन २ मन्त्रों का और उन २ शब्दों के अर्थों का अग्नि आदि देवता नामों से ग्रहण होता है। मन्त्रों का देवता नाम इसलिये है कि उन्हीं से सब अर्थों का यथावत् प्रकाश होता है ॥

अत्राह यास्काचार्य्यो निरुक्ते। कर्मसंपत्तिर्मन्त्रो वेदे ॥ नि० अ० १ । खं० २ ॥ अथातो दैवतं तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते सैषा देवतोपपरीक्षा यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च ॥ नि० अ० ७ । खं० १ ॥ अस्यार्थः । (कर्मसं०) कर्मणामग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तानां शिल्पविद्यासाधनानां च संपत्तिः संपन्नता संयोगो भवति येन स मन्त्रो वेदे देवताशब्देन गृह्यते तथा च कर्मणां संपत्तिर्मोक्षो भवति येन परमेश्वरप्राप्तिश्च सोऽपि मन्त्रो मन्त्रार्थश्चाङ्गीकार्य्यः । अथेत्यनन्तरं दैवतं किमुच्यते यत्प्राधान्येन स्तुतिर्यासां देवतानां क्रियते तद्दैवतमिति विज्ञायते । यानि नामानि मन्त्रोक्तानि येषामर्थानां मन्त्रेषु विद्यन्ते तानि सर्वाणि देवतालिङ्गानि भवन्ति । तद्यथा । अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुपब्रुवे ॥ देवाँ २ ॥ आसादयादिह ॥ १ ॥ यजुः अ० २२ । मं० १७ ॥ अत्राग्निशब्दो लिङ्गमस्ति । अतः किं विज्ञेयं यत्र यत्र देवतोच्यते तत्र तत्र तल्लिङ्गो मन्त्रो ग्राह्य इति यस्य द्रव्यस्य नामान्वितं यच्छन्दोऽस्ति ।

तदेव दैवतमिति बोध्यम् । सा एषा देवतोपपरीक्षाऽतीता आगामिनी चास्ति । अत्रोच्यते । ऋषिरीश्वरः । सर्वद्रष्टृत्वात्कामोयं कामयमान इममर्थमुपदिशेयमिति स यत्कामः।यस्यां देवतायामार्थपत्यमर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन् सन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तदर्थगुणकीर्त्तनं प्रयुक्तवानस्ति स एव मन्त्रस्तद्देवतो भवति । किंच यद्देवार्थप्रतीतिकरणं दैवतं प्रकाश्यं येन भवति समन्त्रो देवता शब्दवाच्योस्तीति विज्ञायते । देवताभिधा ऋचो याभिर्विद्वांसः सर्वाः सत्यविद्याः स्तुवन्ति प्रकाशयन्ति ऋचस्तुताविति धात्वर्थयोगात् । ताः श्रुतयस्त्रिविधास्त्रिप्रकारकाः सन्ति परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्चेति । यासां देवतानामृचां परोक्षकृतोऽर्थोस्ति ताः परोक्षकृताः । यासां प्रत्यक्षमर्थो दृश्यते ताः प्रत्यक्षकृता ऋचो देवताः ॥ आध्यात्मिक्यश्चाध्यात्मं जीवात्मानं तदन्तर्यामिणं परमेश्वरं च प्रतिपादितुमर्हा या ऋचो मन्त्रास्ता आध्यात्मिक्यश्चेति एता एव कर्मकाण्डे देवताशब्दार्थाः सन्तीति विज्ञेयम् ॥

भाषार्थ ॥

(कर्मसं०) वेदमन्त्रों करके अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्य्यन्त सब यज्ञों की शिल्पविद्या और उनके साधनों की सम्पत्ति अर्थात् प्राप्ति होती और कर्मकाण्ड को लेके मोक्षपर्य्यन्त सुख मिलता है इसी हेतु से उन का नाम देवता है (अथातो०) दैवत उन को कहते हैं कि जिन के गुणों का कथन किया जाय अर्थात् जो २ संज्ञा जिन २ मन्त्रों में जिस २ अर्थ की होती है उन २ मन्त्रों का नाम वही देवता होता है । जैसे (अग्निंदूतं०) इस मन्त्र में अग्नि शब्द चिह्न है यहां इसी मन्त्र को अग्नि देवता जानना चाहिये । ऐसे ही जहां २ मन्त्रों में जिस २ शब्द का लेख है वहां २ उस २ मन्त्र को ही देवता समझना होता है इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये सो देवता शब्द से जिस २ गुण से जो २ अर्थ लिये जाते हैं सो २ निरुक्त और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में अच्छी प्रकार लिखा है । इसमें यह कारण है कि ईश्वर ने जिस २ अर्थ को जिस २ नाम से वेदों में उपदेश किया है उस २ नाम वाले मन्त्रों से उन्हीं अर्थों को जानना होता है सो वे मन्त्र तीन प्रकार के हैं । उन में से कई एक परोक्ष अर्थात् अप्रत्यक्ष अर्थ के । कई एक प्रत्यक्ष अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ के और कई एक आध्यात्मिक अर्थात् जीव परमेश्वर और सब पदार्थों के कार्य्य कारण के प्रतिपादन करने वाले हैं । इससे क्या आया कि त्रिकालस्थ जितने पदार्थ और विद्या हैं उनके विधान करने वाले मन्त्र ही हैं इसी कारण से इनका नाम देवता है ॥

तद्येनानिष्टदेवतामन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा यद्दैवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्त्यथान्यत्र यज्ञात्प्राजापत्या इति याज्ञिका नाराशंसा इति नैरुक्ता

अपि वा सा कामदेवता स्यात्प्रायोदेवता वाऽस्त्याचारो बहुलं लोके देवदेवत्य-मतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यं याज्ञदैवतो मन्त्र इति ॥ नि॰ अ॰ ७। खं॰ ४ ॥(तद्येनादि॰) तत्तस्माद्येखल्वनादिष्टदेवता मन्त्रा अर्थान्न विशेषतो देवतादर्शनं नामार्थो वा येषु दृश्यते तेषु देवतोपपरीक्षा कास्तीत्यत्रोच्यते। यत्र विशेषो न दृश्यते तत्रैवं यज्ञो देवता यज्ञाङ्गं वेत्येतद्देवताख्यमिति विज्ञायते। ये खलु यज्ञाद् यत्र प्रयुज्यन्ते ते वै प्राजापत्याः परमेश्वरदेवता का मन्त्रा भवन्तीत्येवं याज्ञिका मन्यन्ते। अत्रैव विकल्पोऽस्ति नाराशंसा मनुष्यविषया इति नैरुक्ता ब्रुवन्ति। तथा या कामना सा कामदेवता भवतीति सकामा लौकिका जना जानन्ति। एवं देवताविकल्पस्य प्रायेण लोके बहुलमाचारोऽस्ति। क्वचिद्देवदेवत्यं कर्ममातृदेवत्यं विद्वद्देवत्यमति-थिदेवत्यं पितृदेवत्यं चैतेऽपि पूज्याः सत्कर्त्तव्याः सन्त्यतस्तेषामुपकारकर्त्तृत्वमात्र-मेव देवतात्वमस्तीति विज्ञायते। मन्त्रास्तु खलु यज्ञसिद्धये मुख्यहेतुत्वाद्याज्ञदै-वता एव सन्तीति निश्चीयते ॥

भाषार्थ ॥

जिन २ मन्त्रों में सामान्य अर्थात् जहां २ किसी विशेष अर्थ का नाम प्रसिद्ध नहीं दीख पड़ता वहां २ यज्ञ आदि को देवता जानना होता है (अग्निमीडे) इस मन्त्र के भाष्य में जो तीन प्रकार का यज्ञ लिखा है अर्थात् एक तो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्य्यन्त दूसरा प्रकृति से लेके पृथिवी पर्य्यन्त जगत् का रचन रूप तथा शिल्पविद्या और तीसरा सत्सङ्ग आदि से जो विज्ञान और योगरूप यज्ञ है ये ही उन मन्त्रों के देवता जानने चाहिये तथा जिनसे यह यज्ञ सिद्ध होता है वे भी उन यज्ञों के देवता हैं और जो इनसे भिन्न मन्त्र हैं उन का प्राजापत्य अर्थात् परमेश्वर ही देवता है तथा जो मन्त्र मनुष्यों का प्रतिपादन करते हैं उन के मनुष्य देवता हैं इस में बहुत प्रकार के विकल्प हैं कि कहीं पूर्वोक्त देवता कहाते हैं, कहीं यज्ञादि कर्म, कहीं माता, कहीं पिता, कहीं विद्वान्, कहीं अतिथि और कहीं आचार्य्य देव कहाते हैं परन्तु इसमें इतना भेद है कि यज्ञ में मन्त्र और परमेश्वर को ही देव मानते हैं ॥

अत्र परिगणनं गायत्र्यादिच्छन्दोन्विता मन्त्रा ईश्वराज्ञा यज्ञः यज्ञाङ्गं प्रजा-पतिः परमेश्वरः नराः कामः विद्वान् अतिथिः माता पिता आचार्य्यश्चेति कर्म-काण्डमध्येऽस्त्येता देवताः सन्ति। परन्तु मन्त्रेश्वरावेव याज्ञदैवते भवत इति निश्चयः॥

भाषार्थ ॥

जो २ गायत्र्यादि छन्दों से युक्त वेदों के मन्त्र, उन्हीं में ईश्वर की आज्ञा, यज्ञ और

उन के अङ्ग अर्थात् साधन, प्रजापति जो परमेश्वर, नर जो मनुष्य, काम, विद्वान्, अतिथि, माता, पिता और आचार्य्य ये अपने २ दिव्यगुणों से ही देवता कहाते हैं परन्तु यज्ञ में तो वेदों के मन्त्र और ईश्वर को ही देवता माना है ॥

अन्यच्च। देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा ॥ नि० अ० ७। खं० १५॥ मन्त्रा मननाच्छन्दांसि छादनात्॥ निरु० अ० ७। खं० १२॥

अस्यार्थः। (देवो दानात्०) यत्स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनं तद्दानं भवति (दीपनात्) दीपनं प्रकाशनं द्योतनमुपदेशादिकं च। अत्र दानशब्देनेश्वरो विद्वांसो मनुष्याश्च देवतासंज्ञाः सन्ति। दीपनात्सूर्य्यादयो द्योतनान्मातृपित्राचार्य्यातिथयश्च। तथा द्यौः किरणा आदित्यरश्मयः प्राणसूर्य्यादयो वा स्थानं स्थित्यर्थं यस्य स द्युस्थानः प्रकाशकानामपि प्रकाशकत्वात्परमेश्वर एवात्र देवोऽस्तीति विज्ञेयम्। अत्र प्रमाणम्। न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः॥ तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ इति कठ० वल्ली ५। मं० १५॥ तत्र नैव परमेश्वरे सूर्य्यादयो भान्ति प्रकाशं कुर्वन्ति। किन्तु तमेव भान्तं प्रकाशयन्तमनुपश्चात्ते हि प्रकाशयन्ति। नैव खल्वेतेषु कश्चित्स्वातन्त्र्येण प्रकाशोऽस्तीति। अतो मुख्यो देव एकः परमेश्वर एवोपास्योऽस्तीति मन्यध्वम्॥

भाषार्थ ॥

(देवो दाना०) दान देने से देव नाम पड़ता है और दान कहते हैं अपनी चीज दूसरे के अर्थ दे देना, दीपन कहते हैं प्रकाश करने को, द्योतन कहते हैं सत्योपदेश को, इनमें से दान का दाता मुख्य एक ईश्वर ही है कि जिसने जगत् को सब पदार्थ दे रक्खे हैं तथा विद्वान् मनुष्य भी विद्यादि पदार्थों के देने वाले होने से देव कहाते हैं, (दीपन) अर्थात् सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों का प्रकाश करने से सूर्य्यादि लोकों का नाम भी देव है तथा माता, पिता, आचार्य्य और अतिथि भी पालनविद्या और सत्योपदेशादि के करने से देव कहाते हैं, वैसे ही सूर्य्यादि लोकों का भी जो प्रकाश करनेवाला है सो ही ईश्वर सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य इष्टदेव है अन्य कोई नहीं। इस में कठोपनिषद् का भी प्रमाण है कि सूर्य चन्द्रमा तारे बिजुली और अग्नि ये सब परमेश्वर में प्रकाश नहीं कर सकते किन्तु इन सब का प्रकाश करने वाला एक वही है क्योंकि परमेश्वर के प्रकाश से ही सूर्य्य आदि सब जगत् प्रकाशित हो रहा है इस में यह जानना चाहिये कि ईश्वर से भिन्न कोई पदार्थ स्वतन्त्र प्रकाश करने वाला नहीं है इस से एक परमेश्वर ही मुख्य देव है ॥

नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ॥ य॰ अ॰ ४०। मं॰ ४॥ अत्र देवशब्देन मनःषष्ठानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि गृह्यन्ते। तेषां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां सत्यासत्ययोश्चार्थानां द्योतकत्वात्तान्यपि देवाः। यो देवः सा देवता देवात्तलित्यनेन सूत्रेण स्वार्थे तल्विधानात् स्तुतिर्हि गुणदोषकीर्त्तनं भवति यस्य पदार्थस्य मध्ये यादृशा गुणा वा दोषाः सन्ति तादृशानामेवोपदेशः स्तुतिर्विज्ञायते। तद्यथा। अयमसिः महुतः सन्नतीवच्छेदनं करोति। तीक्ष्णधारः स्वच्छो धनुर्वन्नाम्यमानोऽपि न त्रुट्यतीत्यादिगुणकथनमतो विपरीतोऽसिर्नैव तत् कर्त्तुं समर्थो भवतीत्यसेः स्तुतिर्विज्ञेया॥

भाषार्थ ॥

(नैनद्देवा॰) इस वचन में देव शब्द से इन्द्रियों का ग्रहण होता है जो कि श्रोत्र त्वचा नेत्र जीभ नाक और मन ये छः देव कहाते हैं क्योंकि शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध सत्य और असत्य इत्यादि अर्थों का इन से प्रकाश होता है. और देव शब्द से स्वार्थ में तल् प्रत्यय करने से देवता शब्द सिद्ध होता है जो २ गुण जिस २ पदार्थ में ईश्वर ने रचे हैं उन २ गुणों का लेख, उपदेश, श्रवण और विज्ञान करना तथा मनुष्यसृष्टि के गुण दोषों का भी लेख आदि करना इस को स्तुति कहते हैं क्योंकि जितना २ जिस २ में गुण है उतना २ उस २ में देवपन है इस से वे किसी के इष्टदेव नहीं हो सकते जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह तलवार काट करने में बहुत अच्छी और निर्मल है इस की धार बहुत तेज है और यह धनुष् के समान नमाने से भी नहीं टूटती इत्यादि तलवार के गुणकथन को स्तुति कहते हैं॥

तद्वदन्यत्रापि विज्ञेयम्। परन्त्वयं नियमः कर्मकाण्डं मत्यस्ति। उपासनाज्ञानकाण्डयोः कर्मकाण्डस्य निष्कामभागेऽपि च परमेश्वर एवेष्टदेवोऽस्ति। कस्मात्। तत्र तस्यैव प्राप्तिः प्रार्थ्यते। यश्च तस्य सकामो भागोऽस्ति तत्रेष्टविषयभोगप्राप्तये परमेश्वरः प्रार्थ्यते। अतः कारणाद्भेदो भवति। परन्तु नैवेश्वरार्थत्यागः क्वापि भवतीति वेदाभिप्रायोऽस्ति॥

भाषार्थ ॥

इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना इस नियम के साथ कि केवल परमेश्वर ही कर्म उपासना और ज्ञानकाण्ड में सब का इष्टदेव स्तुति, प्रार्थना, पूजा और उपासना करने के योग्य है क्योंकि गुण वे कहाते हैं जिनसे कर्मकाण्डादि में उपकार लेना होता है परन्तु सर्वत्र कर्मकाण्ड में भी इष्टभोग की प्राप्ति के लिये परमेश्वर का त्याग नहीं होता क्योंकि कार्य्य कारण सम्बन्ध से ईश्वर ही सर्वत्र स्तुति प्रार्थना उपासना से पूजा करने के योग्य होता है॥

अत्र प्रमाणम् । माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते एकस्याऽऽत्मनोऽन्येदेवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति । कर्मजन्मान आत्मजन्मान आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माऽश्वा आत्मायुधमात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य ॥ नि० अ० ७। खं० ४ ।(माहाभाग्यादे०) सर्वासां व्यवहारोपयोगिदेवतानां मध्य आत्मन एव मुख्यं देवतात्वमस्ति।कुतः । आत्मनो माहाभाग्यादर्थात्सर्वशक्तिमत्त्वादिविशेषणवत्त्वात् । न तस्याग्रेऽन्यस्य कस्यापि देवतात्वं गण्यं भवितुमर्हति। कुतः । सर्वेषु वेदेष्वेकस्याद्वितीयस्यासहायस्य सर्वव्यापकस्यात्मन एव बहुधा बहुप्रकारैरुपासना विहितास्ति । अस्मादन्ये ये देवा उक्ता वक्ष्यन्ते च ते सर्वे एकस्यात्मनः परमेश्वरस्य प्रत्यङ्गान्येव भवन्ति । अङ्गमङ्गं प्रत्यञ्चतीति निरुक्त्या तस्यैव सामर्थ्यस्यैकैकस्मिन्देशे प्रकाशिताः सन्ति ते च (कर्मज०) यतः कर्मणा जायन्ते तस्मात्कर्मजन्मानो यत आत्मन ईश्वरस्य सामर्थ्याज्जातास्तस्मादात्मजन्मानश्च सन्ति । अथैतेषां देवानामात्मा परमेश्वर एव रथो रमणाधिकरणम् । स एवाश्वा गमनहेतवः स आयुधं विजयावहमिषवो बाणा दुःखनाशकाः स एवास्ति । तथा चात्मैव देवस्य देवस्य सर्वस्वमस्ति । अर्थात्सर्वेषां देवानां स एवोत्पादको धाताधिष्ठाता मङ्गलकारी वर्त्तते । नातः परं किंचिदुत्तमं वस्तु विद्यत इति बोध्यम् ॥

भाषार्थ ॥

इस में निरुक्त का भी प्रमाण है कि व्यवहार के देवताओं की उपासना कभी नहीं करनी चाहिये किन्तु एक परमेश्वर ही की करनी उचित है। इसका निश्चय वेदों में अनेक प्रकार से किया है कि एक अद्वितीय परमेश्वर के ही प्रकाश, धारण, उत्पादन करने से वे सब व्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं इन का जन्म, कर्म और ईश्वर के सामर्थ्य से होता है और इन का रथ अर्थात् जो रमण का स्थान अश्वा अर्थात् शीघ्र सुख प्राप्ति का कारण आयुध अर्थात् सब शत्रुओं के नाश करने का हेतु और इषु अर्थात् जो बाण के समान सब दुष्ट गुणों का छेदन करने वाला शस्त्र है सो एक परमेश्वर ही है क्योंकि परमेश्वर ने जिस २ में जितना २ दिव्यगुण रक्खा है उतना २ ही उन द्रव्यों में देवपन है अधिक नहीं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि केवल परमेश्वर ही उन सब का उत्पादन धारण और मुक्ति का देनेवाला है ॥

अत्रान्यदपि प्रमाणम् । ये त्रिंशति त्रयस्परोदेवासो बर्हिरासदन् । विदन्न-

द्वितासेनम् ॥ १ ॥ ऋ० अ० ६ । अ० २ । व० ३५ । मं० १ ॥ त्रयस्त्रिंशता स्तुवत भूतान्यशाम्यन्प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत् ॥ २ ॥ य० अ० १४ मं० ३१ ॥ यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा । निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥ ३ ॥ यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गेगात्रा विभेजिरे । तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० १० । प्रपा० २३ । अनु० ४ । मं० २३ । २७ ॥ सहोवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति । कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ॥ ३ ॥ कतमे वसव इति । अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं सर्वं वसुहितमेते हीदं सर्वं वासयन्ते तद्यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति ॥ ४ ॥ कतमे रुद्रा इति । दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥ ५ ॥ कतम आदित्या इति । द्वादशमासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति तद्यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ६ ॥ कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति । स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमस्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥ ७ ॥ कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कतमौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्ध इति योऽयं पवत इति ॥ ८ ॥ तदाहुः । यदयमेक एव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निदं सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति । कतम एको देव इति स ब्रह्मत्यदित्याचक्षते ॥ ९ ॥ श० कां० १४ । अ० ५ ॥ अथैषामर्थः ॥ वेदमन्त्राणामेवार्थो ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रकाशित इति द्रष्टव्यम् । शाकल्यं प्रतियाज्ञवल्क्योक्तिः । त्रयस्त्रिंशदेव देवाः सन्ति । अष्टौ वसवः । एकादशरुद्राः । द्वादशादित्याः । इन्द्रः प्रजापतिश्चेति । तत्र (वसवः) अग्निः । पृथिवी । वायुः । अन्तरिक्षम् । आदित्यः । द्यौः । चन्द्रमाः । नक्षत्राणि च । एतेषामष्टानां वसुसंज्ञा कृतास्ति । आदित्यः सूर्यलोकस्तस्य प्रकाशोस्ति द्यौः सूर्यसन्निधौ पृथिव्यादिषु वा । अग्निलोकोऽस्त्यग्निरेव (कुत एते वसव इति) यद्यस्मादेतेष्वष्टस्वेवेदं सर्वं सम्पूर्णं वसु वस्तु जातं हितं धृतमस्ति । किंच सर्वेषां वासाधिकरणानीम एव लोकाः सन्ति । हि यतश्चेदं वासयन्ते सर्वस्यास्य जगतो वासहेतवस्तस्मात्कारणादग्न्यादयो वसुसंज्ञकाः सन्तीति बोद्धव्यम् । (एकादशरुद्राः) ये पुरुषेस्मिन्देहे । प्राणाः ।

अपानः । व्यानः । समानः । उदानः । नागः । कूर्मः । कृकलः । देवदत्तः । धनञ्जयश्च । इमे दश प्राणा एकादश आत्मा सर्वे मिलित्वैकादश रुद्रा भवन्ति । कुत एते रुद्रा इत्यत्राह । यदा यस्मिन्कालेऽस्मान्मरणधर्मकाच्छरीरादुत्क्रामन्तो निःसरन्तः सन्तोऽथेत्यनन्तरं मृतकसम्बन्धिनो जनांस्ते रोदयन्ति यतो जना रुदन्ति । तस्मात्कारणादेते रुद्राः सन्तीति विज्ञेयम् । (द्वादशादित्याः) चैत्राद्या फाल्गुनान्ता द्वादशमासा आदित्या विज्ञेयाः । कुतो हि यत एते सर्वं जगदाददाना अर्थादासमन्तादगृह्णन्तः प्रतिक्षणमुत्पन्नस्य वस्तुन आयुषः प्रलयं निकटमानयन्तो यन्ति गच्छन्ति चक्रवद् भ्रमणेनोत्तरोत्तरं जातस्य वस्तुनोऽवयवशिथिलतां परिणामेन प्रापयन्ति तस्मात्कारणान्मासानामादित्यसंज्ञा कृतास्ति । इन्द्रः परमैश्वर्ययोगात्स्तनयित्नुरशनिर्विद्युदिति । प्रजापतिर्यज्ञः पशवइति । प्रजायाः पालनहेतुत्वात्पशूनां यज्ञस्य च प्रजापतिरिति गौणिकी संज्ञा कृतास्ति । एते सर्वे मिलित्वा त्रयस्त्रिंशद्देवा भवन्ति । देवो दानादित्यादिनिरुक्त्या ह्येतेषु व्यावहारिकमेव देवत्वं योजनीयम् । त्रयो लोकास्त्रयो देवाः । के त इत्यत्राह निरुक्तकारः । धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति ॥ नि० अ० ९ । खं० २८ ॥ त्रयो लोका एत एव । वागेवायं लोको मनोन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥ श० कां० १४ । अ० ४ ॥ एतेपि त्रयो देवा ज्ञातव्याः ॥ द्वौ देवावन्नं प्राणश्चेति । अध्यर्धो ब्रह्माण्डस्थः सूत्रात्माख्यः सर्वजगतो वृद्धिकरत्वाद्वायुर्देवः । किमेते सर्व एवोपास्याः सन्तीत्यत्राह । नैव किन्तु (स ब्रह्म०) यस्सर्वजगत्कर्तृ सर्वशक्तिमत्सर्वस्येष्टं सर्वोपास्यं सर्वाधारं सर्वव्यापकं सर्वकारणमनादिसच्चिदानन्दस्वरूपमजं न्यायकारीत्यादिविशेषणयुक्तं ब्रह्मास्ति स एवैको देवश्चतुस्त्रिंशो वेदोक्तसिद्धान्तप्रकाशितः परमेश्वरो देवः सर्वमनुष्यैरुपास्योस्तीति मन्यध्वम् । ये वेदोक्तमार्गपरायणा आर्यास्ते सर्वदैतस्यैवोपासनं चक्रुः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च । अस्माद्भिन्नस्येष्टकरणेनोपासनेन चानार्यत्वमेव मनुष्येषु सिध्यतीति निश्चयः । अत्र प्रमाणम् । आत्मेत्येवोपासीत स योन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियꣳरोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति । योन्यां देवतामुपास्ते न स वेद यथा पशुरेवꣳ स देवानाम् ॥ श० कां० १४ । अ० ४ ॥ अनेनार्येतिहासेन विज्ञायते न परमेश्वरं विहायान्यस्योपासका आर्या आसन्निति ॥

भाषार्थ ॥

अब आगे देवता विषय में तेतीस देवों का व्याख्यान लिखते हैं जैसा ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद मन्त्रों का व्याख्यान लिखा है (त्रयस्त्रिंशत्०) अर्थात् व्यवहार के ये (३३) तेतीस देवता हैं (८) आठ वसु (११) ग्यारह रुद्र (१२) बारह आदित्य एक इन्द्र और एक प्रजापति। उन में से आठ वसु ये हैं—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा और नक्षत्र इन का वसु नाम इस कारण से है कि सब पदार्थ इन्हीं में बसते हैं और ये ही सब के निवास करने के स्थान हैं (११) ग्यारह रुद्र ये कहाते हैं जो शरीर में दश प्राण हैं अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और ग्यारहवां जीवात्मा है क्योंकि जब वे इस शरीर से निकल जाते हैं तब मरण होने से उस के सम्बन्धी लोग रोते हैं वे निकलते हुए उन को रुलाते हैं इस से इन का नाम रुद्र है इसी प्रकार आदित्य बारह महीनों को कहते हैं क्योंकि वे सब जगत् के पदार्थों का आदान अर्थात् सब की आयु को ग्रहण करते चले जाते हैं इसी से इन का नाम आदित्य है ऐसे ही इन्द्र नाम बिजुली का है क्योंकि वह उत्तम ऐश्वर्य्य की विद्या का मुख्य हेतु है और यज्ञ को प्रजापति इसलिये कहते हैं कि उस से वायु और वृष्टि जल की शुद्धिद्वारा प्रजा का पालन होता है तथा पशुओं की यज्ञसंज्ञा होने का यह कारण है कि उन से भी प्रजा का जीवन होता है ये सब मिल के अपने २ दिव्य गुणों से तेतीस देव कहाते हैं और तीन देव स्थान नाम और जन्म को कहते हैं। दो देव अन्न और प्राण को कहते हैं। अध्यर्धदेव अर्थात् जिससे सब का धारण और वृद्धि होती है जो सूत्रात्मा वायु सब जगत् में भर रहा है उस को अध्यर्धदेव कहते हैं। प्र०—क्या ये चालीस देव भी सब मनुष्यों को उपासना के योग्य हैं? उ०—इन में से कोई भी उपासना के योग्य नहीं है किन्तु व्यवहारमात्र की सिद्धि के लिये ये सब देव हैं और सब मनुष्यों के उपासना के योग्य तो देव एक ब्रह्म ही है। इस में यह प्रमाण है (स ब्रह्म०) जो सब जगत् का कर्त्ता सर्वशक्तिमान् सब का इष्ट सब को उपासना के योग्य सब का धारण करने वाला सब में व्यापक और सब का कारण है जिस का आदि अन्त नहीं और जो सच्चिदानन्दस्वरूप है जिस का जन्म कभी नहीं होता और जो कभी अन्याय नहीं करता इत्यादि विशेषणों से वेदादि शास्त्रों में जिस का प्रतिपादन किया है उसी को इष्ट देव मानना चाहिये और जो कोई इस से भिन्न को इष्ट देव मानता है उस को अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी कहना चाहिये क्योंकि (आत्मेत्ये०) इस में आर्य्यों का इतिहास शतपथब्राह्मण में है कि परमेश्वर जो सब का आत्मा है सब मनुष्यों को उसी की उपासना करनी उचित है इस में जो कोई कहै कि परमेश्वर को छोड़

के दूसरे में भी ईश्वरबुद्धि से प्रेमभक्ति करनी चाहिये तो उससे कहै कि तू सदा दुखी होके रोदन करेगा क्योंकि जो ईश्वर की उपासना करता है वह सदा आनन्द में ही रहता है। जो दूसरे में ईश्वरबुद्धि करके उपासना करता है वह कुछ भी नहीं जानता इसलिये वह विद्वानों के बीच में पशु अर्थात् गधा के समान है। इससे यह निश्चय हुआ कि आर्य्य लोग सब दिन से एक ईश्वर ही की उपासना करते आये हैं॥

अतः फलितार्थोयं जातः। देवशब्दे दिवुधातोर्ये दशार्थास्ते संगता भवन्तीति। तद्यथा। क्रीडा। विजिगीषा। व्यवहारः। द्युतिः। स्तुतिः। मोदः। मदः। स्वप्नः। कान्तिः। गतिश्चेति। एषामुभयत्र समानार्थत्वात्। परन्त्वन्याः सर्वादेवताः परमेश्वरप्रकाश्याः सन्ति स च स्वयंप्रकाशोस्ति। तत्र क्रीडनं क्रीडा। दुष्टान् विजेतुमिच्छा विजिगीषा। व्यवह्रियन्ते यस्मिन् व्यवहरणं व्यवहारः। स्वप्नो निद्रा। मदो ग्लपनं दीनता। एते मुख्यतया लौकिकव्यवहारवृत्तयो भवन्ति। तत्सिद्धिहेतवोग्न्यादयो देवताः सन्ति। अत्रापि नैव सर्वथा परमेश्वरस्य त्यागो भवति तस्य सर्वत्रानुसङ्गितया सर्वोत्पादकाधारकत्वात्। तथा द्युतिर्द्योतनं प्रकाशनं स्तुतिर्गुणेषु गुणकथनं स्थापनं च। मोदो हर्षः। प्रसन्नता कान्तिः शोभा। गतिर्ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति। एते परमेश्वरे मुख्यवृत्त्या यथावत्संगच्छन्ते। अतोन्यत्र तत्सत्तया गौण्या वृत्त्या वर्त्तन्ते। एवं गौणमुख्याभ्यां हेतुभ्यामुभयत्र देवतात्वं सम्यक् प्रतीयते॥

भाषार्थ॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि दिवु धातु के जो दश अर्थ हैं वे व्यवहार और परमार्थ इन दोनों अर्थ में यथावत् घटते हैं क्योंकि इनके दोनों अर्थ की योजना वेदों में अच्छी प्रकार से की है। इन में इतना भेद है कि पूर्वोक्त वसु आदि देवता परमेश्वर के ही प्रकाश से प्रकाशित होते हैं और परमेश्वर देव तो अपने ही प्रकाश से सदा प्रकाशित हो रहा है इससे वही एक सब का पूज्यदेव है और दिवु धातु के दश अर्थ ये हैं कि एक क्रीडा जो खेलना, दूसरा विजिगीषा जो शत्रुओं को जीतने की इच्छा होना, तीसरा व्यवहार जो कि दो प्रकार का है एक बाहर और दूसरा भीतर का, चौथा निद्रा और पांचवां मद, ये पांच अर्थ मुख्य करके व्यवहार में ही घटते हैं क्योंकि अग्नि आदि ही पदार्थ व्यवहारसिद्धि के हेतु हैं परन्तु परमेश्वर का त्याग इस में भी सर्वथा नहीं होता क्योंकि वे देव उसी की व्यापकता और रचना से दिव्य गुण वाले हुए हैं तथा द्युति जो प्रकाश करना, स्तुति जो गुणों का कीर्त्तन करना, मोद प्रसन्नता, कान्ति जो शोभा, गति जो ज्ञान गमन और प्राप्ति है, ये पांच अर्थ परमेश्वर में मुख्य करके

वर्त्तते हैं क्योंकि इन से भिन्न अर्थों में जितने २ जिन २ में गुण हैं उतना २ ही उन में देवतापन लिया जाता है। परमेश्वर में तो सर्वशक्तिमत्त्वादि सब गुण अनन्त हैं इससे पूज्यदेव एक वही है ॥

अत्र केचिदाहुः। वेदेषु जड़चेतनयोः पूजाभिधानाद्वेदाः संशयास्पदं प्राप्ताः सन्तीति गम्यते। अत्रोच्यते। मैवं भ्रमि। ईश्वरेण सर्वेषु पदार्थेषु स्वातन्त्र्यस्य रक्षितत्वात्। यथा चक्षुषि रूपग्रहणशक्तिस्तेन रक्षितास्ति। अतश्चक्षुष्मान् पश्यति नैवान्धश्चेति व्यवहारोस्ति। अत्र कश्चिद् ब्रूयान्नेत्रेण सूर्यादिभिश्च विनेश्वरो रूपं कथं न दर्शयतीति यथा तस्य व्यर्थेयं शङ्कास्ति। तथा पूजनं पूजा सत्कारः प्रियाचरणमनुकूलाचरणं चेत्यादयः पर्य्याया भवन्ति। इयं पूजा चक्षुषोपि सर्वैर्जनैः क्रियत एवमग्न्यादिषु यावदर्थद्योतकत्वं विद्याक्रियोपयोगित्वं चास्ति तावद्देवतात्वमप्यस्तु नात्र काचित्क्षतिरस्ति। कुतः। वेदेषु यत्र यत्रोपासना विधीयते तत्र तत्र देवतात्वेनेश्वरस्यैव ग्रहणात् ॥

भाषार्थ ॥

प्र०—इस विषय में कोई २ मनुष्य ऐसा कहते हैं कि वेदों के प्रतिपादन से एक ईश्वर की पूजा सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि उन में जड़ और चेतन की पूजा लिखी है इससे वेदों में संदेह सहित कथन मालूम पड़ता है। उ०—ऐसा भ्रम मत करो क्योंकि ईश्वर ने सब पदार्थों के बीच में स्वतन्त्र गुण रक्खे हैं। जैसे उसने आंख में देखने का सामर्थ्य रक्खा है तो उससे दीखता है। यह लोक में व्यवहार है इस में कोई पुरुष ऐसा कहे कि ईश्वर नेत्र और सूर्य के विना रूप को क्यों नहीं दिखलाता है जैसे यह शङ्का उसकी व्यर्थ है वैसे ही पूजा विषय में भी जानना क्योंकि जो दूसरे का सत्कार प्रियाचरण अर्थात् उस के अनुकूल काम करना है इसी का नाम पूजा है सो सब मनुष्यों को करनी उचित है इसी प्रकार अग्नि आदि पदार्थों में जितना २ अर्थ का प्रकाश दिव्यगुण क्रियासिद्धि और उपकार लेने का सम्भव है उतना २ उन में देवपन मानने से कुछ भी हानि नहीं हो सकती क्योंकि वेदों में जहां २ उपासनाव्यवहार लिया जाता है वहां २ एक अद्वितीय परमेश्वर का ही ग्रहण किया है ॥

तत्रापि मतद्वयं विग्रहवत्यविग्रहवद्देवताभेदात्। तच्चोभयं पूर्वं प्रतिपादितम्। अन्यच्च। मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्य्यदेवो भव अतिथिदेवो भव ॥ प्रपा० ७। अनु० ११ ॥ त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ॥ प्रपा० ७। अनु० १ ॥ इति सर्वमनुष्योपास्याः पञ्चदेवतास्तैत्तिरीयोपनिषद्युक्ताः। यथात्र

माता पितरा वाचार्य्योऽतिथिश्चेति सशरीरा देवताः सन्ति ॥ एवं सर्वथा निःशरीरं ब्रह्मास्ति ॥

भाषार्थ ॥

इस देवता विषय में दो प्रकार का भेद है । एक मूर्त्तिमान् और दूसरा अमूर्त्तिमान् । जैसे माता, पिता, आचार्य, अतिथि ये चार तो मूर्त्तिमान् देवता हैं और पांचवां परब्रह्म अमूर्त्तिमान् है अर्थात् उसकी किसी प्रकार की मूर्त्ति नहीं है । इस प्रकार से पांचदेव की पूजा में यह दो प्रकार का भेद जानना उचित है ॥

तथैव पूर्वोक्तासु देवतास्वग्निपृथिव्यादित्यचन्द्रमोनक्षत्राणि चेति पञ्चवसवो विग्रहवत्यः सन्ति । एवमेकादशरुद्रा द्वादशादित्या मनः षष्ठानि ज्ञानेन्द्रियाणि वायुरन्तरिक्षं द्यौर्मन्त्रश्चेति शरीररहिताः । तथास्तनयित्नुर्विधियज्ञौ च सशरीराशरीरे देवतेस्त इति । एवं सशरीरनिश्शरीरभेदेन देवताद्वयं भवति । तत्रैतासां व्यवहारोपयोगित्वमात्रमेव देवतात्वं गृह्यते । इत्थमेव मातृपित्राचार्य्यातिथीनां व्यवहारोपयोगित्वं परमार्थप्रकाशकत्वं चैतावन्मात्रं च । परमेश्वरस्तु खल्विष्टोपयोगित्वेनैवोपास्योस्ति । नातो वेदेषु ह्यपरा काचिद्देवता पूज्योपास्यत्वेन विहितास्तीति निश्चीयताम् ॥

भाषार्थ ॥

इसी प्रकार पूर्वोक्त आठ वसुओं में से अग्नि, पृथिवी, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र ये पांच मूर्त्तिमान् देव हैं और ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, मन, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ और मन्त्र, ये मूर्त्तिरहित देव हैं तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां बिजुली और विधियज्ञ ये सब देव मूर्त्तिमान् और अमूर्त्तिमान् भी हैं * इससे साकार और निराकार भेद से दो प्रकार की व्यवस्था देवताओं में जाननी चाहिये इनमें से पृथिव्यादि का देवपन केवल व्यवहार में तथा माता पिता आचार्य्य और अतिथियों का व्यवहार में उपयोग और परमार्थ का प्रकाश करनामात्र ही देवपन है और ऐसे ही मन और इन्द्रियों का उपयोग व्यवहार और परमार्थ करने में होता है परन्तु सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य एक परमेश्वर ही देव है ॥

अत इदानींतनाः केचिदार्य्या यूरोपखण्डवासिनश्च भौतिकदेवतानामेव पूजनं वेदेष्वस्तीत्यूचुर्वदन्ति च तदलीकतरमस्ति । तथा यूरोपखण्डवासिनो बहव

*इन्द्रियों की शक्तिरूप द्रव्य अमूर्त्तिमान् और गोलक मूर्त्तिमान् तथा विद्युत् और विधियज्ञ में जो २ शब्द तथा ज्ञान अमूर्त्तिमान् और दर्शन तथा सामग्री मूर्त्तिमान् जानना चाहिये ।

एवं वदन्ति पुरा ह्यार्य्या भौतिकदेवतानां पूजका आसन् पुनस्ताः संपूज्य संपूज्य च बहुकालान्तरे परमात्मानं पूज्यं विदुरिति। तदप्यसत्। तेषां सृष्ट्यारम्भमारभ्या-नेकैरिन्द्रवरुणाग्न्यादिभिर्नामभिर्वेदोक्तरीत्येश्वरस्यैवोपासनानुष्ठानाचारागमात् ॥

भाषार्थ ॥

प्र०—कितने ही आजकल के आर्य्य और यूरोपदेश वासी अर्थात् अंगरेज़ आदि लोग इस में ऐसी शंका करते हैं कि वेदों में पृथिव्यादि भूतों की पूजा कही है। वे लोग यह भी कहते हैं कि पहिले आर्य्य लोग भूतों की पूजा करते थे, फिर पूजते २ बहुत काल पीछे उन्होंने परमेश्वर को भी पूज्य जाना था। यह उन का कहना मिथ्या है क्योंकि आर्य्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज पर्य्यन्त इन्द्र वरुण और अग्नि आदि नामों करके वेदोक्त प्रमाण से एक परमेश्वर की ही उपासना करते चले आये हैं इस विषय में अनेक प्रमाण हैं उन में से थोड़े से यहां भी लिखते हैं ॥

अत्र प्रमाणानि। (अग्निमी०) अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने हि इन्द्रं मित्र-मृ०। ऋग्मन्त्रोयम्। अस्योपरीमवेवाग्निं महान्तमात्मानमित्यादि निरुक्तं च लिखितं तत्र द्रष्टव्यम्। तथा तदेवाग्निस्तदादित्य० इति यजुर्मन्त्रश्च। तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियंजिन्वमवसे हूमहे वयम्। पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥ १ ॥ ऋ० अ० १। अ० ६। व० १५। मं० ५॥ हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ऋ० अ० ८। अ० ७। व० ३। मं० १॥ इत्यादयो नत्र मन्त्रा एतद्विषयाः सन्ति। मवद्वेचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहासत्। त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत्॥ ३॥ स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा॥ यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥ ४॥ परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च। उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि संविवेश॥५॥ य० अ० ३२। मं० ६। १०। ११॥ वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥६॥ य० अ० ३१। मं० १८।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ७ ॥ य० अ० ४० । मं० ५ ॥ स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमित्यादि च ॥ य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः । स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ २ ॥ आविवेश ॥ ८ ॥ किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत् । यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥ ९ ॥ विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् । सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥ १० ॥ य० अ० १७ । मं० १७ । १८ । १९ ॥ इत्यादयो मन्त्रा यजुषि बहवः सन्ति । तथा सामवेदस्योत्तरार्चिके त्रिकम् ११ । अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः । ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ ११ ॥ न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ॥ अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥ १२ ॥ इत्यादयश्च ॥ नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् । किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ १३ ॥ इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न । यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ १४ ॥ इत्यन्ताः सप्तमन्त्रा ऋग्वेदे । अ० ८ । अ० ७ । व० १७ । मं० १ । ७ ॥ यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् । कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत्तद्बभूव ॥ १५ ॥ यस्मिन्भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता । यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्य्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १६ ॥ अथर्व० कां० १० । अनु० ४ । मं० ८ । १२ ॥ इत्यादयोऽथर्ववेदेपि बहवो मन्त्राः सन्ति । एतेषां मन्त्राणां मध्यात्केषांचिदर्थः पूर्वं प्रकाशितः केषांचिदग्रे विधास्यतेऽत्राप्रसङ्गान्नोच्यते । अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् । तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ १ ॥ अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ २ ॥ यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ ३ ॥ एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति । तमात्मस्थं ये नु पश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ ४ ॥ नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-

स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ ५ ॥ इति कठवल्ल्युपनिषदि ॥ दिव्यो-ह्यमूर्त्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाःशुभ्रोऽक्षरात्परतः परः॥६॥ यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैव महिमा भुवि। दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥ ७ ॥ इति मुण्डकोपनिषदि ॥ नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्य्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ८ ॥ इति माण्डूक्योपनिषदि ॥ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्। परमे व्योमन्त्सोऽश्नुते सर्वान्कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चितेति ॥ ९ ॥ इति तैत्तिरीयोपनिषदि ॥ यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्। भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य इति। यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा ॥ अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यꣳ स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठितइति स्वे महिम्नि ॥ इति छान्दोग्योपनिषदि ॥ वेदोक्तेशनादिविशेषणप्रतिपादितोऽणोरणीयानित्याद्युपनिषदुक्तविशेषणप्रतिपादितश्च यः परमेश्वरोऽस्ति। स एवाऽऽर्य्यैः सृष्टिमारभ्याद्यपर्य्यन्तं यथावद्विदित्वोपासितोऽस्तीति मन्यध्वम्। एवं परब्रह्मविषयप्रकाशकेषु प्रमाणेषु सत्सु यद्भट्टमोक्षमूलरैरुक्तमार्य्याणां पूर्वमीश्वरज्ञानं नासीत्पुनः क्रमाज्जातमिति। न तच्छिष्टग्रहणार्हमस्तीति विजानीमः ॥

भाषार्थ ॥

(इन्द्रं मित्रम्०) इस में चारों वेद शतपथ आदि चारों ब्राह्मण निरुक्त और छः शास्त्र आदि के अनेक प्रमाण हैं कि जिस सद्वस्तु ब्रह्म के इन्द्र ईशान अग्नि आदि वेदोक्त नाम हैं और अणोरणीयान् इत्यादि उपनिषदों के विशेषणों से जिसका प्रतिपादन किया है उसी की उपासना आर्य्य लोग सदा से करते आये हैं इन मन्त्रों में से जिनका अर्थ भूमिका में नहीं किया है उन का आगे वेदभाष्य में किया जायगा और कोई २ आर्य्य लोग किंवा यूरोप आदि देशों में रहनेवाले अंगरेज कहते हैं कि प्राचीन आर्य्य लोग अनेक देवताओं और भूतों की पूजा करते थे। यह उनका कहना व्यर्थ है क्योंकि वेदों और उनके प्राचीन व्याख्यानों में अग्नि आदि नामों से उपासना के लिये एक परमेश्वर का ही ग्रहण किया है जिसकी उपासना आर्य्य लोग करते थे इससे पूर्वोक्त शङ्का किसी प्रकार से नहीं आसक्ती ॥

भाष्यम् ॥

किंच हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिः० एतन्मन्त्रव्याख्यानावसरेऽयं मन्त्रोऽर्वाचीनोस्ति छन्दस इति आर्यावर्त्तदेशोत्पन्नैर्मक्षमोक्षमूलरैः स्वकीयसंस्कृतसाहित्याख्ये ग्रन्थ एतद्विषये यदुक्तं तन्न संगच्छते । यच्च वेदानां द्वौ भागावेकश्छन्दो द्वितीयो मन्त्रश्च तत्र यत्सामान्यार्थाभिधानं परबुद्धिप्रेरणाजन्यं स्वकल्पनया रचनाभावं यथाऽज्ञानिनो मुखादकस्मान्निस्सरेदीदृशं यद्वचनं तच्छन्दइति विज्ञेयम् । तस्योत्पत्तिसमय एकत्रिंशच्छतानि वर्षाण्यधिकादधिकानि व्यतीतानि । तथैकोनत्रिंशच्छतानि वर्षाणि मन्त्रोत्पत्तौ चेत्यनुमानं तेषामस्ति । तत्र तैरुक्तानि प्रमाणानि । अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्योनूतनैरुतेत्यादीनि ज्ञातव्यानि । तदिदमप्यन्यथास्ति । कुतः । हिरण्यगर्भशब्दस्यार्थज्ञानाभावात् ॥ अत्र प्रमाणानि । ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरेषोऽमृतꣳ हिरण्यम् ॥ श० कां० ६ । अ० ७ ॥ केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान्भवति काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा केशीदं ज्योतिरुच्यते ॥ नि० अ० १२ । खं० २५ ॥ यशो वै हिरण्यम् ॥ ऐ० पं० ७ । अ० ३ ॥ ज्योतिरित्रायं पुरुष इत्यात्मज्योतिः ॥ श० कां० १४ । अ० ७ ॥ ज्योतिरिन्द्राग्नी ॥ श०कां० १० । अ० ४ । एषामर्थः । ज्योतिर्विज्ञानं गर्भः स्वरूपं यस्य स हिरण्यगर्भः । एवं च ज्योतिर्हिरण्यं प्रकाशो ज्योतिरमृतं मोक्षो ज्योतिरादित्यादयः केशाः प्रकाशकाल्लोकाश्च यशः सत्कीर्त्तिर्धन्यवादश्च ज्योतिरात्मा जीवश्च ज्योतिरिन्द्रः सूर्योऽग्निश्चैतत्सर्वं हिरण्याख्यं गर्भे सामर्थ्ये यस्य स हिरण्यगर्भः परमेश्वरः । अतो हिरण्यगर्भशब्दप्रयोगाद्वेदानामुत्तमत्वं सनातनत्वं तु निश्चीयते न नवीनत्वं च । अस्मात्कारणाद्यत्तैरुक्तं हिरण्यगर्भशब्दप्रयोगान्मन्त्रभागस्य नवीनत्वं तु द्योतितं भवति । किन्त्वस्य प्राचीनत्वे किमपि प्रमाणं नोपलभामह इति । तद्भ्रममूलमेव विज्ञेयम् । यच्चोक्तं मन्त्रभागनवीनत्वे अग्निः पूर्वेभिरित्यादिकारणं तदपि तादृशमेव । कुतः । ईश्वरस्य त्रिकालदर्शित्वात् । ईश्वरो हि त्रीन्कालान् जानाति । भूतभविष्यद्वर्त्तमानकालस्थैर्मन्त्रद्रष्टृभिर्मनुष्यैर्मन्त्रैः प्राणैस्तर्कैश्चर्षिभिरहमेवेड्यो बभूवे भवामि भविष्यामि चेति विदित्वेदमुक्तमित्यदोषः । अन्यच्च । ये वेदादिशास्त्राण्यधीत्य विद्वांसो भूत्वाऽध्यापयन्ति ते प्राचीनाः । ये चाधीयते ते नवीनाः । तैर्ऋषिभिरग्निः परमेश्वर एवेड्योस्त्यतश्च ॥

भाषार्थ ॥

इसी विषय में डाक्टर मोक्षमूलर साहेब ने अपने बनाये संस्कृत साहित्य ग्रन्थ में

ऐसा लिखा है कि आर्य्य लोगों को क्रम से अर्थात् बहुत काल के पीछे ईश्वर का ज्ञान हुआ था और वेदों के प्राचीन होने में एक भी प्रमाण नहीं मिलता किन्तु उन के नवीन होने में तो अनेक प्रमाण पाये जाते हैं इस में एक तो हिरण्यगर्भ शब्द का प्रमाण दिया है कि छन्दोभाग से मन्त्रभाग दोसौ वर्ष पीछे बना है और दूसरा यह है कि वेदों में दो भाग हैं एक तो छन्द और दूसरा मन्त्र उन में से छन्दोभाग ऐसा है जो सामान्य अर्थ के साथ सम्बन्ध रखता है और दूसरे की प्रेरणा से प्रकाशित हुआ मालूम पड़ता है कि जिसकी उत्पत्ति बनाने वाले की प्रेरणा से नहीं हो सक्ती और उस में कथन इस प्रकार का है जैसे अज्ञानी के मुख से अकस्मात् वचन निकला हो उस की उत्पत्ति में (३१००) इकतीससौ वर्ष व्यतीत हुए हैं और मन्त्रभाग की उत्पत्ति में (२९००) उनतीससौ वर्ष हुए हैं उस में (अग्निः पूर्वेभिः०) इस मन्त्र का भी प्रमाण दिया है सो उन का यह कहना ठीक नहीं हो सक्ता क्योंकि उन्होंने (हिरण्यगर्भः०) और (अग्निः पूर्वेभिः०) इन दोनों मन्त्रों का अर्थ यथावत् नहीं जाना है तथा मालूम होता है कि उन को हिरण्यगर्भ शब्द नवीन जान पड़ा होगा इस विचार से कि हिरण्य नाम है सोने का वह सृष्टि से बहुत पीछे उत्पन्न हुआ है अर्थात् मनुष्यों की उन्नति राजा और प्रजा के प्रबन्ध होने के उपरान्त पृथिवी में से निकाला गया है सो यह बात भी उन की ठीक नहीं हो सक्ती क्योंकि इस शब्द का अर्थ यह है कि ज्योति कहते हैं विज्ञान को सो जिसके गर्भ अर्थात् स्वरूप में है ज्योति अमृत अर्थात् मोक्ष है सामर्थ्य में जिस के और ज्योति जो प्रकाशस्वरूप सूर्य्यादि लोक जिस के गर्भ में हैं तथा ज्योति जो जीवात्मा जिस के गर्भ अर्थात् सामर्थ्य में है तथा यशः सत्कीर्ति जो धन्यवाद जिस के स्वरूप में है इसी प्रकार ज्योति इन्द्र अर्थात् सूर्य वायु और अग्नि ये सब जिस के सामर्थ्य में हैं ऐसा जो एक परमेश्वर है उसी को हिरण्यगर्भ कहते हैं इस हिरण्यगर्भ शब्द के प्रयोग से वेदों का उत्तमपन और सनातनपन तो यथावत् सिद्ध होता है परन्तु इस से उन का नवीनपन सिद्ध कभी नहीं हो सक्ता । इस से डाक्टर मोक्षमूलर साहेब का कहना जो वेदों के नवीन होने के विषय में है सो सत्य नहीं है और जो उन्होंने (अग्निः पूर्वेभिः०) इस का प्रमाण वेदों के नवीन होने में दिया है सो भी अन्यथा है क्योंकि इस मन्त्र में वेदों के कर्त्ता त्रिकालदर्शी ईश्वर ने भूत भविष्यत् वर्त्तमान तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जान के कहा है कि वेदों को पढ़ के जो विद्वान् हो चुके हैं वा जो पढ़ते हैं वे प्राचीन और नवीन ऋषि लोग मेरी स्तुति करें तथा ऋषि नाम मन्त्र प्राण और तर्क का भी है इनसे ही मेरी स्तुति करनी योग्य है इसी अपेक्षा

से ईश्वर ने इस मन्त्र का प्रयोग किया है । इससे वेदों का सनातनपन और उत्तमपन तो सिद्ध होता है किन्तु उन हेतुओं से वेदों का नवीन होना किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सक्ता, इसी हेतु से डाक्टर मोक्षमूलर साहेब का कहना ठीक नहीं ॥

भाष्यम् ॥

अत्र निरुक्तेऽपि प्रमाणम् । तत्प्रकृतीतरद्वर्त्तनसामान्यादित्ययं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु । पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्या नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा पारोवर्य्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयो विद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्तान्मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढं तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति ॥ नि० अ० १३ । खं० १२ ॥ अस्यार्थः । (तत्प्रकृती०) तस्य मन्त्रसमूहस्य पदशब्दाक्षरसमुदायानामितरेतरत् परस्परं विशेष्यविशेषणतया सामान्यवृत्त्या वर्त्तमानानां मन्त्राणामर्थज्ञानचिन्ता भवति । कोयं खल्वस्य मन्त्रस्यार्थो भविष्यतीत्यभ्यूहो बुद्ध्याभिमुख्येनोहो विशेषज्ञानार्थस्तर्को मनुष्येण कर्त्तव्यः । नैते श्रुतितः श्रवणमात्रेणैव तर्कमात्रेण च पृथक् २ मन्त्रार्था निर्वक्तव्याः । किन्तु प्रकरणानुकूलतया पूर्वापरसंबन्धेनैव नितरां वक्तव्याः । किंच नैवैतेषु मन्त्रेष्वनृषेरतपसोऽशुद्धान्तःकरणस्याविदुषः प्रत्यक्षं ज्ञानं भवति । न यावद्वा पारोवर्य्यवित्सु कृतप्रत्यक्षमन्त्रार्थेषु मनुष्येषु भूयो विद्यो बहुविद्यान्वितः प्रशस्योऽत्युत्तमो विद्वान् भवति । नतावदभ्यूढः सुतर्केण वेदार्थमपि वक्तुमर्हतीत्युक्तं सिद्धमस्ति । अत्रेतिहासमाह । पुरस्तात्कदाचिन्मनुष्या ऋषिषु मन्त्रार्थद्रष्टृषूत्क्रामत्स्वतीतेषु सत्सु देवान् विदुषोऽब्रुवन्नपृच्छन् कोऽस्माकं मध्ये ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्यः सत्यासत्यविज्ञानेन वेदार्थबोधार्थं चैतं तर्कमृषिं ते प्रायच्छन् दत्तवन्तोऽयमेव युष्मासु ऋषिर्भविष्यतीत्युत्तरमुक्तवन्तः । कथंभूतं तं तर्कं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम् । मन्त्रार्थविज्ञानकारकम् । अतः किं सिद्धं यः कश्चिदनूचानो विद्यापारगः पुरुषोऽभ्यूहति वेदार्थमभ्यूहते प्रकाशयते तदेवार्षमृषिप्रोक्तं वेदव्याख्यानं भवतीति मन्तव्यम् । किंच यदल्पविद्येनाल्पबुद्धिना पक्षपातिना मनुष्येण चाभ्यूह्यते तदनार्षमनृतं भवति । नैतत्केनाप्यादर्त्तव्यमिति । कुतः । तस्यानर्थयुक्तत्वात् । तदादरेण मनुष्याणामप्यनर्थापत्तेश्चेति । अतः पूर्वैभिः प्राक्तनैः प्रथमोत्पन्नैस्तर्कैर्ऋषिभिस्तथा नूतनैर्वर्त्तमानस्थैश्चोतापि भविष्यद्भिश्च त्रिकालस्थैरग्निः परमेश्वर एवेड्योस्ति । नैवास्मा

न्निः कश्चित्पदार्थः कस्यापि मनुष्यस्येड्यःस्तोतव्य उपास्योस्तीति निश्चयः । एवमग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुतेत्यस्य मन्त्रस्यार्थसंगतेनैव वेदेष्ववर्चीनाख्यः कश्चिद् दोषो भवितुमर्हतीति ॥

भाषार्थ ॥

इस में विचारना चाहिये कि वेदों के अर्थ को यथावत् विना विचारे उन के अर्थ में किसी मनुष्य को हठ से साहस करना उचित नहीं क्योंकि जो वेद सब विद्याओं से युक्त हैं अर्थात् उन में जितने मन्त्र और पद हैं वे सब सम्पूर्ण सत्यविद्याओं के प्रकाश करने वाले हैं और ईश्वर ने वेदों का व्याख्यान भी वेदों से ही कर रक्खा है क्योंकि उन के शब्द धात्वर्थ के साथ योग रखते हैं । इसमें निरुक्त का भी प्रमाण है जैसा कि यास्कमुनि ने कहा है (तत्प्रकृतीत०) इत्यादि वेदों के व्याख्यान करने के विषय में ऐसा समझना कि जब तक सत्य प्रमाण सुतर्क वेदों के शब्दों का पूर्वापर प्रकरणों, व्याकरण आदि वेदाङ्गों, शतपथ आदि ब्राह्मणों, पूर्वमीमांसा आदि शास्त्रों और शाखान्तरों का यथावत् बोध न हो और परमेश्वर का अनुग्रह, उत्तम विद्वानों की शिक्षा, उन के सङ्ग से पक्षपात छोड़ के आत्मा की शुद्धि न हो तथा महर्षि लोगों के किये व्याख्यानों को न देखे तबतक वेदों के अर्थ का यथावत् प्रकाश मनुष्य के हृदय में नहीं होता । इसलिये सब आर्य्य विद्वानों का सिद्धान्त है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से युक्त जो तर्क है वही मनुष्यों के लिये ऋषि है इससे यह सिद्ध होता है कि जो सायणाचार्य्य और महीधरादि अल्पबुद्धि लोगों के झूठे व्याख्यानों को देख के आजकल के आर्य्यावर्त्त और यूरोपदेश के निवासी लोग जो वेदों के ऊपर अपनी २ देशभाषाओं में व्याख्यान करते हैं वे ठीक २ नहीं हैं और उन अनर्थयुक्त व्याख्यानों के मानने से मनुष्यों को अत्यन्त दुःख प्राप्त होता है, इससे बुद्धिमानों को उन व्याख्यानों का प्रमाण करना योग्य नहीं तर्क का नाम ऋषि होने से सब आर्य्य लोगों का सिद्धान्त है कि सब कालों में अग्नि जो परमेश्वर है वही उपासना करने के योग्य है ॥

भाष्यम् ॥

अन्यच्च । प्राणा वा ऋषयो दैव्यासः ॥ ऐ० पं० २ । अ० ४ ॥ पूर्वेभिः पूर्वकालावस्थास्थैः कारणस्थैः प्राणैः कार्य्यद्रव्यस्थैर्नूतनैर्ऋषिभिः सहैव समाधियोगेन सर्वैर्विद्वद्भिरग्निः परमेश्वर एवेड्योऽस्त्यनेन श्रेयो भवतीति मन्तव्यम् ॥

भाषार्थ ॥

जगत् के कारण प्रकृति में जो प्राण हैं उन को प्राचीन और उस के कार्य्य में

जो प्राण हैं इन को नवीन कहते हैं इसलिये सब विद्वानों को उन्हीं ऋषियों के साथ योगाभ्यास से अग्नि नामक परमेश्वर की ही स्तुति प्रार्थना और उपासना करनी योग्य है, इतने से ही समझना चाहिये कि भट्ट मोक्षमूलर साहेब आदि ने इस मन्त्र का अर्थ ठीक २ नहीं जाना है ॥

भाष्यम् ॥

यच्चोक्तं छन्दोमन्त्रयोर्भेदोस्तीति तदप्यसंगतम् । कुतः । छन्दोवेदनिगममन्त्रश्रुतीनां पर्यायवाचकत्वात् । तत्र छन्दोऽनेकार्थवाचकमस्ति । वैदिकानां गायत्र्यादिवृत्तानां लौकिकानामार्य्यादीनां च वाचकम् । क्वचित्स्वातन्त्र्यस्यापि । अत्राहुर्यास्काचार्य्याः । मन्त्रा मननाच्छन्दांसिच्छादनात्स्तोमः स्तवनाद्यजुर्यजतेः सामसंमितमृचा ॥ नि० अ० ७ । खं० १२ ॥ अविद्यादिदुःखानां निवारणात्सुखैराच्छान्दनाच्छन्दोवेदः । तथा चन्देरादेश्चछः इत्यौणादिकं सूत्रम् । चदि आल्हादने दीप्तौ चेत्यस्माद्धातोरसुन्प्रत्यये परे चकारस्यच्छकारादेशे च कृते छन्दस् इति शब्दो भवति । वेदाध्ययनेन सर्वविद्याप्राप्तेर्मनुष्य आल्हादी भवति सर्वार्थज्ञाता चातश्छन्दोवेदः । छन्दाᳬसि वै देवा वयोनाधाश्छन्दोभिर्हीदᳬसर्वं वयुनं नद्धम् ॥ श० कां० ८ । अ० २ ॥ एता वै देवताश्छन्दाᳬसि ॥ श० कां० ८ । अ० ३ ॥ अस्यायमभिप्रायः । मत्रि गुप्तपरिभाषणे । भस्माद्धलश्चेति सूत्रेण घञ् प्रत्यये कृते मन्त्रशब्दस्य सिद्धिर्जायते । गुप्तानां पदार्थानां भाषणं यस्मिन्वर्त्तते स मन्त्रोवेदः । तदवयवानामनेकार्थानामपि मन्त्रसंज्ञा भवति तेषां तदर्थवत्त्वात् । तथा मनज्ञाने । अस्माद्धातोः सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् इत्युणादिसूत्रेण ष्ट्रन्प्रत्यये कृते मन्त्रशब्दो व्युत्पद्यते । मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वैर्मनुष्यैः सत्याः पदार्था येन यस्मिन्वा स मन्त्रो वेदः । तदवयवा अग्निमीळेपुरोहितमित्यादयो मन्त्रा गृह्यन्ते । यानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि तदन्विता मन्त्राः सर्वार्थद्योतकत्वाद्देवताशब्देन गृह्यन्ते । अतश्च छन्दांस्येववेदाः । वयोनाधाः सर्वक्रियाविद्यानिबन्धनास्तैश्छन्दोभिरेव वेदैरिदमन्त्रैश्चेदं सर्वं विश्वं वयुनं कर्मादि चेश्वरेण नद्धं बद्धं कृतमेवेति विज्ञेयम् । येन छन्दसा छन्दोभिर्वा सर्वा विद्याः संवृता आवृताः सम्यक् स्वीकृता भवन्ति । तस्माच्छन्दांसि वेदा मननान्मन्त्राश्चेति पर्यायौ । एवं श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेय इति मनुस्मृतौ इत्यपि निगमो भवतीति निरुक्ते । श्रुतिर्वेदोम-

न्त्रश्च निगमो वेदो मन्त्रश्चेति पर्य्यायौ स्तः । श्रूयन्ते वा सकला विद्या यया सा श्रुतिर्वेदो मन्त्राश्च श्रुतयः । तथा निगच्छन्ति नितरां जानन्ति प्राप्नुवन्ति वा सर्वा विद्या यस्मिन् स निगमो वेदो मन्त्रश्चेति ॥

भाषार्थ ॥

जैसे छन्द और मन्त्र ये दोनों शब्द एकार्थवाची अर्थात् संहिता भाग के नाम हैं वैसे ही निगम और श्रुति भी वेदों के नाम हैं भेद होने का कारण केवल अर्थ ही है । वेदों का नाम छन्द इसलिये रक्खा है कि वे स्वतन्त्र प्रमाण और सत्यविद्याओं से परिपूर्ण हैं तथा उन का मन्त्र नाम इसलिये है कि उन से सत्यविद्याओं का ज्ञान होता है और श्रुति इसलिये कहते हैं कि उनके पढ़ने, अभ्यास करने और सुनने से सब सत्य विद्याओं को मनुष्य लोग जान सक्ते हैं । ऐसे ही जिस करके सब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो उस को निगम कहते हैं, इससे यह चारों शब्द पर्याय अर्थात् एक अर्थ के वाची हैं, ऐसा ही जानना चाहिये ॥

भाष्यम् ॥

तथा व्याकरणेपि । मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो लेः ॥ १ ॥ अष्टाध्याय्याम् । अ० २ । पा० ४ । सू० ८० ॥ छन्दसि लुङ् लङ् लिटः ॥ २ ॥ अ० ३ । पा० ४ । सू० ६ ॥ बांपपूर्वस्य निगमे ॥ ३ ॥ अ० ६ । पा० ४ । सू० ६ ॥ अत्रापिच्छन्दो मन्त्रनिगमाः पर्य्यायवाचिनः सन्ति । एवं छन्दआदीनां पर्यायसिद्धेर्यो भेदं ब्रूते तद्वचनमप्रमाणमेवास्तीति विज्ञायते ॥

भाषार्थ ॥

वैसे ही अष्टाध्यायी व्याकरण में भी छन्द मन्त्र और निगम ये तीनों नाम वेदों ही के हैं, इसलिये जो लोग इनमें भेद मानते हैं उनका वचन प्रमाण करने के योग्य नहीं ॥

इति वेदविषयविचारः ॥

अथ वेदसंज्ञाविचारः ॥

अथ कोयं वेदो नाम मन्त्रभागसंहितेत्याह । किञ्च मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमितिकात्यायनोक्तेर्ब्राह्मणभागस्यापि वेदसंज्ञा कुतो न स्वीक्रियतइति । मैवं वाच्यम् । न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति । कुतः । पुराणेतिहाससंज्ञकत्वाद्वेदव्याख्यानादृषिभिरुक्तत्वादनीश्वरोक्तत्वात्कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वान्मनुष्यबुद्धिरचितत्वाच्चेति ॥

भाषार्थ ॥

प्र०—वेद किनका नाम है ? उ०—मन्त्रसंहिताओं का । प्र०—जो कात्यायन ऋषि ने कहा है कि मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम वेद है फिर ब्राह्मणभाग को भी वेदों में ग्रहण आप लोग क्यों नहीं करते हैं ? उ०—ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हो सक्ते क्योंकि उन्हीं का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी भी है, वे ईश्वरोक्त नहीं हैं किन्तु महर्षि लोगों के किये वेदों के व्याख्यान हैं । एक कात्यायन को छोड़ के किसी अन्य ऋषि ने उन के वेद होने में साक्षी नहीं दी है और वे देहधारी पुरुषों के बनाये हैं, इन हेतुओं से ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं हो सकी और मन्त्रसंहिताओं का वेद नाम इसलिये है कि ईश्वररचित और सब विद्याओं का मूल है ॥

भाष्यम् ॥

यथा ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां नामलेखपूर्वका लौकिका इतिहासाः सन्ति न चैवं मन्त्रभागे । किंच भोः । त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् । यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ १ ॥ यजु० अ० ३ । मं० ६२ ॥ इत्यादीनि वचनान्यृषीणां नामाङ्कितानि यजुर्वेदादिष्वपि दृश्यन्ते । अनेनेतिहासादिविषये मन्त्रब्राह्मणयोस्तुल्यता दृश्यते पुनर्ब्राह्मणानामपि वेदसंज्ञा कुतो न मन्यते । मैवंभ्रमि । नैवात्र जमदग्निकश्यपौ देहधारिणो मनुष्यस्य नाम्नी स्तः । अत्र प्रमाणम् । चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः ॥ श० कां० ८ । अ० १ ॥ कश्यपो वै कूर्मः प्राणो वै कूर्मः ॥ शत० कां० ७ । अ० ५ । अनेन प्राणस्य कूर्मः कश्यपश्च संज्ञास्ति । शरीरस्य नाभौ तस्य कूर्माकारावस्थितेः । अनेन मन्त्रेणेश्वर एव प्रार्थ्यते तद्यथा—हे जगदीश्वर भवत्कृपया नोऽस्माकं जमदग्निसंज्ञकस्य चक्षुषः कश्यपाख्यस्य प्राणस्य च त्र्यायुषं त्रिगुणमर्थात् त्रीणि शतानि वर्षाणि यावत्तावदायुरस्तु । चक्षुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणां प्राणो मन आदीनां च (यद्देवेषु त्र्यायुषम्) अत्र प्रमाणम् । विद्वांसो हि देवाः ॥ श० कां० ३ । अ० ७ ॥ अनेन विदुषां देवसंज्ञास्ति । देवेषु विद्वत्सु यद्विद्याप्रभावयुक्तं त्रिगुणमायुर्भवति (तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्) तत्सेन्द्रियाणां समनस्कानां नोऽस्माकं पूर्वोक्तं सुखयुक्तं त्रिगुणमायुरस्तु भवतु । येन सुखयुक्ता वयं तावदायुर्भुञ्जीमहि । अनेनान्यदप्युपादिश्यते । ब्रह्मचर्यादिसुनियमैर्मनुष्यैरेतत्त्रिगुणमायुः कर्तुं शक्यमस्तीति गम्यते । अतो योऽभिधायकैर्जमदग्न्यादिभिः शब्दैरर्थमात्रं वेदेषु प्रकाश्यते । अतो नात्र मन्त्रभागे इतिहासले-

शोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम् । अतो यच्च सायणाचार्य्यादिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्र कु-
त्रेतिहासवर्णनं कृतं तद्भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम् ॥

भाषार्थ ॥

प्र०—जैसे ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी गार्गी और जनक आदि के इतिहास लिखे हैं वैसे ही (त्र्यायुषं जमदग्नेः०) इत्यादि वेदों में भी पाये जाते हैं इससे मन्त्र और ब्राह्मणभाग ये दोनों बराबर होते हैं फिर ब्राह्मण ग्रन्थों को वेदों में क्यों नहीं मानते हो ? । उ०—ऐसा भ्रम मत करो क्योंकि जमदग्नि और कश्यप-ये नाम देह-धारी मनुष्यों के नहीं हैं इस का प्रमाण शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि चक्षु का नाम जमदग्नि और प्राण का नाम कश्यप है इस कारण से यहां प्राण से अन्तःकरण और आंख से सब इन्द्रियों का ग्रहण करना चाहिये अर्थात् जिनसे जगत् के सब जीव बाहर और भीतर देखते हैं (त्र्यायुषं ज०) सो इस मंत्र से ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये कि हे जगदीश्वर ! आप के अनुग्रह से हमारे प्राण आदि अन्तःकरण और आंख आदि सब इन्द्रियों की (३००) तीनसौ वर्ष तक उमर बनी रहे (यद्देवेषु०) सो जैसी विद्वानों के बीच में विद्यादि शुभगुण और आनन्दयुक्त उमर होती है (तन्नो अस्तु०) वैसी ही हम लोगों की भी हो तथा (त्र्यायुषं जमदग्नेः०) इत्यादि उपदेश से यह भी जाना जाता है कि मनुष्य ब्रह्मचर्यादि उत्तम नियमों से त्रिगुण चतुर्गुण आयु कर सकता है अर्थात् (४००) चारसौ वर्ष तक भी सुखपूर्वक जी सकता है इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों में सत्य अर्थ के वाचक शब्दों से सत्यविद्याओं का प्रकाश किया है लौकिक इतिहासों का नहीं । इससे जो सायणाचार्यादि लोगों ने अपनी २ बनाई टीकाओं में वेदों में जहां तहां इतिहास वर्णन किये हैं वे सब मिथ्या हैं ॥

भाष्यम् ॥

तथा ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणेतिहासादि नामास्ति न ब्रह्मवैवर्त्तश्रीमद्भा-गवतादीनां चेति निश्चीयते । किंच भोः । ब्रह्मयज्ञविधाने यत्र कचिद्ब्राह्मणसूत्र-ग्रन्थेषु । यद्ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि कल्पान् गाथानाराशंसीरित्यादीनि वचनानि दृश्यन्ते । एषां मूलमथर्ववेदेऽप्यस्ति । स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् । त-मितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् । इतिहासस्य च वै पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १ ॥ अथर्व० कां० १५ । प्रपा० ३० । अनु० १ । मं० ४ ॥ अतो ब्राह्मणग्रन्थेभ्यो

(इदंवसो०) अर्थात् जिस में जगत् की उत्पत्ति आदि का वर्णन है उस ब्राह्मण भाग का नाम पुराण है (इन्द्रमोर्जैनेति इत्यादि०) जो वेदमन्त्रों के अर्थ अर्थात् जिन में द्रव्यों के सामर्थ्य का कथन किया है उन का नाम कल्प है, इसी प्रकार जैसे शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य जनक गार्गी मैत्रेयी आदि की कथाओं का नाम गाथा है और जिन में नर अर्थात् मनुष्य लोगों ने ईश्वर धर्म आदि पदार्थविद्याओं और मनुष्यों की प्रशंसा की है उनको नाराशंसी कहते हैं (ब्राह्मणानीतिहासान्०) इस वचन में ब्राह्मणानि संज्ञी और इतिहासादि संज्ञा है अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम इतिहास पुराण कल्प गाथा और नाराशंसी है सो ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रन्थों में जो २ जैसी २ कथा लिखी हैं उन्हीं का इतिहासादि से ग्रहण करना चाहिये अन्य का नहीं ॥

भाष्यम् ॥

अन्यदप्यत्र प्रमाणमस्ति न्यायदर्शनभाष्ये । वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥ १ ॥ अ० २ । आ० २ । सू० ६० ॥ अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम् । प्रमाणं शब्दो यथा लोके विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः । अयमभिप्रायः । ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव न वैदिका इति । तेषां त्रिविधो विभागो लक्ष्यते । सू० विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥ २ ॥ अ० २ । आ० २ । सू० ६१ ॥ अस्योप० वा० भा० । त्रिधा खलु ब्राह्मणवाक्यानि विनियुक्तानि विधिवचनान्यर्थवादवचनान्यनुवादवचनानीति तत्र । सू० विधिर्विधायकः ॥ ३ ॥ अ० २ । आ० २ । सू० ६२ ॥ अस्योप० वा० भा० । यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः । विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा यथाऽग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यादि । ब्राह्मणवाक्यानामिति शेषः । सू० स्तुतिर्निन्दापरकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥ ४ ॥ अ० २ । आ० २ । सू० ६३ ॥ अस्योप० वा० भा० । विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा स्तुतिः । संप्रत्ययार्थं स्तूयमानं श्रद्दधीतेति प्रवर्त्तिका च फलश्रवणात्प्रवर्त्तते सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन्सर्वस्याप्त्यै सर्वस्य जित्यै सर्वमेवैतेनाप्नोति सर्वं जयतीत्येवमादि । अनिष्टफलवादो निन्दा वर्जनार्थं निन्दितं न समाचरेदिति । स एष वा प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमो य एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते गर्त्तपत्यमेव तज्जीर्यते वा इत्येवमादि । अन्यकर्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः । हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिघारयन्ति । अथ पृषदाज्यं तदुह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिघारयन्ति । अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यं स्तोममित्येवमभिदधतीत्येवमादि । ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्प इति । तस्माद्वा एतेन ब्राह्मणा हविः

पवमानं सामस्तोमस्तौपत् योनेर्यज्ञं प्रतनवामहाइत्येवमादि । कथं परकृतिपुराकल्पौ अर्थवादा इति । स्तुतिनिन्दावाक्येनाभिसंबन्धाद्विध्याश्रयस्य कस्य कस्यचिदर्थस्य द्योतनादर्थवाद इति ॥

भाषार्थ ॥

ब्राह्मण ग्रन्थों की इतिहासादि संज्ञा होने में और भी प्रमाण है, जैसे लोक में तीन प्रकार के वचन होते हैं वैसे ब्राह्मण ग्रन्थों में भी हैं उन में से एक विधिवाक्य है । जैसे (देवदत्तो ग्रामं गच्छेत्सुखार्थम्) सुख के लिये देवदत्त ग्राम को जाय । इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में भी है (अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः) जिस को सुख की इच्छा हो वह अग्निहोत्रादि यज्ञों को करे । दूसरा अर्थवाद है जो कि चार प्रकार का होता है । एक स्तुति अर्थात् पदार्थों के गुणों का प्रकाश करना जिससे मनुष्यों की श्रद्धा उत्तम काम करने और गुणों के ग्रहण में ही हो, दूसरी निन्दा अर्थात् बुरे काम करने में दोषों का दिखलाना जिससे उन को कोई न करे । तीसरा (परकृतिः) जैसे इस चोर ने बुरा काम किया इस से उस को दण्ड मिला और साहूकार ने अच्छा काम किया इससे उस की प्रतिष्ठा और उन्नति हुई । चौथा (पुराकल्प) अर्थात् जो बात पहिले होचुकी हो जैसे जनक की सभा में याज्ञवल्क्य गार्गी शाकल्य आदि ने इकट्ठे होके आपस में प्रश्नोत्तर रीति से संवाद किया था इत्यादि इतिहासों को पुराकल्प कहते हैं ॥

भाष्यम् ॥

सू०–विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥ ६४ ॥ अ० २ । आ० २ । सू० ६४ ॥ अस्योप० वा० भा० । विध्यनुवचनं चानुवादो विहितानुवचनं च पूर्वः शब्दानुवादोऽपरोऽर्थानुवादः । सू० न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसंभवाभावप्रामाण्यात् ॥ १ ॥ अ० २ । आ० २ । सू० १ ॥ अस्योप० वा० भा० । न चत्वार्य्येव प्रमाणानि किं तर्हि । ऐतिह्यमर्थापत्तिः संभवोऽभाव इत्येतान्यपि प्रमाणानि । इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारंपर्य्यमैतिह्यम् । अनेन प्रमाणेनापीतिहासादिनामभिर्ब्राह्मणान्येव गृह्यन्ते नान्यदिति ॥

भाषार्थ ॥

इस का तीसरा भाग अनुवाद है अर्थात् जिस का पूर्व विधान करके उसी का स्मरण और कथन करना सो भी दो प्रकार का है । एक शब्द का और दूसरा अर्थ का । जैसे वह विद्या को पढ़े यह शब्दानुवाद है, विद्या पढ़ने से ही ज्ञान होता है इस को अर्थानुवाद कहते हैं, जिस की प्रतिज्ञा उसी में हेतु उदाहरण उपनय और निगमन

को घटाना हो जैसे परमेश्वर नित्य है, यह प्रतिज्ञा है। विनाशरहित होने से यह हेतु है। आकाश के समान है इस को उदाहरण कहते हैं। जैसा आकाश नित्य है वैसा परमेश्वर भी है इस को उपनय कहते हैं और इन चारों का क्रम से उच्चारण करके उन में यथावत् योजना करने को निगमन कहते हैं। जैसे परमेश्वर नित्य है विनाशरहित होने से आकाश के समान जैसा आकाश नित्य है वैसा परमेश्वर भी। इससे इन में समझ लेना चाहिये कि जिस शब्द और अर्थ का दूसरी बार उच्चारण और विचार हो इसको अनुवाद कहते हैं सो ब्राह्मण पुस्तकों में यथावत् लिखा है इस हेतु से भी ब्राह्मण पुस्तकों का नाम इतिहास आदि जानना चाहिये क्योंकि इन में से इतिहास पुराण कल्प गाथा और नाराशंसी ये पांच प्रकार की कथा सब ठीक २ लिखी हैं और भागवतादि को इतिहासादि नहीं जानना चाहिये क्योंकि उन में मिथ्या कथा बहुत सी लिखी हैं॥

भाष्यम्॥

अन्यच्च। ब्राह्मणानि तु वेदव्याख्यानान्येव सन्ति नैव वेदाख्यानीति। कुतः। इषेत्वोर्जेत्वेति॥ श० कां० १। अ० ७॥ इत्यादीनि मन्त्रप्रतीकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकरणात्॥

भाषार्थ॥

ब्राह्मण ग्रन्थों की वेदों में गणना नहीं हो सकती क्योंकि (इषेत्वोर्जेत्वेति) इस प्रकार से उन में मन्त्रों की प्रतीक धर २ के वेदों का व्याख्यान किया है और मन्त्रभाग संहिताओं में ब्राह्मण ग्रन्थों की एक भी प्रतीक कहीं नहीं देखने में आती, इससे जो ईश्वरोक्त मूलमन्त्र अर्थात् चार संहिता हैं वे ही वेद हैं, ब्राह्मण ग्रन्थ नहीं॥

भाष्यम्॥

अन्यच्च महाभाष्येऽपि केषां शब्दानाम्। लौकिकानां वैदिकानां च। तत्र लौकिकास्तावत्। गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति। वैदिकाः खल्वपि। शन्नोदेवीरभिष्टये। इषेत्वोर्जेत्वा। अग्निमीळे पुरोहितम्। अग्न आयाहि वीतय इति। यदि ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदसंज्ञाभीष्टाभूत्तर्हि तेषामप्युदाहरणमदास्यत्। अत एव महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसंज्ञां मत्वा प्रथममन्त्रप्रतीकानि वैदिकेषु शब्देषूदाहृतानि। किन्तु यानि गौरश्व इत्यादीनि लौकिकोदाहरणानि दत्तानि तानि ब्राह्मणादिग्रन्थेष्वेव घटन्ते। कुतः। तेष्वीदृशशब्दपाठव्यवहारदर्शनात्। द्वितीया ब्राह्मणे॥१॥ अ० २। पा० ३। सू० ६०॥ चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि॥२॥ अ० २। पा० ३। सू० ६२। पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु॥३॥

अ० ४ । पा० ३ । सू० १०५ ॥ इत्यष्टाध्याय्यां सूत्राणि । अत्रापि पाणिन्याचार्य्यैर्वेदब्राह्मणयोर्भेदेनैव प्रतिपादनं कृतम् । तद्यथा पुराणैः । प्राचीनैर्ब्रह्मादिऋषिभिः प्रोक्ता ब्राह्मणकल्पग्रन्था वेदव्याख्यानाः सन्ति । अतएवैतेषां पुराणेतिहाससंज्ञा कृतास्ति । यद्यत्र छन्दोब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाभीष्टा, भवेत्तर्हि चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसीत्यत्र छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात् । कुतः । द्वितीया ब्राह्मण इति ब्राह्मणशब्दस्य प्रकृतत्वात् । अतो विज्ञायते न ब्राह्मणग्रन्थानां वेदसंज्ञास्तीति अतः किं सिद्धम् । ब्रह्मेति ब्राह्मणानां नामास्ति । अत्र प्रमाणम् । ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रं राजन्यः ॥ श० कां० १३ । अ० १ ॥ समानार्थावेतौ ब्रह्मन्शब्दो ब्राह्मणशब्दश्च । इति व्याकरणमहाभाष्ये । अ० ५ । पा० १ । आ० १ ॥ चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि । अन्यच्च । कात्यायनेनापि ब्रह्मणा वेदेन सहचरितत्वात्सहचारोपाधिं मत्वा ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा संमतेति विज्ञायते । एवमपि न सम्यगस्ति । कुतः । एवं तेनानुक्तत्वाद्ततोऽन्यैर्ऋषिभिरग्रहीतत्वात् । अनेनापि न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हतीति । इत्यादिबहुभिः प्रमाणैर्मन्त्राणामेव वेदसंज्ञा न ब्राह्मणग्रन्थानामिति सिद्धम् ॥

भाषार्थ ॥

ब्राह्मण ग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं होने में व्याकरण महाभाष्य का भी प्रमाण है जिस में लोक और वेदों के भिन्न २ उदाहरण दिये हैं, जैसे गौरश्वः० इत्यादि लोक के और शन्नोदेवीरभिष्टय इत्यादि वेदों के हैं किन्तु वैदिक उदाहरणों में ब्राह्मणों का एक भी उदाहरण नहीं दिया और गौरश्वः इत्यादि जो लोक के उदाहरण दिये हैं वे सब ब्राह्मण पुस्तकों के हैं क्योंकि उन में ऐसा ही पाठ है इसी कारण से ब्राह्मण पुस्तकों की वेद संज्ञा नहीं हो सकती और कात्यायन के नाम से जो दोनों की वेद संज्ञा होने में वचन है सो सहचार उपाधि लक्षणा से किया हो तो भी नहीं बन सकता क्योंकि जैसे किसी ने किसी से कहा कि उस लकड़ी को भोजन करादो और दूसरे ने इतने ही कहने से तुरन्त जान लिया कि लकड़ी जड़ पदार्थ होने से भोजन नहीं कर सकती किन्तु जिस मनुष्य के हाथ में लकड़ी है उसको भोजन कराना चाहिये, इस प्रकार से कहा हो तो भी मानने के योग्य नहीं हो सकता क्योंकि इस में अन्य ऋषियों की एक भी साक्षी नहीं है इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म नाम ब्राह्मण का है सो ब्रह्मादि जो वेदों के जानने वाले महर्षि लोग थे उन्हीं के बनाए हुए ऐतरेय शतपथ आदि वेदों के व्याख्यान

हैं इसी कारण से उनके किये ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण हुआ है। इससे निश्चय हुआ कि मन्त्र भाग की ही वेद संज्ञा है, ब्राह्मण ग्रन्थों की नहीं ॥

भाष्यम् ॥

किञ्च भोः! ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदवत्प्रामाण्यं कर्त्तव्यमाहोस्विन्नेति। अत्र ब्रूमः। नैतेषां वेदवत्प्रामाण्यं कर्त्तुं योग्यमस्ति। कुतः। ईश्वरोक्ताभावात्तदनुकूलतयैवप्रमाणार्हत्वाच्चेति। परन्तु सन्ति तानि परतः प्रमाणयोग्यान्येवेति ॥

भाषार्थ ॥

प्र०—हम यह पूछते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों का भी वेदों के समान प्रमाण करना उचित है वा नहीं? । उ०—ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रमाण वेदों के तुल्य नहीं हो सकता क्योंकि वे ईश्वरोक्त नहीं हैं परन्तु वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं * ॥

इति वेदसंज्ञाविचारः ॥

अथ ब्रह्मविद्याविषयः ॥

वेदेषु सर्वाविद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति ॥ अत्रोच्यते। सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः। तत्रादिमा ब्रह्मविद्या संक्षेपतः प्रकाश्यते। तमीशा॑नं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धियं जिन्वमव॑से हूमहे व॒यम्। पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द्वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑ ॥ १ ॥ ऋ० अ० १। अ० ६। व० १५। मं० ५ ॥ तद्विष्णोः॑ प॒र॒मं प॒दं सदा॑ पश्यन्ति सू॒रयः॑। दि॒वी॑व॒ चक्षु॒रात॑तम् ॥ २ ॥ ऋ० अ० १। अ० २। व० ७। मं० ५ ॥ अनयोरर्थः। (तमीशानम्) ईष्टेऽसावीशानः सर्वजगत्कर्त्ता (जगतस्तस्थुषस्पतिं) जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य च पतिः स्वामी (धियं जिन्वम्) यो बुद्धेस्तृप्तिकर्त्ता (अवसे हूमहे वयम्) तमवसे रक्षणाय वयं हूमहे आह्वयामः (पूषा) पुष्टिकर्त्ता (नः) स एवास्माकं पुष्टिकारकोऽस्ति (यथा वेदसामसद्वृधे) हे परमेश्वर यथा येन प्रकारेण वेदसां विद्यासुवर्णादीनां धनानां वृधे वर्धनाय भवानस्ति तथैव कृपया (रक्षिताऽसत्) रक्षकोऽप्यस्तु। एवं (पायुरदब्धः स्वस्तये) अस्माकं रक्षणे स्वस्तये सर्वसुखाय (अदब्धः) अनलसः सन् पालनकर्त्ता सदैवास्तु ॥ १ ॥ तद्विष्णोरिति मन्त्रस्यार्थो वेदविषयप्रकरणे विज्ञानकाण्डे गदितस्तत्र द्रष्टव्यः ॥

---

* इसमें इतना भेद है कि जो ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं वेद से विरुद्ध हो उस का प्रमाण करना किसी को न चाहिये और ब्राह्मण ग्रन्थों से विरोध आवे तो भी वेदों का प्रमाण होता है ॥

भाषार्थ ॥

प्र०—वेदों में सब विद्या हैं वा नहीं ? । उ०—सब हैं क्योंकि जितनी सत्य विद्या संसार में हैं वे सब वेदों से ही निकली हैं उन में से पहिले ब्रह्म विद्या संक्षेप से लिखते हैं । (तमीशानं) जो सब जगत् का बनाने वाला है (जगतस्तस्थुषस्पतिं) अर्थात् जगत् जो चेतन और तस्थुष जो जड़ इन दो प्रकार के संसार का जो राजा और पालन करने वाला है (धियं जिन्वम्) जो मनुष्यों को बुद्धि और आनन्द से तृप्त करने वाला है उस की (अवसे हूमहे वयम्) हम लोग आह्वान अर्थात् अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं (पूषा नः) क्योंकि वह हम को सब सुखों से पुष्ट करने वाला है (यथा वेदसामसद्वृधे) हे परमेश्वर जैसे आप अपनी कृपा से हमारे सब पदार्थों और सुखों को बढ़ाने वाले हैं वैसे ही (रक्षिता) सब की रक्षा भी करें, (पायुरदब्धः स्वस्तये) जैसे आप हमारे रक्षक हैं वैसे ही सब सुख भी दीजिये ॥ १ ॥ (तद्विष्णो०) इस मंत्र का अर्थ वेदविषय प्रकरण के विज्ञानकाण्ड में अच्छी प्रकार लिख दिया है वहां देख लेना ॥ २ ॥

भाष्यम् ॥

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ॥ उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश ॥ ३ ॥ य० अ० ३२ । मं० ११ ॥ (परीत्य भू०) यः परमेश्वरो भूतान्याकाशादीनि परीत्य सर्वतोभिव्याप्य सूर्य्यादीन् लोकान् परीत्य पूर्वादिदिशः परीत्य आग्नेयादिप्रदिशश्च परीत्य परितः सर्वतः इत्वा प्राप्य विदित्वा च । (उपस्थाय प्र०) यः स्वसामर्थ्यस्याप्यात्मास्ति । यश्च प्रथमानि सूक्ष्मभूतानि जनयति तं परमानन्दस्वरूपं मोक्षाख्यं परमेश्वरं यो जीव आत्मना स्वसामर्थ्येनान्तःकरणेनोपस्थाय तमेवोपगतो भूत्वा विदित्वा चाभिसंविवेश आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्य स एव मोक्षाख्यं सुखमनुभवतीति ॥

भाषार्थ ॥

(परीत्य भू०) जो परमेश्वर आकाशादि सब भूतों में तथा (परीत्य लोकान्) सूर्य्यादि सब लोकों में व्याप्त हो रहा है (परीत्य सर्वाः०) इसी प्रकार जो पूर्वादि सब दिशा और आग्नेयादि उपदिशाओं में भी निरन्तर भरपूर हो रहा है अर्थात् जिस की व्यापकता से एक अणु भी खाली नहीं है (ऋतस्या०) जो अपने भी सामर्थ्य का आत्मा है (प्रथमजां) और जो कल्पादि में सृष्टि की उत्पत्ति करने वाला है उस आनन्दस्वरूप परमेश्वर को जो जीवात्मा अपने सामर्थ्य अर्थात् मन से यथावत् जानता है वही उस को प्राप्त होके (अभि०) सदा मोक्ष सुख को भोगता है ॥ ३ ॥

भाष्यम् ॥

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे ॥ तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥ ४ ॥ अथर्व० कां १० । प्रपा० २३ । अनु० ४ । मं० ३८ ॥ (महद्यक्षं) यन्महत्सर्वेभ्यो महत्तरं यक्षं सर्वैर्मनुष्यैः पूज्यम् (भुवनस्य) सर्वसंसारस्य (मध्ये) परिपूर्णम् (तपसि क्रान्तं) विज्ञाने वृद्धम् (सलिलस्य) अन्तरिक्षस्य कारणरूपेण कार्यस्य प्रलयानन्तरं (पृष्ठे) पश्चात् स्थितमस्ति तदेव ब्रह्मविज्ञेयम् (तस्मिञ्छ्र०) तस्मिन्ब्रह्मणि ये के चापि देवास्त्रयस्त्रिंशद्वस्वादयस्ते सर्वे तदाधारेणैव तिष्ठन्ति । कस्य का इव (वृक्षस्य स्कन्धः) वृक्षस्य स्कन्धे परितः सर्वतोलग्नाः शाखा इव ॥

भाषार्थ ॥

(महद्यक्षं०) ब्रह्म जो महत् अर्थात् सब से बड़ा और सब का पूज्य है (भुवनस्य म०) जो सब लोकों के बीच में विराजमान और उपासना करने के योग्य है (तपसि क्रान्तं) जो विज्ञानादि गुणों में सब से बड़ा है (सलिलस्य पृष्ठे) सलिल जो अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश है उस का भी आधार और उस में व्यापक तथा जगत् के प्रलय के पीछे भी नित्य निर्विकार रहने वाला है (तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवाः) जिस के आश्रय से वसु आदि पूर्वोक्त तेतीस देव ठहर रहे हैं (वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः) जैसे कि पृथिवी से वृक्ष का प्रथम अङ्कुर निकल के और वही स्थूल हो के सब डालियों का आधार होता है इसी प्रकार सब ब्रह्माण्ड का आधार वही एक परमेश्वर है ॥

भाष्यम् ॥

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते । ६ ॥ न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥ ७ ॥ नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥ ८ ॥ तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥ ९ ॥ सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥ १० ॥ अथर्व० कां० १३ । अनु० ४ । मं० १६ । १७ । १८ । २० । २१ ॥ (न द्वितीय०) एतैर्मन्त्रैरिदं विज्ञायते परमेश्वर एक एवास्तीति । नैवातो भिन्नः कश्चिदपि द्वितीयः तृतीयः चतुर्थः ॥ ६ ॥ पञ्चमः षष्ठः सप्तमः ॥ ७ ॥ अष्टमो नवमो दशमश्चेश्वरो विद्यते ॥ ८ ॥ यतो नवभिर्नकारैर्द्वित्वसंख्यामारभ्य शून्यपर्यन्तेनैकमीश्वरं विधायास्माद्भिन्नेश्वरभावस्यात्यन्तनिषेधो वेदेषु कृतोऽस्त्यतो द्वितीयस्योपासनमत्यन्तं निषिध्यते । सर्वानन्तर्यामितया प्राप्तः सन् जडं चेतनं च द्विविधं सर्वं जगत् स एव पश्यति नास्य कश्चिद्द्रष्टास्ति । न चायं कस्यापि दृश्यो भवितुमर्हति । येनेदं जगद्व्याप्तं तमेव परमेश्वरमिदं सकलं जगदपि (निगतं) निश्चितं प्राप्तमस्ति ।

व्यापकाद्व्याप्यस्य संयोगसम्बन्धत्वात् । (सहः) यतः सर्वं सहते तस्मात्स
एवैष महानस्ति । स खल्वेक एव वर्त्तते । न कश्चिद्द्वितीयस्तदधिकस्तत्तु-
ल्यो वास्ति । एकशब्दस्य त्रिर्ग्रहणात् । अतः सजातीयविजातीयस्वगतभे-
दशून्यमीश्वरे वर्त्तत एव द्वितीयेश्वरस्यात्यन्तनिषेधात् । कस्मादेकवृदेक एवे-
त्युक्तत्वात् स एष एक एकवृत् । एकेन चेतनमात्रेण वस्तुनैव वर्त्तते । पुनरेक
एवासहायः सन् य इदं सकलं जगद्रचयित्वा धारयतीत्यादिविशेषणयुक्तोऽस्ति ।
तस्य सर्वशक्तिमत्त्वात् । ९ ॥ अस्मिन्सर्वशक्तिमति परमात्मनि सर्वे देवाः पूर्वोक्ता
वस्वादय एकवृत एकाधिकरणा एव भवन्त्यर्थात्प्रलयानन्तरमपि तत्साम-
र्थ्यं प्राप्यैककारणवृत्तयो भवन्ति एवं विधाश्चान्येपि ब्रह्मविद्याप्रतिपादका. सप-
र्य्यगाच्छुक्रमकायमित्यादयो मन्त्रा वेदेषु बहवः सन्ति । ग्रन्थाधिक्यभिया नात्र
लिख्यन्ते । किन्तु यत्र यत्र वेदेषु ते मन्त्राः सन्ति । तत्तद्भाष्यकरणावसरे तत्र
तत्रार्थानुदाहरिष्याम इति ॥

भावार्थ ॥

(न द्वितीयो न०) इन सब मन्त्रों से यह निश्चय होता है कि परमेश्वर एक ही है उससे भिन्न कोई न दूसरा न तीसरा और न कोई चौथा परमेश्वर है ॥ ६ ॥ (न पञ्चमो न०) न पांचवां न छठा न कोई सातवां ईश्वर है ॥ ७ ॥ (नाष्टमो न०) न आठवां न नवमा और न कोई दशवा ईश्वर है ॥ ८ ॥ (तमिदं०) किन्तु वह सदा एक अद्वितीय ही है उससे भिन्न दूसरा ईश्वर कोई भी नहीं । इन मन्त्रों में जो दो से लेके दश पर्य्यन्त अन्य ईश्वर होने का निषेध किया है सो इस अभिप्राय से है कि सब संख्या का मूल एक (१) अङ्क ही है इसी को दो तीन चार पांच छः सात आठ और नव वार गणने से २, ३, ४, ५, ६, ७, ८ और ९ नव अंक बनते हैं और एक पर शून्य देने से १० का अङ्क होता है उन से एक ईश्वर का निश्चय करा के वेदों में दूसरे ईश्वर के होने का सर्वथा निषेध ही लिखा है अर्थात् उस के एकपने में भी भेद नहीं और वह शून्य भी नहीं किन्तु जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त एकरस परमात्मा है वही सदा से सब जगत् में परिपूर्ण होके पृथिवी आदि सब लोकों को रच के अपने सामर्थ्य से धारण कर रहा है तथा वह अपने काम में किसी का सहाय नहीं लेता क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है ॥ ९ ॥ (सर्वे अस्मिन्) उसी परमात्मा के सामर्थ्य में वसु आदि सब देव अर्थात् पृथिवी आदि लोक ठहर रहे हैं और प्रलय में भी उस के सामर्थ्य में लय होके उसी में बने रहते हैं इस प्रकार के मन्त्र वेदों में बहुत हैं यहां

उन सब के लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं क्योंकि जहां २ वे मन्त्र आवेंगे वहां २ उन का अर्थ कर दिया जायगा ॥

इति ब्रह्मविद्याविषयविचारः ॥

अथ वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः प्रकाश्यते ॥

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ १ ॥ ऋ० अ० ८ । अ० ८ । व० ४९ । मं० २ ॥

(संगच्छध्वं०) ईश्वरोऽभिवदति हे मनुष्या मयोक्तं न्याय्यं पक्षपातरहितं सत्यलक्षणोज्ज्वलं धर्मं यूयं संगच्छध्वं सम्यक् प्राप्नुत अर्थात् तत्प्राप्त्यर्थं सर्वं विरोधं विहाय परस्परं संगता भवत येन युष्माकमुत्तमं सुखं सर्वदा वर्धेत सर्वदुःखनाशश्च भवेत् (संवद०) संगता भूत्वा परस्परं जल्पवितण्डादि विरुद्धवादं विहाय संप्रीत्या प्रश्नोत्तरविधानेन संवादं कुरुत यतो युष्मासु सम्यक्सत्यविद्याद्युत्तमगुणाः सदा वर्धेरन् (सं वो मनांसि जानताम्) यूयं जानन्तो विज्ञानवन्तो भवत जानतां वो युष्माकं मनांसि यथा ज्ञानवन्ति भवेयुस्तथा सम्यक् पुरुषार्थं कुरुतार्थाद्येन युष्मन्मनांसि सदानन्दयुक्तानि स्युस्तथा प्रयतध्वम् । युष्माभिर्धर्म एव सेवनीयो नाधर्मश्चेत्यत्र दृष्टान्त उच्यते (देवा भागं यथा०) यथा पूर्वे संजानाना ये सम्यग्ज्ञानवन्तो देवा विद्वांस आप्ताः पक्षपातरहिता ईश्वरधर्मोपदेशप्रियाश्चासन् युष्मत्पूर्वं विद्यामधीत्य वर्त्तन्ते किंवा ये मृतास्ते यथा भागं भजनीयं सर्वशक्तिमदादिलक्षणमीश्वरं मदुक्तं धर्मं चोपासते । तथैव युष्माभिरपि स एव धर्म उपासनीयो यतो वेदप्रतिपाद्योधर्मो निश्शङ्कतया विदितश्च भवेत् ॥ १ ॥

भाषार्थ ॥

अब वेदों की रीति से धर्म के लक्षणों का वर्णन किया जाता है । (संगच्छध्वं) देखो परमेश्वर हम सबों के लिये धर्म का उपदेश करता है कि हे मनुष्य लोगो जो पक्षपातरहित न्याय सत्याचरण से युक्त धर्म है तुम लोग उसी को ग्रहण करो उस से विपरीत कभी मत चलो किन्तु उसी की प्राप्ति के लिये विरोध को छोड़ के परस्पर सम्मति में रहो जिससे तुम्हारा उत्तम सुख सब दिन बढ़ता जाय और किसी प्रकार

का दुःख न हो (संवदध्वं०) तुम लोग विरुद्ध वाद को छोड़ के परस्पर अर्थात् आपस में प्रीति के साथ पढ़ना पढ़ाना प्रश्न उत्तर सहित संवाद करो जिस से तुम्हारी सत्यविद्या नित्य बढ़ती रहे (संवो मनांसि जानताम्) तुम लोग अपने यथार्थ ज्ञान को नित्य बढ़ाते रहो जिस से तुम्हारा मन प्रकाशयुक्त होकर पुरुषार्थ को नित्य बढ़ावे जिस से तुम लोग ज्ञानी होके नित्य आनन्द में बने रहो और तुम लोगों को धर्म का ही सेवन करना चाहिये अधर्म का नहीं (देवा भागं य०) जैसे पक्षपात रहित धर्मात्मा विद्वान् लोग वेदरीति से सत्यधर्म का आचरण करते हैं उसी प्रकार से तुम भी करो क्योंकि धर्म का ज्ञान तीन प्रकार से होता है एक तो धर्मात्मा विद्वानों की शिक्षा दूसरा आत्मा की शुद्धि तथा सत्य को जानने की इच्छा और तीसरा परमेश्वर की कही वेदविद्या को जानने से ही मनुष्यों को सत्य असत्य का यथावत् बोध होता है अन्यथा नहीं ॥ १ ॥

स॒मा॒नोम॑न्त्रः॒ समि॑तिः समा॒नी स॑मा॒नं मनः॑ स॒हचि॒त्तमे॑षाम् ॥
स॒मा॒नं मन्त्र॑म॒भिम॑न्त्रये वः समा॒नेन॑ वो ह॒विषा॑ जुहोमि ॥ २ ॥
ऋ० अ० ८ । अ० ८ । व० ४९ । मं० ३ ॥

(समानोमन्त्रः०) हे मानवा वो युष्माकं मन्त्रोऽर्थान्मामीश्वरमारभ्य पृथिवीपर्यन्तानां गुप्तप्रसिद्धसामर्थ्यगुणानां पदार्थानां भाषणमुपदेशनं ज्ञानं वा भवति यस्मिन् येन वा समन्त्रो विचारो भवितुमर्हति । तद्यथा । राज्ञो मन्त्री सत्यासत्यविवेककर्त्तेत्यर्थः सोपि सत्यज्ञानफलः सर्वोपकारकः समानस्तुल्योऽर्थाद्विरोधरहितएव भवतु । यदा बहुभिर्मनुष्यैर्मिलित्वा संदिग्धपदार्थानां विचारः कर्त्तव्यो भवेत्तदा प्रथमतः पृथक् पृथगपि सभासदां मतानि भवेयुस्तत्रापि सर्वेभ्यः सारं गृहीत्वा यद्यत्सर्वमनुष्यहितकारकं सद्गुणलक्षणान्वितं मतं स्यात्तत्सर्वं ज्ञात्वैकत्र कृत्वा नित्यं समाचरत । यतः प्रतिदिनं सर्वेषां मनुष्याणामुत्तरोत्तरमुत्तमं सुखं वर्धेत । तथा (समितिः समानी) समितिः सामाजिकनियमव्यवस्थार्थाया न्यायप्रचाराढ्या सर्वमनुष्याणां मान्यज्ञानप्रदा ब्रह्मचर्य्यविद्याभ्यासशुभगुणसाधिका शिष्टसभया राज्यप्रबन्धाद्याह्लादिता परमार्थव्यवहारशोधिका बुद्धिशरीरबलारोग्यवर्द्धिनी शुभमर्य्यादापि समानी सर्वमनुष्यस्वतन्त्रदानसुखवर्धनायैकरसैव कार्य्येति (समानं मनः०) मनः संकल्पविकल्पात्मकं संकल्पोमिलापेच्छेत्यादि विकल्पोऽप्रीतिर्द्वेषइत्यादि शुभगुणान्प्रति संकल्पः अशुभगुणान्प्रति विकल्पश्च रक्षणीयः । एतद्धर्मकं युष्माकं मनः समानमन्योन्यमवि-

रुद्धस्वभावमेवास्तु । यच्चित्तं पूर्वपरानुभूतं स्मरणात्मकं धर्मेश्वरचिन्तनं तदपि समानमर्थात्सर्वप्राणिनां दुःखनाशाय सुखवर्धनाय च स्वात्मवत्सम्यक् पुरुषार्थेनैव कार्य्यम् (सह) युष्माभिः परस्परस्य सुखोपकारायैव सर्वं सामर्थ्यं योजनीयम् । (एषां०) येहोषां सर्वजीवानां सङ्ग स्वात्मवद्वर्त्तन्ते तादृशानां परोपकारिणां परसुखदातॄणामुपर्य्यहं कृपालुर्भूत्वा (अभिमन्त्रये वः) युष्मान्पूर्वपरोक्तं धर्ममाज्ञापयामि । इत्थमेव सर्वैः कर्त्तव्यमिति । येन युष्माकं मध्ये नैव कदाचिदसत्यनाशोऽसत्यवृद्धिश्च भवेत् । (समानेन वो०) हविर्दानं ग्रहणं च तदपि सत्येन धर्मेण युक्तमेव कार्य्यम् । तेन समानेनैव हविषा वो युष्मान् जुहोमि सत्यधर्मेण सहैवाहं सदा नियोजयामि । अतो मदुक्त एव धर्मो मन्तव्यो न्याय इति ॥ २ ॥

भाषार्थ ॥

(समानो मन्त्रः) हे मनुष्य लोगो जो तुम्हारा मन्त्र अर्थात् सत्य असत्य का विचार है वह समान हो उस में किसी प्रकार का विरोध न हो और मन्त्र २ तुम लोग मिल के विचार करो तब २ सब के वचनों को अलग २ सुन के जो २ धर्मयुक्त और जिसमें सब का हित हो सो २ सब में से अलग करके उसी का प्रचार करो जिस से सभों का बराबर सुख बढ़ता जाय (समितिः समानी) और जिस में सब मनुष्यों का मान, ज्ञान, विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्य आदि आश्रम, अच्छे २ काम, उत्तम मनुष्यों की सभा से राज्य के प्रबन्ध का यथावत् करना और जिससे बुद्धि, शरीर, बल, पराक्रम आदि गुण बढ़ें तथा परमार्थ और व्यवहार शुद्ध हों ऐसी जो उत्तम मर्य्यादा है सो भी तुम लोगों की एक ही प्रकार की हो जिससे तुम्हारे सब श्रेष्ठ काम सिद्ध होते जायं (समानं मनः सह चित्तं) हे मनुष्य लोगो तुम्हारा मन भी आपस में विरोधरहित अर्थात् सब प्राणियों के दुःख के नाश और सुख की वृद्धि के लिये अपने आत्मा के सम तुल्य पुरुषार्थवाला हो शुभ गुणों की प्राप्ति की इच्छा को संकल्प और दुष्ट गुणों के त्याग की इच्छा को विकल्प कहते हैं । जिससे जीवात्मा ये दोनों कर्म करता है उस का नाम मन है उस से सदा पुरुषार्थ करो जिससे तुम्हारा धर्म सदा दृढ़ और अविरुद्ध हो तथा चित्त उस को कहते हैं कि जिस से सब अर्थों का स्मरण अर्थात् पूर्वापर कर्मों का यथावत् विचार हो वह भी तुम्हारा एक सा हो (सह) जो तुम्हारा मन और चित्त हैं ये दोनों सब मनुष्यों के सुख ही के लिये प्रयत्न में रहें (एषां०) इस प्रकार से जो मनुष्य सब का उपकार करने और सुख देनेवाले हैं मैं उन्हीं पर सदा कृपा करता हूं (समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः) अर्थात् मैं उन के लिये आशीर्वाद और आज्ञा देता हूं-

कि सब मनुष्य मेरी इस आज्ञा के अनुकूल चलें जिस से उन का सत्य धर्म बढ़े और असत्य का नाश हो (समानेन वो हविषा जुहोमि) हे मनुष्य लोगो जब २ कोई पदार्थ किसी को दिया चाहो अथवा किसी से ग्रहण किया चाहो तब २ धर्म से युक्त ही करो उस से विरुद्ध व्यवहार को मत करो और यह बात निश्चय करके जान लो कि मैं सत्य के साथ तुम्हारा और तुम्हारे साथ सत्य का संयोग करता हूं इसलिये कि तुम लोग इसी को धर्म मान के सदा करते रहो और इस से भिन्न को धर्म कभी मत मानो ॥ २ ॥

समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः ॥ समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ऋ० अ० ८ । अ० ८ । व० ४९ । मं० ४ ॥

भाष्यम् ॥

अस्यायमभिप्रायः । हे मानवा वो युष्माकं यत्सर्वं सामर्थ्यमस्ति तद्धर्मसंबन्धे परस्परमविरुद्धं कृत्वा सर्वैः सुखं सदा संवर्धनीयमिति । (समानीव०) आकूतिरध्यवसाय उत्साह आसूरीतिर्वा सापि वो युष्माकं परस्परोपकारकरणेन सर्वेषां जनानां सुखायैव भवतु । यथा मदुपदिष्टस्यास्य धर्मस्य विलोपो न स्यात्तथैव कार्य्यम् (समाना हृदयानि वः) वो युष्माकं हृदयान्यर्थान्मानसानि प्रेममधुराणि कर्माणि निर्वैराय समानान्यविरुद्धान्येव सन्तु (समानमस्तु वो मनः) अत्र प्रमाणम् कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति ॥ श० कां० १४ । अ० ४ ॥ मनसा विविच्य पुनरनुष्ठातव्यम् । शुभगुणानामिच्छा कामः । तस्मात्पुनरनुष्ठानेच्छा संकल्पः । पूर्वं संशयं कृत्वा पुनर्निश्चयकरणेच्छा संशयो विचिकित्सा । ईश्वर सत्यधर्मादिगुणानामुपर्यत्यन्तं विश्वासः श्रद्धा । अनीश्वरवादाधर्माद्युपरिसर्वथाऽनिश्चयोऽश्रद्धा । सुखदुःखप्राप्त्यापीश्वरधर्माद्युपरि सदैव निश्चयरक्षणं धृतिः । अशुभगुणानामाचरणं नैव कार्य्यमित्यधैर्य्यमधृतिः । सत्यधर्माचरणेऽसत्याचरणे मनसः संकोचो घृणा ह्रीः । शुभगुणान् शीघ्रं धारयेदिति धारणावती वृत्तिर्धीः । असत्याचरणादीश्वराज्ञाभंगात्पापाचरणादीश्वरो नः सर्वत्र पश्यतीत्यादि वृत्तिर्भीः । एतद्धर्मकं मनो वो युष्माकं समानं तुल्यमस्तु । (यथा वः सुसहासति) हे मनुष्या वो युष्माकं यथा परस्परं सुसहायेन प्रसति सम्यक् सुखोन्नतिः स्यात्तथा सर्वैः प्रयत्नो विधेयः । सर्वान्

सुखिनो दृष्ट्वा चित्त आल्हादः कार्य्यः । नैव कंचिदपि दुःखितं दृष्ट्वा सुखं केनापि कर्त्तव्यम् किंतु यथा सर्वे स्वतन्त्राः सुखिनः स्युस्तथैव सर्वैः कार्य्यमिति ॥

भाषार्थ ॥

(समानीव आकूतिः) ईश्वर इस मन्त्र का प्रयोजन कहता है कि हे मनुष्य लोगो तुम्हारा जितना सामर्थ्य है उस को धर्म के साथ मिला के सब सुखों को सब दिन बढ़ाते रहो निश्चय उत्साह और धर्मात्माओं के आचरण को आकूति कहते हैं । हे मनुष्य लोगो तुम्हारा सब पुरुषार्थ सब जीवों के सुख के लिये सदा हो जिससे मेरे कहे धर्म का कभी त्याग न हो और सदा वैसा ही प्रयत्न करते रहो कि जिससे (समाना हृदयानि वः) तुम्हारे हृदय अर्थात् मन के सब व्यवहार आपस में सदा प्रेमसहित और विरोध से अलग रहैं (समानमस्तु वो मनः) मनः शब्द का अनेक वार ग्रहण करने में यह प्रयोजन है कि जिससे मन के अनेक अर्थ जाने जायं (कामः) प्रथम विचार ही करके सब उत्तम व्यवहारों का आचरण करना और बुरों को छोड़ देना इस का नाम काम है (संकल्पः) जो सुख और विद्यादि शुभ गुणों को प्राप्त होने के लिये प्रयत्न से अत्यन्त पुरुषार्थ करने की इच्छा है उस को संकल्प कहते हैं (विचिकित्सा) जो २ काम करना हो उस २ को प्रथम शङ्का कर कर के ठीक निश्चय करने के लिये जो संदेह करना है उसका नाम विचिकित्सा है (श्रद्धा) जो ईश्वर और सत्य धर्म आदि शुभ गुणों में निश्चय से विश्वास को स्थिर रखना है उस को श्रद्धा जानना (अश्रद्धा) अर्थात् अविद्या कुतर्क बुरे काम करने ईश्वर को नहीं मानने और अन्याय आदि अशुभ गुणों से सब प्रकार से अलग रहने का नाम अश्रद्धा समझना चाहिये (धृतिः) जो सुख दुःख हानि लाभ आदि के होने में भी अपने धीरज को नहीं छोड़ना उस का नाम धृति है (अधृति) बुरे कामों में दृढ़ न होने को अधृति कहते हैं (ह्रीः) अर्थात् जो झूठे आचरण करने और सच्चे कामों को नहीं करने में मन को लज्जित करना है उस को ह्री कहते हैं (धीः) जो श्रेष्ठ गुणों को शीघ्र धारण करनेवाली वृत्ति है उस को धी कहते हैं (भीः) जो ईश्वर की आज्ञा अर्थात् सत्याचरण धर्म करना और उस से उलटे पाप के आचरण से नित्य डरते रहना अर्थात् ईश्वर हमारे सब कामों को सब प्रकार से देखता है ऐसा जानकर उससे सदा डरना कि जो मैं पाप करूंगा तो ईश्वर मुझ पर अप्रसन्न होगा इत्यादि गुण वाली वस्तु का नाम मन है, इस को सब प्रकार से सब के सुख के लिये युक्त करो । (यथा वः सुसहासति) हे मनुष्य लोगो जिस प्रकार अर्थात् पूर्वोक्त धर्म सेवन से तुम लोगो को उत्तम सुखों की बढ़ती हो और जिस श्रेष्ठ सहाय से आपस में एक से दूसरे को सुख बढ़े ऐसा काम सब दिन करते रहो किसी

को दुःखी देख के अपने मन में सुख मत मानो किन्तु सब को सुखी करके अपने आत्मा को सुखी जानो जिस प्रकार से स्वाधीन होके सब लोग सदा सुखी रहें वैसा ही यत्न करते रहो ॥ ३॥

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः ॥ अश्रद्धामनृते दधाच्छ्रद्धाᳬं सत्ये प्रजापतिः ॥ ४ ॥ य० अ० १६ । मं० ७७ ॥

भाष्यम् ॥

अस्याभि० (दृष्ट्वा०) प्रजापतिः परमेश्वरो धर्ममुपदिशति सर्वैर्मनुष्यैः सर्वथा सर्वदा सत्य एव सम्यक् श्रद्धा रक्षणीयाऽसत्ये चाश्रद्धेति । (प्रजापतिः) परमेश्वरः (सत्यानृते) धर्माधर्मौ (रूपे) प्रसिद्धाप्रसिद्धलक्षणौ दृष्ट्वा (व्याकरोत्) सर्वज्ञया स्वया विद्यया विभक्तौ कृतवानस्ति । कथमित्यत्राह (अश्रद्धाम०) सर्वेषां मनुष्याणामनृतेऽसत्येऽधर्मेऽन्यायेऽश्रद्धामदधात् । अर्थादधर्मेऽश्रद्धां कर्तुमाज्ञापयति । तथैव वेदशास्त्रप्रतिपादिते सत्ये प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षिते पक्षपातरहिते न्याय्ये धर्मे प्रजापतिः सर्वज्ञ ईश्वरः श्रद्धां चादधात् एवं सर्वैर्मनुष्यैः परमप्रयत्नेन स्वकीयं चित्तं धर्मे प्रवृत्तमधर्मान्निवृत्तं च सदैव कार्य्यमिति ॥ ४ ॥

भाषार्थ ॥

(दृष्ट्वा०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि प्रजापति परमेश्वर जो सब जगत् का स्वामी अर्थात् मालिक है वह सब मनुष्यों के लिये धर्म का उपदेश करता है कि सब मनुष्यों को सब प्रकार से सब काल में सत्य में ही प्रीति करनी चाहिये असत्य में कभी नहीं (प्रजापतिः) सब जगत् का अध्यक्ष जो ईश्वर है सो (सत्यानृते) सत्य जो धर्म और असत्य जो अधर्म है जिन के प्रकट और गुप्त लक्षण हैं * (व्याकरोत्) उन को ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञ विद्या के ठीक २ विचार से देख के सत्य और झूठ को अलग २ किया है सो इस प्रकार से हैं कि (अश्रद्धाम०) हे मनुष्य लोगो तुम सब दिन अनृत अर्थात् झूठ अन्याय के करने में (अश्रद्धा) अर्थात् प्रीति कभी मत करो वैसा ही (श्रद्धाᳬंस०) सत्य अर्थात् जो वेदशास्त्रोक्त और जिसकी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परीक्षा कीगई हो वा कीजाय वही पक्षपात से अलग न्यायरूप धर्म है उस के आचरण में सब दिन प्रीति रक्खो और जो २ तुम लोगों के लिये मेरी आज्ञा है उस २ में अपने आत्मा प्राण और मन को सब पुरुषार्थ तथा कोमल स्वभाव से युक्त करके सदा सत्य ही में प्रवृत्त करो ॥ ४ ॥

---

* जितना धर्म अधर्म का लक्षण बाहर की चेष्टा के साथ सम्बन्ध रखता है वह प्रकट और जितना आत्मा के साथ सम्बन्ध रखता है वह गुप्त कहाता है ॥

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ ५ ॥ य० अ० ३६ । मं० १८ ॥

भाष्यम् ॥

(दृते दृꣳह०) अस्यायम० सर्वे मनुष्याः सर्वथा सर्वदा सर्वैः सह सौहार्द्देनैव वर्त्तेरन्निति । सर्वैरीश्वरोक्तोयं धर्मः स्वीकार्य्य ईश्वरः प्रार्थनीयश्च यतो धर्मनिष्ठा स्यात् । तद्यथा । हे दृते ! सर्वदुःखविनाशकेश्वर मदुपरि कृपां विधेहि यतोऽहं सत्यधर्मं यथावद्विजानीयाम् पक्षपातरहितस्य सुहृदश्चक्षुषा प्रेमभावेन सर्वाणि भूतानि (मा) मां सदा समीक्षन्तामर्थान्मम मित्राणि भवन्तु । इतीच्छाविशिष्टं मां (दृꣳह) दृंह सत्यसुखैः शुभगुणैश्च सह सदा वर्धय (मित्रस्याहं०) एवमहमपि मित्रस्य चक्षुषा स्वात्मवत्प्रेमबुद्ध्या (सर्वाणि भूतानि समीक्षे) सम्यक् पश्यामि (मित्रस्य च०) इत्थमेव मित्रस्य चक्षुषा निर्वैरा भूत्वा वयमन्योन्यं समीक्षामहे सुखसंपादनार्थं सदा वर्त्तामहे । इतीश्वरोपदिष्टो धर्मो हि सर्वैर्मनुष्यैरेक एव मन्तव्यः ॥ ५ ॥

भाषार्थ ॥

(दृतेदृꣳह०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग आपस में सब प्रकार के प्रेमभाव से सब दिन वर्त्तें और सब मनुष्यों को उचित है कि जो वेदों में ईश्वरोक्त धर्म है उसी को ग्रहण करें और वेदरीति से ही ईश्वर की उपासना करें कि जिस से मनुष्यों की धर्म में ही प्रवृत्ति हो (दृते०) हे सब दुःखों के नाश करने वाले परमेश्वर ! आप हम पर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग आपस में वैर को छोड़ के एक दूसरे के साथ प्रेमभाव से वर्त्तें (मित्रस्य मा०) और सब प्राणी मुझ को अपना मित्र जान के बन्धु के समान वर्त्तें ऐसी इच्छा से युक्त हम लोगों को (दृꣳह०) सत्य सुख और शुभ गुणों से सदा बढ़ाइये (मित्रस्याहं०) इसी प्रकार से मैं भी सब मनुष्यादि प्राणियों को अपने मित्र जानूं और हानि लाभ सुख और दुःख में अपने आत्मा के समतुल्य ही सब जीवों को मानूं (मित्रस्य च०) हम सब आपस में मिलके सदा मित्रभाव रक्खें और सत्यधर्म के आचरण से सत्य सुखों को नित्य बढ़ावें जो ईश्वर का कहा धर्म है यही एक सब मनुष्यों को मानने के योग्य है ॥ ५ ॥

अग्ने॑ व्रतपते व्र॒तं च॑रिष्यामि॒ तच्छ॑केयं॒ तन्मे॑राध्यताम् । इ॒दम॒हमनृ॑तात्स॒त्यमुपै॑मि ॥ ६ ॥ यजु० अ० १ । मं० ५ ॥

भाष्यम् ॥

(अग्ने व्र०) अस्याभिप्रा० सर्वैर्मनुष्यैरीश्वरस्य सहायेच्छा सदा कार्येति-॥ नैव तस्य सहायेन विना सत्यधर्मज्ञानं तस्यानुष्ठानपूर्त्तिश्च भवतः । हे अग्ने व्रतपते सत्यपते (व्रतं) सत्यधर्मं चरिष्याम्यनुष्ठास्यामि । अत्र प्रमाणम् ॥ सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् ॥ श० कां० १ । अ० १ ॥ सत्याचरणाद्देवा असत्याचरणान्मनुष्याश्च भवन्ति । अतः सत्याचरणमेव धर्ममाहुरिति (तच्छकेयम्) यथा तत्सत्याचरणं धर्मं कर्त्तुमहं शकेयं समर्थो भवेयम् (तन्मेराध्यताम्) तत्सत्यधर्मानुष्ठानं मे मम भवता राध्यतां कृपया सम्यक् सिद्धं क्रियताम् । किंच तद्व्रतमित्यत्राह (इदमहमनृतात्सत्यमुपै०) यत्सत्यधर्मस्यैवाचरणमनृतादसत्याचरणादधर्मात्पृथग्भूतं तदेवोपैमि मा प्नोमीति । अस्यैव धर्मस्यानुष्ठानमीश्वरप्रार्थनया स्वपुरुषार्थेन च कर्त्तव्यम् । नापुरुषार्थिनं मनुष्यमीश्वरोनुगृह्णाति । यथा चक्षुष्मन्तं दर्शयति नान्धं च । एवमेव धर्मं कर्त्तुमिच्छन्तं पुरुषार्थकारिणमीश्वरानुग्रहाभिलाषिणं मत्येवेश्वरः कृपालुर्भवति नान्यं प्रतिचेति । कुतः । जीवे तत्सिद्धिं कर्त्तुं साधनानामीश्वरेण पूर्वमेव रक्षितत्वात् तदुपयोगाकरणाच्च । येन पदार्थेन यावानुपकारो ग्रहीतुं शक्यस्तावांस्तेनैव ग्रहीतव्यस्तदुपरीश्वरानुग्रहेच्छा कार्य्येति ॥ ६ ॥

भाषार्थ ॥

(अग्ने व्र०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब मनुष्य लोग ईश्वर के सहाय की इच्छा करें क्योंकि उस के सहाय के विना धर्म का पूर्ण ज्ञान और उस का अनुष्ठान पूरा कभी नहीं हो सक्ता हे सत्यपते परमेश्वर ! (व्रतं०) मैं जिस सत्यधर्म का अनुष्ठान किया चाहता हूं उस की सिद्धि आप की कृपा से ही हो सकती है । इसी मन्त्र का अर्थ शतपथब्राह्मण में भी लिखा है कि जो मनुष्य सत्य के आचरणरूप व्रत को करते हैं वे देव कहाते हैं और जो असत्य का आचरण करते हैं उन को मनुष्य कहते हैं इस से मैं उस सत्यव्रत का आचरण किया चाहता हूं (तच्छकेयं) मुझ पर आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे मैं सत्यधर्म का अनुष्ठान पूरा कर सकूं (तन्मे राध्यतां) उस अनुष्ठान की सिद्धि करने वाले एक आप ही हो सो कृपा से सत्यरूप धर्म के अनुष्ठान को सदा के लिये सिद्ध कीजिये (इदमहमनृतात्सत्य-

मुपैमि) सो यह व्रत है कि जिस को मैं निश्चय से चाहता हूं उन सब असत्य कामों से छूट के सत्य के आचरण करने में सदा दृढ़ रहूं परन्तु मनुष्य को यह करना उचित है कि ईश्वर ने मनुष्यों में जितना सामर्थ्य रक्खा है उतना पुरुषार्थ अवश्य करें उसके उपरान्त ईश्वर के सहाय की इच्छा करनी चाहिये क्योंकि मनुष्यों में सामर्थ्य रखने का ईश्वर का यही प्रयोजन है कि मनुष्यों को अपने पुरुषार्थ से ही सत्य का आचरण अवश्य करना चाहिये जैसे कोई मनुष्य आंख वाले पुरुष को ही किसी चीज़ को दिखला सकता है अन्धे को नहीं, इसी रीति से जो मनुष्य सत्यभाव पुरुषार्थ से धर्म को किया चाहता है उस पर ईश्वर भी कृपा करता है अन्य पर नहीं क्योंकि ईश्वर ने धर्म करने के लिये बुद्धि आदि बढ़ने के साधन जीव के साथ रक्खे हैं जब जीव उनसे पूर्ण पुरुषार्थ करता है तब परमेश्वर भी अपने सब सामर्थ्य से उस पर कृपा करता है अन्य पर नहीं क्योंकि सब जीव कर्म करने में स्वाधीन और पापों के फल भोगने में कुछ पराधीन भी हैं॥६॥

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ॥ दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ ७ ॥ यजु० अ० १९ । मं० ३० ॥

(व्रतेन दी०) अस्या० यदा मनुष्यो धर्मं जिज्ञासते सत्यं चिकीर्षति तदैव सत्यं विजानाति तत्रैव मनुष्यैः श्रद्धेयम् । नासत्ये चेति । यो मनुष्यः सत्यं व्रतमाचरति । तदा दीक्षामुत्तमाधिकारं प्राप्नोति । (दीक्षयाप्नोति द०) यदा दीक्षितः सन्नुत्तमगुणैरुत्तमाधिकारी भवति तदा सर्वतः सत्कृतः फलवान् भवति सास्य दक्षिणा भवति तां दीक्षया शुभगुणाचरणेनैवाप्नोति (दक्षिणा श्र०) सा दक्षिणा यदा ब्रह्मचर्य्यादिसत्यव्रतैः सत्काराढ्या स्वस्यान्येषां च भवति तदाचरणे श्रद्धां दृढं विश्वासमुत्पादयति । कुतः । सत्याचरणमेव सत्कारकारकमस्त्यतः । (श्रद्धया०) यदोत्तरोत्तरं श्रद्धा वर्धेत तदा तया श्रद्धया मनुष्यैः परमेश्वरो मोक्षधर्मादिकं चाप्यते प्राप्यते नान्यथेति । अतः किमागतं सत्यप्राप्त्यर्थं सर्वदा श्रद्धोत्साहादिपुरुषार्थो वर्धयितव्यः ॥ ८ ॥

भाषार्थ ॥

(व्रतेन दी०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य धर्म को जानने की इच्छा करता है तभी सत्य को जानता है उसी सत्य में मनुष्यों को श्रद्धा करनी चाहिये असत्य में कभी नहीं (व्रतेन०) जो मनुष्य सत्य के आचरण को दृढ़ता से करता है तब वह दीक्षा अर्थात् उत्तम अधिकार के फल को प्राप्त होता है (दीक्षयाप्नोति०)

जब मनुष्य उत्तम गुणों से युक्त होता है तब सब लोग सब प्रकार से उस का सत्कार करते हैं क्योंकि धर्म आदि शुभगुणों से ही उस दक्षिणा को मनुष्य प्राप्त होता है अन्यथा नहीं (दक्षिणा श्र०) जब ब्रह्मचर्य आदि सत्य व्रतों से अपना और दूसरे मनुष्यों का अत्यन्त सत्कार होता है तब उसी में दृढ़ विश्वास होता है क्योंकि सत्य धर्म का आचरण ही मनुष्यों का सत्कार कराने वाला है (श्रद्धया०) फिर सत्य के आचरण में जितनी २ अधिक श्रद्धा बढ़ती जाती है उतना २ ही मनुष्य लोग व्यवहार और परमार्थ के सुख को प्राप्त होते जाते हैं अधर्माचरण से नहीं। इस से क्या सिद्ध हुआ कि सत्य की प्राप्ति के लिये सब दिन श्रद्धा और उत्साह आदि पुरुषार्थ को मनुष्य लोग बढ़ाते ही जायं जिससे सत्य धर्म की यथावत् प्राप्ति हो ॥ ८ ॥

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तऋतेश्रिता ॥ ९ ॥ सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता ॥ १० ॥ अथर्व० कां० १२। अनु० ५। मं० १। २ ॥

भाष्यम् ॥

(श्रमेण तपसा०) अभिप्रा० श्रमेणेत्यादिमन्त्रेषु धर्मस्य लक्षणानि प्रकाश्यन्त इति। श्रमः प्रयत्नः पुरुषार्थ उद्यम इत्यादि। तपो धर्मानुष्ठानं तेन श्रमेणैव तपसा च महेश्वरेण सर्वे मनुष्याः सृष्टा रचिताः। अतः (ब्रह्मणा) वेदेन परमेश्वरज्ञानेन च युक्ताः सन्तो ज्ञानिनः स्युः (ऋते श्रिता०) ऋते ब्रह्मणि पुरुषार्थे चाश्रिता ऋतं सेवमानाश्च सदैव भवन्तु ॥ ९ ॥ (सत्येनावृ०) वेदशास्त्रेण प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैश्च परीक्षितेनाव्यभिचारिणा सत्येनावृता युक्ताः सर्वे मनुष्याः सन्तु। (श्रिया प्रावृ०) श्रिया शुभगुणाचरणोज्ज्वलया चक्रवर्त्तिराज्यसेवमानया प्रकृष्टया लक्ष्म्याऽऽवृता युक्ताः परमप्रयत्नेन भवन्तु। (यशसा०) उत्कृष्टगुणग्रहणं सत्याचरणं यशस्तेन परितः सर्वतोवृता युक्ताः सन्तः प्रकाशयितारश्च स्युः ॥ १० ॥

भाषार्थ ॥

(श्रमेण तपसा०) इन मन्त्रों के अभिप्राय से यह सिद्ध होता है कि सब मनुष्यों को (श्रमेण०) इत्यादि धर्म के लक्षणों का ग्रहण अवश्य करना चाहिये क्योंकि ईश्वर ने (श्रम०) जो परम प्रयत्न का करना और (तपः) जो धर्म का आचरण करना है इसी धर्म से युक्त मनुष्यों को रचा है इस कारण से (ब्रह्मणा) ब्रह्म जो वेदविद्या और परमेश्वर के ज्ञान से युक्त होके सब मनुष्य अपने २ ज्ञान को बढ़ावें (ऋतेश्रिता) सब मनुष्य ऋत

जो ब्रह्म सत्य विद्या और धर्माचरण इत्यादि शुभगुणों का सेवन करें ॥ ९ ॥ (सत्येनावृता) सब मनुष्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्य की परीक्षा करके सत्य के आचरण से युक्त हों (श्रिया प्रावृता) हे मनुष्य लोगो ! तुम शुभगुणों से प्रकाशित होके चक्रवर्त्ति राज्य आदि ऐश्वर्य को सिद्ध करके अति श्रेष्ठ लक्ष्मी से युक्त हो के शोभारूप श्री को सिद्ध करके उस को चारों ओर पहिन के शोभित हो (यशसा परी०) सब मनुष्यों को उत्तम गुणों का ग्रहण करके सत्य के आचरण और यश अर्थात् उत्तम कीर्त्ति से युक्त होना चाहिये ॥ १० ॥

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्य्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥ ११ ॥ ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥ १२ ॥ अथर्व० कां० १२ । अनु० ५ । मं० ३ । ७ ॥

भाष्यम् ॥

(स्वधया परि०) परितः सर्वतः स्वकीयपदार्थशुभगुणधारणेनैव सन्तुष्य सर्वे मनुष्याः सर्वेभ्यो हितकारिणः स्युः (श्रद्धया प०) सत्यमेव विश्वासमूलमस्ति नासदिति तया सत्योपरि दृढविश्वासरूपया श्रद्धया परितः सर्वत ऊढाः प्राप्नुवन्तः सन्तु (दीक्षया गुप्ता) सद्भिराप्तैर्विद्वद्भिः कृतसत्योपदेशया दीक्षया गुप्ता रक्षिताः सर्वमनुष्याणां रक्षितारश्च स्युः (यज्ञे प्रतिष्ठिताः) (यज्ञो वै विष्णुः) व्यापके परमेश्वरे सर्वोपकारकेऽश्वमेधादौ शिल्पविद्याक्रियाकुशलत्वे च प्रतिष्ठिताः प्राप्तप्रतिष्ठाश्च भवन्तु (लोको निधनम्) अयं लोकः सर्वेषां मनुष्याणां निधनं यावन्मृत्युर्न भवेत्तावत्सर्वोपकारकं सत्कर्मानुष्ठानं कर्त्तुं योग्यमस्तीति सर्वैर्मन्तव्यमितीश्वरोपदेशः ॥ ११ ॥ अन्यच्च । (ओजश्च) न्यायपालनान्वितः पराक्रमः (तेजश्च) प्रगल्भता धृष्टता निर्भयता निर्दीनता सत्ये व्यवहारे कर्त्तव्या (सहश्च) सुखदुःखहानिलाभादिक्लेशप्रदवर्त्तमानप्राप्तावपि हर्षशोकाकरणं तन्निवारणार्थं परमप्रयत्नानुष्ठानं च सहनं सर्वैः सदा कर्त्तव्यम् (बलं च) ब्रह्मचर्य्यादिसुनियमाचरणेन शरीरबुद्ध्यादिरोगनिराकरणं दृढाङ्गतानिश्चलबुद्धित्वसम्पादनं भीषणादिकर्मयुक्तं बलं च कार्य्यमिति (वाक् च) विद्याशिक्षा सत्यमधुरभाषणादिशुभगुणयुक्ता वाणी कार्य्येति (इन्द्रियं च) मन आदीनि वाग्भिन्नानि षड्ज्ञानेन्द्रियाणि वाक् चेति कर्मेन्द्रियाणामुपलक्षणेन कर्मेन्द्रियाणि च सत्यधर्माचरणयुक्तानि पापाद्व्यतिरिक्तानि च सदैव रक्षणीयानि (श्रीश्च)

सम्राड्राज्यश्रीः परम पुरुषार्थेन कार्य्येति (धर्मश्च) अयमेव वेदोक्तो न्यायः पक्षपातरहितः सत्याचरणयुक्तः सर्वोपकारकश्च धर्मः सदैव सर्वैः सेवनीयः । अस्यैवेयं पूर्वापरा सर्वा व्याख्यास्तीति बोध्यम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ ॥

(स्वधया परिहिता) सब प्रकार से मनुष्य लोग स्वधा अर्थात् अपने ही पदार्थों का धारण करें इस अमृतरूप व्यवहार से सदा युक्त हो (श्रद्धया पर्य्यूढा) सब मनुष्य सत्य व्यवहार पर अत्यन्त विश्वास को प्राप्त हों क्योंकि जो सत्य है वही विश्वास का मूल तथा सत्य का आचरण ही उसका फल और स्वरूप है, असत्य कभी नहीं । (दीक्षया गुप्ता) विद्वानों की सत्य शिक्षा से रक्षा को प्राप्त हो और मनुष्यादि प्राणियों की रक्षा में परमपुरुषार्थ करो (यज्ञे प्रतिष्ठिता) यज्ञ जो सब में व्यापक अर्थात् परमेश्वर अथवा सब संसार का उपकार करने वाला अश्वमेधादि यज्ञ अथवा जो शिल्पविद्या सिद्ध करके उपकार लेना जो यज्ञ है, इस तीन प्रकार के यज्ञ में सब मनुष्य यथावत् प्रवृत्ति करें (लोको नि०) जब तक तुम लोग जीते रहो तब तक सदा सत्य कर्म में ही पुरुषार्थ करते रहो किन्तु इस में आलस्य कभी मत करो । ईश्वर का यह उपदेश सब मनुष्यों के लिये है ॥ ११ ॥ (ओजश्च) धर्म के पालन से युक्त जो पराक्रम (तेजश्च) प्रगल्भता अर्थात् भयरहित होके दीनता से दूर रहना (सहश्च) सुख दुःख हानि लाभ आदि की प्राप्ति में भी हर्ष शोकादि छोड़ के सत्य धर्म में दृढ़ रहना, दुःख का निवारण और सहन करना (बलं च) ब्रह्मचर्य आदि अच्छे नियमों से शरीर का आरोग्य, बुद्धि की चतुराई आदि बल का बढ़ाना (वाक् च) सत्य विद्या की शिक्षा सत्य मधुर अर्थात् कोमल प्रिय भाषण का करना (इन्द्रियं च) जो मन पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय हैं उन को पाप कर्मों से रोक के सदा सत्य पुरुषार्थ में प्रवृत्त रखना (श्रीश्च) चक्रवर्त्ति राज्य की सामग्री को सिद्ध करना (धर्मश्च) जो वेदोक्त न्याय से युक्त हो के पक्षपात को छोड़ के सत्य ही का सदा आचरण और असत्य का त्याग करना है तथा जो सब का उपकार करने वाला और जिस का फल इस जन्म और परजन्म में आनन्द है उसी को धर्म और उस से उलटा करने को अधर्म कहते हैं उसी धर्म की यह सब व्याख्या है कि जो (संगच्छध्वं०) इस मन्त्र से लेके (यतोऽभ्युदय०) इस सूत्र तक जितने धर्म के लक्षण लिखे हैं वे सब लक्षण मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य हैं ॥ १२ ॥

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥ १३ ॥ आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च

चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥ १४ ॥ पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं च ऋतं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ १५ ॥ अथर्व० कां० ११ । अनु० ५ । मं० ८ । ९ । १० ॥

भाष्यम् ॥

इत्याद्यनेकमन्त्रप्रमाणैर्धर्मो वेदेष्वीश्वरेणैव सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टोऽस्ति (ब्रह्म च) ब्राह्मणोपलक्षणं सर्वोत्तमविद्यागुणकर्मवत्त्वं सद्गुणप्रचारकरणत्वं च ब्राह्मणलक्षणं तच्च सदैव वर्धयितव्यम् (क्षत्रं च) क्षत्रियोपलक्षणं विद्याचातुर्यशौर्यधैर्यवीरपुरुषान्वितं च सदैवोन्नेयम् (राष्ट्रं च) सत्पुरुषसभया सुनियमैः सर्वसुखाढ्यं शुभगुणान्वितं च राज्यं सदैव कार्यम् (विशश्च) वैश्यादिप्रजानां व्यापारादिकारिणां भूगोलेऽव्याहतगतिसंपादनेन व्यापाराद्धनवृद्ध्यर्थं संरक्षणं च कार्यम् (त्विषिश्च) दीप्तिः शुभगुणानां प्रकाशः सत्यगुणकामना च शुद्धा प्रचारणीयेति (यशश्च) धर्मान्वितानुत्तमा कीर्त्तिः संस्थापनीया (वर्चश्च) सद्विद्याप्रचारं सम्यगध्ययनाध्यापनप्रबन्धं कर्म सदा कार्यम् (द्रविणं च) अप्राप्तस्य पदार्थस्य न्यायेन प्राप्तीच्छा कार्या प्राप्तस्य संरक्षणं रक्षितस्य वृद्धिर्वृद्धस्य सत्कर्मसु व्ययश्च योजनीयः । एतच्चतुर्विधपुरुषार्थेन धनधान्योन्नतिसुखे सदैव कार्ये ॥ १३ ॥ (आयुश्च) वीर्यादिरक्षणेन भोजनाच्छादनादिसुनियमेन ब्रह्मचर्यसुसेवनेनायुर्बलं कार्यम् (रूपं च) निरन्तरविषयासेवनेन सदैव सौन्दर्यादिगुणयुक्तं स्वरूपं रक्षणीयम् (नाम च) सत्कर्मानुष्ठानेन नाम प्रसिद्धिः कार्या यतोऽन्यस्यापि सत्कर्मसूत्साहवृद्धिः स्यात् (कीर्त्तिश्च) सद्गुणग्रहणार्थमीश्वरगुणानामुपदेशार्थं कीर्त्तनं स्वसत्कीर्त्तिमत्त्वं च सदैव कार्यम् (प्राणश्चापानश्च) प्राणायामरीत्या प्राणापानयोः शुद्धिबले कार्ये । शरीराद्बाह्यदेशं यो वायुर्गच्छति स प्राणः । बाह्यदेशाच्छरीरं प्रविशति, स वायुरपानः । शुद्धदेशनिवासादिनैनयोः प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां बुद्धिशारीरबलं च संपादनीयम् (चक्षुश्च श्रोत्रं च) चाक्षुषं प्रत्यक्षं श्रौत्रं शब्दजन्यं चादनुमानादीन्यपि प्रमाणानि यथावद्वेदितव्यानि तैः सत्यं विज्ञानं च सर्वथा कार्यम् ॥ १४ ॥ (पयश्च रसश्च) पयो जलादिकं रसो दुग्धघृतादिश्चैतौ वैद्यकरीत्या सम्यक् शोधयित्वा भोक्तव्यौ (अन्नं चान्नाद्यं च) अन्नमोदनादिकमन्नाद्यं भोक्तुमर्हं शुद्धं संस्कृतमन्नं संपाद्यैव भोक्तव्यम् (ऋतं च सत्यं च) ऋतं ब्रह्म सर्वदैवोपासनीयं सत्यं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षितं यादृशं स्वात्मन्यस्ति तादृशं

सदा सत्यमेव वक्तव्यम् मन्तव्यं च । (इष्टं च पूर्त्तं च) इष्टं ब्रह्मोपासनं सर्वोपकारकं यज्ञानुष्ठानं च पूर्त्तं तु यत्पूर्त्त्यर्थं मनसा वाचा कर्मणा सम्यक् पुरुषार्थेनैव सर्ववस्तुसंभारैश्चोभयानुष्ठानपूर्तिः कार्य्येति (प्रजा च पशवश्च) प्रजा सन्तानादिका राज्यं च सुशिक्षा विद्या सुखान्विता हस्त्यश्वादयः पशवश्च सम्यक् शिक्षान्विताः कार्य्याः । बहुभिश्चकारैरन्येपि शुभगुणा अत्र ग्राह्याः ॥ १५ ॥

भाषार्थ ॥

(ब्रह्म च) सब से उत्तम विद्या और श्रेष्ठ कर्म करने वालों को ही ब्राह्मण वर्ण का अधिकार देना, उस से विद्या का प्रचार कराना और उन लोगों को भी चाहिये कि विद्या के प्रचार में ही सदा तत्पर रहें (क्षत्रं च) अर्थात् सब कामों में चतुरता शूरवीरपन धीरज वीरपुरुषों से युक्त सेना का रखना दुष्टों को दण्ड देना और श्रेष्ठों का पालन करना इत्यादि गुणों के बढ़ानेवाले पुरुषों को क्षत्रियवर्ण का अधिकार देना (राष्ट्रञ्च) श्रेष्ठ पुरुषों की सभा के अच्छे नियमों से राज्य को सब सुखों से युक्त करना और उत्तम गुणसहित होके सब कामों को सदा सिद्ध करना चाहिये (विशश्च) वैश्य आदि वर्णों को व्यापारादि व्यवहारों में भूगोल के बीच में जाने आने का प्रबन्ध करना और उन की अच्छी रीति से रक्षा करनी अवश्य है, जिस से धनादि पदार्थों की संसार में बढ़ती हो (त्विषिश्च) सब मनुष्यों में सब दिन सत्य गुणों ही का प्रकाश करना चाहिये (यशश्च) उत्तम कामों से भूगोल में श्रेष्ठ कीर्त्ति को बढ़ाना उचित है (वर्चश्च) सत्यविद्याओं के प्रचार के लिये अनेक पाठशालाओं में पुत्र और कन्याओं का अच्छी रीति से पढ़ने पढ़ाने का प्रचार सदा बढ़ाते जाना चाहिये (द्रविणं च) सब मनुष्यों को उचित है कि पूर्वोक्त धर्म से अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा से सदा पुरुषार्थ करना, प्राप्त पदार्थों की रक्षा यथावत् करनी चाहिये, रक्षा किये पदार्थों की सदा बढ़ती करना और सत्य विद्या के प्रचार आदि कामों में बढ़े हुए धनादि पदार्थों का खरच यथावत् करना चाहिये, इस चार प्रकार के पुरुषार्थ से धनधान्यादि को बढ़ा के सुख को सदा बढ़ाते जाओ ॥ १३ ॥ (आयुश्च) वीर्य्य आदि धातुओं की शुद्धि और रक्षा करना तथा युक्तिपूर्वक ही भोजन और वस्त्र आदि का जो धारण करना है इन अच्छे नियमों से उमर को सदा बढ़ाओ (रूपं च) अत्यन्त विषयसेवा से पृथक् रह के और शुद्ध वस्त्र आदि धारण से शरीर का स्वरूप सदा उत्तम रखना (नाम च) उत्तम कर्मों के आचरण से नाम की प्रसिद्धि करनी चाहिये, जिस से अन्य मनुष्यों का भी श्रेष्ठ कर्मों में उत्साह हो (कीर्त्तिश्च) श्रेष्ठ गुणों के ग्रहण के लिये परमेश्वर के गुणों का श्रवण और उपदेश करते रहो जिस से तुम्हारा भी यश बढ़े (प्राणश्चापानश्च)

जो वायु भीतर से बाहर आता है उस को प्राण और जो बाहर से भीतर जाता है उस को अपान कहते हैं योगाभ्यास शुद्ध देश में निवास आदि और भीतर से बल करके प्राण को बाहर निकाल के रोकने से शरीर के रोगों को छुड़ा के बुद्धि आदि को बढ़ाओ (चक्षुश्च श्रोत्रं च) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव, इन आठ प्रमाणों के विज्ञान से सत्य का नित्य शोधन करके ग्रहण किया करो ॥ १४ ॥ (पयश्च रसश्च) जो पय अर्थात् दूध जल आदि और जो रस अर्थात् शक्कर ओषधि और घी आदि हैं इन को वैद्यकशास्त्रों की रीति से यथावत् शोध के भोजन आदि करते रहो (अन्नं चान्नाद्यं च) वैद्यक शास्त्र की रीति से चावल आदि अन्न का यथावत् संस्कार करके भोजन करना चाहिये (ऋतं च सत्यं च) ऋत नाम जो ब्रह्म है उसी की सदा उपासना करनी जैसा हृदय में ज्ञान हो सदा वैसा ही भाषण करना और सत्य को ही मानना चाहिये (इष्टं च पूर्त्तं च) इष्ट जो ब्रह्म है उसी की उपासना और जो पूर्वोक्त यज्ञ सब संसार को सुख देने वाला है उस इष्ट की सिद्धि करने की पूर्त्ति और जिस २ उत्तम कामों के आरम्भ को यथावत् पूर्ण करने के लिये जो २ आवश्यक हो सो २ सामग्री पूर्ण करनी चाहिये (प्रजा च पशवश्च) सब मनुष्य लोग अपने संतान और राज्य को अच्छी शिक्षा दिया करें और हस्ती तथा घोड़े आदि पशुओं को भी अच्छी रीति से सुशिक्षित करना उचित है इन मन्त्रों में और भी अनेक प्रयोजन हैं कि सब मनुष्य लोग अन्य भी धर्म के शुभ लक्षणों का ग्रहण करें ॥ १५ ॥

भाष्यम् ॥

अत्र धर्मविषये तैत्तिरीयशाखाया अन्यदपि प्रमाणम् । ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यं च स्वा० तपश्च स्वा० दमश्च स्वा० शमश्च स्वा० अग्नयश्च स्वा० अग्निहोत्रं च स्वा० अतिथयश्च स्वा० मानुषं च स्वा० प्रजा च स्वा० प्रजनश्च स्वा० प्रजातिश्च स्वा० सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः तप इति तपो नित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचन एवेति नाको मौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥ १ ॥ वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्र० कुशलान्न प्र० भूत्यै न प्र० स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्र० देवपितृकार्य्याभ्यां न प्र० । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि । यान्यस्माकꣳसुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥ २ ॥ एके चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः । तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धया देयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् ।

भिया देयम् । संविदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता अयुक्ताः अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्त्तेरन् तथा तत्र वर्त्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता अयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्तेरन् तथा तेषु वर्त्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥ ४ ॥ तैत्तिरीय आरण्यके । प्रपा० ७ । अनु० ६ । ११ ॥

भाषार्थ ॥

तैत्तिरीयशाखा में और भी धर्म का विषय है सो आगे लिखते हैं (ऋतं च०) यह सब मनुष्यों को उचित है कि अपने ज्ञान और विद्या को बढ़ाते हुए एक ब्रह्म ही की उपासना करते रहें उस के साथ वेदादि शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना भी बराबर करते जायं (सत्यं च०) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ठीक २ परीक्षा करके जैसा तुम अपने आत्मा में ज्ञान से जानते हो वैसा ही बोलो और उसी को मानो उस के साथ पढ़ना पढ़ाना भी कभी न छोड़ो (तपश्च०) विद्याग्रहण के लिये ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण करके सदा धर्म में निश्चिन्त रहो (दमश्च०) अपनी आंख आदि इन्द्रियों को अधर्म और आलस्य से छुड़ा के सदा धर्म में चलाओ (शमश्च०) अपने आत्मा और मन को सदा धर्मसेवन में ही स्थिर रक्खो (अग्नयश्च०) तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध करो तथा अनेक प्रकार से शिल्पविद्या की उन्नति करो (अग्निहोत्रं च०) वायु और वृष्टिजल की शुद्धिद्वारा अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों से सब सृष्टि का उपकार सदा करते रहो (अतिथयश्च०); जो सब जगत् के उपकार के लिये सत्यवादी सत्यकारी पूर्ण विद्वान् सब का सुख चाहने वाले हों उन सत्पुरुषों के सङ्ग से करने के योग्य व्यवहारों को सदा बढ़ाते रहो (मानुषं च०) सब मनुष्यों के राज्य और प्रजा के ठीक २ प्रबन्ध से धन आदि पदार्थों को बढ़ा के रक्षा करके और अच्छे कामों में खर्च करके उन से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों फल की सिद्धि द्वारा अपना जन्म सफल करो (प्रजा च०) अपने सन्तानों का यथायोग्य पालन शिक्षा से विद्वान् करके सदा धर्मात्मा और पुरुषार्थी बनाते रहो (प्रजनश्च०) जो सन्तानों की उत्पत्ति करने का व्यवहार है उस को पुत्रेष्टि कहते हैं उस में श्रेष्ठ भोजन और औषध सेवन सदा करते रहो तथा ठीक २ गर्भ की रक्षा भी करो (प्रजातिश्च०) पुत्र और कन्याओं के जन्म समय में स्त्री और बालकों की रक्षा युक्तिपूर्वक करो । ऋत से लेके प्रजाति पर्यन्त धर्म के जो बारह लक्षण होते हैं उन सब के साथ स्वाध्याय जो पढ़ना

और प्रवचन जो पढ़ाने का उपदेश किया है सो इसलिये है कि पूर्वोक्त जो धर्म के लक्षण हैं वे तब प्राप्त हो सकते हैं कि जब मनुष्य लोग सत्य विद्या को पढ़ें और तभी सदा सुख में रहेंगे क्योंकि सब गुणों में विद्या ही उत्तम गुण है इसलिये सब धर्म लक्षणों के साथ स्वाध्याय और प्रवचन का ग्रहण किया है सो इन का त्याग करना कभी न चाहिये (सत्यमिति०) हे मनुष्य लोगो ! तुम सब दिन सत्यवचन ही बोलो (तप इति०) धर्म और ईश्वर की प्राप्ति करने के लिये नित्य विद्याग्रहण करो अर्थात् विद्या का जो पढ़ना पढ़ाना है यही सब से उत्तम है ॥ १ ॥ (वेदमनूच्या०) जो आचार्य अर्थात् विद्या और शिक्षा का देने वाला है वह विद्या पढ़ने के समय और जब तक न पढ़ चुके तब तक अपने पुत्र और शिष्यों को इस प्रकार उपदेश करे कि हे पुत्रो वा शिष्य लोगो तुम सदा सत्य ही बोला करो और धर्म का ही सेवन करके एक परमेश्वर ही की भक्ति किया करो इस में आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो आचार्य को अनेक उत्तम पदार्थ देकर प्रसन्न करो और युवावस्था में ही विवाह करके प्रजा की उत्पत्ति करो तथा सत्य धर्म को कभी मत छोड़ो, कुशलता अर्थात् चतुराई को सदा ग्रहण करके भूति अर्थात् उत्तम ऐश्वर्य को सदा बढ़ाते जाओ और पढ़ने पढ़ाने में कभी आलस्य मत करो ॥ १ ॥ (देव पितृ०) देव जो विद्वान् लोग और पितृ अर्थात् ज्ञानी लोगों की सेवा और सङ्ग से विद्या के ग्रहण करने में आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो । माता, पिता, आचार्य अर्थात् विद्या के देनेवाले और अतिथि जो सत्य उपदेश के करने वाले विद्वान् पुरुष हैं उनकी सेवा में आलस्य कभी मत करो ऐसे ही सत्यभाषणादि शुभ गुणों और कर्मों ही का सदा सेवन करो, किन्तु मिथ्याभाषणादि को कभी मत करो । माता, पिता और आचार्य आदि अपने सन्तानों तथा शिष्यों को ऐसा उपदेश करें कि हे पुत्रो वा शिष्य लोगो हमारे जो सुचरित्र अर्थात् अच्छे काम हैं तुम लोग उन्हीं का ग्रहण करो, किन्तु हमारे बुरे कामों को कभी नहीं। जो हमारे बीच में विद्वान् और ब्रह्म के जानने वाले धर्मात्मा मनुष्य हैं उन्हीं के वचनों में विश्वास करो और उन को प्रीति वा अप्रीति से श्री वा लज्जा से भय अथवा प्रतिज्ञा से सदा दान देते रहो तथा विद्यादान सदा करते जाओ और जब तुम को किसी बात में संदेह हो तब पूर्ण विद्वान् पक्षपातरहित धर्मात्मा मनुष्यों से पूछ के शङ्कानिवारण सदा करते रहो वे लोग जिस २ प्रकार से जिस २ धर्म काम में चलते होवें वैसे ही तुम भी चलो यही आदेश अर्थात् अविद्या को हटा के उस के स्थान में विद्या का और अधर्म को हटा के धर्म का स्थापन करना है इसी को उपदेश और शिक्षा भी कहते हैं इसी प्रकार शुभ लक्षणों को ग्रहण करके एक परमेश्वर ही की सदा उपासना करो ॥

भाष्यम् ॥

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्स्वैतत्तपः ॥ तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० । अनु० ८ ॥ सत्यं परं परꣳ सत्यꣳ सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन सताꣳहि सत्यं तस्मात्सत्ये रमन्ते ॥ तपइति तपोनानशनात्परं यद्धि परं तपस्तद्दुर्धर्षं तद्दुराधर्षं तस्मात्तपसि० ॥ दमइति नियतं ब्रह्मचारिणस्तस्माद्दमे० ॥ शम इत्यरण्ये मुनयस्तस्माच्छमे० ॥ दानमिति सर्वाणि भूतानि प्रशꣳसन्ति दानान्नातिदुष्करं तस्माद्दाने० ॥ धर्मइति धर्मेण सर्वमिदं परिगृहीतं धर्मान्नातिदुश्चरं तस्माद्धर्मे० ॥ प्रजनइति भूयाꣳसस्तस्माद्भूयिष्ठाः प्रजायन्ते तस्माद्भूयिष्ठाः प्रजनने० ॥ अग्नयइत्याह तस्मादग्नय आधातव्या अग्निहोत्रमित्याह तस्मादग्निहोत्रे० ॥ यज्ञइति यज्ञेन हि देवा दिवंगतास्तस्माद्यज्ञे० ॥ मानसमिति विद्वाꣳसस्तस्माद्विद्वाꣳस एव मानसे रमन्ते ॥ न्यास इतिब्रह्माब्रह्मा हि परः परोहि ब्रह्मा तानि वा एतान्यवराणि तपाꣳसि न्यास एवात्यरेचयत् । य एवं वेदेत्युपनिषत् ॥ प्राजापत्यो हारुणिः सुपर्णेयः प्रजापतिं पितरमुपससार किं भगवन्तः परमं वदन्तीति तस्मै प्रोवाच सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि सत्यं वाचः प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति ॥ तपसा देवा देवताग्रमायन्तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन् तपसा सपत्नान्प्रणुदामारातीस्तपसि सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात्तपः प० ॥ दमेन दान्ताः किल्विषमवधून्वन्ति दमेन ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन् दमोभूतानां दुराधर्षं दमे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्दमं प० ॥ शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति शमेन नाकं मुनयोन्वविन्दञ्छमोभूतानां दुराधर्षं शमे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माच्छमं प० ॥ दानं यज्ञानां वरूथं दक्षिणा लोके दाताꣳसर्वभूतान्युपजीवन्ति दानेनारातीरपानुदन्त दानेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति दाने सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्दानं प० ॥ धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठालोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं प० ॥ प्रजननं वै प्रतिष्ठालोके साधुप्रजायास्तन्तुं तन्वानः पितॄणामनृणो भवति तदेव तस्य अनृणं तस्मात्प्रजननं प० ॥ अग्नयो वै त्रयीविद्या देवयानः पन्था गार्हपत्य-ऋक् पृथिवीरथन्तरमन्वाहार्य्यपचनो यजुरन्तरिक्षं वामदेव्यमाहवनीयः साम-सुवर्गो लोको बृहत्तस्मादग्नीन्प० ॥ अग्निहोत्रꣳसायं प्रातर्गृहाणां निष्कृतिः

स्विष्ट॑सुहुतं यज्ञक्रतूनां प्रायण॑सुवर्गस्य लोकस्य ज्योतिस्तस्मादग्निहोत्रं प० ॥ यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवंगता यज्ञेनासुरानपानुदन्त यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्यज्ञं प० ॥ मानसं वै प्राजापत्यं पवित्रं मानसेन मनसा साधु पश्यति मानसा ऋषयः प्रजा असृजन्त मानसे प्रतिष्ठितं तस्मान्मानसं परमं वदन्ति ॥ तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० । अनु० ६२ । ६३ ॥ (एतेषा-मभि०) सर्वैर्मनुष्यैरेतानि वक्ष्यमाणानि धर्मलक्षणानि सदैव सेव्यानीति । (ऋतं च०) यथार्थस्वरूपं वा ज्ञानं (सत्यं च०) सत्यस्याचरणं च (तप श्च०) ज्ञानधर्मयोर्ऋतादिधर्मलक्षणानां यथावदनुष्ठानम् (दमश्च) अधर्माचर-णादिन्द्रियाणि सर्वथा निवर्त्त्य तेषां सत्यधर्माचरणे सदैव प्रवृत्तिः कार्या (शमश्च०) नैव मनसापि कदाचिदधर्मकरणेच्छा कार्य्येति (अग्नयश्च०) वेदादिशास्त्रेभ्योऽग्न्यादिपदार्थेभ्यश्च पारमार्थिकव्यावहारिकविद्योपकारकरणम् (अग्निहोत्रं च) नित्यहोमप्रारभ्याश्वमेधपर्य्यन्तेन यज्ञेन वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा सर्वप्राणिनां सुखसंपादनं कार्य्यम् (अतिथय०) पूर्णविद्यावतां धर्मात्मनां संग सेवाभ्यां सत्यशोधनं छिन्नसंशयत्वं च कार्य्यम् (मानुषं च०) मनुष्यसम्बन्धि-राज्यविद्यादिवित्तं सम्यक् सिद्धं कर्त्तव्यम् (प्रजा च०) धर्मेणैव प्रजामुत्पाद्य सा सदैव सत्यधर्मविद्यासुशिक्षयान्विता कार्य्या (प्रजनश्च०) वीर्य्यवृद्धिः पुत्रे-ष्टिरीत्या ऋतुप्रदानं च कर्त्तव्यम् । (प्रजातिश्च०) गर्भरक्षाजन्मसमयं संरक्षणं सन्तानशरीरबुद्धिवर्धनं च कर्त्तव्यम् । (सत्यमिति०) मनुष्यः सदा सत्यवक्तैव भवेदिति राथीतराचार्य्यस्य मतमस्ति (तपइति०) सत्यादिसेवनेनैव सत्य-विद्याधर्मानुष्ठानमस्ति तन्नित्यमेव कर्त्तव्यमिति पौरुशिष्ट्याचार्य्यस्य मतमस्ति । परन्तु नाकोमौद्गल्यस्येदं मतमस्ति स्वाध्यायो वेदविद्याध्ययनं प्रवचनं तदध्यापनं चेत्युभयं सर्वेभ्यः श्रेष्ठतमं कर्मास्ति । इदमेव मनुष्येषु परमं तपोस्ति नातः पर-मुत्तमं धर्मलक्षणं किंचिद्विद्यत इति (वेदमनूच्या०) आचार्य्यः शिष्याय वेदा-नध्याप्य धर्ममुपदिशति हे शिष्य त्वया सदैव सत्यमेव वक्तव्यं सत्यभाषणादि-लक्षणोधर्मश्च सेवनीयः शास्त्राध्ययनाध्यापने कदापि नैव त्याज्ये आचार्य्यसेवा प्रजोत्पत्तिश्च सत्यधर्मकुशलतैश्वर्य्यसंवर्धनसेवने सदैव कर्त्तव्ये देवा विद्वांसः पितरो ज्ञानिनश्च तेभ्यो ज्ञानग्रहणं तेषां सेवनं च सदैव कार्य्यमेवं मातृपित्राचार्य्यातिथीनां सेवनं चैनत्तावै संप्रीत्या कर्त्तव्यम् । नैतत्कदापि प्रमादात्त्याज्यमिति । वक्ष्यमाण-

रीत्या मात्रादय उपदिशेयुः । भोः पुत्रा यान्युत्तमानि कर्म्माणि वयं कुर्मस्तान्येव युष्माभिराचरितव्यानि यानि तु पापात्मकानि कानिचिदस्माभिः क्रियन्ते तानि कदापि नैवाचरणीयानि । येऽस्माकं मध्ये विद्वांसो ब्रह्मविदः स्युस्तत्संगस्तदुक्तविश्वासश्च भवद्भिः कर्त्तव्यो नेतरेषाम् । मनुष्यैर्विद्यादिपदार्थदानं प्रीत्याऽप्रीत्या श्रिया लज्जया भयेन प्रतिज्ञया च सदैव कर्त्तव्यम् । अर्थात् प्रतिग्रहाद्दानमतीव श्रेयस्करमिति । भोः शिष्य तव कस्मिंश्चित्कर्मण्याचरणे च संशयो भवेत्तदा ब्रह्मविदां पक्षपातरहितानां योगिनामधर्मात् पृथग्भूतानां विद्यादिगुणैः स्निग्धानां धर्मकामानां विदुषां सकाशादुत्तरं ग्राह्यं तेषामेवाचरणं च । यादृशेन मार्गेण ते विचरेयुस्तेनैव मार्गेण त्वयापि गन्तव्यम् । अयमेव युष्माकं हृदय आदेश उपदेशो हि स्यात् एवमेव वेदानामुपनिषदस्ति । ईदृशमेवानुशासनं सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यम् । ईदृगाचरणपुरःसरमेव परमश्रद्धया सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्मोपास्यं नान्यथेति ॥ इदानीं तपसो लक्षणमुच्यते ॥ ऋतं यत्तत्त्वं ब्रह्मण एवोपासनं यथार्थज्ञानं च (सत्यं०) सत्यकथनं सत्यमाचरणं च (श्रुतं०) सर्वविद्याश्रवणं श्रावणं च । (शान्तं०) अधर्मात्पृथक्कृत्य मनसो धर्मे संस्थापनं मनःशान्तिः । (दमस्त०) इन्द्रियाणां धर्म एव प्रवर्त्तनमधर्मान्निवर्त्तनं च, (शमस्त०) मनसोपि निग्रहश्चाधर्माद्धर्मे प्रवर्त्तनं च ॥ (दानं त०) तथा सत्यविद्यादिदानं सदा कर्त्तव्यम् (यज्ञस्त०) पूर्वोक्तं यज्ञानुष्ठानं चैतत्सर्वं तपश्शब्देन गृह्यते नान्यदिति । अन्यच्च । (भूर्भुवः) हे मनुष्य सर्वलोकव्यापकं यद्ब्रह्मास्ति तदेव त्वमुपास्वेदमेव तपो मन्यध्वं नातो विपरीतमिति (सत्यं प०) सत्यभाषणात्सत्याचरणाच्च परं धर्मलक्षणं किञ्चिन्नास्त्येव । कुतः । सत्येनैव नित्यं मोक्षसुखं संसारसुखं च प्राप्य पुनस्तस्मान्नैव कदापि च्युतिर्भवति । सत्पुरुषाणामपि सत्याचरणमेव लक्षणमस्ति तस्मात्कारणात्सर्वैर्मनुष्यैः सत्ये खलु रमणीयमिति ॥ तपस्तु ऋतादिधर्मलक्षणानुष्ठानमेव ग्राह्यम् । एवं सम्यग्ब्रह्मचर्यमेवानेन विद्याग्रहणं ब्रह्म इत्युच्यते । एवमेव दानादिष्वर्थगतिः कार्या । विदुषो लक्षणं मानसो व्यापारः । एवमेव सत्येन ब्रह्मणा वायुरागच्छति । सत्येनादित्यः प्रकाशितो भवति सत्येनैव मनुष्याणां प्रतिष्ठा जायते नान्यथेति । मानसा ऋषयः प्राणा विज्ञानादयश्चेति ॥

भाषार्थ ॥

(ऋतं तपः०) तप इस को कहते हैं कि जो (ऋत) अर्थात् यथार्थ तत्त्व मानने, सत्य बोलने (श्रुत) अर्थात् सब विद्याओं को सुनने (शान्त) अर्थात् उत्तम कर्म

करने और अच्छे स्वभाव के धारने में सदा प्रवृत्त रहो तथा पूर्वोक्त दम, शम, दान, यज्ञ और प्रेम भक्ति से, तीनों लोक में व्यापक ब्रह्म की जो उपासना करना है उसको भी तप कहते हैं। ऋत आदि का अर्थ प्रथम कर दिया है। (सत्यं परं॰) अब सत्य का स्वरूप दिखाया जाता है कि जिस का ऋत भी नाम है सत्य भाषण और आचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई भी नहीं है क्योंकि सत्पुरुषों में भी सत्य ही सत्पुरुषपन है सत्य से ही मनुष्यों को व्यवहार और मुक्ति का उत्तम सुख मिलता है जिससे छूट के वे दुःख में कभी नहीं गिरते इसलिये सब मनुष्यों को सत्य में ही रमण करना चाहिये (तप इति॰) जो अन्याय से किसी के पदार्थ को ग्रहण करना जिसका ऋत आदि लक्षण कह चुके हैं जो अत्यन्त उत्तम और यद्यपि करने में कठिन भी है तदपि बुद्धिमान् मनुष्य को करना सब सुगम है इस से तप में नित्य ही निश्चित रहना ठीक है (दम इति॰) जितेन्द्रिय हो के जो विद्या का अभ्यास और धर्म का आचरण करना है उसमें मनुष्यों को नित्य प्रवृत्त होना चाहिये (दानमिति॰) दान की स्तुति सब लोग करते हैं और जिससे कठिन कर्म दूसरा कोई भी नहीं है जिससे शत्रु भी मित्र हो जाते हैं इस से दान करने का स्वभाव सब मनुष्यों को नित्य रखना चाहिये (धर्म इति॰) जो धर्मलक्षण प्रथम कह आये हैं जो आगे कहेंगे वे सब इसी धर्म के हैं क्योंकि जो न्याय अर्थात् पक्षपात को छोड़ के सत्य का आचरण और असत्य का परित्याग करना है उसी को धर्म कहते हैं यही धर्म का स्वरूप और सब से उत्तम धर्म है सब मनुष्यों को इसी में सदा वर्त्तना चाहिये (प्रजनइति॰) जिससे मनुष्यों की बढ़ती होती है जिस में बहुत मनुष्य रमण करते हैं इससे जन्म को प्रजन कहते हैं (अग्नय इत्याह॰) तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से सब शिल्पविद्या सिद्ध करनी उचित है (अग्निहोत्रं च॰) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्य्यन्त होम करके सब जगत् का उपकार करने में सदा यत्न करना चाहिये (मानसमिति॰) जो विचार करने वाले मनुष्य हैं वही विद्वान् होते हैं इस से विद्वान् लोग विचार ही में सदा रमण करते हैं क्योंकि मन के विज्ञान आदि गुण हैं वे ही ईश्वर और जीव की सृष्टि के हेतु हैं इस से मन का बल और उस की शुद्धि करना भी धर्म का उत्तम लक्षण है (न्यास इति) ब्रह्मा बन के अर्थात् चारों वेद को जान के संसारी पदार्थों को छोड़ के न्यास अर्थात् संन्यास आश्रम करके जो सब मनुष्यों को सत्यधर्म और सत्यविद्या से लाभ पहुंचाना है यह भी विद्वान् मनुष्यों को धर्म का लक्षण जान के करना उचित है (सत्येन वा॰) सत्य को उत्तम इसलिये कहते हैं कि सत्य जो ब्रह्म

है उस से सब लोगों का प्रकाश और वायु आदि पदार्थों का रक्षण होता है सत्य से ही सब व्यवहारों में प्रतिष्ठा और परब्रह्म को प्राप्त हो के मुक्ति का सुख भी मिलता है तथा सत्पुरुषों में सत्याचरण ही सत्पुरुषपन है। (तपसा देवा०) पूर्वोक्त तप से ही विद्वान् लोग परमेश्वर देव को प्राप्त होके सब काम क्रोध आदि शत्रुओं को जीत के पापों से छूट के धर्म ही में स्थिर रह सकते हैं, इस से तप को भी श्रेष्ठ कहते हैं (दमेन०) दम से मनुष्य पापों से अलग होके और ब्रह्मचर्य्य आश्रम का सेवन कर के विद्या को प्राप्त होता है इसलिये धर्म का दम भी श्रेष्ठ लक्षण है। (शमेन०) शम का लक्षण यह है कि जिस से मनुष्य लोग कल्याण का ही आचरण करते हैं इस से यह भी धर्म का लक्षण है। (दानेन०) दान से ही यज्ञ अर्थात् दाता के आश्रय से सब प्राणियों का जीवन होता है और दान से ही शत्रुओं को भी जीत कर अपना मित्र कर लेते हैं इस से दान भी धर्म का लक्षण है (धर्मोवि०) सब जगत् की प्रतिष्ठा धर्म ही है धर्मात्मा का ही लोक में विश्वास होता है, धर्म से ही मनुष्य लोग पापों को छुड़ा देते हैं जितने उत्तम काम हैं वे सब धर्म में ही लिये जाते हैं इसलिये सब से उत्तम धर्म को ही जानना चाहिये। (प्रजननं०) जिस से मनुष्यों का जन्म और प्रजा में वृद्धि होती है और जो परम्परा से ज्ञानियों की सेवा से ऋण अर्थात् बदले का पूरा करना होता है इस से प्रजन भी धर्म का हेतु है। क्योंकि जो मनुष्यों की उत्पत्ति भी नहीं हो तो धर्म को ही कौन करे इस कारण से भी धर्म को ही प्रधान जानो (अग्नयो वै०) अर्थात् जिस से तुम लोग साङ्गोपाङ्ग तीनों वेदों को पढ़ो क्योंकि विद्वानों के ज्ञानमार्ग को प्राप्त होके पृथिवी आकाश और स्वर्ग इन तीनों प्रकार की विद्या सिद्ध होती हैं इस से इन तीनों अग्नि अर्थात् वेदों को श्रेष्ठ कहते हैं (अग्निहोत्रं०) प्रातःकाल और संध्या में वायु तथा वृष्टिजल को दुर्गन्ध से छुड़ा के सुगन्धित करने से सब मनुष्यों को स्वर्ग अर्थात् सुख की प्राप्ति होती है इसलिये अग्निहोत्र को भी धर्म का लक्षण कहते हैं, (यज्ञइति) विद्या से ही विद्वान् लोग स्वर्ग अर्थात् सुख को प्राप्त होते और शत्रुओं को जीत के अपना मित्र कर लेते हैं इस से विद्या और अध्वर्यु आदि यज्ञ को भी धर्म का लक्षण कहते हैं (मानसं वै०) मन के शुद्ध होने से ही विद्वान् लोग प्रजापति अर्थात् परमेश्वर को जान के नित्य सुख को प्राप्त हो सकते हैं पवित्र मन से सत्य ज्ञान होता है और उस में जो विज्ञान आदि ऋषि अर्थात् गुण हैं उन से परमेश्वर और जीव लोग भी अपनी २ सब प्रजा को उत्पन्न करते हैं अर्थात् परमेश्वर के विद्या आदि गुणों से मनुष्य की प्रजा उत्पन्न होती है इस से मन को जो पवित्र और विद्यायुक्त करना है ये भी धर्म के उत्तम लक्षण और साधन हैं इससे मन के पवित्र होने से सब धर्मकार्य सिद्ध होते हैं ये सब धर्म के ही लक्षण हैं इन में से कुछ तो पूर्व कह दिये और कुछ आगे भी कहेंगे ॥

भाष्यम् ॥

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यङ् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ॥ अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ १ ॥ सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ॥ येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ २ ॥ मुण्डकोपनिषदि । मुं० ३ । खं० १ । मं० ५ । ६ ॥ अनयोरर्थः । (सत्येन लभ्य०) सत्येन सत्यधर्माचरणेनैवात्मा परमेश्वरो लभ्यो नान्यथेत्ययं मन्त्रः सुगमार्थः ॥ १ ॥ (सत्यमेव०) सत्यमाचरितमेव जयते तेनैव मनुष्यः सदा विजयं प्राप्नोति । अनृतेनाधर्माचरणेन पराजयं च । तथा सत्यधर्मेणैव देवयानो विदुषां यः सदानन्दप्रदो मोक्षमार्गोऽस्ति सोऽपि सत्येनैव विस्तृतः प्रकाशितो भवति । येन च सत्यधर्मानुष्ठानप्रकाशितेन मार्गेणाप्तकामा ऋषयस्तत्राक्रमन्ति गच्छन्ति यत्र सत्यस्य धर्मस्य परमं निधानमधिकरणं ब्रह्म वर्त्तते तत्प्राप्य नित्यानन्दमोक्षप्राप्ता भवन्ति । नान्यथेति । अतएव सत्यधर्मानुष्ठानमधर्मत्यागश्च सर्वैः कर्त्तव्य इति ॥

भाषार्थ ॥

(सत्येन लभ्यस्तपसा०) अर्थात् जो सत्य आचरणरूप धर्म का अनुष्ठान ठीक २ विज्ञान और ब्रह्मचर्य करते हैं । इन्हीं शुभगुणों से सब का आत्मा परमेश्वर जाना जाता है जिसको निर्दोष अर्थात् धर्मात्मा ज्ञानी संन्यासी लोग देखते हैं सो सब के आत्माओं का भी आत्मा प्रकाशस्वरूप और सब दिन शुद्ध है उसी की आज्ञा पालन करना सब मनुष्यों को चाहिये ॥ १ ॥ (सत्यमेव जय०) जो सत्य का आचरण करनेवाला है वही मनुष्य सदा विजय और सुख को प्राप्त होता है और जो मिथ्या आचरण अर्थात् झूठे कामों का करनेवाला है वह सदा पराजय और दुःख ही को प्राप्त होता है विद्वानों का जो मार्ग है सो भी सत्य के आचरण से ही खुल जाता है, जिस मार्ग से आप्तकाम धर्मात्मा विद्वान् लोग चल के सत्य सुख को प्राप्त होते हैं जहां ब्रह्म ही का सत्यस्वरूप सुख सदा प्रकाशित होता है सत्य से ही उस सुख को वे प्राप्त होते हैं असत्य से कभी नहीं इससे सत्यधर्म का आचरण और असत्य का त्याग करना सब मनुष्यों को उचित है ॥ २ ॥

भाष्यम् ॥

अन्यच्च । चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥ १ ॥ पू० मी० अ० १ । पा० १ । सू० २ ॥ यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥ २ ॥ वैशेषिके । अ० १ । पा० १ । सू० २ ॥

अनयोरर्थः (चोदना०) वेदद्वारा या सत्यधर्माचरणस्य प्रेरणास्ति तयैव सत्यधर्मो लक्ष्यते । योऽनर्थादधर्माचरणाद्बहिरस्त्यतो धर्माख्यां लब्ध्वाऽर्थो भवति । यस्येश्वरेण निषेधः क्रियते सोऽनर्थरूपत्वादधर्मोऽयमिति ज्ञात्वा सर्वैर्मनुष्यैस्त्याज्य इति ॥ १ ॥ (यतोभ्यु०) यस्याचरणादभ्युदयः सांसारिकमिष्टसुखं सम्यक् प्राप्तं भवति येन च निःश्रेयसं पारमार्थिकं मोक्षसुखं च । स एव धर्मो विज्ञेयः । अतो विपरीतो ह्यधर्मश्च । इदमपि वेदानामेव व्याख्यानमस्ति । इत्यनेकमन्त्रप्रमाणसाक्ष्यादिधर्मोपदेशो वेदेष्वीश्वरेण सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टोऽस्त्येक एवायं सर्वेषां धर्मोऽस्ति नैव चास्माद्द्वितीयोऽस्तीति वेदितव्यम् ॥ २ ॥

इति वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः समाप्तः ॥

भाषार्थ ॥

(चोदना०) ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों के लिये जिसके करने की आज्ञा दी है वही धर्म और जिसके करने की प्रेरणा नहीं की है वह अधर्म कहाता है परन्तु वह धर्म अर्थयुक्त अर्थात् अधर्म का आचरण जो अनर्थ है उससे अलग होता है इससे धर्म का ही जो आचरण करना है वही मनुष्यों में मनुष्यपन है ॥ १ ॥ (यतोभ्यु०) जिसके आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निःश्रेयस अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति होती है उसी का नाम धर्म है यह भी वेदों की व्याख्या है इत्यादि अनेक वेदमन्त्रों के प्रमाणों और ऋषि मुनियों की साक्षियों से यह धर्म का उपदेश किया है कि सब मनुष्यों को इसी धर्म के काम करना उचित है इससे विदित हुआ कि सब मनुष्यों के लिये धर्म और अधर्म एक ही हैं दो नहीं जो कोई इस में भेद करे तो उस को अज्ञानी और मिथ्यावादी ही समझना चाहिये ॥

इति वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः ॥

अथ सृष्टिविद्याविषयः संक्षेपतः ॥

नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजोनोव्योमा परोयत् ॥ किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ १ ॥ न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ॥ आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्नपरः किञ्चनास ॥ २ ॥ तमआसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ॥ तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्त-

पमस्तन्महिना जायतैकम् ॥ ३ ॥ कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ॥ सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ ४ ॥ तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् ॥ रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥ ५ ॥ को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः । अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥ ६ ॥ इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ॥ यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ ७ ॥ ऋ० अ० ८ । अ० ७ । व० १७ ॥

भाष्यम् ॥

एतेषामभिप्रायार्थः । यदिदं सकलं जगद् दृश्यते तत् परमेश्वरेणैव सम्यग्रचयित्वा संरक्ष्य प्रलयावसरे वियोज्य च विनाश्यते पुनः पुनरेवमेव सदा क्रियत इति (नासदासी०) यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत्तदाऽसत्सृष्टेः प्राक् शून्यमाकाशमपि नासीत् । कुतः । तद्व्यवहारस्य वर्त्तमानाभावात् (नो सदासीत्तदानीं) तस्मिन्काले सत्प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं सत्संज्ञकं यज्जगत्कारणं तदपि नो आसीन्नावर्त्तत (नासीद्र०) परमाणवोऽपि नासन् (नो व्योमापरो यत्) व्योमाकाशमपरं यस्मिन् विराडाख्ये सोपि नो आसीत् किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसंज्ञकमेव तदानीं समवर्त्तत (किमावरीवः०) यस्मातः कुहकस्यावर्षाकाले धूमाकारेण वृष्टं किञ्चिज्जलं वर्त्तमानं भवति । यथा नैतत् जलेन पृथिव्यावरणं भवति नदीप्रवाहादिकं च चलति अत एवोक्तं तज्जलं गहनं गभीरं किं भवति । नेत्याह किन्त्वावरीवः । आवरकमाच्छादकं भवति नैव कदाचित्तस्यातीवाल्पत्वात् तथैव सर्वं जगत् तत्सामर्थ्यादुत्पद्यास्ति तच्छर्माणि शुद्धे ब्रह्मणि किं गहनं गभीरमधिकं भवति । नेत्याह । अतस्तद् ब्रह्मणः कदाचिन्नैवावरकं भवति । कुतः । जगतः किञ्चिन्मात्रत्वाद् ब्रह्मणोऽनन्तत्वाच्च ॥ १ ॥ न मृत्युरासीदित्यादिकं सर्वं सुगमार्थमेषामर्थं भाष्ये वक्ष्यामि ॥ इयं विसृष्टिः । यतः परमेश्वरादियं प्रत्यक्षा विसृष्टिर्विविधा सृष्टिराबभूवोत्पन्नासीदस्ति तां स

एव दधे धारयति रचयति यदि वा विनाशयति यदि वा न रचयति । योऽस्यसर्वस्याध्यक्षः स्वामी (परमे व्योमन्) तस्मिन्परमाकाशात्मनि परमे प्रकृष्टे व्योमवद्व्यापके परमेश्वरएवेदानीमपि सर्वा सृष्टिर्वर्त्तते । प्रलयावसरे सर्वस्यादिकारणे परब्रह्मसामर्थ्ये प्रलीनाच भवति (सोऽध्यक्षः) स सर्वाध्यक्षः परमेश्वरोऽस्ति (अङ्गवेद) हे अंगमित्र जीव तं यो वेद स विद्वान् परमानन्दमाप्नोति । यदि तं सर्वेषां मनुष्याणां परमिष्टं सच्चिदानन्दादिलक्षणं नित्यं कश्चिन्नैव वेद वा निश्चयार्थे स परमं सुखमपि नाप्नोति ॥ ७ ॥

भाषार्थ ॥

(नासदासीत्) जब यह कार्य सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी उस समय (असत्) शून्य नाम आकाश अर्थात् जो नेत्रों से देखने में नहीं आता सो भी नहीं था क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था (नोसदासीत्तदानीं०) उस काल में (सत्) अर्थात् सतोगुण रजोगुण और तमोगुण मिला के जो प्रधान कहाता है वह भी नहीं था (नासीद्रजः) उस समय परमाणु भी नहीं थे तथा (नोव्यो०) विराट् अर्थात् जो सब स्थूल जगत् के निवास का स्थान है सो भी नहीं था । (किमा०) जो यह वर्त्तमान जगत् है वह भी अनन्त शुद्ध ब्रह्म को नहीं ढाक सकता और उससे अधिक वा अथाह भी नहीं हो सकता जैसे कोहरा का जल पृथिवी को नहीं ढाक सकता है उस जल से नदी में प्रवाह भी नहीं चल सकता और न वह कभी गहरा वा उथला हो सक्ता है इससे क्या जाना जाता है कि परमेश्वर अनन्त है और जो यह उसका बनाया जगत् है सो ईश्वर की अपेक्षा से कुछ भी नहीं है ॥ १ ॥ (न मृत्यु०) जब जगत् नहीं था तब मृत्यु भी नहीं था क्योंकि जब स्थूल जगत् संयोग से उत्पन्न होके वर्त्तमान हो पुनः उस का और शरीर आदि का वियोग हो तब मृत्यु कहावे सो शरीर आदि पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुए थे (नमृत्यु०) इत्यादि पांच मन्त्र सुगमार्थ हैं इसीलिये इनकी व्याख्या भी यहां नहीं करते किन्तु वेदभाष्य में करेंगे (इयंविसृष्टिः०) जिस परमेश्वर के रचने से जो यह नाना प्रकार का जगत् उत्पन्न हुआ है वही इस जगत् को धारण करता नाश करता और मालिक भी है हे मित्र लोगो जो मनुष्य उस परमेश्वर को अपनी बुद्धि से जानता है वही परमेश्वर को प्राप्त होता है और जो उसको

नहीं जानता वही दुःख में पड़ता है जो आकाश के समान व्यापक है उसी ईश्वर में सब जगत् निवास करता है और जब प्रलय होता है तब भी सब जगत् कारणरूप होके ईश्वर के सामर्थ्य में रहता है और फिर भी उसी से उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ॥ स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥ ऋ० अ० ८। अ० ७। व० ३। मं० १ ॥

भाष्यम् ॥

(हिरण्यगर्भः०) अग्रे सृष्टेः प्राग्घिरण्यगर्भः परमेश्वरो जातस्यास्योत्पन्नस्य जगत एकोऽद्वितीयः पतिरेव समवर्त्तत । स पृथिवीमारभ्य द्युपर्य्यन्तं सकलं जगद्रचयित्वा (दाधार) धारितवानस्ति तस्मै सुखस्वरूपाय देवाय हविषा वयं विधेमेति ॥ १ ॥

भाषार्थ ॥

(हिरण्यगर्भः०) हिरण्यगर्भ जो परमेश्वर है वही एक सृष्टि के पहिले वर्त्तमान था। जो इस सब जगत् का स्वामी है और वही पृथिवी से लेके सूर्यपर्यन्त सब जगत् को रच के धारण कर रहा है इसलिये उसी सुखस्वरूप परमेश्वर देव की ही हम लोग उपासना करें अन्य की नहीं ॥ १ ॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥ स भूमिꣳ सर्वतस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥ य० अ० ३१ ॥

भाष्यम् ॥

(सहस्रशीर्षा०) अत्र मन्त्रे पुरुष इति पदं विशेष्यमस्ति सहस्रशीर्षेत्यादीनि विशेषणानि च अत्र पुरुषशब्दार्थे प्रमाणानि । पुरुषं पुरिशयइत्याचक्षीरन् ॥ नि० अ० १ । खं० १३ ॥ (पुरि०) पुरि संसारे शेते सर्वमभिव्याप्य वर्त्तते स पुरुषः परमेश्वरः ॥ पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोस्ति किंचित् ॥ वृक्षइव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वमित्यपि निगमो भवति ॥ नि० अ० २ । खं० ३ ॥ (पुरुषः०) पुरि सर्वस्मिन्संसारेऽभिव्याप्य सीदति वर्त्तत इति (पूरयतेर्वा) यः स्वयं परमेश्वर इदं सर्वं जगत् स्वस्वरूपेण पूरयति व्याप्नोति तस्मात्स पुरुषः (अन्तरिति०) यो जीवस्याप्यन्तर्म-

ध्येऽभिव्याप्य पूरयति तिष्ठति स पुरुषः । तमन्तरपुरुषमन्तर्यामिनं परमेश्वरम-भिप्रेत्येयमृक् प्रवृत्तास्ति (यस्मात्परं०) यस्मात्पूर्णात्परमेश्वरात्पुरुषाख्यात्परं प्रकृष्टमुत्तमं किंचिदपि वस्तु नास्त्येव पूर्वं वा (नापरमस्ति) यस्मादपरमर्वाचीनं तत्तुल्यमुत्तमं वा किंचिदपि वस्तु नास्त्येव । तथा यस्मादणीयः सूक्ष्मं ज्यायः स्थूलं महद्वा किंचिदपि द्रव्यं नाभूतं न भवति नैव च भविष्यतीत्यवधेयम् । यः स्तब्धो निष्कम्पः सर्वस्यास्थिरतां कुर्वन्सन् स्थिरोस्ति । क इव (वृक्ष इव) यथा वृक्षः शाखापत्रपुष्पफलादिकं धारयन् तिष्ठति तथैव पृथिवीसूर्यादिकं सर्वं जगद्धारयन्परमेश्वरोभिव्याप्य स्थितोस्तीति । यश्चैकोऽद्वितीयोस्ति नास्य कश्चि-त्सजातीयो विजातीयो वा द्वितीय ईश्वरोस्तीति । तेन पुरिषेण पुरुषेण परमात्मना यत इदं सर्वं जगत् पूर्णं कृतमस्ति तस्मात्पुरुषः परमेश्वर एवोच्यते । इत्ययं मन्त्रो निगमो निगमनं परं प्रमाणं भवतीति वेदितव्यम् । सर्वं वै सहस्रं सर्वस्य दाता-सीत्यादि० ॥ श० कां० ७ । अ० ५ ॥ (सर्वं०) सर्वमिदं जगत्सहस्रनामकमस्तीति विज्ञेयम् । (सहस्रशी०) सहस्राण्यसंख्यातान्यस्मदादीनां शिरांसि यस्मिन्पूर्णे पुरुषे परमात्मनि स सहस्रशीर्षा पुरुषः (सहस्राक्षः स०) अस्मदादीनां सहस्रा-ण्यक्षीण्यस्मिन् । एवमेव सहस्राण्यसंख्याताः पादाश्च यस्मिन्वर्त्तन्ते स सहस्राक्षः सहस्रपाच्च । (स भूमिꣳ सर्वतःस्पृत्वा) स पुरुषः परमेश्वरः सर्वतः सर्वेभ्यो बाह्यान्तर्देशेभ्यो (भूमिरिति) भूतानामुपलक्षणं भूमिमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तं सर्वं जगत्स्पृत्वाभिव्याप्य वर्त्तते (अत्य०) दशाङ्गुलमिति ब्रह्माण्डहृदयोरुपलक्ष-णम् । अङ्गुलमित्यवयवोपलक्षणेन मितस्य जगतोऽत्र ग्रहणं भवति । पञ्चस्थू-लभूतानि पञ्चसूक्ष्माणि चैतदुभयं मिलित्वा दशावयवाख्यं सकलं जगदस्ति । अन्यच्च । पञ्च प्राणाः सेन्द्रियं चतुष्टयमन्तःकरणं दशमो जीवश्च । एवमेवान्य-दपि जीवस्य हृदयं दशाङ्गुलपरिमितं च तृतीयं गृह्यते । एतत्त्रयं स्पृत्वा व्या-प्यात्यतिष्ठत् । एतस्मात्त्रयाद्बहिरपि व्याप्तः सन्नवस्थितः । अर्थाद्बहिरन्तश्च पूर्णो भूत्वा परमेश्वरोऽवतिष्ठत इति वेद्यम् ॥

भाषार्थ ॥

(सहस्रशी०) इस मन्त्र में पुरुष शब्द विशेष्य और अन्य सब पद उस के वि-शेषण हैं पुरुष उसको कहते हैं कि जो इस सब जगत् में पूर्ण होरहा है अर्थात् जिसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रक्खा है । पुर कहते हैं ब्रह्माण्ड और श-रीर को उसमें जो सर्वत्र व्याप्त और जो जीव के भीतर भी व्यापक अर्थात् अन्तर्यामी

है, इस अर्थ में निरुक्त आदि का प्रमाण संस्कृत भाष्य में लिखा है सो देख लेना सहस्र नाम है संपूर्ण जगत् का और असंख्यात का भी नाम है सो जिस के बीच में सब जगत् के असंख्यात शिर आंख और पग ठहर रहे हैं उस को सहस्रशीर्षा सहस्राक्ष और सहस्रपात् भी कहते हैं क्योंकि वह अनन्त है जैसे आकाश के बीच में सब पदार्थ रहते और आकाश सब से अलग रहता है अर्थात् किसी के साथ बंधता नहीं है इसी प्रकार परमेश्वर को भी जानो (स भूमिꣳ सर्वतःस्पृत्वा) सो पुरुष सब जगह से पूर्ण होके पृथिवी को तथा सब लोकों को धारण कर रहा है। (अत्यतिष्ठद्०) दशाङ्गुलशब्द ब्रह्माण्ड और हृदय का वाची है, अङ्गुलि शब्द अङ्ग का अवयववाची है पांच स्थूल भूत और पांच सूक्ष्म ये दोनों मिल के जगत् के दश अवयव होते हैं तथा पांच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार और दशमा जीव और शरीर में जो हृदय देश है सो भी दश अङ्गुल के प्रमाण से लिया जाता है जो इन तीनों में व्यापक हो के इन के चारों ओर भी परिपूर्ण होरहा है इससे वह पुरुष कहाता है क्योंकि जो उस दशाङ्गुल स्थान का भी उल्लङ्घन करके सर्वत्र स्थिर है वही सब जगत् का बनाने वाला है ॥ १ ॥

पुरु॑षऽए॒वेदꣳ सर्वं॒ यद्भू॒तं यच्च॒ भाव्य॑म् । उ॒ताम॑तृत्व॒स्येशा॑नो॒ यदन्ने॑नाति॒रोह॑ति ॥ २ ॥

भाष्यम् ॥

(पुरुषएवे०) एतद्विशेषणयुक्तः पुरुषः परमेश्वरः (यद्भूतं०) यज्जगदुत्पन्नमभूत् यद्भाव्यमुत्पत्स्यमानं चकाराद्वर्त्तमानं च तत्त्रिकालस्थं सर्वं विश्वं पुरुषएव कृतवानस्ति नान्यः। नैवातो हि परः कश्चिज्जगद्रचयितास्तीति निश्चेतव्यम्। उतापि स एवेशान ईषणशीलः सर्वस्येश्वरोऽमृतत्वस्य मोक्षभावस्य स्वामी दातास्ति। नैवैतद्दाने कस्याप्यन्यस्य सामर्थ्यमस्तीति। पुरुषो यद्यस्मादन्नेन पृथिव्यादिना जगता सहातिरोहति व्यतिरिक्तः सन् जन्मादिरहितोस्ति। तस्मात्स्वयमजः सन् सर्वं जनयति स्वसामर्थ्यादिकारणात्कार्य्यं जगदुत्पादयति। नास्यादिकारणं किञ्चिदस्ति किञ्च सर्वस्यादिनिमित्तकारणं पुरुषएवास्तीति वेद्यम् ॥ २ ॥

भाषार्थ ॥

(पुरुषएवे०) जो पूर्वोक्त विशेषण सहित पुरुष अर्थात् परमेश्वर है सो जो जगत् उत्पन्न हुआ था, जो होगा और जो इस समय में है इस तीन प्रकार के जगत् को वही रचता है उससे भिन्न दूसरा कोई जगत् का रचनेवाला नहीं है क्योंकि वह

(ईशान) अर्थात् सर्वशक्तिमान् है (अमृत०) जो मोक्ष है उस का देने वाला एक वही है दूसरा कोई नहीं सो परमेश्वर (अन्न०) अर्थात् पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक होके स्थित है और इस से अलग भी है क्योंकि उस में जन्म आदि व्यवहार नहीं हैं और अपनी सामर्थ्य से सब जगत् को उत्पन्न भी करता है और आप कभी जन्म नहीं लेता ॥ २ ॥

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

भाष्यम् ॥

(एतावानस्य०) अस्य पुरुषस्य भूतभविष्यद्वर्त्तमानस्थो यावान् संसारोस्ति तावान् महिमा वेदितव्यः । एतावानस्य महिमास्ति चेत्तर्हि तस्य महिम्नः परिच्छेद इयत्ता जातेति गम्यते । अत्र ब्रूते (अतो ज्यायांश्च पूरुषः) नैतावन्मात्र एव महिमेति । किं तर्हि । अतोऽप्यधिकतमो महिमानन्तस्तस्यास्तीति गम्यते । अत्राह (पादोऽस्य०) अस्यानन्तसामर्थ्यस्येश्वरस्य (विश्वा) विश्वानि प्रकृत्यादिपृथिवीपर्य्यन्तानि सर्वाणि भूतान्येकः पादोस्ति एकस्मिन्देशांशे सर्वं विश्वं वर्त्तते (त्रिपादस्या०) अस्य दिवि द्योतनात्मके स्वस्वरूपेऽमृतं मोक्षसुखमस्ति । तथाऽस्य दिवि द्योतके संसारे त्रिपाज्जगदस्ति । प्रकाश्यमानं जगदेकगुणमस्ति प्रकाशकं च तस्मात्त्रिगुणमिति स्वयं च मोक्षस्वरूपः सर्वाधिष्ठाता सर्वोपास्यः सर्वानन्दः सर्वप्रकाशकोस्ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ ॥

(एतावानस्य०) तीनों काल में जितना संसार है सो सब इस पुरुष की ही महिमा है । प्र०-जब उसकी महिमा का परिमाण है तो अन्त भी होगा । उ०-(अतो ज्यायांश्चपूरुषः) उस पुरुष की अनन्त महिमा है क्योंकि (पादोऽस्य विश्वाभूतानि) जो यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है सो इस पुरुष के एक देश में बसता है । (त्रिपादस्यामृतं दिवि) और जो प्रकाश गुणवाला जगत् है सो उस से तिगुना है तथा मोक्ष सुख भी उसी ज्ञानस्वरूप प्रकाश में है और वह पुरुष सब प्रकाश का भी प्रकाश करनेवाला है ॥ ३॥

त्रिपादूर्ध्वं उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ॥ ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

भाष्यम् ॥

(त्रिपादू०) अयं पुरुषः परमेश्वरः पूर्वोक्तस्य त्रिपादुपलक्षितस्य सकाशादूर्ध्वमुपरिभागेऽर्थात्पृथग्भूतोऽस्त्येवेत्यर्थः । एकपादुपलक्षितं यत्पूर्वोक्तं जगदस्ति तस्मादपीहास्मिन्संसारे स पुरुषः पृथगभवत् । व्यतिरिक्तएवास्ति । सच्च त्रिपात्संसार एकपाच्च मिलित्वा सर्वश्चतुष्पाद्भवति । अयं सर्वः संसार इहास्मिन्परमात्मन्येव वर्त्तते पुनर्लयसमये तत्सामर्थ्यकारणे प्रलीनश्च भवति । तत्रापि स पुरुषोऽविद्यान्धकाराज्ञानजन्ममरणज्वरादिदुःखादूर्ध्वः परः (उदैत्) उदितः प्रकाशितो वर्त्तते (ततो वि०) ततस्तत्सामर्थ्यात् सर्वमिदं विश्वमुत्पद्यते किञ्च तत् (साशनानशने०) यदेकमशनेन भोजनकरणेन सह वर्त्तमानं जङ्गमं जीवचेतनादिसहितं जगत् । द्वितीयमनशनमविद्यमानमशनं भोजनं यस्मिंस्तत्पृथिव्यादिकं च यज्जडं जीवसम्बन्धरहितं जगद्वर्त्तते तदुभयं तस्मात्पुरुषस्य सामर्थ्यकारणादेव जायते । यतः स पुरुष एतद्द्विविधं जगत् विविधतया सुष्ठुरीत्या सर्वात्मतयाऽञ्चति तस्मात् सर्वं द्विविधं जगदुत्पाद्य (अभिव्यक्रामत्) सर्वतो व्याप्तवानस्ति ॥ ४ ॥

भाषार्थ ॥

(त्रिपादूर्ध्व उदैत्पु०) पुरुष जो परमेश्वर है सो पूर्वोक्त त्रिपाद् जगत् से ऊपर भी व्यापक हो रहा है तथा सदा प्रकाशस्वरूप सब में भीतर व्यापक और सब से अलग भी है (पादोस्येहाभवत्पुनः०) इस पुरुष की अपेक्षा से यह सब जगत् किञ्चित् मात्र देश में है और जो इस संसार के चार पाद होते हैं वे सब परमेश्वर के बीच में ही रहते हैं इस स्थूल जगत् का जन्म और विनाश सदा होता रहता है और पुरुष तो जन्म विनाश आदि धर्म से अलग और सदा प्रकाशमान है (ततो विष्वङ् व्यक्रामत्) अर्थात् यह नाना प्रकार का जगत् उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है (साशना न०) सो दो प्रकार का है एक चेतन जो कि भोजनादि के लिये चेष्टा करता और जीव संयुक्त है और दूसरा अनशन अर्थात् जो जड़ और भोजन के लिये बना है क्योंकि उस में ज्ञान ही नहीं है और अपने आप चेष्टा भी नहीं कर सकता परन्तु उस पुरुष का अनन्त सामर्थ्य ही इस जगत् के बनाने की सामग्री है कि जिससे यह सब जगत् उत्पन्न होता है सो पुरुष सर्वहितकारक होके उस दो प्रकार के जगत् को अनेक प्रकार से आनन्दित करता है वह पुरुष इस का बनानेवाला संसार में सर्वत्र व्यापक होके धारण करके देख रहा और वही सब जगत् का सब प्रकार से आकर्षण कररहा है ॥ ४ ॥

ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः । स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥

भाष्यम् ॥

(ततो विराडजायत) ततस्तस्माद् ब्रह्माण्डशरीरः सूर्यचन्द्रनेत्रो वायुप्राणः पृथिवीपाद इत्याद्यलङ्कारलक्षणलक्षितोहि सर्वशरीराणां समष्टिदेहो विविधैः पदार्थैराजमानः सन् विराट् अजायतोत्पन्नोस्ति (विराजो अधिपूरुषः) तस्माद्विराजोऽधि उपरि पश्चाद् ब्रह्मण्डतत्त्वावयवैः पुरुषः सर्वप्राणिनां जीवाधिकरणो देहः पृथक् २ अजायतोत्पन्नोभूत् (सजातो अ०) स देहो ब्रह्माण्डावयवैरेव वर्धते नष्टः संस्तस्मिन्नेव प्रलीयत इति परमेश्वरस्तु सर्वेभ्यो भूतेभ्योत्यरिच्यतातिरिक्तः पृथग्भूतोस्ति (पश्चाद्भूमिमथोपुरः) पुरः पूर्वं भूमिमुत्पाद्य धारितवांस्ततः पुरुषस्य सामर्थ्यात्स जीवोपि देहं धारितवानस्ति । स च पुरुषः परमात्मा ततस्तस्माज् जीवादप्यत्यरिच्यत पृथग्भूतोस्ति ॥ ५ ॥

भाषार्थ ॥

(ततो विराडजायत) विराट् जिस का ब्रह्माण्ड के अलङ्कार से वर्णन किया है जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है जिस को मूलप्रकृति कहते हैं जिस का शरीर ब्रह्माण्ड के सम तुल्य जिस के सूर्य्य चन्द्रमा नेत्रस्थानी हैं, वायु जिस का प्राण और पृथिवी जिस का पग है इत्यादि लक्षणवाला जो यह आकाश है सो विराट् कहाता है वह प्रथम कलारूप परमेश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न होके प्रकाशमान हो रहा है (विराजो अधि०) उस विराट् के तत्वों के पूर्वभागों से सब अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक् २ उत्पन्न हुआ है जिस में सब जीव वास करते हैं और जो देह उसी पृथिवी आदि के अवयव अन्न आदि ओषधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है (स जातो अत्यरिच्यत) सो विराट् परमेश्वर से अलग और परमेश्वर भी इस संसाररूप देह से सदा अलग रहता है (पश्चाद्भूमिमथोपुरः) फिर भूमि आदि जगत् को प्रथम उत्पन्न करके पश्चात् जो धारण कर रहा है ॥ ५ ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् । पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ ६ ॥

भाष्यम् ॥

(तस्माद्य०) अस्यार्थो वेदोत्पत्तिप्रकरणे कश्चिदुक्तः । तस्मात्परमेश्वरात् (संभृतः पृषदाज्यम्) पृषु सेचनेधातुः पर्षन्ति सिञ्चन्ति चुन्निवृत्त्यादिकारकमन्नादि वस्तु यस्मिंस्तत्पृषत् । आज्यं घृतं मधुदुग्धादिकं च पृषदिति भक्ष्यान्नोपलक्षणम् । आज्यमिति व्यञ्जनोपलक्षणम् * यावद्वस्तु जगति वर्त्तते तावत्सर्वं पुरुषात्परमेश्वरसामर्थ्यादेव जातमिति बोध्यम् । तत्सर्वमीश्वरेण स्वल्पं २ जीवैश्च सम्यग्धारितमस्ति । अतः सर्वैरनन्यचित्तेनायं परमेश्वर एवोपास्यो नान्यश्चेति । (पशूंस्तांश्चक्रे०) य आरण्या वनस्थाः पशवो ये च ग्राम्या ग्रामस्थास्तान्सर्वान् स एव चक्रे कृतवानस्ति । स च परमेश्वरो वायव्यान् वायुसञ्चरितान् पक्षिणश्चक्रे चकारादन्यान्सूक्ष्मदेहधारिणः कीटपतङ्गादीनपि कृतवानस्ति ॥ ६ ॥

भाषार्थ ॥

(तस्माद्यज्ञात्स०) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्तिप्रकरण में कुछ कर दिया है पूर्वोक्त पुरुष से ही (संभृतः पृषदाज्यम्) सब भोजन वस्त्र अन्न जल आदि पदार्थों को सब मनुष्य लोगों ने धारण अर्थात् प्राप्त किया है क्योंकि उसी के सामर्थ्य से ये सब पदार्थ उत्पन्न हुए और उन्हीं से सब का जीवन भी होता है इस से सब मनुष्य लोगों को उचित है कि उस को छोड़ के किसी दूसरे की उपासना न करें (पशूंस्तांश्चक्रे०) गाम और वन के सब पशुओं को भी उसी ने उत्पन्न किया है तथा सब पक्षियों को भी बनाया है और भी सूक्ष्मदेहधारी कीट पतङ्ग आदि सब जीवों के देह भी उसी ने उत्पन्न किये हैं ॥ ६ ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ७ ॥

भाष्यम् ॥

अस्यार्थ उक्तो वेदोत्पत्तिप्रकरणे ॥ ७ ॥

भाषार्थ ॥

(तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्ति विषय में दिया है ॥ ७ ॥

* पृषदिति कश्चिदन्त्येष्टिसामग्र्या अपि नामास्ति ।

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः । गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ ८ ॥

भाष्यम् ॥

(तस्मादश्वा०) तस्मात्परमेश्वरसामर्थ्यादेवाश्वास्तुरङ्गा अजायन्त । ग्राम्यारण्यपशूनां मध्येऽश्वादीनामन्तर्भावादेषामुत्तमगुणवत्त्वप्रकाशनार्थोयमारम्भः (ये केचोभयादतः) उभयतो दन्ता येषां त उभयदतो ये केचिदुभयादत उष्ट्रगर्दभादयस्तेऽप्यजायन्त । (गावोहज०) तथा तस्मात्पुरुषसामर्थ्यादेव गावो धेनवः किरणाश्चेन्द्रियाणि च जज्ञिरे जातानि । (तस्माज्जाता अजा०) एवमेव चाजाश्छागा अवयश्च जाता उत्पन्ना इति विज्ञेयम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ ॥

(तस्मादश्वा अजायन्त) उसी पुरुष के सामर्थ्य से अश्व अर्थात् घोड़े और बिजुली आदि सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं (ये केचोभयादतः) जिनके मुख में दोनों ओर दांत होते हैं उन पशुओं को उभयदत कहते हैं वे ऊंट गधा आदि उसी से उत्पन्न हुए हैं (गावोह ज०) उसी से गोजाति अर्थात् गाय, पृथिवी, किरण और इन्द्रिय उत्पन्न हुई हैं (तस्माज्जाता अ०) इसी प्रकार छेरी और भेड़ें भी उसी कारण से उत्पन्न हुई हैं ॥ ८ ॥

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः । तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ९ ॥

भाष्यम् ॥

(तं यज्ञं ब०) यमग्रतो जातं प्रादुर्भूतं जगत्कर्तारं पुरुषं पूर्णं यज्ञं सर्वपूज्यं परमेश्वरं बर्हिषि हृदयान्तरिक्षे प्रौक्षन्प्रकृष्टतया यस्यैवाभिषेकं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति चेत्युपदिश्यत ईश्वरेण (तेन देवा०) तेन परमेश्वरेण पुरुषेण वेदद्वारोपदिष्टास्ते सर्वे देवा विद्वांसः साध्या ज्ञानिन ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च ये चान्ये मनुष्यास्तं परमेश्वरमयजन्तापूजयन्त । अनेन किं सिद्धं सर्वे मनुष्याः परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनापुरःसरमेव सर्वकर्मानुष्ठानं कुर्य्युरित्यर्थः ॥ ९ ॥

भाषार्थ ॥

(तं यज्ञं बर्हि०) जो सब से प्रथम प्रकट था जो सब जगत् का बनाने वाला है और सब जगत् में पूर्ण हो रहा है उस यज्ञ अर्थात् पूजने के योग्य परमेश्वर को जो मनुष्य हृदयरूप आकाश में अच्छे प्रकार से प्रेमभक्ति सत्य आचरण करके पूजन करता है वही उत्तम मनुष्य है ईश्वर का यह उपदेश सब के लिये है (तेन देवा अयजन्त सा०) उसी परमेश्वर के वेदोक्त उपदेशों से (देवाः) जो विद्वान् (साध्याः) जो ज्ञानी लोग (ऋषयश्चये) ऋषि लोग जो वेदमन्त्रों के अर्थ जानने वाले और अन्य भी मनुष्य जो परमेश्वर के सत्कारपूर्वक सब उत्तम ही काम करते हैं वे ही सुखी होते हैं क्योंकि सब श्रेष्ठ कर्मों के करने के पूर्व ही उस का स्मरण और प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये और दुष्ट कर्म करना तो किसी को उचित ही नहीं ॥ ९ ॥

यत्पुरु॑षं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑कल्पयन् । मुखं॒ किम॑स्यासी॒त् किं बा॒हू किमू॒रू पादा॑ उच्येते ॥ १० ॥

भाष्यम् ।

(यत्पुरुषं व्य०) यद्यस्मादेनं पूर्वोक्तलक्षणं पुरुषं परमेश्वरं कतिधा कियत्प्रकारैः (व्यकल्पयन्) तस्य सामर्थ्यगुणकल्पनं कुर्वन्तीत्यर्थः (व्यदधुः) तं सर्वशक्तिमन्तमीश्वरं विविधसामर्थ्यकथनेनादधुरर्थादनेकविधं तस्य व्याख्यानं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च । (मुखं कि०) अस्य पुरुषस्य मुखं मुख्यगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत् (किं बाहू) बलवीर्यादिगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत् (किमूरू) व्यापारादिमध्यमैर्गुणैः किमुत्पन्नमासीत् (पादा उच्येते) पादावर्थान्मूर्खत्वादिनीचगुणैः किमुत्पन्नं वर्त्तते ॥ अस्योत्तरमाह ॥ १० ॥

भाषार्थ ॥

(यत्पुरुषं०) पुरुष उस को कहते हैं कि जो सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहाता है (कतिधा व्य०) जिस के सामर्थ्य का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं क्योंकि उस में चित्र विचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है अनेक कल्पनाओं से जिस का कथन करते हैं (मुखं किमस्यासीत्) इस पुरुष के मुख अर्थात् मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पन्न हुआ है (किं बाहू) बल वीर्य्य शूरता और युद्ध आदि विद्यागुणों से इस

संसार में कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ है (किमूरू) व्यापार आदि मध्यम गुणों से किस की उत्पत्ति हुई है (पादा उच्येते) मूर्खपन आदि नीच गुणों से किस की उत्पत्ति होती है इन चारों प्रश्न के उत्तर ये हैं कि ॥ १० ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः । ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳫं शूद्रो अजायत ॥ ११ ॥

भाष्यम् ॥

(ब्राह्मणोऽस्य०) अस्य पुरुषस्य मुखं ये विद्यादयो मुख्यगुणाः सत्यभाषणोपदेशादीनि कर्म्माणि च सन्ति तेभ्यो ब्राह्मण आसीदुत्पन्नो भवतीति । (बाहूराजन्यः कृतः) बलवीर्य्यादिलक्षणान्वितो राजन्यः क्षत्रियस्तेन कृत आज्ञप्त आसीदुत्पन्नो भवति । (ऊरू तदस्य०) कृषिव्यापारादयो गुणा मध्यमास्तेभ्यो वैश्यो वणिग्जनोऽस्य पुरुषस्योपदेशादुत्पन्नो भवतीति वेद्यम् (पद्भ्याᳫंशूद्रो०) पद्भ्यां पादेन्द्रियनीचत्वमर्थाज्जड़बुद्धित्वादिगुणेभ्यः शूद्रः सेवागुणविशिष्टः पराधीनतया प्रवर्त्तमानोऽजायत जायत इति वेद्यम् । अस्योपरि प्रमाणानि वर्णाश्रमप्रकरणे वक्ष्यन्ते ॥ छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ॥ १ ॥ अष्टाध्या० अ० ३ । पा० ४ । सू० ६ ॥ इति सूत्रेण सामान्यकाले त्रयोलकारा विधीयन्ते ॥ ११ ॥

भाषार्थ ॥

(ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो विद्या सत्यभाषणादि उत्तम गुण और श्रेष्ठ कर्मों से ब्राह्मणवर्ण उत्पन्न होता है वह मुख्य कर्म और गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है । (बाहूराजन्यः कृतः) और ईश्वर ने बल पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है (ऊरू तदस्य०) खेती व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यम गुणों से वैश्यवर्ण सिद्ध होता है (पद्भ्याᳫं शूद्रो०) जैसे पग सब से नीच अङ्ग है वैसे मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्र वर्ण सिद्ध होता है इस विषय के प्रमाण वर्णाश्रम की व्याख्या में लिखेंगे ॥ ११ ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत । श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ १२ ॥

भाष्यम् ॥

(चन्द्रमा मनसो०) तस्यास्य पुरुषस्य मनसो मननशीलात्सामर्थ्याच्चन्द्रमा जात उत्पन्नोऽस्ति । तथा चक्षोर्ज्योतिर्मयात्सूर्य्यो अजायत उत्पन्नोऽस्ति (श्रोत्रा-द्वा०) श्रोत्राकाशमयादाकाशो नभ उत्पन्नमस्ति । वायुमयाद्वायुरुत्पन्नोऽस्ति प्राणश्च सर्वेन्द्रियाणि चोत्पन्नानि सन्ति । मुखान्मुख्यज्योतिर्मयादग्निरजायतोत्प-न्नोऽस्ति ॥ १२ ॥

भाषार्थ ॥

(चन्द्रमा०) इस पुरुष के मनन अर्थात् ज्ञानस्वरूप सामर्थ्य से चन्द्रमा और तेज-स्वरूप से सूर्य्य उत्पन्न हुआ है (श्रोत्राद्वा०) श्रोत्र अर्थात् अवकाशरूप सामर्थ्य से आकाश और वायुरूप सामर्थ्य से वायु उत्पन्न हुआ है तथा सब इन्द्रियां भी अपने २ कारण से उत्पन्न हुई हैं और मुख्य ज्योतिरूप सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुआ है ॥ १२ ॥

नाभ्या॑ आसीद॒न्तरि॑क्षँ शी॒र्ष्णो द्यौः सम॑वर्त्तत । प॒द्भ्यां भूमि॒-र्दिशः॒ श्रोत्रा॒त्तथा॑ लो॒काँ२॥ अ॑कल्पयन् ॥ १३ ॥

भाष्यम् ॥

(नाभ्या०) अस्य पुरुषस्य नाभ्या अवकाशमयात्सामर्थ्यादन्तरिक्षमु-त्पन्नमासीत् । एवं शीर्ष्णः शिरोवदुत्तमसामर्थ्यात्प्रकाशमयात् (द्यौः) सूर्य्या-दिलोकः प्रकाशात्मकः समवर्त्तत सम्यगुत्पन्नः सन् वर्त्तते (पद्भ्यां भूमिः) पृथिवीकारणमयात्सामर्थ्यात्परमेश्वरेण भूमिर्धरणिरुत्पादितास्ति जलं च । (दिशः श्रो०) शब्दाकाशकारणमयात्तेन दिश उत्पादिताः सन्ति (तथा लोकाँ२॥ अकल्पयन्) तथा तेनैव प्रकारेण सर्वलोककारणमयात्सामर्थ्याद-न्यान्सर्वान् लोकांस्तत्रस्थान् स्थावरजङ्गमान्पदार्थानकल्पयत्परमेश्वर उत्पादितवा नस्ति ॥ १३ ॥

भाषार्थ ॥

(नाभ्या आसीदन्त०) इस पुरुष के अत्यन्त सूक्ष्म सामर्थ्य से अन्तरिक्ष अर्थात् जो भूमि और सूर्य्य आदि लोकों के बीच में पोल है सो भी नियत किया हुआ है (शीर्ष्णोद्यौः०) और जिस के सर्वोत्तम सामर्थ्य से सब लोकों के प्रकाश करने वाले सूर्य्य आदि लोक उत्पन्न हुए हैं (पद्भ्यां भूमिः) पृथिवी के परमाणु कारणरूप सामर्थ्य से-

परमेश्वर ने पृथिवी उत्पन्न की है तथा जल को भी उसके कारण से उत्पन्न किया है (दिशः श्रोत्रात्) उसने श्रोत्ररूप सामर्थ्य से दिशाओं को उत्पन्न किया है (तथा लोकां२॥ अकल्पयन्) इसी प्रकार सब लोकों के कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने सब लोक और उन में बसने वाले सब पदार्थों को उत्पन्न किया है ॥ १३ ॥

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत । वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ १४ ॥

भाष्यम् ॥

(यत्पुरुषेण०) देवा विद्वांसः पूर्वोक्तेन पुरुषेण हविषा गृहीतेन दत्तेन चाग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं शिल्पविद्यामयं च यद्यं यज्ञं प्रकाशितमतन्वत विस्तृतं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च । इदानीं जगदुत्पत्तौ कालस्यावयवाख्या सामग्र्युच्यते (वसन्तो०) अस्य यज्ञस्य पुरुषादुत्पन्नस्य वा ब्रह्माण्डमयस्य वसन्त आज्यं घृतवदास्ति । (ग्रीष्म इध्मः) ग्रीष्मर्त्तुरिध्म इन्धनान्यग्निर्वास्ति । (शरद्धविः) शरदृतुः पुरोडाशादिवद्धविर्हवनीयमस्ति ॥ १४ ॥

भाषार्थ ॥

(यत्पुरुषेण०) देव अर्थात् जो विद्वान् लोग होते हैं उन को भी ईश्वर ने अपने २ कर्मों के अनुसार उत्पन्न किया है और वे ईश्वर के दिये पदार्थों का ग्रहण करके पूर्वोक्त यज्ञ का विस्तारपूर्वक अनुष्ठान करते हैं और जो ब्रह्माण्ड का रचन पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है उसी को जगत् बनाने की सामग्री कहते हैं (वसन्तो०) पुरुष ने उत्पन्न किया जो यह ब्रह्माण्डरूप यज्ञ है इस में वसन्तऋतु अर्थात् चैत्र और वैशाख घृत के समान है (ग्रीष्म इध्मः) ग्रीष्म ऋतु ज्येष्ठ और आषाढ़ इन्धन है । श्रावण और भाद्रपद वर्षा ऋतु । आश्विन और कार्त्तिक शरद् ऋतु । मार्गशीर्ष और पौष हिम ऋतु और माघ तथा फाल्गुन शिशिर ऋतु कहाती है यह इस यज्ञ में आहुती है सो यहां रूपकालङ्कार से सब ब्रह्माण्ड का व्याख्यान जानना चाहिये ॥ १४ ॥

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः । देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

भाष्यम् ॥

(सप्तास्या०) अस्य ब्रह्माण्डस्य सप्त परिधयः सन्ति । परिधिर्हि गोलस्योपरिभागस्य यावता सूत्रेण परिवेष्टनं भवति स परिधिर्ज्ञेयः । अस्य ब्रह्माण्डस्य ब्रह्माण्डान्तर्गतलोकानां वा सप्त २ परिधयो भवन्ति । समुद्र एकस्तदुपरि त्रसरेणुसहितो वायुर्द्वितीयः । मेघमण्डलं तत्रस्थोवायुस्तृतीयः । वृष्टिजलं चतुर्थस्तदुपरिवायुः पञ्चमः । अत्यन्तसूक्ष्मो धनञ्जयष्षष्ठः । सूत्रात्मा सर्वत्र व्याप्तः सप्तमश्च । एवमेकैकस्योपरि सप्त सप्तावरणानि स्थितानि सन्ति तस्माच्चे परिधयो विज्ञेयाः (त्रिसप्त समिधः कृताः) एकविंशतिः पदार्थाः सामग्र्यस्य चास्ति प्रकृतिर्महत् । बुद्ध्याद्यन्तःकरणं जीवश्चैषैका सामग्री परमसूक्ष्मत्वात् । दशेन्द्रियाणि श्रोत्रं, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका, वाक्, पादौ, हस्तौ, पायुः, उपस्थं चेति । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चतन्मात्राः पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति पञ्चभूतानि च मिलित्वा दश भवन्ति एवं सर्वा मिलित्वैकविंशतिर्भवन्त्यस्य ब्रह्माण्डरचनस्य समिधः कारणानि विज्ञेयानि एतेषामवयवरूपाणि तु तत्त्वानि बहूनि सन्तीति बोध्यम् । (देवाय०) तदिदं येन पुरुषेण रचितं तं यज्ञपुरुषं पशुं सर्वद्रष्टारं सर्वैः पूजनीयं देवा विद्वांसः (अवध्नन्) ध्यानेन वध्नन्ति तं विहायेश्वरत्वेन कस्यापि ध्यानं नैव वध्नन्ति नैव कुर्वन्तीत्यर्थः ॥१५॥

भाषार्थ ॥

(सप्तास्या०) ईश्वर ने एक २ लोक के चारों ओर सात २ परिधि ऊपर २ रची हैं जो गोल चीज़ के चारों ओर एक सूत से नाप के जितना परिमाण होता है उस को परिधि कहते हैं सो जितने ब्रह्माण्ड में लोक हैं ईश्वर ने उन एक २ के ऊपर सात २ ावरण बनाये एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघमण्डल का वायु, चौथा वृष्टिजल और पांचमा वृष्टिजल के ऊपर एक प्रकार का वायु, छठा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिस को धनञ्जय कहते हैं, सातमा सूत्रात्मा वायु जोकि धनञ्जय से भी सूक्ष्म है, ये सात परिधि कहाते हैं (त्रिसप्त समिधः) और इस ब्रह्माण्ड की सामग्री २१ इकीस प्रकार की कहाती है जिस में से एक प्रकृति बुद्धि और जीव ये तीनों मिलके हैं क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है । दूसरा श्रोत्र । तीसरी त्वचा । चौथा नेत्र । पांचमी जिह्वा । छठी नासिका । सातमी वाक् । आठमा पग । नवमा हाथ । दशमी गुदा । ग्यारहमा उपस्थ जिस को लिङ्ग इन्द्रिय कहते हैं । बारहमा शब्द । तेरहमा स्पर्श ।

चौदहमा रूप । पन्द्रहमा रस । सोलहमा गन्ध । सत्रहमी पृथिवी । अठारहमा जल । उन्नीसमा अग्नि । बीसमा वायु । इक्कीसमा आकाश । ये इक्कीस समिधा कहाती हैं (देवाय०) जो परमेश्वर पुरुष इस सब जगत् का रचने वाला सब का देखनेवाला और पूज्य है उस को विद्वान् लोग सुन के और उसी के उपदेश से उसी के कर्म और गुणों का कथन, प्रकाश और ध्यान करते हैं उस को छोड़ के दूसरे को ईश्वर किसी ने नहीं माना और उसी के ध्यान में अपने आत्माओं को दृढ़ बांधने से कल्याण जानते हैं ॥ १५ ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १६ ॥

भाष्यम् ॥

(यज्ञेन यज्ञम०) ये विद्वांसो यज्ञं यजनीयं पूजनीयं परमेश्वरं यज्ञेन तत्स्तुतिप्रार्थनोपासनरीत्या पूजनेन तमेवायजन्त यजन्ते यक्ष्यन्ति च । तान्येव धर्माणि प्रथमानि सर्वकर्मभ्य आदौ सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यान्यासन् न च तैः पूर्वं कृतैर्विना केनापि किंचित्कर्म कर्त्तव्यमिति (तेह ना०) त ईश्वरोपासका हेति प्रसिद्धं नाकं सर्वदुःखरहितं परमेश्वरं मोक्षं च महिमानः पूज्याः सन्तः सचन्त समवेता भवन्ति कीदृशं तत् (यत्र पूर्वे साध्याः०) साध्याः साधनवन्तः कृतसाधनाश्च देवा विद्वांसः पूर्वे अतीता यत्र मोक्षाख्ये परमे पदे सुखिनः सन्ति न तस्माद् ब्रह्मणश्शतवर्षसंख्यातात् कालात् कदाचित्पुनरावर्तन्त इति किन्तु तमेव समसेवन्त ॥ अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्याः । यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा अग्निनाग्निमयजन्त देवा अग्निः पशुरासीत्तमालभन्त तेनायजन्तेति च ब्राह्मणम् । तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः । द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः ॥ नि० अ० १२ । खं० ४१ ॥ अग्निना जीवेनान्तःकरणेन वाग्निं परमेश्वरमयजन्त । अग्निः पशुरासीत्तमेव देवा आलभन्त । सर्वोपकारकमग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं भौतिकाग्निनापि यज्ञं देवा समसेवन्तेति वा । साध्याः साधनवन्तो यत्र पूर्वे पूर्वभूता मोक्षाख्यानन्दे पदे सन्ति । तमभिप्रेत्यात एव द्युस्थानो देवगण इति निरुक्तकारा वदन्ति । द्युस्थानः प्रकाशमयः परमेश्वरः स्थानं स्थित्यर्थं यस्य सः । यद्वा सूर्यप्राणस्थानाः विज्ञानकिरणास्तत्रैव देवगणो देवसमूहो वर्त्तत इति ॥ १६ ॥

भाषार्थ ॥

(यज्ञेन यज्ञ०) विद्वानों को देव कहते हैं और वे सब के पूज्य होते हैं क्योंकि वे सब दिन परमेश्वर ही की स्तुति प्रार्थना उपासना और आज्ञापालन आदि विधान से पूजा करते हैं इससे सब मनुष्यों को उचित है कि वेदमन्त्रों से प्रथम ईश्वर की स्तुति प्रार्थना करके शुभकर्मों का आरम्भ करें (तेहनाकं०) जो २ ईश्वर की उपासना करने वाले लोग हैं वे २ सब दुःखों से छूट के सब मनुष्यों में अत्यन्त पूज्य होते हैं (यत्र पूर्वे सा०) जहां विद्वान् लोग परमपुरुषार्थ से जिस पद को प्राप्त होके नित्य आनन्द में रहते हैं उसी को मोक्ष कहते हैं क्योंकि उससे निवृत्त होके संसार के दुःखों में कभी नहीं गिरते ॥ इस अर्थ में निरुक्तकार का भी यही अभिप्राय है कि जो परमेश्वर के अनन्त प्रकाश में मोक्ष को प्राप्त हुये हैं वे परमेश्वर ही के प्रकाश में सदा रहते हैं उन को अज्ञानरूप अन्धकार कभी नहीं होता ॥ १६ ॥

अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे । तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥ १७ ॥

भाष्यम् ॥

(अद्भ्यः संभृतः०) तेन पुरुषेण पृथिव्यै पृथिव्युत्पत्त्यर्थमद्भ्यो रसः संभृतः संगृह्य तेन पृथिवी रचिता । एवमग्निरसेनाग्नेः सकाशादाप उत्पादिताः । अग्निश्च वायोः सकाशाद्वायुराकाशादुत्पादित आकाशः प्रकृतेः प्रकृतिः स्वसामर्थ्याच्च । विश्वं सर्वं कर्म क्रियमाणमस्य स विश्वकर्मा तस्य परमेश्वरस्य सामर्थ्यमध्ये कारणाख्येऽग्रे सृष्टेः प्राग्जगत्समवर्त्तत वर्त्तमानमासीत् । तदानीं सर्वमिदं जगत्कारणभूतमेव नेदृशमिति । तस्य सामर्थ्यस्यांशान् गृहीत्वा त्वष्टा रचनकर्त्तेदं सकलं जगद्विदधत् । पुनश्चेदं विश्वं रूपवत्त्वमेति । तदेव मर्त्यस्य मरणधर्मकस्य विश्वस्य मनुष्यस्यापि च रूपवत्त्वं भवति (आजानमग्रे) वेदाज्ञापनसमये परमात्माऽग्रवान् वेदरूपामाज्ञां दत्तवान् मनुष्याय धर्मयुक्तेनैव सकामेन कर्मणा कर्म देवत्वयुक्तं शरीरं धृत्वा विषयेन्द्रियसंयोगजन्यमिष्टं सुखं भवतु तथा निष्कामेन विज्ञानपरमं मोक्षाख्यं चेति ॥ १७ ॥

भाषार्थ ॥

(अद्भ्यः संभृतः०) उस परमेश्वर पुरुष ने पृथिवी की उत्पत्ति के लिये जल से सारांश रस को ग्रहण करके पृथिवी और अग्नि के परमाणुओं को मिलाके पृथिवी रची है इसी प्रकार अग्नि के परमाणु के साथ जल के परमाणुओं को मिलाके जल को, वायु के परमाणुओं के साथ अग्नि के परमाणुओं को मिला के अग्नि को और वायु के परमाणुओं से वायु को रचा है वैसे ही अपने सामर्थ्य से आकाशको भी रचा है जो कि सब तत्वों के ठहरने का स्थान है । ईश्वर ने प्रकृति से लेके घास पर्यन्त जगत् को रचा है इससे ये सब पदार्थ ईश्वर के रचे होने से उस का नाम विश्वकर्मा है । जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था तब वह ईश्वर के सामर्थ्य में कारणरूप से वर्त्तमान था (तस्य०) जब २ ईश्वर अपने सामर्थ्य से इस कार्य्यरूप जगत् को रचता है तब २ कार्य्य जगत् रूप गुणवाला होके स्थूल बन के देखने में आता है (तन्मर्त्यस्य देवत्व०) जब परमेश्वर ने मनुष्यशरीर आदि को रचा है तब मनुष्य भी दिव्य कर्म करके देव कहाते हैं और जब ईश्वर की उपासना से विद्या विज्ञान आदि अत्युत्तम गुणों को प्राप्त होते हैं तब भी उन मनुष्यों का नाम देव होता है क्योंकि कर्म से उपासना और ज्ञान उत्तम हैं इसमें ईश्वर की यह आज्ञा है कि जो मनुष्य उत्तम कर्म में शरीर आदि पदार्थों को चलाता है वह संसार में उत्तम सुख पाता है और जो परमेश्वर ही की प्राप्तिरूप मोक्ष की इच्छा करके उत्तम कर्म उपासना और ज्ञान में पुरुषार्थ करता है वह उत्तम देव होता है ॥ १७ ॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १८ ॥

भाष्यम् ॥

(वेदाहमेतं पु०) किं विदित्वा त्वं ज्ञानी भवसीति पृच्छ्यते तदुत्तरमाह । यतः पूर्वोक्तलक्षणविशिष्टं सर्वेभ्यो महान्तं वृद्धतममादित्यवर्णं स्वप्रकाशविज्ञानस्वरूपं तमसोऽज्ञानाऽविद्यान्धकारात्परस्तात्पृथग् वर्त्तमानं परमेश्वरं पुरुषमहं वेद जानाम्यतोऽहं ज्ञान्यस्मीति निश्चयः । नैव तमविदित्वा कश्चिज्ज्ञानी भवितुमर्हतीति । कुतः (तमेव विदित्वा०) मनुष्यस्तमेव पुरुषं परमात्मानं विदित्वाऽतिमृत्युं मृत्युमतिक्रान्तं मृत्योः पृथग्भूतं मोक्षाख्यमानन्दमेति प्राप्नोति । नैवा-

तोऽन्यथेति । एवकारात्तमीश्वरं विहाय नैव कस्यचिदन्यस्य लेशमात्राप्युपासना केनचित्कदाचित्कार्य्येति गम्यते । कथमिदं विज्ञायतेऽन्यस्योपासना नैव कार्य्येति (नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय) इति वचनात् । अयनाय व्यावहारिकपारमार्थिकसुखायाऽन्यो द्वितीयः पन्था मार्गो न विद्यते । किन्तु तस्यैवोपासनमेव सुखस्य मार्गोऽतोभिन्नस्येश्वरगणनोपासनाभ्यां मनुष्यस्य दुःखमेव भवतीति निश्चयः, अतः कारणादेष एव पुरुषः सर्वैरुपासनीय इति सिद्धान्तः ॥ १८ ॥

भाषार्थ ॥

(वेदाहमेतं) प्र०—किस पदार्थ को जान के मनुष्य ज्ञानी होता है ? उ०—उस पूर्वोक्त लक्षण सहित परमेश्वर ही को यथावत् जान के ठीक २ ज्ञानी होता है अन्यथा नहीं । जो सब से बड़ा सब का प्रकाश करनेवाला और अविद्या अन्धकार अर्थात् अज्ञान आदि दोषों से अलग है उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्टदेव जानता हूं उस को जाने विना कोई मनुष्य यथावत् ज्ञानवान् नहीं हो सकता क्योंकि (तमेव विदित्वा०) उसी परमात्मा को जान के और प्राप्त होके जन्म मरण आदि क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छूट के परमानन्दस्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है अन्यथा किसी प्रकार से मोक्षसुख नहीं हो सकता इससे क्या सिद्ध हुआ कि उसी की उपासना सब मनुष्य लोगों को करनी उचित है उस से भिन्न की उपासना करना किसी मनुष्य को न चाहिये क्योंकि मोक्ष का देनेवाला एक परमेश्वर के विना दूसरा कोई भी नहीं है इस में यह प्रमाण है कि (नान्यः पन्था०) व्यवहार और परमार्थ के दोनों सुख का मार्ग एक परमेश्वर की उपासना और उस का जानना ही है क्योंकि इस के विना मनुष्य को किसी प्रकार से सुख नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते । तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ १९ ॥

भाष्यम् ॥

(प्रजापति०) स एव प्रजापतिः सर्वस्य स्वामी जीवस्यान्यस्य च जडस्य जगतोऽन्तर्गर्भे मध्येऽन्तर्य्यामिरूपेणाजायमानोऽनुत्पन्नोऽजः स नित्यं चरति । तस्मादध्यादेवेदं सकलं जगद् बहुधा बहुप्रकारं विजायते विशिष्टतयोत्पद्यते

(तस्य योनिं०) तस्य परब्रह्मणो योनिं सत्यधर्मानुष्ठानं वेदविज्ञानमेव प्राप्तिकारणं धीरा ध्यानवन्तः (परिप०) परितः सर्वतः प्रेक्षन्ते (तस्मिन्हतस्थुर्भु०) यस्मिन्भुवनानि विश्वानि सर्वाणि सर्वे लोकास्तस्थुः स्थितिं चक्रिरे। इति निश्चयार्थे तस्मिन्नेव परमे पुरुषे धीरा ज्ञानिनो मनुष्या मोक्षानन्दं प्राप्य तस्थुः स्थिरा भवन्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥

भाषार्थ ॥

(प्रजापति०) जो प्रजा का पति अर्थात् सब जगत् का स्वामी है वही जड़ और चेतन के भीतर और बाहर अन्तर्यामिरूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है जो सब जगत् को उत्पन्न करके अपने आप सदा अजन्मा रहता है (तस्य योनिं०) जो उस परब्रह्म की प्राप्ति का कारण सत्य का आचरण और सत्यविद्या है उसको विद्वान् लोग ध्यान से देख के परमेश्वर को सब प्रकार से प्राप्त होते हैं (तस्मिन्हत०) जिस में ये सब भुवन अर्थात् लोक ठहर रहे हैं उसी परमेश्वर में ज्ञानी लोग भी सत्य निश्चय से मोक्षसुख को प्राप्त होके जन्म मरण आदि आने जाने से छूट के आनन्द में सदा रहते हैं ॥ १९ ॥

यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः। पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥ २० ॥

भाष्यम् ॥

(यो देवेभ्य०) यः पूर्णः पुरुषो देवेभ्यो विद्वद्भ्यस्तत्प्रकाशार्थमातपति आसमन्तात्तदन्तःकरणे प्रकाशयति नान्येभ्यश्च। यश्च देवानां विदुषां पुरोहितः सर्वैः सुखैः सह मोक्षे विदुषो दधाति। (पूर्वो यो देवेभ्यो जातो०) देवेभ्यो विद्वद्भ्यो यः पूर्वः पूर्वमेव सनातनत्वेन वर्त्तमानः सन् जातः प्रसिद्धोस्ति (नमो रुचाय०) तस्मै रुचाय रुचिकराय ब्रह्मणे नमोस्तु। यश्च देवेभ्यो विद्वद्भ्यो ब्रह्मोपदेशं प्राप्य ब्रह्मरुचिर्ब्राह्मिर्ब्रह्मणोऽपत्यमिव वर्त्तमानोस्ति। तस्मा अपि ब्राह्मये ब्रह्मसेवकाय नमोस्तु ॥ २० ॥

भाषार्थ ॥

(यो देवेभ्य०) जो परमात्मा विद्वानों के लिये सदा प्रकाशस्वरूप है अर्थात् उन के आत्माओं को प्रकाश में कर देता और वही उन का पुरोहित अर्थात् अत्यन्त सुखों से धारण और पोषण करनेवाला है इस से वे फिर दुःखसागर में कभी नहीं गिरते।

(पूर्वो यो देवेभ्यो जातो०) जो सब विद्वानों से आदि विद्वान् और जो विद्वानों के ही ज्ञान से प्रसिद्ध अर्थात् प्रत्यक्ष होता है (नमो रुचाय०) उस अत्यन्त आनन्दस्वरूप और सत्य में रुचि करानेवाले ब्रह्म को हमारा नमस्कार हो और जो विद्वानों से वेदविद्यादि को यथावत् पढ़ के धर्मात्मा अर्थात् ब्रह्म को पिता के समान मान के सत्यभाव से प्रेम प्रीति करके सेवा करनेवाला जो विद्वान् मनुष्य है उस को भी हम लोग नमस्कार करते हैं ॥ २० ॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन् । यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे ॥ २१ ॥

भाष्यम् ॥

(रुचं ब्राह्मं०) रुचं प्रीतिकरं ब्राह्मं ब्रह्मणोऽपत्यमिव ब्रह्मणः सकाशाज्जातं ज्ञानं जनयन्त उत्पादयन्तो देवा विद्वांसोऽन्येषामग्रे तज्ज्ञानं तज्ज्ञानसाधनं वाऽब्रुवन् ब्रुवन्तूपदिशन्तु च (यस्त्वैवं०) यस्त्वैवममुना प्रकारेण तद्ब्रह्म ब्राह्मणो विद्यात् (तु) पश्चात्तस्यैव ब्रह्मविदो ब्राह्मणस्य देवा इन्द्रियाणि वशे असन् नान्यस्येति ॥ २१ ॥

भाषार्थ ॥

(रुचं ब्राह्मं०) जो ब्रह्म का ज्ञान है वही अत्यन्त आनन्द करनेवाला और उस मनुष्य की उसमें रुचि का बढ़ाने वाला है जिस ज्ञान को विद्वान् लोग अन्य मनुष्यों के आगे उपदेश करके उन को आनन्दित कर देते हैं (यस्त्वैवं ब्राह्मणो०) जो मनुष्य इस प्रकार से ब्रह्म को जानता है उसी विद्वान् के सब मन आदि इन्द्रिय वश में हो जाते हैं अन्य के नहीं ॥ २१ ॥

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम् । इष्णन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण ॥ २२ ॥ य० अ० ३१ ॥

भाष्यम् ॥

(श्रीश्च ते०) हे परमेश्वर ते तव (श्रीः) सर्वा शोभा (लक्ष्मीः) शुभलक्षणवती धनादिश्च द्वे प्रिये पत्न्यौ पत्नीवत्सेवमाने स्तः । तथाहोरात्रे द्वे ते तव

(पार्श्वे०) पार्श्ववत्स्तः । ये कालचक्रस्य कारणभूतस्यापि कक्षावयववद्वर्त्तेते सूर्य्याचन्द्रमसौ नेत्रे वा तथैव नक्षत्राणि तत्रैव सामर्थ्यस्यादिकारणस्यावयवाः सन्ति तत्त्वयि रूपवदस्ति । अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ तत्रैव (व्यात्तम्) विकाशितं मुखमिव वर्त्तते । तथैव यत् किंचित्सौन्दर्यगुणयुक्तं वस्तु जगति वर्त्तते तदपि रूपं तत्रैव सामर्थ्याज्जातमिति जानीमः । हे विराडधिकरणेश्वर मे ममामुं परलोकं मोक्षाख्यं पदं कृपाकटाक्षेण (इष्णन्) इच्छन्सन् (इषाण) स्वेच्छया निष्पादय तथा सर्वलोकं सर्वलोकसुखं सर्वलोकराज्यं वा मदर्थं कृपया त्वमिषाणेच्छ स्वाराज्यं सिद्धं कुरु । एवमेव सर्वाः शोभा लक्ष्मीश्च शुभलक्षणवतीः सर्वाः क्रिया मे मदर्थमिषाण हे भगवन् पुरुष पूर्णपरमेश्वर सर्वशक्तिमन् ! कृपया सर्वान् शुभान् गुणान् मह्यं देहि । दुष्टानशुभदोषांश्च विनाशय सद्यः स्वानुग्रहेण सर्वोत्तमगुणभाजनं मां भवान्करोत्विति ॥ अत्र प्रमाणानि ॥ श्रीर्हि पशवः ॥ श० कां० १ । अ० ८ ॥ श्रीर्वै सोमः ॥ श० कां० ४ । अ० १ ॥ श्रीर्वै राष्ट्रं श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः ॥ श० कां० १३ । अ० १ ॥ लक्ष्मीर्लाभाद्वा लक्षणाद्वा लक्ष्यमानाद्वा लाञ्छनाद्वा लपतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मणो लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः शिमे इत्युपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः ॥ नि० अ० ४ । खं० १० ॥ अत्र श्रीलक्ष्म्योः पूर्वोक्तयोरर्थसंगतिरस्तीति बोध्यम् ॥ २ ॥

इति पुरुषसूक्तव्याख्या समाप्ता ॥

भाषार्थ ॥

(श्रीश्च ते) हे परमेश्वर ! जो आप की अनन्त शोभारूप श्री और जो अनन्त शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मी है वे दोनों स्त्री के समान हैं अर्थात् जैसे स्त्री पति की सेवा करती है इसी प्रकार आप की सेवा आप ही को प्राप्त होती है क्योंकि आपने ही सब जगत् को शोभा और शुभलक्षणों से युक्त कर रक्खा है परन्तु ये सब शोभा और सत्यभाषणादि धर्म के लक्षणों से लाभ ये दोनों आपकी ही सेवा के लिये हैं । सब पदार्थ ईश्वर के आधीन होने से उसके विषय में यह पत्नी शब्द को रूपकालङ्कार से वर्णन किया है वैसे ही जो दिन और रात्रि ये दोनों बगल के समान हैं तथा सूर्य्य और चन्द्र भी दोनों आप के बगल के समान वा नेत्रस्थानी हैं और जितने ये नक्षत्र हैं वे आप के रूपस्थानी हैं और द्यौः जो सूर्य्य आदि का प्रकाश और विद्युत् अर्थात् बिजुली ये दोनों मुखस्थानी हैं तथा ओठ के तुल्य और जैसा खुला मुख होता है इसी प्रकार पृथिवी

और सूर्य्यलोक के बीच में जो पोल है सो मुख के सदृश है (इष्णन्) हे परमेश्वर ! आप की दया से (अमुं) परलोक जो मोक्षसुख है उस को हम लोग प्राप्त होते हैं । इस प्रकार की कृपादृष्टि से हमारे लिये इच्छा करो तथा मैं सब संसार में सब गुणों से युक्त होके सब लोकों के सुखों का अधिकारी जैसे होऊं वैसी कृपा और इस जगत् में मुझ को सर्वोत्तम शोभा और लक्ष्मी से युक्त सदा कीजिये । यह आप से हमारी प्रार्थना है सो आप कृपा से पूरी कीजिये ॥ २२ ॥

इति पुरुषसूक्तव्याख्या समाप्त ॥

यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् । कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत्तद्बभूव ॥ १ ॥ अथर्व० कां० १० । अनु० ४ । मं० ८ ॥ देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः ॥ २ ॥ अथर्व० कां० ११ । प्रपा० २४ । अनु० ४ । मं० २७ ॥

भाष्यम् ॥

(यत्परम०) यत्परमं सर्वोत्कृष्टं प्रकृत्यादिकं जगत् । यच्च (अवमं) निकृष्टं तृणमृत्तिका क्षुद्रकृमिकीटादिकं चास्ति (यच्च म०) यन्मनुष्यदेहाद्याकाशपर्य्यन्तं मध्यमं च तत्त्रिविधं सर्वं जगत् प्रजापतिरेव (ससृजे वि०) स्वसामर्थ्यरूपकारणात् उत्पादितवानस्ति ॥ योऽस्य जगतो विविधं रूपं सृष्टवानस्ति (कियता०) एतस्मिंस्त्रिविधे जगति स्कम्भः प्रजापतिः स परमेश्वरः कियता सम्बन्धेन प्रविवेश न चैतत् परमेश्वरे (यन्न०) यत्त्रिविधं जगन्नप्राविशत् तत् कियद्बभूव । तदिदं जगत् परमेश्वरापेक्षयाल्पमेवास्तीति ॥ १ ॥ (देवाः०) देवा विद्वांसः सूर्य्यादयो लोकाश्च पितरो ज्ञानिनः मनुष्या मननशीलाः गन्धर्वा गानविद्याविदः सूर्य्यादयो वा अप्सरस एतेषां स्त्रियश्च ये चापि जगति मनुष्यादिजातिगणा वर्त्तन्ते ते सर्वे उच्छिष्टात्सर्वस्मादूर्ध्वं शिष्टात्परमेश्वरात्तत्सामर्थ्याच्च जज्ञिरे जाताः सन्ति । ये (दिवि देवाः दिविश्रिताः) दिवि देवाः सूर्य्यादयो लोका ये च दिविश्रिताश्चन्द्रपृथिव्यादयो लोकास्तेपि सर्वे तस्मादेवोत्पन्ना इति । इत्यादयो मन्त्रा एतद्विषया वेदेषु बहवः सन्ति ॥

इति संक्षेपतः सृष्टिविद्याविषयः समाप्तः ॥

भाषार्थ ॥

(यत्परम०) जो उत्तम मध्यम और नीच स्वभाव से तीन प्रकार का जगत् है उस सब को परमेश्वर ने ही रचा है उस ने इस जगत् में नाना प्रकार की रचना की है और एक वही इस सब रचना को यथावत् जानता है और इस जगत् में जो कोई विद्वान् होते हैं वे भी कुछ २ परमेश्वर की रचना के गुणों को जानते हैं वह परमेश्वर सब को रचता है और आप रचना में कभी नहीं आता ॥ १ ॥ (देवाः पितरो०) विद्वान् अर्थात् पण्डित लोग और सूर्य्य लोक भी (ज्ञानिनः) अर्थात् यथार्थविद्या को जानने वाले (मनुष्याः) अर्थात् विचार करने वाले (गन्धर्वाः) अर्थात् गानविद्या के जानने वाले सूर्य्यादि लोक और (अप्सरसः) अर्थात् इन सब की स्त्रियां ये सब लोग और दूसरे लोग भी उसी ईश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं (दिवि देवाः) अर्थात् जो प्रकाश करने वाले और प्रकाशस्वरूप सूर्य्यादि लोक और (दिविश्रिताः) अर्थात् चन्द्र और पृथिवी आदि प्रकाशरहित लोक वे भी उसी के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं ॥ २ ॥ वेदों में इस प्रकार के सृष्टिविधान करनेवाले मन्त्र बहुत हैं परन्तु ग्रन्थ अधिक न हो जाय इसलिये सृष्टिविषय संक्षेप से लिखा है ॥

इति सृष्टिविद्याविषयः ॥

अथ पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः ॥

अथेदं विचार्य्यते पृथिव्यादयो लोका भ्रमन्त्याहोस्विन्नेति । अत्रोच्यते । वेदादिशास्त्रोक्तरीत्या पृथिव्यादयो लोकाः सर्वे भ्रमन्त्येव । तत्र पृथिव्यादिभ्रमणविषये प्रमाणम् ॥

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ १ ॥ यजु० अ० ३ । मं० ६ ॥

भाष्यम् ॥

अस्याभि०–आयंगौरित्यादिमन्त्रेषु पृथिव्यादयो हि सर्वे लोका भ्रमन्त्येवेति विज्ञेयम् ॥ (आयंगौः०) आयंगौः पृथिवीगोलः सूर्य्यश्चन्द्रोऽन्यो लोको वा पृश्निमन्तरिक्षमाक्रमीदाक्रमणं कुर्वन् सन् गच्छतीति तथाऽन्येपि । तत्र पृथिवीमातरं समुद्रजलमसदत् समुद्रजलं प्राप्ता सती । तथा (स्वः) सूर्य्यं पितरम-

ग्निमयं च । पुरः पूर्वं पूर्वं प्रयन्सन् सूर्यस्य परितो याति । एवमेव सूर्य्यो वायुं पितरमाकाशं मातरं च । तथा चन्द्रोऽग्निं पितरमपो मातरं प्रतिचेति योजनीयम् ॥ अत्र प्रमाणानि । गौः ग्मा ज्मेत्याद्येकविंशतिषु पृथिवीनामसु गौरिति पठितं यास्ककृते निघण्टौ । तथाच । स्वः । पृश्निः । नाकइति षट्सु साधारणनामसु पृश्निरित्यन्तरिक्षस्य नामोक्तम् ॥ निरुक्ते । गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद्दूरंगता भवति यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति ॥ निरु० अ० २ । खं० ५ ॥ गौरादित्यो भवति गमयति रसान् गच्छत्यन्तरिक्षेऽथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधिदूरंगता भवति यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति ॥ निरु० अ० २ । खं० १४ ॥ सूर्यरश्मिश्चन्द्रमागन्धर्व इत्यपि निगमो भवति सोपि गौरुच्यते ॥ निरु० अ० २ । खं० ६ ॥ स्वरादित्यो भवति ॥ निरु० अ० २ । खं० १४ ॥ गच्छति प्रतिक्षणं भ्रमति या सा गौः पृथिवी । अद्भ्यः पृथिवीति तैत्तिरीयोपनिषदि । यस्माद्यज्जायते सोऽर्थस्तस्य मातापितृवद् भवति । तथा स्वः शब्देनादित्यस्य ग्रहणात् पितुर्विशेषणत्वादादित्योऽस्याः पितृवदिति निश्चीयते । यद्दूरंगता दूरंदूरं सूर्य्याद्गच्छतीति विज्ञेयम् । एवमेव सर्वे लोकाः स्वस्य स्वस्य कक्षायां वाय्वात्मनेश्वरसत्तया च धारिताः सन्तो भ्रमन्तीति सिद्धान्तो बोध्यः ॥

भाषार्थ ॥

अब सृष्टिविद्याविषय के पश्चात् पृथिवी आदि लोक घूमते हैं वा नहीं इस विषय में लिखा जाता है । इस में यह सिद्धान्त है कि वेदशास्त्रों के प्रमाण और युक्ति से भी पृथिवी और सूर्य्य आदि सब लोक घूमते हैं ! इस विषय में यह प्रमाण है ॥

(आयं गौः०) गौ नाम है पृथिवी सूर्य्य चन्द्रमादि लोकों का, वे सब अपनी २ परिधि में अन्तरिक्ष के मध्य में सदा घूमते रहते हैं परन्तु जो जल है सो पृथिवी की माता के समान है क्योंकि पृथिवी जल के परमाणुओं के साथ अपने परमाणुओं के संयोग से ही उत्पन्न हुई है और मेघमण्डल के जल के बीच में गर्भ के समान सदा रहती है और सूर्य्य उस के पिता के समान है इस से सूर्य के चारों ओर घूमती है इसी प्रकार सूर्य का पिता वायु और आकाश माता तथा चन्द्रमा का अग्नि पिता और जल माता उन के प्रति वे घूमते हैं । इसी प्रकार से सब लोक अपनी २ कक्षा में सदा घूमते हैं इस विषय का संस्कृत में निघण्टु और निरुक्त का प्रमाण लिखा है उस को देख लेना । इसी प्रकार सूत्रात्मा

जो वायु है उस के आधार और आकर्षण से सब लोकों का धारण और भ्रमण होता है तथा परमेश्वर अपने सामर्थ्य से पृथिवी आदि सब लोकों का धारण भ्रमण और पालन कर रहा है ॥ १ ॥

या गौर्वर्त्तनिं पर्य्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः ।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ॥ २ ॥
ऋ० अ० ८ । अ० २ । व० १० । मं० १ ॥

भाष्यम् ॥

(या गौर्वर्त्तनिं०) या पूर्वोक्ता गौर्वर्त्तनिं स्वकीयमार्गं (अवारतः) निरन्तरं भ्रमती सती पर्य्येति । विवस्वतेऽर्थात्सूर्य्यस्य * परितः सर्वतः स्वस्वमार्गं गच्छति । (निष्कृतं) कथंभूतं मार्गं तत्तद्गमनार्थमीश्वरेण (निष्कृतं) निष्पादितम् । (पयो दुहाना०) अवारतो निरन्तरं पयोदुहानाऽनेकरसफलादिभिः प्राणिनः प्रपूरयती । तथा व्रतनी व्रतं स्वकीयभ्रमणादिसत्यनियमं प्रापयन्ती (सा प्र०) दाशुषे दानकर्त्रे वरुणाय श्रेष्ठकर्मकारिणे देवेभ्यो विद्वद्भ्यश्च हविषा हविर्दानेन सर्वाणि सुखानि दाशत् ददाति किं कुर्वती प्रब्रुवाणा सर्वप्राणिनां व्यक्तवाण्या हेतुभूता सतीयं वर्त्तत इति ॥ २ ॥

भाषार्थ ॥

(या गौर्व०) जिस २ का नाम गौ कह आये हैं सो २ लोक अपने २ मार्ग में घूमता और पृथिवी अपनी कक्षा में सूर्य्य के चारों ओर घूमती है अर्थात् परमेश्वर ने जिस २ के घूमने के लिये जो २ मार्ग निष्कृत अर्थात् निश्चय किया है उस २ मार्ग में सब लोक घूमते हैं (पयो दुहाना०) वह गौ अनेक प्रकार के रस फल फूल तृण और अन्नादि पदार्थों से सब प्राणियों को निरन्तर पूर्ण करती है तथा अपने २ घूमने के मार्ग में सब लोक सदा घूमते २ नियम ही से प्राप्त होरहे हैं (सा प्रब्रुवाणा०) जो विद्यादि उत्तम गुणों का देनेवाला परमेश्वर है उसी के जानने के लिये सब जगत् दृष्टान्त है और जो विद्वान् लोग हैं उन को उत्तम पदार्थों के दान से अनेक सुखों को भूमि देती और पृथिवी सूर्य्य वायु और चन्द्रादि गौ ही सब प्राणियों की वाणी का निमित्त भी है ॥ २ ॥

* सुपांसुलुगिति सूत्रेण विवस्वत इति प्राप्ते विवस्वते चेति पद जायते ॥

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ । तस्मै त इन्द्रो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ३ ॥ ऋ० अ० ६ । अ० ४ । व० १३ । मं० ३ ॥

भाष्यम् ॥

(त्वं सोम०) अस्याभि०—अस्मिन्मन्त्रे चन्द्रलोकः पृथिवीमनुभ्रमतीत्ययं विशेषोऽस्ति । अयं सोमश्चन्द्रलोकः पितृभिः पितृवत्पालकैर्गुणैः सह संविदानः सम्यक् ज्ञातः सन् भूमिमनुभ्रमति । कदाचित्सूर्य्यपृथिव्योर्मध्येऽपि भ्रमन्सन्नागच्छ-तीत्यर्थः अस्यार्थं भाष्यकरणसमये स्पष्टतया वक्ष्यामि । तथा द्यावापृथिवी एजेते इति मन्त्रवर्णार्थो द्यौः सूर्य्यः पृथिवी च भ्रमतश्चलत इत्यर्थः । अर्थात्स्वस्यां स्वस्यां कक्षायां सर्वे लोका भ्रमन्तीति सिद्धम् ॥ ३ ॥

इति पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः संक्षेपतः ॥

भाषार्थ ॥

(त्वं सोम०) इस मन्त्र में यह बात है कि चन्द्रलोक पृथिवी के चारों ओर घूमता है कभी २ सूर्य और पृथिवी के बीच में भी आजाता है । इस मन्त्र का अर्थ अच्छी तरह से भाष्य में करेंगे तथा (द्यावापृथिवी) यह बहुत मन्त्रों में पाठ है कि द्यौः नाम प्रकाश करने वाले सूर्य आदि लोक और जो प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोक हैं वे सब अपनी २ कक्षा में सदा घूमते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि सब लोक भ्रमण करते हैं ॥३॥

इति संक्षेपतः पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः ॥

अथाकर्षणानुकर्षणविषयः ॥

यदा ते हर्य्यता हरी वावृधाते दिवेदिवे । आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ १ ॥ ऋ० अ० ६ । अ० १ । व० ६ । मं० ३ ॥

भाष्यम् ॥

(यदा ते०) अस्याभि०—सूर्य्येण सह सर्वेषां लोकानामाकर्षणमस्तीश्वरेण सह सूर्य्यादिलोकानां चेति । हे इन्द्रेश्वर वा वायो सूर्य्य यदा यस्मिन्काले

ते हरी आकर्षणप्रकाशनहरणशीलौ बलपराक्रमगुणावश्वौ किरणौ वा हर्य्यता हर्य्यतौ प्रकाशवन्तावत्यन्तं वर्धमानौ भवतस्ताभ्यां (आदित्) तदनन्तरं (दिवेदिवे) प्रतिदिनं प्रतिक्षणं च ते तव गुणाः प्रकाशाकर्षणादयो (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सर्वान् लोकानाकर्षणेन येमिरे नियमेन धारयन्ति। अतःकारणात्सर्वे लोकाः स्वां स्वां कक्षां विहायेतस्ततो नैव विचलन्तीति ॥ १ ॥

भाषार्थ ॥

(यदा ते०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब लोकों के साथ सूर्य्य का आकर्षण और सूर्य्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण है (यदा ते०) हे इन्द्र परमेश्वर ! आप के अनन्त बल और पराक्रमगुणों से सब संसार का धारण आकर्षण और पालन होता है, आप के ही सब गुण सूर्य्यादि लोकों को धारण करते हैं इस कारण से सब लोक अपनी २ कक्षा और स्थान से इधर उधर चलायमान नहीं होते। दूसरा अर्थ इन्द्र जो वायु सूर्य्य है इस में ईश्वर के रचे आकर्षण प्रकाश और बल आदि बड़े २ गुण हैं उन से सब लोकों का दिन २ और क्षण २ के प्रति धारण आकर्षण और प्रकाश होता है इस हेतु से सब लोक अपनी २ ही कक्षा में चलते रहते हैं, इधर उधर विचल भी नहीं सकते ॥ १ ॥

यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे । आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ २ ॥ ऋ० अ० ६ । अ० १ । व० ६ । मं० ४ ॥

भाष्यम् ॥

(यदा ते मारुती०) अस्याभिप्रा०—अत्रापि पूर्वमन्त्रवदाकर्षणविद्यास्तीति । हे पूर्वोक्तेन्द्र ! यदा ते तव मारुतीर्मारुत्यो मरणधर्माणो मरुत्प्रधाना वा विशः प्रजास्तुभ्यं येमिरे तवाकर्षणधारणनियमं प्राप्नुवन्ति तदैव सर्वाणि विश्वानि भुवनानि स्थितिं लभन्ते । तथा तवैव गुणैर्नियेमिरे । आकर्षणनियमं प्राप्नुवन्ति सन्ति । अतएव सर्वाणि भुवनानि यथाकक्षं भ्रमन्ति वसन्ति च ॥ २ ॥

भाषार्थ ॥

(यदा ते मारुती०) अभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षण विद्या है । हे परमेश्वर ! आप की जो प्रजा उत्पत्ति स्थिति और प्रलयधर्मवाली और जिसमें वायु प्रधान है वह आप

के आकर्षणादि नियमों से तथा सूर्य्य लोक के आकर्षण करके भी स्थिर हो रही है। जब इन प्रजाओं को आप के गुण नियम में रखते हैं तभी भुवन अर्थात् सब लोक अपनी २ कक्षा में घूमते और स्थान में बस रहे हैं ॥ २ ॥

यदा सूर्यमुमुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः। आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ ३ ॥ ऋ० अ० ६। अ० १। व० ६। मं० ५ ॥

भाष्यम् ॥

(यदा सूर्य०) अभि०—अत्रापि पूर्ववदभिप्रायः। हे परमेश्वरामुं सूर्य्यं भवान् रचितवानस्ति। यद्दिवि द्योतनात्मके त्वयि शुक्रमनन्तं सामर्थ्यं ज्योतिः प्रकाशमयं वर्त्तते तेन त्वं सूर्य्यादिलोकानधारयो धारितवानसि। (आदित्ते) तदनन्तरं (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सूर्य्यादयो लोका अपि (येमिरे) तदाकर्षणनियमेनैव स्थिराणि सन्ति। अर्थाद्यथा सूर्यस्याकर्षणेन पृथिव्यादयो लोकास्तिष्ठन्ति। तथा परमेश्वरस्याकर्षणेनैव सूर्यादयः सर्वे लोका नियमेन सह वर्त्तन्त इति ॥ ३ ॥

भाषार्थ ॥

(यदा सूर्य्य०) अभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षण विचार है। हे परमेश्वर! जब उन सूर्य्यादि लोकों को आप ने रचा और आप के ही प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं और आप अपने अनन्त सामर्थ्य से उन का धारण कर रहे हो इसी कारण से सूर्य्य और पृथिवी आदि लोकों और अपने स्वरूप को धारण कर रहे हैं इन सूर्य्य आदि लोकों का सब लोकों के साथ आकर्षण से धारण होना है इससे यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर सब लोकों का आकर्षण और धारण कर रहा है ॥ ३ ॥

व्यस्तभ्नाद्रोदसी मित्रो अद्भुतोऽन्तर्वावदकृणोज्ज्योतिषा तमः। विचर्मणीव धिषणे अवर्त्तयद्वैश्वानरो विश्वमधत्त वृष्ण्यम् ॥ ४ ॥ ऋ० अ० ४। अ० ५। व० १०। मं० ३ ॥

भाष्यम् ॥

(व्यस्तभ्नाद्रोदसी०) अभि०—परमेश्वरसूर्यलोकौ सर्वांल्लोकानाकर्षणप्रकाशाभ्यां धारयत इति। हे परमेश्वर! तव सामर्थ्येनैव वैश्वानरः पूर्वोक्तः

सूर्य्यादिलोको रोदसी द्यावापृथिव्यौ भूमिप्रकाशौ व्यस्तभ्नात्स्तम्भितवानस्ति। अतो भवान् मित्र इव सर्वेषां लोकानां व्यवस्थापकोऽस्ति। अद्भुत आश्चर्य्यस्वरूपः स सवितादिलोको ज्योतिषा तमोऽन्तरकृणोत्तिरोहितं निवारितं तमः करोति। वावत्तथैव धिषणे धारणकर्त्र्यौ द्यावापृथिव्यौ धारणाकर्षणेन व्यवर्त्तयत्। विविधतयैतयोर्वर्त्तमानं कारयति। कस्मिन्निव चर्मण्याकर्षितानि लोमानीव। यथा त्वचि लोमानि स्थितान्याकर्षितानि भवन्ति तथैव सूर्य्यादिबलाकर्षणेन सर्वे लोकाः स्थापिताः सन्तीति विज्ञेयम्। अतः किमागतं वृष्ण्यं वीर्य्यवद्विश्वं सर्वं जगच्च सूर्य्यादिलोको धारयति सूर्य्यादेर्धारणमीश्वरः करोतीति ॥ ४ ॥

भाषार्थ ॥

(व्यस्तभ्नाद्रोदसी०) अभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षणविचार है। हे परमेश्वर! आप के प्रकाश से ही वैश्वानर सूर्य्य आदि लोकों का धारण और प्रकाश होता है, इस हेतु से सूर्य्य आदि लोक भी अपने २ आकर्षण से आप और पृथिवी आदि लोकों का भी धारण करने में समर्थ होते हैं इस कारण से आप सब लोकों के परममित्र और स्थापन करनेवाले हैं और आप का सामर्थ्य अत्यन्त आश्चर्यरूप है। सो सविता आदि लोक अपने प्रकाश से अन्धकार को निवृत्त कर देते हैं तथा प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप इन दोनों लोकों का समुदाय धारण और आकर्षण व्यवहार में वर्त्तते हैं इस हेतु से इन से नानाप्रकार का व्यवहार सिद्ध होता है। वह आकर्षण किस प्रकार से है कि जैसे त्वचा में लोमों का आकर्षण हो रहा है वैसे ही सूर्य्य आदि लोकों के आकर्षण के साथ सब लोकों का आकर्षण हो रहा है और परमेश्वर भी इन सूर्य्य आदि लोकों का आकर्षण कर रहा है ॥ ४ ॥

आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च। हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ १ ॥ य० अ० ३३। मं० ४३ ॥

भाष्यम् ॥

(आकृष्णेन०) अभि०—अत्राप्याकर्षणविद्यास्तीति। सविता परमात्मा सूर्य्यलोको वा रजसा सर्वैर्लोकैः सहाकृष्णेनाकर्षणगुणेन सह वर्त्तमानोऽस्ति।

कथंभूतेन गुणेन हिरण्ययेन ज्योतिर्मयेन । पुनः कथंभूतेन रमणानन्दादिव्यवहारसाधकज्ञानतेजोरूपेण रथेन किं कुर्वन् सन्मर्त्यं मनुष्यलोकममृतं सत्यविज्ञानं किरणसमूहं वा स्वस्वकक्षायां निवेशयन्व्यवस्थापयन्सन् । तथा च मर्त्यं पृथिव्यात्मकं लोकं प्रत्यमृतं मोक्षमोषध्यात्मकं वृष्ट्यादिकं रसं च प्रवेशयन्सन्सूर्यो वर्त्तमानोऽस्ति । स च सूर्यो देवो द्योतनात्मको भुवनानि सर्वान् लोकान्धारयति । तथा पश्यन्दर्शयन्सन् रूपादिकं विभक्तं याति प्रापयतीत्यर्थः । अस्मात्पूर्वमन्त्राद् द्युभिरक्तुभिरिति पदानुवर्त्तनात्सूर्यो द्युभिः सर्वैर्दिवसैरक्तुभिः सर्वाभी रात्रिभिश्चार्थात्सर्वांल्लोकान्प्रतिक्षणमाकर्षतीति गम्यते । एवं सर्वेषु लोकेष्वात्मिका स्वा स्वाप्याकर्षणशक्तिरस्त्येव । तथानन्ताकर्षणशक्तिस्तु खलु परमेश्वरेस्तीति मन्तव्यम् । रजोलोकानां नामास्ति । अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्याः । लोका रजांस्युच्यन्ते ॥ निरु० अ० ४ । खं० १६ ॥ रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य रममाणोऽस्मिँस्तिष्ठतीति वा रयतेर्वा रसतेर्वा ॥ निरु० अ० ६ । खं० ११ ॥ विश्वानरस्यादित्यस्य ॥ निरु० अ० १२ । खं० २१ ॥ अतो रथशब्देन रमणानन्दकरं ज्ञानं तेजो गृह्यते । इत्यादयो मन्त्रा वेदेषु धारणाकर्षणविधायका बहवः सन्तीति बोध्यम् ॥ १ ॥

भाषार्थ ॥

(आकृष्णेन०) अभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षण विद्या है । सविता जो परमात्मा वायु और सूर्य लोक हैं वे सब लोकों के साथ आकर्षण धारण गुण से सहित वर्त्तते हैं सो हिरण्यय अर्थात् अनन्त बल ज्ञान और तेज से सहित (रथेन) आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करने के योग्य ज्ञान और तेज से युक्त हैं इस में परमेश्वर सब जीवों के हृदयों में अमृत अर्थात् सत्य विज्ञान को सदैव प्रकाश करता है और सूर्यलोक भी रस आदि पदार्थों को मर्त्य अर्थात् मनुष्य लोक में प्रवेश कराता और सब लोकों को व्यवस्था से अपने २ स्थान में रखता है वैसे ही परमेश्वर धर्मात्मा ज्ञानी लोगों को अमृतरूप मोक्ष देता और सूर्य लोक भी रसयुक्त जो ओषधि और वृष्टि के अमृतरूप जल को पृथिवी में प्रविष्ट करता है सो परमेश्वर सत्य असत्य का प्रकाश और सब लोकों का प्रकाश करके सब को जनाता है तथा सूर्यलोक भी रूपादि का विभाग दिखलाता है । इस मन्त्र से पहिले मन्त्र में (द्युभिरक्तुभिः) इस पद से यही अर्थ आता है कि दिन रात अर्थात् सब समय में सब लोकों के साथ सूर्य लोक का और सूर्य आदि लोकों के साथ

परमेश्वर का आकर्षण हो रहा है तथा सब लोकों में ईश्वर ही की रचना से अपना २ आकर्षण है और परमेश्वर की तो आकर्षणरूप शक्ति अनन्त है। यहां लोकों का नाम रज है और रथ शब्द के अनेक अर्थ हैं इस कारण से कि जिससे रमण और आनन्द की प्राप्ति होती है उस को रथ कहते हैं। इस विषय में निरुक्त का प्रमाण इसी मन्त्र के भाष्य में लिखा है सो देखलेना। ऐसे धारण और आकर्षणविद्या के सिद्ध करने वाले मन्त्र वेदों में बहुत हैं ॥ १ ॥

इति धारणाकर्षणविषयः संक्षेपतः ॥

अथ प्रकाश्यप्रकाशकविषयः संक्षेपतः ॥

सूर्येण चन्द्रादयः प्रकाशिता भवन्तीत्यत्र विषये विचारः ॥

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्य्येणोत्तभिता द्यौः ॥ ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः ॥ १ ॥ सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही ॥ अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १४ । अनु० १ । मं० । १ । २ ॥ कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः ॥ किᳬ स्विद्धिमस्य भेषजं किं वा वपनं महत् ॥ ३ ॥ सूर्य्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः ॥ अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥ ४ ॥ य० २३ । मं० ९ । १० ॥

भाष्यम् ॥

(सत्येनो०) एषामभि०–अत्र चन्द्रपृथिव्यादिलोकानां सूर्य्यः प्रकाशकोऽस्तीति। इयं भूमिः सत्येन नित्यस्वरूपेण ब्रह्मणोत्तभितोर्ध्वमाकाशमध्ये धारितास्ति वायुना सूर्य्येण च (सूर्य्येण०) तथा द्यौः सर्वः प्रकाशः सूर्य्येणोत्तभितो धारितः (ऋतेन०) कालेन सूर्य्येण वायुना वाऽऽदित्या द्वादश मासाः किरणास्त्रसरेण्वो बलवन्तः सन्तो वा तिष्ठन्ति (दिवि सोमो अधिश्रितः) एवं दिवि द्योतनात्मके सूर्य्यप्रकाशे सोमश्चन्द्रमा अधिश्रित आश्रितः सन्प्रकाशितो भवति अर्थाच्चन्द्रलोकादिषु स्वकीयः प्रकाशो नास्ति। सर्वे चन्द्रादयो लोकाः सूर्य्यप्र-

काशेनैव प्रकाशिता भवन्तीति वेद्यम् ॥ १ ॥ (सोमेनादित्या०) सोमेन चन्द्र-लोकेन सहादित्याः किरणाः संयुज्य ततो निवृत्य च भूमिं प्राप्य बलिनो बलं कर्तुं शीला भवन्ति तेषां बलप्रापकशीलत्वात् । तद्यथा । यावन्तोऽन्तरिक्षदेशे सूर्यप्रकाशस्यावरणं पृथिवी करोति तावति देशेऽधिकं शीतलत्वं भवति । तत्र सूर्यकिरणपतनाभावात्तदभावे चोष्णत्वाभावात्ते बलकारिणो बलवन्तो भवन्ति । सोमेन चन्द्रमसः प्रकाशेन सोमाद्योषध्यादिना च पृथिवी मही बलवती पुष्टा भवति । अथो इत्यनन्तरमेषां नक्षत्राणामुपस्थे समीपे चन्द्रमा आहितः स्थापितः सन्वर्त्तत इति विज्ञेयम् ॥ २ ॥ (कः स्वि०) को ह्येकाकी ब्रह्माण्डे चरति । कोऽत्र स्वेनैव स्वयं प्रकाशितः सन् भवतीति । कः पुनः प्रकाशितो जायते हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधं किमस्ति । तथा बीजारोपणार्थं महत् क्षेत्र-मिव किमत्र भवतीति प्रश्नाश्चत्वारः ॥ ३ ॥ एषां क्रमेणोत्तराणि । (सूर्य्य एकाकी०) अस्मिन्संसारे सूर्य्य एकाकी चरति स्वयं प्रकाशमानः सन्नन्यान्स-र्वान् लोकान् प्रकाशयति तस्यैव प्रकाशेन चन्द्रमा पुनः प्रकाशितो जायते नहि चन्द्रमसि स्वतः प्रकाशः कश्चिदस्तीति । अग्निर्हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधम-स्तीति । भूमिर्महदावपनं बीजारोपणादेरधिकरणं क्षेत्रं चेति वेदेष्वेतद्विषयप्रति-पादका एवंभूता मन्त्रा बहवः सन्ति ॥ ४ ॥

इति प्रकाश्यप्रकाशकविषयः ॥

भाषार्थ ॥

(सत्येनो०) इन मन्त्रों में यही विषय और उनका यही प्रयोजन है कि लोक दो प्रकार के होते हैं । एक तो प्रकाश करने वाले और दूसरे वे जो प्रकाश किये जाते हैं अर्थात् सत्यस्वरूप परमेश्वर ने ही अपने सामर्थ्य से सूर्य्य आदि सब लोकों को धारण किया है, उसी के सामर्थ्य से सूर्य्यलोक ने भी अन्य लोकों का धारण और प्रकाश किया है तथा ऋत अर्थात् काल महीने सूर्य किरण और वायु ने भी सूक्ष्म स्थूल त्रसरेणु आदि पदार्थों का यथावत् धारण किया है (दिवि सोमो०) इसी प्रकार दिवि अर्थात् सूर्य के प्रकाश में चन्द्रमा प्रकाशित होता है उस में जितना प्रकाश है सो सूर्य आदि लोक का ही है और ईश्वर का प्रकाश तो सब में है परन्तु चन्द्र आदि लोकों में अपना प्रकाश नहीं है किन्तु सूर्य आदि लोकों से ही चन्द्र और पृथिव्यादि लोक प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १ ॥ (सोमेनादित्या०) जब आदित्य की किरण चन्द्रमा के साथ युक्त होके उससे

उलट कर भूमि को प्राप्त हो के बलवाली होती हैं तभी वे शीतल भी होती हैं क्योंकि आकाश के जिस २ देश में सूर्य के प्रकाश को पृथिवी की छाया रोकती है उस २ देश में शीत भी अधिक होता है जिस २ देश में सूर्य की किरण तिरछी पड़ती है उस २ देश में गर्मी भी कमती होती है फिर गर्मी के कम होने और शीतलता के अधिक होने से सब मूर्त्तिमान् पदार्थों के परमाणु जम जाते हैं उन को जमने से पुष्टि होती है और जब उन के बीच में सूर्य्य की तेजरूप किरण पड़ती है तब उन में से भाफ उठती है उन- के योग से किरण भी बलवाली होती हैं जैसे जल में सूर्य्य का प्रतिबिम्ब अत्यन्त चमकता है और चन्द्रमा के प्रकाश और वायु से सोमलता आदि ओषधियां भी पुष्ट होती हैं और उन से पृथिवी पुष्ट होती है इसीलिये ईश्वर ने नक्षत्र लोकों के समीप चन्द्रमा को स्थापित किया है ॥ २ ॥ (कः स्वि०) इस मन्त्र में चार प्रश्न हैं उन के बीच में से पहिला (प्रश्न) कौन एकाकी अर्थात् अकेला विचरता और अपने प्रकाश से प्रकाश- वाला है ? (दूसरा) कौन दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होता है ? (तीसरा) शीत का औषध क्या है और (चौथा) कौन बड़ा क्षेत्र अर्थात् स्थूलपदार्थ रखने का स्थान है ? ॥ ३ ॥ इन चारों प्रश्नों का क्रम से उत्तर देते हैं (सूर्य एकाकी०) (१) इस संसार में सूर्य्य ही एकाकी अर्थात् अकेला विचरता और अपनी ही कील पर घूमता है तथा प्रकाशस्वरूप होकर सब लोकों का प्रकाश करने वाला है ॥ (२) उसी सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है ॥ (३) शीत का औषध अग्नि है और चौथा यह है पृथिवी साकार चीज़ों के रखने का स्थान तथा सब बीज बोने का बड़ा खेत है ॥ (४) वेदों में इस विषय के सिद्ध करने वाले मन्त्र बहुत हैं उन में से यहां एक देशमात्र लिखदिया है वेदभाष्य में सब विषय विस्तारपूर्वक आजावेंगे ॥ ४ ॥

इति संक्षेपतः प्रकाश्यप्रकाशकविषयः ॥

अथ गणितविद्याविषयः ॥

एका॑ च मे ति॒स्रश्च॑ मे ति॒स्रश्च॑ मे॒ पञ्च॑ च मे॒ पञ्च॑ च मे स॒प्त च॑ मे स॒प्त च॑ मे॒ नव॑ च मे॒ नव॑ च म॒ एका॑दश च म॒ एका॑दश च मे॒ त्र॒यो॑दश च मे॒ त्र॒यो॑दश च मे॒ पञ्च॑दश च मे॒ पञ्च॑दश च मे स॒प्तद॑श च मे स॒प्तद॑श च मे॒ नव॑दश च मे॒ नव॑दश च म॒ एक॑विꣳशतिश्च म॒ एक॑विꣳशतिश्च मे॒ त्र॒यो॑विꣳशतिश्च मे॒ त्र॒यो॑विꣳशतिश्च मे॒ पञ्च॑विꣳशतिश्च

मे पञ्चविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च म एकत्रिंशच्च म एकत्रिंशच्च मे त्रयस्त्रिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १ ॥ चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विंशतिश्च मे विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मेऽष्टाविंशतिश्च मेऽष्टाविंशतिश्च मे द्वात्रिंशच्च मे द्वात्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मेऽष्टाचत्वारिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २ ॥ य० अ० १८ । मं० २४ । २५ ॥

भाष्यम् ।

भा०—अनयोर्मन्त्रयोर्मध्ये खल्वीश्वरेणाङ्कबीजरेखागणितं प्रकाशितमिति (एका०) एकार्थस्य या वाचिका संख्यास्ति (१) सैकेन युक्ता द्वौ भवतः (२) यत्र द्वावेकेन युक्तौ सा त्रित्ववाचिका (३) ॥ १ ॥ द्वाभ्यां द्वौ युक्तौ चत्वारः (४) एवं तिसृभिस्त्रित्वसंख्यायुक्ता षट् (६) एवमेव चतस्रश्च मे पञ्च च मे इत्यादिषु परस्परं संयोगादिक्रिययाऽनेकविधाङ्कगणितविद्या सिध्यति। अन्यत्खल्वत्रानेकचकाराणां पाठादनुक्तैरनेकविधा गणितविद्याः सन्तीति वेद्यम्। सेयं गणितविद्या वेदाङ्गे ज्योतिषशास्त्रे प्रसिद्धास्त्यतो नात्र लिख्यते। परन्त्वीदृशा मन्त्रा ज्योतिषशास्त्रस्थगणितविद्याया मूलमिति विज्ञायते। इयमङ्कसंख्या निश्चितेषु संख्यातपदार्थेषु प्रवर्त्तते ये चाज्ञातसंख्याः पदार्थास्तेषां विज्ञानार्थं बीजगणितं प्रवर्त्तते। तदपि विधानमेका चेति। अ—क इत्यादिसंकेतेनैतन्मन्त्रादिभ्यो बीजगणितं निःसरतीत्यवधेयम् ॥ २ ॥

"अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये ॥ नि होता सत्सि बर्हिषि" ॥ १ ॥ साम० छं० । प्र० १ । खं० १ ॥

यथैका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धेतिन्यायेन स्वरसङ्केताङ्कैर्बीजगणितमपि सा-ध्यत इति बोध्यम् एवं गणितविद्याया रेखागणितं तृतीयो भागः सोऽप्यत्रोच्यते ॥

भाषार्थ ॥

(एकाचमे०) इन मन्त्रों में यही प्रयोजन है कि अङ्क बीज और रेखा भेद से जो तीन प्रकार की गणितविद्या सिद्ध की हैं इन में से प्रथम अङ्क जो संख्या है (१) सो दो बार गणने से दो की वाचक होती है जैसे १+१=२ ऐसे ही एक के आगे एक तथा एक के आगे दो वा दो के आगे एक आदि जोड़ने से भी समझ लेना। इसी प्रकार एक के साथ तीन जोड़ने से चार (४) तथा तीन को तीन(३) के साथ जोड़ने से ६ अथवा तीन को तीन से गुणने से ३×३=९ हुए ॥ १ ॥ इसी प्रकार चार के साथ चार, पांच के साथ पांच, छः के साथ छः, आठ के साथ आठ इत्यादि जोड़ने वा गुणने तथा सब मन्त्रों के आशय को फैलाने से सब गणितविद्या निकलती हैं जैसे पांच के साथ पांच (५५) वैसे ही पांच २ छः २ (५५) (६६) इत्यादि जान लेना चाहिये ऐसे ही इन मन्त्रों के अर्थों को आगे योजना करने से अङ्कों से अनेक प्रकार की गणितविद्या सिद्ध होती है क्योंकि इन मन्त्रों के अर्थ और अनेक प्रकार के प्रयोगों से मनुष्यों को अनेक प्रकार की गणितविद्या अवश्य जाननी चाहिये और जो कि वेदों का अङ्ग ज्योतिषशास्त्र कहाता है उसमें भी इसी प्रकार के मन्त्रों के अभिप्राय से गणितविद्या सिद्ध की है और अङ्कों से जो गणितविद्या निकलती है वह निश्चित और असंख्यात पदार्थों में युक्त होती है और अज्ञात पदार्थों की संख्या जानने के लिये जो बीजगणित होता है सो भी (एकाचमे०) इत्यादि मन्त्रों ही से सिद्ध होता है जैसे (अ३+क३) (अ३−क३) (क३÷थ३) इत्यादि संकेत से निकलता है यह भी वेदों ही से ऋषि मुनियों ने निकाला है और इसी प्रकार से तीसरा भाग जो रेखागणित है सो भी वेदों ही से सिद्ध होता है ॥ २ ॥ (अ३ग्नै आ०) इस मन्त्र के संकेतों से भी बीजगणित निकलता है ॥

इ॒यं वेदि॒: परो॒ अन्त॑: पृथि॒व्या अ॒यं य॒ज्ञो भुव॑नस्य॒ नाभि॑: । अ॒यꣳ सोमो॒ वृष्णो॒ अश्व॑स्य॒ रेतो॑ ब्र॒ह्मायं वा॒चः प॑र॒मं व्यो॑म ॥ ३ ॥ य० अ० २३ । मं० ६२ ॥ कासी॑त् प्र॒मा प्र॑ति॒मा किं नि॒दान॒माज्यं॒ किमा॑सी-

त् परिधिः क आसीत् । छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ॥ ४ ॥ ऋ० अ० ८ । अ० ७ । व० १८ । मं० ३ ॥

भाष्यम् ॥

(इयं वेदिः) अभिप्रा०—अत्र मन्त्रयो रेखागणितं प्रकाशयत इति । इयं या वेदिस्त्रिकोणा चतुरस्रा श्येनाकारा वर्तुलाकारादियुक्ता क्रियतेऽस्या वेदेराकृत्या रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते । एवं पृथिव्याः परोऽन्तो यो भागोऽर्थात्सर्वतः सूत्रवेष्टनवदस्ति स परिधिरित्युच्यते । यश्चायं यज्ञो हि संगमनीयो रेखागणिते मध्यो व्यासाख्यो मध्यरेखाख्यश्च सोयं भुवनस्य भूगोलस्य ब्रह्माण्डस्य वा नाभिरस्ति ॥ (अयध्ंसो०) सोमलोकोऽप्येवमेव परिध्यादियुक्तोऽस्ति (वृष्णो अश्व०) वृष्टिकर्त्तुः सूर्यस्याग्नेर्वायोर्वा वेगहेतोरपि परिध्यादिकं तथैवास्ति । (रेतः) तेषां वीर्यमोषधिरूपेण सामर्थ्यार्थं विस्तृतमप्यस्तीति वेद्यम् ॥ (ब्रह्मायं वा०) यद् ब्रह्मास्ति तद्वाण्याः (परमं व्योम) अर्थात्परिधिरूपेणान्तर्बहिः स्थितमस्ति ॥ ३ ॥ (कासीत् प्रमा) यथार्थज्ञानं यथार्थज्ञानवान् तत्साधिका बुद्धिः कासीत् सर्वस्येति शेषः । एवम् (प्रतिमा) प्रतिमीयतेऽनया सा प्रतिमा यया परिमाणं क्रियते सा कासीत् । एवमेवास्य (निदानम्) कारणं किमस्ति । (आज्यम्) ज्ञातव्यं घृतवत्सारभूतं चास्मिन् जगति किमासीत् सर्वदुःखनिवारकमानन्देन स्निग्धं सारभूतं च (परिधिः क०) तथास्य सर्वस्य विश्वस्य पृष्ठावरणं (क आसीत्) । गोलस्य पदार्थस्योपरि सर्वतः सूत्रवेष्टनं कृत्वा यावती रेखा लभ्यते-स परिधिरित्युच्यते । (छन्दः०) स्वच्छन्दं स्वतन्त्रं वस्तु (किमासीत्) (प्रउगं) प्रहोक्थं स्तोतव्यं (किमासीत्) इति प्रश्नाः । एषामुत्तराणि । (यद्देवा दे०) यत् यं देवं परमेश्वरं विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसः (अयजन्त) समपूजयन्त पूजयन्ति पूजयिष्यन्ति च स एव सर्वस्य (प्रमा) यथार्थतया ज्ञातास्ति (प्रतिमा) परिमाणकर्त्ता । एवमेवाग्रेपि पूर्वोक्तोर्थो योजनीयः अत्रापि परिधिशब्देन रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते । सेयं विद्या ज्योतिष्शास्त्रे विस्तरश उक्तास्ति । एवमेतद्विषयप्रतिपादका अपि वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति ॥

इति संक्षेपतो गणितविद्याविषयः ॥

भाषार्थ ॥

(इयं वेदिः०) अमित्रा०—इन मन्त्रों में रेखागणित का प्रकाश किया है क्योंकि वेदी की रचना में रेखागणित का भी उपदेश है जैसे तिकोन चौकोन श्येन पक्षी के आकार और गोल आदि जो वेदी का आकार किया जाता है सो आर्य्यों ने रेखागणित ही का दृष्टान्त माना था क्योंकि (परो अन्तः पृ०) पृथिवी का जो चारों ओर घेरा है उस को परिधि और ऊपर से अन्त तक जो पृथिवी की रेखा है उस को व्यास कहते हैं इसी प्रकार से इन मन्त्रों में आदि, मध्य और अन्त आदि रेखाओं को भी जानना चाहिये और इसी रीति से तिर्यक् विषुवत् रेखा आदि भी निकलती हैं ॥ ३ ॥ (कासीत्प्र०) अर्थात् यथार्थज्ञान क्या है ? (प्रतिमा) जिससे पदार्थों का तोल किया जाय सो क्या चीज है ? (निदानम्) अर्थात् कारण जिससे कार्य उत्पन्न होता है वह क्या चीज है ? (आज्यं) जगत् में जानने के योग्य सारभूत क्या है ? (परिधिः०) परिधि किसको कहते हैं ? (छन्दः) स्वतन्त्र वस्तु क्या है ? (प्रउ०) प्रयोग और शब्दों से स्तुति करने के योग्य क्या है ? इन सात प्रश्नों का उत्तर यथावत् दिया जाता है (यद्देवा देव०) जिसको सब विद्वान् लोग पूजते हैं वही परमेश्वर प्रमा आदि नाम वाला है इन मन्त्रों में भी प्रमा और परिधि आदि शब्दों से रेखागणित साधने का उपदेश परमात्मा ने किया है सो यह तीन प्रकार की गणितविद्या आर्य्यों ने वेदों से ही सिद्ध की है और इसी आर्य्यावर्त्त देश से सर्वत्र भूगोल में गई है ॥

इति संक्षेपतो गणितविद्याविषयः ॥

अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणोपासनाविद्याविषयः ॥

स्तुतिविषयस्तु यो भूतं चेत्यारभ्योक्तो वक्ष्यते च । अथेदानीं प्रार्थनाविषय उच्यते ॥

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्य्यमसि वीर्य्यं मयि धेहि बलमसि बलं मयि धेहि । ओजोऽस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ १ ॥ य० अ० १९ । मं० ९ ॥ मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम् । अस्माकᳪ सन्त्वाशिषः

सत्या नः सन्त्वाशिषः ॥ २ ॥ य० अ० २ । मं० १० ॥ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ ३ ॥ य० अ० ३२ । मं० १४ ॥

भाष्यम् ॥

भाषि०—तेजोसीत्यादिमन्त्रेषु परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनादिविषयाः प्रकाश्यन्त इति बोध्यम् (तेजोसि०) हे परमेश्वर त्वं वीर्यमस्यनन्तविद्यादिगुणैः प्रकाशमयोसि मय्यप्यसंख्यातं तेजो विज्ञानं धेहि (वीर्यमसि०) हे परमेश्वर त्वं वीर्यमस्यनन्तपराक्रमवानसि कृपया मय्यपि शरीरबुद्धिशौर्य्यस्फूर्त्त्यादि वीर्यं पराक्रमं स्थिरं निधेहि (बलम०) हे महाबलेश्वर त्वमनन्तबलमसि मय्यप्यनुग्रहत उत्तमं बलं धेहि स्थापय (ओजो०) हे परमेश्वर त्वमोजोसि मय्यप्योजः सत्यं विद्याबलं धेहि (मन्युरसि०) हे परमेश्वर त्वं मन्युर्दुष्टान्प्रतिक्रोधकृदसि मय्यपि स्वसत्तया दुष्टान्प्रति मन्युं धेहि (सहोसि०) सहनशीलेश्वर त्वं सहोसि मय्यपि सुखदुःखयुद्धादिसहनं धेहि । एवं कृपयैतदादिशुभान्गुणान्मह्यं देहीत्यर्थः ॥ १ ॥ (मयीदमिन्द्र०) हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् परमात्मन् मयि मदात्मनि श्रोत्रादिकं मनश्च सर्वोत्तमं भवान् दधातु । तथाऽस्मांश्च पोषयतु अर्थात् सर्वोत्तमैः पदार्थैः सह वर्त्तमानानस्मान्सदा कृपया करोतु पालयतु च (अस्मान् रायो०) तथा नोस्मभ्यं मघं परमं विज्ञानादिधनं विद्यते यस्मिन् स मघवा भवान् स परमोत्तमं राज्यादिधनमस्मदर्थं दधातु (सचन्तां०) सचतां तत्र चास्मान् समवेतान्करोतु । तथा भवन्त उत्तमेषु गुणेषु सचन्तां समवेता भवन्त्वितीश्वराऽऽज्ञास्ति (अस्माकश्सन्तु०) तथा हे भगवन् त्वत्कृपयाऽस्माकं सर्वा आशिष इच्छाः सर्वदा सत्या भवन्तु मा काश्चिदस्माकं चक्रवर्त्ति राज्यानुशासनादय आशिष इच्छा मोघा भवेयुः ॥ २ ॥ (याम्मेधां०) हे अग्ने परमेश्वर परमोत्तमया मेधया धारणावत्या बुद्ध्या सह (मा) मां मेधाविनं सर्वदा कुरु का मेधेत्युच्यते (देवगणाः) विद्वत्समूहाः पितरो, विज्ञानिनश्च यामुपासते (तया०) तया मेधया (अद्य) वर्त्तमानदिने मां सर्वदा युक्तं कुरु संपादय (स्वाहा) अत्र स्वाहाशब्दार्थे प्रमाणं निरुक्तकारा आहुः । स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत्सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा ।

तासामेषा भवति ॥ निरु० अ० ८ । खं० २० ॥ स्वाहा शब्दस्यायमर्थः । (सु आहेति वा) (सु) सुष्ठु कोमलं मधुरं कल्याणकरं प्रियं वचनं सर्वैर्मनुष्यैः सदा वक्तव्यं (स्वावागाहेति वा) या ज्ञानमध्ये स्वकीया वाग्वर्त्तते सा यदाह तदेव वागिन्द्रियेण सर्वदा वाच्यम् । (स्वं प्राहेति वा) स्वं स्वकीयपदार्थं प्रत्येव स्वत्वं वाच्यं न परपदार्थं प्रतिचेति (स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा) सुष्ठुरीत्या संस्कृत्य २ हविः सदा होतव्यमिति स्वाहाशब्दपर्य्यायार्थाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ ॥

अब गणितविद्याविषय के पश्चात् तेजोसीत्यादि मन्त्रों में केवल ईश्वर की प्रार्थना याचना समर्पण और उपासनाविषय है सो आगे लिखा जाता है, परन्तु जानना चाहिये कि स्तुतिविषय तो (यो भूतं च०) इत्यादि मन्त्रों में कुछ २ लिख दिया है और आगे भी कुछ लिखेंगे यहां पहिले प्रार्थनाविषय लिखते हैं (तेजोऽसि०) अर्थात् हे परमेश्वर! आप प्रकाशरूप हैं मेरे हृदय में भी कृपा से विज्ञानरूप प्रकाश कीजिये (वीर्य्यमसि०) हे जगदीश्वर! आप अनन्तपराक्रम वाले हैं मुझको भी पूर्ण पराक्रम दीजिये (बलमसि०) हे अनन्त बलवाले महेश्वर! आप अपने अनुग्रह से मुझको भी शरीर और आत्मा में पूर्ण बल दीजिये (ओजो०) हे सर्वशक्तिमन्! आप सब सामर्थ्य के निवासस्थान हैं अपनी करुणा से यथोचित सामर्थ्य का निवासस्थान मुझको भी कीजिये (मन्युरसि०) हे दुष्टों पर क्रोध करने हारे! आप दुष्ट कामों और दुष्ट जीवों पर क्रोध करने का स्वभाव मुझमें भी रखिये (सहोसि०) हे सब के सहन करनेहारे ईश्वर! आप जैसे पृथिवी आदि लोकों के धारण और नास्तिकों के दुष्टव्यवहारों को सहते हैं वैसे ही सुख दुःख हानि लाभ सरदी गरमी भूख प्यास और युद्ध आदि का सहने वाला मुझ को भी कीजिये अर्थात् सब शुभगुण मुझ को देके अशुभ गुणों से सदा अलग रखिये ॥ १ ॥ (मयीदमिन्द्र०) हे उत्तम ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वर! आप अपनी कृपा से श्रोत्र आदि उत्तम इन्द्रिय और श्रेष्ठ स्वभाववाले मन को मुझ में स्थिर कीजिये अर्थात् हम को उत्तम गुण और पदार्थों के सहित सब दिन के लिये कीजिये (अस्मान् रा०) हे परमधनवाले ईश्वर! आप उत्तम राज्य आदि धनवाले हम को सदा के लिये कीजिये (सचन्तां०) मनुष्यों के लिये ईश्वर की यह आज्ञा है कि हे मनुष्यो! तुम लोग सब काल में सब प्रकार से उत्तम गुणों का ग्रहण और उत्तम ही कर्मों

का सेवन सदा करते रहो (अस्माकꣳस०) हे भगवन् ! आपकी कृपा से हम लोगों की सब इच्छा सर्वदा सत्य ही होती रहें तथा सदा सत्य ही कर्म करने की इच्छा हो, किन्तु चक्रवर्त्ती राज्य आदि बड़े २ काम करने की योग्यता हमारे बीच में स्थिर कीजिये ॥ २ ॥ (याम्मेधाम्०.) इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि हे परमात्मन् ! आप अपनी कृपा से जो अत्यन्त उत्तम सत्यविद्यादि शुभगुणों को धारण करने के योग्य बुद्धि है उस से युक्त हम लोगों को कीजिये कि जिस के प्रताप से देव अर्थात् विद्वान् और पितर अर्थात् ज्ञानी होके हम लोग आप की उपासना सब दिन करते रहें (स्वाहा०) इस शब्द का अर्थ निरुक्तकार यास्कमुनिजी ने अनेक प्रकार से कहा है सो लिखते हैं कि (सु आहेति वा) सब मनुष्यों को अच्छा मीठा कल्याण करने वाला और प्रिय वचन सदा बोलना चाहिये (स्वा वागाहेति वा) अर्थात् मनुष्यों को यह निश्चय करके जानना चाहिये कि जैसी बात उन के ज्ञान के बीच में वर्त्तमान हो जीभ से भी सदा वैसा ही बोलें उससे विपरीत नहीं (स्वं प्राहेति वा०) सब मनुष्य अपने ही पदार्थ को अपना कहें दूसरे के पदार्थ को कभी नहीं अर्थात् जितना २ धर्मयुक्त पुरुषार्थ से उनको पदार्थ प्राप्त हो उतने ही में सदा सन्तोष करें (स्वाहुतं ह०) अर्थात् सर्व दिन अच्छी प्रकार सुगन्धादि द्रव्यों का संस्कार करके सब जगत् के उपकार करने वाले होम को किया करें और स्वाहा शब्द का यह भी अर्थ है कि सब दिन मिथ्यावाद को छोड़ के सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ३ ॥

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे । युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥ ४ ॥ ऋ० अ० १ । अ० ३ । व० १८ । मं० २ ॥ इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व । धर्मासि सुधर्मा मे न्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय ॥ ५ ॥ य० अ० ३८ । मं० १४ ॥ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति । दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ६ ॥ य० अ० ३४ । मं० १ ॥ वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे० ॥

भाष्यम् ॥

(स्थिरा वः०) अभि०—ईश्वरो जीवेभ्य आशीर्ददातीति विज्ञेयम् । हे मनुष्या वो युष्माकं (आयुधा) आयुधान्याग्नेयास्त्रादीनि शतघ्नीभुशुण्डीधनुर्बाणासयादीनि शस्त्राणि च (स्थिरा) मदनुग्रहेण स्थिराणि सन्तु । (पराणुदे) दुष्टानां शत्रूणां पराजयाय युष्माकं विजयाय च सन्तु । तथा (वीळू) अत्यन्तदृढानि प्रशंसितानि च । (उत) एवं शत्रुसेनाया अपि (प्रतिष्कभे) प्रतिष्टम्भनाय पराङ्मुखतया पराजयकरणाय च सन्तु । तथा (युष्माकमस्तु तविषी०) युष्माकं तविषी सेनाऽत्यन्तप्रशंसनीया बलं चास्तु येन युष्माकं चक्रवर्त्ति राज्यं स्थिरं स्याद्दुष्टकर्मकारिणां युष्मद्विरोधिनां शत्रूणां पराजयश्च सदा भवेत् (मा मर्त्त्यस्य मा०) परन्त्वयमाशीर्वादः सत्यकर्मानुष्ठानिभ्यो हि ददामि । किन्तु मायिनोऽन्यायकारिणो मर्त्यस्य मनुष्यस्य च कदाचिन् मास्तु । अर्थान्नैव दुष्टकर्मकारिभ्यो मनुष्येभ्योऽहमाशीर्वादं कदाचिद्ददामीत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥ (इषे पिन्वस्व०) हे भगवन् इषे उत्तमेच्छायै परमोत्कृष्टायान्नाय चास्मान् त्वं पिन्वस्व स्वतन्त्रतया सदैव पुष्टिमतः प्रसन्नान् कुरु (ऊर्जे०) वेदविद्याविज्ञानग्रहणाय परमप्रयत्नकारिणो ब्राह्मणवर्णयोग्यान् कृत्वा सदा पिन्वस्व दृढोत्साहयुक्तानस्मान् कुरु (क्षत्रा०) क्षत्राय साम्राज्याय पिन्वस्व परमवीरवतः क्षत्रियस्वभावयुक्तान् चक्रवर्त्तिराज्यसहितानस्मान् कुरु (द्यावापृ०) एवं यथा द्यावापृथिवीभ्यां सूर्य्याग्निभूम्यादिभ्यः पदार्थेभ्यः सर्वजगते प्रकाशोपकारौ भवतः तथैव कलाकौशलयानचालनादिविद्यां गृहीत्वा सर्वमनुष्योपकारं वयं कुर्मः, एतदर्थमस्मान् पिन्वस्वोत्तमप्रयत्नवतः कुरु । (धर्मासि०) हे सुधर्म परमेश्वर ! त्वं धर्मासि न्यायकार्यसि अस्मानपि न्यायधर्मयुक्तान् कुरु । (अमेनि०) हे सर्वहितकारकेश्वर यथा त्वममेनिर्निर्वैरोसि तथाऽस्मानपि सर्वमित्रान्निर्वैरान् कुरु । यथा (अस्मे) अस्मदर्थं (नृम्णानि) कृपया सुराज्यसुनियमसुरत्नादीनि धारय । एवमेवास्माकं (ब्रह्म०) वेदविद्यां ब्राह्मणवर्णं च धारय (क्षत्रं०) राज्यं क्षत्रियवर्णं च धारय (विशम्०) वैश्यवर्णं प्रजां च धारय । अर्थात्सर्वोत्तमान् गुणानस्मान्निष्ठान् कुर्विति प्रार्थ्यते याच्यते च भवान् तस्मात् सर्वामस्मदिच्छां सम्पूर्णां संपादयेति ॥ ५ ॥ (यज्जाग्रतोदू०) यन् मनो जाग्रतो मनुष्यस्य दूरमुदैति सर्वेषामिन्द्रियाणामुपरि वर्त्तमानत्वादधिष्ठातृत्वेन

व्याप्नोति (दैवम्) तदेव ज्ञानादिदिव्यगुणयुक्तं (तदु०) तत उ इति निश्चये सुप्तस्य पुरुषस्य (तथैव) तेनैव प्रकारेण स्वप्ने दिव्यपदार्थद्रष्टृ (एति) प्राप्नोति, एवं सुषुप्तौ च दिव्यानन्दयुक्तं भवति। तथा (दूरंगमम्) अत्यन्तदूरगमनशीलमस्ति (ज्योतिषां ज्योति०) ज्योतिषामिन्द्रियाणां सूर्यादीनां च ज्योतिः सर्वपदार्थप्रकाशकं (एकम्) असहायं मनोऽस्ति। हे ईश्वर भवत्कृपया (तन्मे०) तत् मे मम मनः मननशीलं सत् शिवसंकल्पं कल्याणप्रियं शुभगुणप्रियमस्तु ॥ ६ ॥ एवमेव राजधर्म इत्यादयो विषया अनेकैर्मन्त्रैः सर्वेश्वरशरणं परमेश्वरेण कर्त्तव्यानि वेदे विहितम्। अतः सर्वैर्मनुष्यैरिमानि धर्मकार्याणि मोक्षपर्यन्तानीश्वराज्ञानुष्ठितव्यानीति सिद्धम् ॥

भाषार्थ ॥

(स्थिरा वः०) इस मन्त्र में ईश्वर सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि हे मनुष्यो ! तुम लोग सब काल में उत्तम बलवाले हो किन्तु तुम्हारे (आयुधा) अर्थात् आग्नेयादि अस्त्र और (शतघ्नी) तोप (भुशुण्डी) बन्दूक धनुष् बाण और तलवार आदि शस्त्र सब स्थिर हों तथा (पराणुदे) मेरी कृपा से तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं के पराजय करने के योग्य होवें (वीळू) तथा वे अत्यन्त दृढ़ और प्रशंसा करने के योग्य होवें (उत प्रतिष्कभे०) अर्थात् तुम्हारे शस्त्र और अस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं की सेना के वेग थांभने के लिये प्रबल हों तथा (युष्माकमस्तु०) हे मनुष्यो ! तुम्हारी (तविषी०) अर्थात् सेना अत्यन्त प्रशंसा के योग्य हो जिससे तुम्हारा अखण्डित बल और चक्रवर्त्ति राज्य स्थिर होकर दुष्ट शत्रुओं का सदा पराजय होता रहे (मा मर्त्यस्य०) परन्तु यह मेरा आशीर्वाद केवल धर्मात्मा न्यायकारी और श्रेष्ठ मनुष्यों के लिये है और जो (मायि०) अर्थात् कपटी छली अन्यायकारी और दुष्ट मनुष्य हैं उन के लिये नहीं किन्तु ऐसे मनुष्यों का तो सदा पराजय ही होता रहेगा इसलिये तुम लोग सदा धर्मकार्यों ही को करते रहो ॥ ४ ॥ (इषे पिन्वस्व०) हे भगवन् (इषे) हमारी शुभ कर्म करने ही की इच्छा हो और हमारे शरीरों को उत्तम अन्न से सदा पुष्टियुक्त रखिये (ऊर्जे०) अर्थात् अपनी कृपा से हम को सदा उत्तम पराक्रमयुक्त और दृढ़ प्रयत्न वाले कीजिये (ब्रह्मणे०) सत्य शास्त्र अर्थात् वेदविद्या के पढ़ने पढ़ाने और उस से यथावत् उपकार लेने में हम को अत्यन्त समर्थ कीजिये अर्थात् जिससे हम लोग उत्तम विद्यादि गुणों और कर्मों करके

ब्राह्मणवर्ण हों (क्षत्रम०) हे परमेश्वर ! आपके अनुग्रह से हम लोग चक्रवर्त्तिराज्य और शूरवीर पुरुषों की सेना से युक्त हों कि क्षत्रियवर्ण के अधिकारी हम को कीजिये (द्यावापृ०) जैसे पृथिवी सूर्य अग्नि जल और वायु आदि पदार्थों से सब जगत् का प्रकाश और उपकार होता है वैसे ही कला कौशल विमान आदि यान चलाने के लिये हम को उत्तम सुखसहित कीजिये कि जिस से हम लोग सब सृष्टि के उपकार करने वाले हों (धर्मासि०) हे सुवर्त्तन् न्याय करनेहारे ईश्वर आप न्यायकारी हैं वैसे हम को भी न्यायकारी कीजिये (अमे०) हे भगवन् ! जैसे आप निर्वैर होके सब से वर्त्तते हो वैसे ही सब से वैररहित हम को भी कीजिये (अस्मे०) हे परमकारुणिक ! हमारे लिये (नृम्णानि) उत्तम राज्य उत्तम धन और शुभगुण दीजिये (ब्रह्म०) हे परमेश्वर ! आप ब्राह्मणों को हमारे बीच में उत्तमविद्यायुक्त कीजिये (क्षत्रम्०) हम को अत्यन्त चतुर शूरवीर और क्षत्रियवर्ण का अधिकारी कीजिये (विशम्०) अर्थात् वैश्यवर्ण और हमारी प्रजा का रक्षण सदा कीजिये कि जिससे हम शुभगुणवाले होकर अत्यन्त पुरुषार्थी हों ॥ ५ ॥ (यज्जाग्रतो०) हे सर्वव्यापक जगदीश्वर ! जैसे जाग्रत अवस्था में मेरा मन दूर २ घूमने वाला सब इन्द्रियों का स्वामी तथा (दैवम्०) ज्ञान आदि दिव्यगुणों वाला और प्रकाशस्वरूप रहता है वैसे ही (तदुसु०) निद्रा अवस्था में भी शुद्ध और आनन्दयुक्त रहे (ज्योतिषां०) जो प्रकाश का भी प्रकाश करनेवाला और एक है (तन्मे०) हे परमेश्वर ! ऐसा जो मेरा मन है सो आप की कृपा से (शिवस०) कल्याण करनेवाला और शुद्धस्वभावयुक्त हो जिससे अधर्मकार्मों में कभी प्रवृत्त न हो ॥ ६ ॥ इसी प्रकार से (वाजश्च मे०) इत्यादि शुक्ल यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय में मन्त्र, ईश्वर के अर्थ सर्वस्वसमर्पण करने के ही विधान में हैं अर्थात् सब से उत्तम मोक्षसुख से लेके अन्न जल पर्यन्त सब पदार्थों की याचना मनुष्यों को केवल ईश्वर ही से करनी चाहिये ॥

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬं श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् । स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरं च ॥ स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम वेट् स्वाहा ॥ ७ ॥ य० अ० १८ । मं० २९ ॥

भाष्यम् ॥

(आयुर्यज्ञेन०) यज्ञो वै विष्णुः ॥ श० १ । २ । १३ ॥ वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं जगत् स विष्णुरीश्वरः हे मनुष्यास्तेन यज्ञेनेश्वरप्राप्त्यर्थं सर्वं स्वकीयमायुः कल्पतामिति । यदस्मदीयमायुरस्ति तदीश्वरेण कल्पतां परमेश्वराय समर्पितं भवतु । एवमेव (प्राणः) (चक्षुः) (वाक्) वाणी (मनः) मननं ज्ञानं (आत्मा) (जीवः) (ब्रह्मा) चतुर्वेदज्ञाता यज्ञानुष्ठानकर्त्ता (ज्योतिः) सूर्यादिप्रकाशः (धर्मः) न्यायः (स्वः) (सुखं) (पृष्ठं) भूम्याद्यधिकरणं (यज्ञो०) अश्वमेधादिः शिल्पक्रियामयो वा (स्तोमः) स्तुतिसमूहः (यजुः) यजुर्वेदाध्ययनम् (ऋक्) ऋग्वेदाध्ययनम् (साम) सामवेदाध्ययनम्, चकारादथर्ववेदाध्ययनं च (बृहच्च रथन्तरं च) महत्क्रियासिद्धिफलभोगः शिल्पविद्याजन्यं वस्तु चास्मदीयमेतत्सर्वं परमेश्वराय समर्पितमस्तु येन वयं कृतज्ञाः स्याम । एवं कृते परमकारुणिकः परमेश्वरः सर्वोत्तमं सुखमस्मभ्यं दद्यात् येन वयं (स्वर्देवा०) सुखे प्रकाशिताः (अमृता) परमानन्दम्मोक्षं (अगन्म) सर्वदा प्राप्ता भवेम । तथा (प्रजापते प्र०) वयं परमेश्वरस्यैव प्रजा (अभूम) अर्थात्परमेश्वरं विहायान्यमनुष्यं राजानं नैव कदाचिन्मन्यामहे इति । एवं जाते (वेट् स्वाहा०) सदा वयं सत्यं वदामो भवदाज्ञाकरणे परमप्रयत्नत उत्साहवन्तोऽभूम भवेम मा कदाचिद्भवदाज्ञाविरोधिनो वयमभूम किन्तु भवत्सेवायां सदैव प्रुवव-द्वर्त्तेमहि ॥ ७ ॥

भाषार्थ ॥

(आयुर्यज्ञेन०) यज्ञ नाम विष्णु का है जो कि सब जगत् में व्यापक हो रहा है उसी परमेश्वर के अर्थ सब चीज़ समर्पण कर देना चाहिये । इस विषय में यह मन्त्र है कि सब मनुष्य अपनी आयु को ईश्वर की सेवा और उसकी आज्ञापालन में समर्पित करें (प्राणो०) अर्थात् अपना प्राण भी ईश्वर के अर्थ करदेवें (चक्षु०) जो प्रत्यक्ष प्रमाण और आंख (श्रोत्रं) जो श्रवण विद्या और शब्द प्रमाणादि (वाक्०) वाणी (मनो०) मन और विज्ञान (आत्मा०) जीव (ब्रह्मा) तथा चारों वेद को पढ़ के जो पुरुषार्थ किया है (ज्योतिः०)

जो प्रकाश (स्वर्ग०) जो सब सुख (पृष्ठम्०) जो उत्तम कर्मों का फल और स्थान (यज्ञो०) जो कि पूर्वोक्त तीन प्रकार का यज्ञ किया जाता है ये सब ईश्वर की प्रसन्नता के अर्थ समर्पित कर देना अवश्य हैं (स्तोमश्च०) जो स्तुति का समूह (यजुश्च०) सब क्रियाओं की विद्या (ऋक् च०) ऋग्वेद अर्थात् स्तुति स्तोत्र (साम च०) सब गान करने की विद्या (बृहद्रथ०) अथर्ववेद (बृहच्च०) बड़े २ सब पदार्थ और (रथन्तरं च०) शिल्पविद्या आदि के फलों में से जो २ फल अपने आधीन हों वे सब परमेश्वर के समर्पण कर देवें क्योंकि सब वस्तु ईश्वर ही की बनाई हैं इस प्रकार से जो मनुष्य अपनी सब चीजें परमेश्वर के अर्थ समर्पित कर देता है उसके लिये परमकारुणिक परमात्मा सब सुख देता है इसमें संदेह नहीं (स्वर्देवा०) अर्थात् परमात्मा की कृपा की लहर और परमप्रकाशरूप विज्ञानप्राप्ति में शुद्ध होके तथा सब संसार के बीच में कीर्त्तिमान् होके हम लोग परमानन्दस्वरूप मोक्षसुख को (अगन्म०) सब दिन के लिये प्राप्त हों (प्रजापतेः०) तथा हम सब मनुष्य लोगों को उचित है कि किसी एक मनुष्य को अपना राजा न मानें क्योंकि ऐसा अभागी कौन मनुष्य है कि जो सर्वज्ञ न्यायकारी सब के पिता एक परमेश्वर को छोड़ के दूसरे की उपासना करे और राजा माने, इसलिये हम लोग उसीको अपना राजा मान के सत्य न्याय को प्राप्त हों अर्थात् वही सब मनुष्यों के न्याय करने में समर्थ है अन्य कोई नहीं (वेट् स्वाहा) अर्थात् हम लोग सर्वज्ञ सत्यस्वरूप सत्यन्याय करने वाले परमेश्वर राजा की अपने सत्यभाव से प्रजा हो के यथावत् सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने में समर्थ होवें। सब मनुष्यों को परमेश्वर से इस प्रकार की आशा करना उचित है कि हे कृपानिधे! आप की आज्ञा और भक्ति से हम लोग परस्पर विरोधी कभी न हों किन्तु आप और सब के साथ सदा पिता पुत्र के समान प्रेम से वर्त्तें ॥ ७ ॥

अथोपासनाविषयः संक्षेपतः ॥

युञ्जते मन॑ उ॒त यु॑ञ्जते॒ धियो॒ विप्रा॒ विप्र॑स्य बृह॒तो वि॑प॒श्चितः॑। वि होत्रा॑ दधे वयुना॒विदेक॒ इन्म॒ही दे॒वस्य॑ सवि॒तुः परि॑ष्टुतिः ॥ १ ॥ ऋ० अ० ४। अ० ४। व० २४ ॥ मं० १ ॥ यु॒ञ्जा॒नः प्र॑थ॒मं मन॑स्त॒त्त्वाय॑ सवि॒ता धिय॑म्। अ॒ग्नेर्ज्योति॑र्नि॒चाय्य॑ पृथि॒व्या अध्याभ॑रत् ॥ २ ॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे ॥ स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ ३ ॥ युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम् ॥ बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ ४ ॥ युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः ॥ शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥ य० अ० ११ । मं० १ । २ । ३ । ४ । ५ ॥

भाष्यम् ॥

(युञ्जते०) अस्याभि०—अत्र जीवेन सदा परमेश्वरस्यैवोपासना कर्त्तव्येति विधीयते (विप्राः) ईश्वरस्योपासका मेधाविनः (होत्राः) योगिनो मनुष्याः (विप्रस्य०) सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य मध्ये (मनः) (युञ्जते) युक्तं कुर्वन्ति (उत) अपि धिया बुद्धिवृत्तिस्तस्यैव मध्ये युञ्जते । कथंभूतः स परमेश्वरः सर्वमिदं जगत् यः (विदधे) विदधे तथा (वयुनावि०) सर्वेषां - जीवानां शुभाशुभानि यानि प्रज्ञानानि प्रजाश्च तानि यो वेद स वयुनावित् (एकः) स एकोऽद्वितीयोस्ति (इत्) सर्वत्र व्याप्तो ज्ञानस्वरूपश्च नास्मात्परं उत्तमः कश्चित् पदार्थो वर्त्तत इति । तस्य (देवस्य) सर्वजगत्प्रकाशकस्य (सवितुः) सर्वजगदुत्पादकस्येश्वरस्य सर्वैर्मनुष्यैः (परिष्टुतिः) परितः सर्वतः स्तुतिः कार्या कथंभूता स्तुतिः (मही) महतीत्यर्थः एवंकृते सति जीवाः परमेश्वरमुपगच्छन्तीति ॥ १ ॥ (युञ्जानो) योगं कुर्वाणः सन् (तत्त्वाय) ब्रह्मादितत्त्वज्ञानाय प्रथमं मनो युञ्जानः सन् योस्ति तस्य धियं (सविता) कृपया परमेश्वरः स्वस्मिन्नुपयुङ्क्ते (अग्नेर्ज्योतिः) यतोऽग्नेरीश्वरस्य (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूपं (निचाय्य) यथावद् निश्चित्य (अध्याभरत्) स योगी स्वात्मनि परमात्मानं धारितवान् भवेत्, इदमेव पृथिव्या मध्ये योगिन उपासकस्य लक्षणमिति वेदितव्यम् ॥ २ ॥ सर्वे मनुष्या एवमिच्छेयुः (स्वर्ग्याय०) मोक्षसुखाय (शक्त्या) योगबलोन्नत्या (देवस्य) स्वप्रकाशस्यानन्दप्रदस्य (सवितुः) सर्वान्तर्यामिनः परमेश्वरस्य (सवे) अनन्तैश्वर्ये (युक्तेन मनसा०) योगयुक्तेन शुद्धान्तःकरणेन वयं सदोपयुञ्जीमहीति ॥ ३ ॥ एवं योगाभ्यासेन कृतेन (स्वर्यतः) शुद्धभावप्रेम्णा (देवान्) उपासकान् योगिनः (सविता) अन्तर्यामी-

श्वरः कृपया युक्त्वाय०) तदात्मसु प्रकाशकरणेन सम्यग् युक्त्वा (धिया) स्वकृपाधारवृत्त्या (बृहज्ज्योतिः) अनन्तप्रकाशं (दिवं) दिव्यं स्वस्वरूपम् (प्रसुवाति) प्रकाशयति तथा (करिष्यतः) सत्यभक्तिं करिष्यमाणानुपासकान् योगिनः (सविता) परमकारुणिकान्तर्यामीश्वरो मोक्षदानेन सदानन्दयतीति ॥ ४ ॥ उपासनाप्रदोपासनाग्रहीतारौ प्रति परमेश्वरः प्रतिजानीते(ब्रह्म पूर्व्यम्) यदा तौ पुरातनं सनातनं ब्रह्म (नमोभिः) स्थिरेणात्मना सत्यभावेन नमस्कारैरुपासाते तदा तद्ब्रह्म ताभ्यामाशीर्ददाति (श्लोकः) सत्यकीर्त्तिः (वां) (वि) (एतु) व्येतु व्याप्नोतु कस्य केव ((सूरेः) परमविदुषः (पथ्येव) धर्ममार्ग-इव (ये) एवं य उपासकाः (अमृतस्य) मोक्षस्वरूपस्य नित्यस्य परमेश्वरस्य (पुत्राः) तदाज्ञानुष्ठानात्तत्सेवकाः सन्ति त एव (दिव्यानि) प्रकाशस्वरूपाणि नित्योपासनायुक्तानि कर्माणि तथा दिव्यानि (धामानि) सुखस्वरूपाणि जन्मानि सुखयुक्तानि स्थानानि वा (आतस्थुः) आ समन्तात् तेषु स्थिरा भवन्ति ते । विश्वे० सर्वे (वां) उपासनोपदेष्टूपदेश्यौ द्वौ (शृण्वन्तु) प्रख्यातौ जानन्तु । इत्यनेन प्रकारेणोपासनां कुर्वाणौ वां युवां द्वौ प्रतीश्वरोऽहं युजे कृपया समवेतो भवामीति ॥ ५ ॥

भाषार्थ ॥

अब ईश्वर की उपासना का विषय जैसा वेदों में लिखा है उस में से कुछ संक्षेप से यहां भी लिखा जाता है (युञ्जते मन०) इस का अभिप्राय यह है कि जीव को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी उचित है अर्थात् उपासनासमय में सब मनुष्य अपने मन को उसी में स्थिर करें और जो लोग ईश्वर के उपासक (विप्राः) अर्थात् बड़े २ बुद्धिमान् (होत्राः) उपासनायोग के ग्रहण करनेवाले हैं वे (विप्रस्य) सब को जाननेवाला (बृहतः) सब से बड़ा (विपश्चितः) और सब विद्याओं से युक्त जो परमेश्वर है उस के बीच में (मनः) (युञ्जते) अपने मन को ठीक २ युक्त करते हैं तथा (उत०) (धियः) अपनी बुद्धिवृत्ति अर्थात ज्ञान को भी (युञ्जते०) सदा परमेश्वर ही में स्थिर करते हैं जो परमेश्वर इस सब जगत् को (विदधे०) धारण और विधान करता है (वयुनाविदेक इत्) जो सब जीवों के ज्ञानों तथा प्रजा का भी साक्षी है वही एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है कि जिससे परे कोई उत्तम पदार्थ नहीं है (देवस्य) उस देव अर्थात् सब जगत् के प्रकाश और (सवितुः) सब की रचना करनेवाले परमेश्वर की

(परिष्टुतिः) हम लोग सर्व प्रकार से स्तुति करें कैसी वह स्तुति है कि (मही) सब से बड़ी अर्थात् जिस के समान किसी दूसरे की हो ही नहीं सकती ॥ १ ॥ (युञ्जानः) योग को करनेवाले मनुष्य (तत्वाय) तत्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिये (प्रथमम्) (मनः) जब अपने मन को पहिले परमेश्वर में युक्त करते हैं तब (सविता) परमेश्वर उनकी (धियम्) बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है (अग्नेर्ज्यो०) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके (अध्याभरत्) यथावत् धारण करते हैं (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है ॥ २ ॥ सब मनुष्य इस प्रकार की इच्छा करें कि (वयम्) हम लोग स्वर्ग्याय मोक्षसुख के लिये (शक्त्या) यथायोग्य सामर्थ्य के बल से (देवस्य) परमेश्वर की सृष्टि में उपासनायोग करके अपने आत्मा को शुद्ध करें कि जिससे (युक्तेन मनसा) अपने शुद्ध मन से परमेश्वर के प्रकाशरूप आनन्द को प्राप्त हों ॥ ३ ॥ इसी प्रकार वह परमेश्वर देव भी (देवान्) उपासकों को (स्वर्यतो धिया दिवम्) अत्यन्त सुख को दे के (सविता) उनकी बुद्धि के साथ अपने आनन्दस्वरूप प्रकाश को करता है तथा (युक्त्वाय) वही अन्तर्यामी परमात्मा अपनी कृपा से उनको युक्त करके उनके आत्माओं में (बृहज्ज्योतिः) बड़े प्रकाश को प्रकट करता है और (सविता) जो सब जगत् का पिता है वही (प्रसुवा०) उन उपासकों को ज्ञान और आनन्दादि से परिपूर्ण कर देता है परन्तु (करिष्यतः) जो मनुष्य सत्य प्रेम भक्ति से परमेश्वर की उपासना करेंगे उन्हीं उपासकों को परमकृपामय अन्तर्यामी परमेश्वर मोक्षसुख देके सदा के लिये आनन्दयुक्त करदेंगा ॥ ४ ॥ उपासना का उपदेश देनेवाले और ग्रहण करनेवाले दोनों के प्रति परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि जब तुम (पूर्व्यम्) सनातन ब्रह्म की (नमोभिः) सत्यप्रेमभाव से अपने आत्मा को स्थिर करके नमस्कारादि रीति से उपासना करोगे तब मैं तुम को आशीर्वाद देऊंगा कि (श्लोकः) सत्यकीर्तिः (वां) तुम दोनों को (एतु) प्राप्त हो किसके समान (पथ्येव सूरेः) जैसे परम विद्वान् को धर्ममार्ग यथावत् प्राप्त होता है इसी प्रकार तुम को सत्यसेवा से सत्यकीर्त्ति प्राप्त हो । फिर भी मैं सब को उपदेश करता हूं कि (अमृतस्य पुत्राः) हे मोक्षमार्ग के पालन करनेवाले मनुष्यो ! (शृण्वन्तु विश्वे) तुम सब लोग सुनो कि (आये धामानि०) जो दिव्यलोकों अर्थात् मोक्षसुखों को (आतस्थुः) पूर्व प्राप्त हो चुके हैं उसी उपासनायोग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त हो इसमें संदेह मत करो इसलिये (युजे) मैं तुम को उपासनायोग में युक्त करता हूं ॥ ५ ॥

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक् ॥ धीरा देवेषु सुम्नया ॥ ६ ॥ युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् । गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात् ॥ ७ ॥ य० अ० १२ । मं० ६७ । ६८ ।

भाष्यम् ॥

(कवयः) विद्वांसः क्रान्तदर्शनाः क्रान्तप्रज्ञा वा (धीराः) ध्यानवन्तो योगिनः (पृथक्) विभागेन (सीराः) योगाभ्यासोपासनार्थं नाडीर्युञ्जन्ति अर्थात् तासु परमात्मानं ज्ञातुमभ्यस्यन्ति तथा (युगा) युगानि योगयुक्तानि कर्माणि (वितन्वते) विस्तारयन्ति । य एवं कुर्वन्ति ते (देवेषु) विद्वत्सु योगिषु (सुम्नया) सुखेनैव स्थित्वा परमानन्दं युञ्जन्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥ हे योगिनो यूयं योगाभ्यासोपासनेन परमात्मयोगेनानन्दं (युनक्त) तद्युक्ता भवत एवं मोक्षसुखं सदा (वितनुध्वं) विस्तारयत तथा (युगा०) उपासनायुक्तानि कर्माणि (सीराः) प्राणादित्ययुक्ता नाडीश्च युनक्तोपासनाकर्माणि योजयत । एवं (कृते योनौ) अन्तःकरणे शुद्धे कृते परमानन्दयोनौ कारणे आत्मनि (वपतेह बीजम्) उपासनाविधानेन योगोपासनाया विज्ञानाख्यं बीजं वपत तथा (गिरा च) वेदवाण्या विद्यया (युनक्त) युङ्क्त युक्ता भवत किं च (श्रुष्टिः) क्षिप्रं शीघ्रं योगफलं (नो नेदीयः) नोऽस्माकं नेदीयोऽतिशयेन निकटं परमेश्वरानुग्रहेण (असत्) अस्तु कथंभूतं फलं (पक्वं) शुद्धानन्दसिद्धं (एयात्) आसमन्तादियात् प्राप्नुयात् (इत्सृण्यः) उपासनायुक्तास्ता योगवृत्तयः सृण्यः सर्वक्लेशहन्त्र्य एव भवन्ति । इदिति निश्चयार्थे पुनः कथंभूतास्ताः (सभराः) शान्त्यादिगुणपुष्टा एताभिर्वृत्तिभिः परमात्मयोगं वितनुध्वम् ॥ ७ ॥

अत्र प्रमाणम् । श्रुष्टीति क्षिप्रनामाशु अष्टीति ॥ निरु० अ० ६ । खं० १२ ॥ द्विविधा सृणिर्भवति भर्त्ता च हन्ता च ॥ निरु० अ० १३ । खं० ५ ॥

भाषार्थ ॥

(कवयः) जो विद्वान् योगी लोग और (धीराः) ध्यान करने वाले हैं वे (सीरा युञ्जन्ति ; (पृथक्) यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धार-

णा करते हैं (युगा) जो योगयुक्त कर्म्मों में तत्पर रहते हैं (वितन्वते) अपने ज्ञान और आनन्द को सदा विस्तृत करते हैं (देवेषु सुम्नया) वे विद्वानों के बीच में प्रशंसित हो के परमानन्द को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥ हे उपासक लोगो तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से नाड़ियों में ध्यान करके परमानन्द को (वितनुध्वं) विस्तार करो इस प्रकार करने से (कृते योनौ) योनि अर्थात् अपने अन्तःकरण को शुद्ध और परमानन्दस्वरूप परमेश्वर में स्थिर करके उसमें उपासनाविधान से विज्ञानरूप (वीजं) वीज को (वपत) अच्छी प्रकार से बोओ तथा (गिरा च) पूर्वोक्त प्रकार से वेदवाणी करके परमात्मा में (युनक्त) युक्त होकर उस की स्तुति प्रार्थना और उपासना में प्रवृत्ति करो तथा (श्रुष्टिः) तुम लोग ऐसी इच्छा करो कि हम उपासनायोग के फल को प्राप्त होवें और (नो नेदीयः) हम को ईश्वर के अनुग्रह से वह फल (असत्) शीघ्र ही प्राप्त हो कैसा वह फल है कि (पक्वं) जो परिपक्व शुद्ध परम आनन्द से भरा हुआ और मोक्षसुख को प्राप्त करने वाला है (इत्सृण्यः) अर्थात् वह उपासनायोगवृत्ति कैसी है कि सब क्लेशों को नाश करने वाली और (सभराः) सब शान्ति आदि गुणों से पूर्ण है उन उपासना योगवृत्तियों से परमात्मा के योग को अपने आत्मा में प्रकाशित करो ॥७॥

अ॒ष्टा॒वि॒ंशा॒नि॒ शि॒वानि॑ श॒ग्मानि॑ स॒ह योगं॑ भजन्तु मे । योगं॒ प्रप॑द्ये॒ क्षेमं॑ च॒ क्षेमं॒ प्रप॑द्ये॒ योगं॑ च॒ नमो॑ऽहोरा॒त्राभ्या॑मस्तु ॥ ८ ॥ अथर्व० कांड १९ ॥ अनु० १ । व० ८ । मं० २ ॥ भूगानराहग्राः शक्गाः पनिस्त्वामिन्द्राभि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ ९ ॥ नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥ १० ॥ अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ११ ॥

भाष्यम् ॥

(अष्टाविंशानि०) हे परमेश्वर भगवन् ! कृपयाऽष्टाविंशानि (शिवानि०) कल्याणानि कल्याणकारकाणि सन्त्वर्थादिन्द्रियाणि दश प्राणा मनोबुद्धिचित्ताहंकारा विद्यास्वभावशरीरबलं चेति (शग्मानि०) सुखकारकाणि भूत्वा (अहोरात्राभ्यां) दिवसे रात्रौ चोपासनाव्यवहारं योगं (मे) मम (भजन्तु) सेवन्तां तथा भवत्कृपयाऽहं योगं प्र०) प्राप्य (क्षेमं च) (प्रपद्ये) क्षेमं प्राप्य-

योगं च प्रापये। यतोऽस्माकं महोपकारी भवान् वर्त्तते तदर्थं सततं नमोऽस्तु ते ॥८॥ इमे त्रयो मन्त्रा अथर्ववेदस्य सन्तीति बोध्यम् ॥ (इन्द्रा०) हे इन्द्र परमेश्वर त्वं (शच्याः) प्रजाया वाण्याः कर्मणो वा पतिरसि तथा (भूमान्) सर्वशक्तिमत्त्वात् सर्वोत्कृष्टत्वादतिशयेन बहुरसि तथा (अरात्याः) शत्रुभूताया वाण्यास्तादृशस्य कर्मणो वा शत्रुसैन्यान्निवारकोऽसि (विभुः) व्यापकः (प्रभुः) समर्थश्चासि (इति) अनेन प्रकारेणैवंभूतं (त्वा) त्वां (वयम्) सदैव (उपास्महे) अर्थात्तवैवोपासनं कुर्महे इति ॥९॥ अत्र प्रमाणम्। वाचो नामसु शचीति पठितम्॥ निघं० अ० १। खं० ११॥ तथा कर्मणां नामसु शचीति पठितम्॥ निघं० अ० २। खं० १॥ तथा प्रजानामसु शचीति पठितम्॥ निघं० अ० ३। खं० ९॥ ईश्वरोऽभिवदति हे मनुष्या यूयमुपासनारीत्या सदैव (मा) मां (पश्यत) सम्यग् ज्ञात्वा चरत उपासक एवं जानीयाद्वदेच्च हे परमेश्वरानन्तविद्यायुक्त (नमस्ते अस्तु) ते तुभ्यमस्माकं सततं नमोऽस्तु भवतु ॥१०॥ (अन्नाद्येन) कस्मै प्रयोजनायान्नादिराज्यैश्वर्येण (यशसा) सर्वोत्तमसत्कर्मानुष्ठानाद्भूतेन सत्यकीर्त्या (तेजसा) निर्भयतया प्रागल्भ्येण च (ब्राह्मणवर्चसेन) पूर्णविद्यया सह वर्त्तमानानस्मान् हे परमेश्वर त्वं कृपया सदैव (पश्य) संप्रेक्षस्वैतदर्थं वयं (त्वां) सर्वदोपास्महे ॥११॥

भाषार्थ ॥

(अष्टाविंशानि शिवानि) हे सर्वैश्वर्ययुक्त मङ्गलमय परमेश्वर! आप की कृपा से मुझ को उपासनायोग प्राप्त हो तथा उस से मुझ को सुख भी मिले। इसी प्रकार आप की कृपा से दश इन्द्रिय, दश प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, विद्या, स्वभाव, शरीर और बल, ये अट्ठाईस सब कल्याणों में प्रवृत्त होके उपासनायोग को सदा सेवन करें तथा हम भी (योगं) उस योग के द्वारा (क्षेमं) रक्षा को और रक्षा से योग को प्राप्त हुआ चाहते हैं इसलिये हम लोग रात दिन आप को नमस्कार करते हैं ॥८॥ (भूयानरात्याः) हे जगदीश्वर! आप (शच्याः) सब प्रजा, वाणी और कर्म इन तीनों के पति हैं तथा (भूयान्) सर्वशक्तिमान् आदि विशेषणों से युक्त हैं, जिससे आप (अरात्याः) अर्थात् दुष्ट प्रजा मिथ्यारूपवाणी और पापकर्मों को विनाश करने में अत्यन्त समर्थ हैं तथा आप को (विभुः) सब में व्यापक और (प्रभुः) सब सामर्थ्य

वाले जान के हम लोग आप की उपासना करते हैं ॥ ६ ॥ (नमस्ते अस्तु) अर्थात् परमेश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि हे उपासक लोगो ! तुम मुझ को प्रेमभाव से अपने आत्मा में सदा देखते रहो तथा मेरी आज्ञा और वेदविद्या को यथावत् जान के उसी रीति से आचरण करो। फिर मनुष्य भी ईश्वर से प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर ! आप कृपादृष्टि से (पश्य मा) हम को सदा देखिये इसलिये हम लोग आप को सदा नमस्कार करते हैं ॥ १० ॥ कि (अन्नाद्येन) अन्न आदि ऐश्वर्य्य (यशसा) सब से उत्तम कीर्ति (तेजसा) भय से रहित (ब्राह्मणवर्चसेन) और सम्पूर्ण विद्या से युक्त हम लोगों को करके कृपा से देखिये इसलिये हम लोग सदा आप की उपासना करते हैं ॥ ११ ॥

अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १२ ॥ अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १३ ॥ उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १४ ॥ प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १५ ॥ अथर्व० कां० १३ । अनु० ४ । मं० ४७ । ४८ । ४९ । ५० । ५१ । ५२ । ५३ ॥

भाष्यम् ॥

(हे ब्रह्मन्) (अम्भः) व्यापकं शान्तस्वरूपं जलवत् प्राणस्यापि प्राणम् । आप्लृ धातोरसुन्प्रत्ययान्तस्यायं प्रयोगः ॥ (अमः) ज्ञानस्वरूपम् (महः) पूज्यं सर्वेभ्यो महत्तरं (सहः) सहनस्वभावं ब्रह्म (त्वा) त्वां ज्ञात्वा (इति) अनेन प्रकारेण (वयं) सततं उपास्महे ॥ १२ ॥ (अम्भः) आदरार्थो द्विरारम्भः प्रस्यार्थ उक्तः (अरुणम्) प्रकाशस्वरूपम् (रजतम्) रागविषयमानन्दस्वरूपम् (रजः) सर्वलोकैश्वर्य्यसहितम् (सहः) सहनशक्तिमदम् (इति त्वोपास्महे वयम्) त्वां विहाय नैव कश्चिदन्योर्थः कस्यचिदुपास्योऽस्तीति ॥ १३ ॥ (उरुः) सर्वशक्तिमान् (पृथुः) अतीव विस्तृतो व्यापकः (सुभूर्भुवः) सुष्ठुतया सर्वेषु पदार्थेषु भवतीति सुभूः अन्तरिक्षवद्व्यकाशरूपत्वाद्भुवः (इति) एवं ज्ञात्वा (त्वो०) त्वां (उपास्महे वयम्) ॥ १४ ॥ बहुनामसु उरुरिति पत्यक्षमस्ति ॥ निघण्टु अ० ३ । खं० १ ॥ (प्रथः) सर्वजगत्प्रसारकः (वरः)

अग्नुः (व्यचः) विविधतया सर्वं जगज्जानाति (लोकः) लोक्यते सर्वैर्जनैर्लोकयति सर्वान् वा (इति त्वो०) वयमीदृक्स्वरूपं सर्वज्ञं त्वामुपास्महे ॥१५॥

भाषार्थ ॥

(अम्भो) हे भगवन् ! आप सब में व्यापक शान्तस्वरूप और प्राण के भी प्राण हैं तथा (अमः) ज्ञानस्वरूप और ज्ञान को देने वाले हैं (महः) सब के पूज्य सब के बड़े और (सहः) सब के सहन करने वाले हैं (इति) इस प्रकार का (त्वो०) आप को जान के (वयम्) हम लोग सदा उपासना करते हैं ॥ १२ ॥ (अम्भः) (दूसरी बार इस शब्द का पाठ केवल आदर के लिये है) (अरुणम्) आप प्रकाशस्वरूप सब दुःखों के नाश करने वाले तथा (रजतम्) प्रीति के परम हेतु आनन्दस्वरूप (रजः) सब लोकों के ऐश्वर्य से युक्त (सहः) (इस शब्द का भी पाठ आदरार्थ है) और महतशक्तिमान् हैं इसलिये हम लोग आप की उपासना निरन्तर करते हैं ॥ १३ ॥ (उरु०) आप सब बल वाले (पृथुः) अर्थात् आदि अन्त रहित तथा (सुभूः) सब पदार्थों में अच्छे प्रकार से वर्त्तमान और (भुवः) अवकाशस्वरूप से सब के निवासस्थान हैं इस कारण हम लोग उपासना करके आप के ही आश्रित रहते हैं ॥ १४ ॥ (प्रथो वरो०) हे परमात्मन् ! आप सब जगत् में प्रसिद्ध और उत्तम हैं (व्यचः) अर्थात् सब प्रकार से इस जगत् का धारण पालन और वियोग करने वाले तथा (लोकः) सब विद्वानों के देखने अर्थात् जानने के योग्य केवल आप ही हैं दूसरा कोई नहीं ॥ १५ ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १६ ॥ ऋ० अ० १ । अ० १ । व० ११ । मं० १ ॥

भाष्यम् ॥

(युञ्जन्ति) ये योगिनो विद्वांसः (परितस्थुषः) परितः सर्वतः सर्वान् जगत्पदार्थान् मनुष्यान्वा चरन्तं ज्ञातारं सर्वज्ञं (अरुषं) अहिंसकं करुणामयम् (सर्वहिंसायम्) (ब्रध्नं) विद्यायोगाभ्यासप्रेमभरेण सर्वानन्दयुक्तं महान्तं परमेश्वरमात्मना सह युञ्जन्ति (रोचनाः) त आनन्दे प्रकाशिता रुचिमया भूत्वा (दिवि) द्योतनात्मके सर्वप्रकाशके परमेश्वरे (रोचन्ते) परमानन्दयोगेन प्रकाशन्ते ॥ इति प्रथमोऽर्थः ॥ अथ द्वितीयः ॥ (परित०) चरन्तमरुषमग्निमयं

ब्रध्नमादित्यं सर्वे लोकाः पदार्थाश्च युञ्जन्ति तदाकर्षणेन युक्ताः सन्ति । एते सर्वे तस्यैव (दिवि) प्रकाशे (रोचनाः) रुचिकराः सन्तः (रोचन्ते) प्रकाशन्ते ॥ इति द्वितीयोऽर्थः ॥ अथ तृतीयः ॥ ये उपासकाः परितस्थुषः सर्वान् पदार्थान् चरन्तमरुषं सर्वमर्मस्थं (ब्रध्नं) सर्वानन्दवृद्धिकरं प्राणवादित्यं प्राणायामरीत्या (दिवि) द्योतनात्मके परमेश्वरे वर्त्तमानं (रोचनाः) रुचिमन्तः सन्तो युञ्जन्ति युक्तं कुर्वन्ति । अतस्ते तस्मिन् मोक्षानन्दे परमेश्वरे रोचन्ते सदैव प्रकाशन्ते ॥ १६ ॥ अत्र प्रमाणानि । तस्थुषः पञ्चजना इति पठितम् ॥ निघं० अ० २ । खं० ३ ॥ महत्, ब्रध्न महन्नामसु पठितम् ॥ निघं० अ० ३ । खं० ३ ॥ तथा । युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तमिति । असौ वा आदित्यो ब्रध्नोऽरुषोऽमुमेवास्मा आदित्यं युनक्ति स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै ॥ १ ॥ श० कां० १३ । अ० २ ॥ आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा, एतत्सर्वं यन्मूर्त्तं चामूर्त्तं च तस्मान्मूर्त्तिरेव रयिः ॥ १ ॥ प्रश्नोपनि० प्रश्न० १ । मं० ५ ॥ परमेश्वरान्महान् कश्चिदपि पदार्थो नास्त्येवातः प्रथमोऽर्थो गोजनीयम् ॥ तथा शतपथप्रमाणं द्वितीयपक्षे प्रति ॥ एवमेव प्रश्नोपनिषत्प्रमाणं तृतीयपक्षे प्रति च । कुचिन्निघण्टावश्वस्यापि ब्रध्नारुषौ नाम्नी पठिते परन्त्वस्मिन् मन्त्रे तद्घटना नैव सम्भवति शतपथादिव्याख्यानविरोधात् । सूक्तार्थविरोधादेकशब्दे नाप्यनेकार्थग्रहणाच्च ॥ एवं सति भट्टमोक्षमूलरैरश्वस्येङ्गलण्डभाषया व्याख्याने यदश्वस्य पशोरेव ग्रहणं कृतं तद्भ्रान्तिमूलमेवास्ति । सायणाचार्येणास्य मन्त्रस्य व्याख्यानाभावेऽपि ब्राह्मणादेस्तिरस्कारो तस्य व्याख्याने पश्चाकृतमस्ति, परन्तु न जाने भट्टमोक्षमूलरेणायमर्थ आकाशाद्वा पाताद्वा गृहीतः । अतो विज्ञायते स्वकल्पनया लेखनं कृतमिति ज्ञात्वा प्रमाणार्हं नास्तीति ॥

भाषार्थ ॥

(युञ्जन्ति) मुक्ति का उत्तम साधन उपासना है इसलिये जो विद्वान् लोग हैं वे सब जगत् और सब मनुष्यों के हृदयों में व्याप्त ईश्वर को उपासनारीति से अपने आत्मा के साथ युक्त करते हैं वह ईश्वर कैसा है कि (चरन्तं) अर्थात् सब का जाननेवाला (अरुषं) हिंसादि दोषरहित कृपा का समुद्र (ब्रध्नं) सब आनन्दों का बढ़ाने वाला सब रीति से बड़ा है । इसी से (रोचनाः) अर्थात् उपासकों के आत्मा सब अविद्यादि दोषों के अन्धकार से छूटके (दिवि) आत्माओं को प्रकाशित करने वाले

परमेश्वर में प्रकाशमय होकर (रोचन्ते) प्रकाशित रहते हैं ॥ इति प्रथमोर्थः ॥ अब दूसरा अर्थ करते हैं कि (परितस्थुषः) जो सूर्य्यलोक अपनी किरणों से सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों के प्रकाश और आकर्षण करने में (ब्रध्न) सब से बड़ा और (अरुषं) रक्तगुणयुक्त है और जिस के आकर्षण के साथ सब लोक युक्त हो रहे हैं (रोचनाः) जिस के प्रकाश से सब पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं विद्वान् लोग उसी को सब लोकों के आकर्षयुक्त जानते हैं ॥ इति द्वितीयोऽर्थः ॥ (युञ्जन्ति) इस मन्त्र का और तीसरा यह भी अर्थ है कि सब पदार्थों की सिद्धि का मुख्य हेतु जो प्राण है उस को प्राणायाम की रीति से अत्यन्त प्रीति के साथ परमात्मा में युक्त करते हैं इसी कारण वे लोग मोक्ष को प्राप्त हो के सदा आनन्द में रहते हैं। इन तीनों अर्थों में निघण्टु आदि के प्रमाण भाष्य में लिखे हैं सो देख लेना ॥ १६ ॥ इस मन्त्र के इन अर्थों को नहीं जान के भट्ट मोक्षमूलर साहब ने घोड़े का जो अर्थ किया है सो ठीक नहीं है। यद्यपि सायणाचार्य्य का अर्थ भी यथावत् नहीं है परन्तु मोक्षमूलर साहब के अर्थ से तो अच्छा ही है क्योंकि प्रोफेसर मेक्समोलर साहब ने इस अर्थ में केवल कपोलकल्पना की है ॥

इदानीमुपासना कथंरीत्या कर्त्तव्येति लिख्यते। तत्र शुद्धे एकान्तेऽभीष्टे देशे शुद्धमानसः समाहितो भूत्वा सर्वाणीन्द्रियाणि मनश्चैकाग्रीकृत्य सच्चिदानन्दस्वरूपमन्तर्यामिनं न्यायकारिणं परमात्मानं सञ्चिन्त्य तत्रात्मानं नियोज्य च तस्यैव स्तुतिप्रार्थनानुष्ठाने सम्यक्कृत्वोपासनयेश्वरे पुनः २ स्वात्मानं संलगयेत्। अत्र पतञ्जलिमहामुनिना स्वकृतसूत्रेषु वेदव्यासकृतभाष्ये चायमनुक्रमो योगशास्त्रे प्रदर्शितः। तद्यथा--योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥ १॥ अ० १। पा० १। सू० २॥ उपासनासमये व्यवहारसमये वा परमेश्वरादतिरिक्तविषयादधर्मव्यवहाराच्च मनसो वृत्तिः सदैव निरुद्धा रक्षणीयेति। निरुद्धा सती सा क्वावतिष्ठत इत्यत्रोच्यते ॥ १ ॥ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ २ ॥ अ० १। पा० १। सू० ३॥ यदा सर्वस्माद्व्यवहारान्मनोऽवरुध्यते तदास्योपासकस्य मनो द्रष्टुः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य स्वरूपे स्थितिं लभते ॥ २ ॥ यदोपासको योग्युपासनां विहाय सांसारिकव्यवहारे प्रवर्त्तते तदा सांसारिकजनवत्तस्यापि प्रवृत्तिर्भवत्याहोस्विद्विलक्षणेत्यत्राह॥ वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ३ ॥ अ० १। पा० १। सू० ४ ॥ इतरत्र सांसारिकव्यवहारे प्रवृत्तेऽप्युपासकस्य योगिनः शान्ता धर्मारूढा विद्याविज्ञानप्रकाशा सत्यतत्त्वनिष्ठाऽतीवतीव्रा साधारणमनुष्यविलक्षणाऽपूर्वैव वृत्ति-

भवतीति । नैवं द्रष्टृस्वरूपावस्थानानन्तरं योगिनां कदाचिद् वृत्तिर्जायत इति ॥ ३ ॥ कति वृत्तयः सन्ति कथं निरोद्धव्या इत्यत्राह ॥ वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥४॥ प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ५ ॥ तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ६ ॥ विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ७ ॥ शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ८ ॥ अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ ९ ॥ अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥ १० ॥ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ ११ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ५ । ६ । ७ । ८ । ९ । १० । ११ ॥ १२ ॥ उपासनायाः सिद्धेः सहायकारि परमं साधनं किमस्तीत्यत्रोच्यते ॥ ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ १३ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० २३ ॥ भा० प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलञ्च भवतीति ॥ १२ ॥

भाषार्थ ॥

अब जिस रीति से उपासना करनी चाहिये सो आगे लिखते हैं । जब २ मनुष्य लोग ईश्वर की उपासना करना चाहें तब २ इच्छा के अनुकूल एकान्त स्थान में बैठकर अपने मन को शुद्ध और आत्मा को स्थिर करें तथा सब इन्द्रिय और मन को सच्चिदानन्दादि लक्षण वाले अन्तर्यामी अर्थात् सब में व्यापक और न्यायकारी परमात्मा की ओर अच्छे प्रकार से लगाकर सम्यक् चिन्तन करके उस में अपने आत्मा को नियुक्त करें फिर उसी की स्तुति प्रार्थना और उपासना को वारंवार करके अपने आत्मा को भलीभांति से उसमें लगा दें । इस की रीति पतञ्जलि मुनि के किये योगशास्त्र और इन्हीं सूत्रों के वेदव्यासमुनिजी के किये भाष्य के प्रमाणों से लिखते हैं । (योगश्चित्त०) चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटा के शुभ गुणों में स्थिर करके परमेश्वर के समीप में मोक्ष के प्राप्त करने को योग कहते हैं और वियोग उस को कहते हैं कि परमेश्वर और उस की आज्ञा से विरुद्ध बुराइयों में फंस के उस से दूर होजाना । (प्रश्न) जब वृत्ति बाहर के व्यवहारों से हटा के स्थिर की जाती है तब कहां पर स्थिर होती है ? इस का उत्तर यह है कि ॥ १ ॥ (तदा द्र०) जैसे जल के प्रवाह को एक ओर से दृढ़ बांध के रोक देते हैं तब वह जिस ओर नीचा होता है उस ओर चल के कहीं स्थिर हो जाता है इसी प्रकार मन की वृत्ति भी जब बाहर से

रहती है तब परमेश्वर में स्थिर हो जाती है एक तो चित्त की वृत्ति के रोकने का यह प्रयोजन है और दूसरा यह है कि ॥ २ ॥ (वृत्तिसा०) उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं तब योगी की वृत्ति सदा हर्ष शोक रहित आनन्द से प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्दयुक्त रहती है और संसार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्ष शोकरूप दुःखसागर में ही डूबी रहती है । उपासक योगी की तो ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढ़ती रहती है और संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा अन्धकार में फंसती जाती है ॥ ३ ॥ (वृत्तयः०) अर्थात् सब जीवों के मन में पांच प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है उस के दो भेद हैं एक क्लिष्ट दूसरी अक्लिष्ट अर्थात् क्लेशसहित और क्लेशरहित उन में से जिनकी वृत्ति विषयासक्त, परमेश्वर की उपासना से विमुख होती है उन की वृत्ति अविद्यादि क्लेशसहित और जो पूर्वोक्त उपासक हैं उनकी क्लेशरहित शान्त होती हैं ॥ ४ ॥ वे पांच वृत्ति ये हैं—पहिली (प्रमाण) दूसरी (विपर्यय) तीसरी (विकल्प) चौथी (निद्रा) और पांचवीं (स्मृति) ॥ ५ ॥ उनके विभाग और लक्षण ये हैं (तत्र प्रत्यक्षा०) इसकी व्याख्या वेद विषय के होमप्रकरण में लिख दी है ॥ ६ ॥ (विपर्ययो०) दूसरी विपर्यय कि जिससे मिथ्याज्ञान हो अर्थात् जैसे को तैसा न जानना अथवा अन्य में अन्य की भावना करलेना इस को विपर्यय कहते हैं ॥ ७ ॥ तीसरी विकल्पवृत्ति (शब्दज्ञाना०) जैसे किसी ने किसी से कहा कि एक देश में हमने आदमी के शिर पर सींग देखे थे । इस बात को सुन कर कोई मनुष्य निश्चय करले कि ठीक है सींग वाले मनुष्य भी होते होंगे ऐसी वृत्ति को विकल्प कहते हैं सो झूठी बात है अर्थात् जिस का शब्द तो हो परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को न मिल सके इसी से इस का नाम विकल्प है ॥ ८ ॥ चौथी (निद्रा) अर्थात् जो वृत्ति अज्ञान और अविद्या के अन्धकार में फंसी हो उस वृत्ति का नाम निद्रा है । पांचवीं (स्मृति) (अनुभूत०) अर्थात् जिस व्यवहार वा वस्तु को प्रत्यक्ष देखलिया हो उसी का संस्कार ज्ञान में बना रहना और उस विषयको (असंप्रमोष) भूले नहीं इस प्रकार की वृत्ति को स्मृति कहते हैं । इन पांच वृत्तियों को बुरे कामों और अनीश्वर के ध्यान से हटाने का उपाय कहते हैं कि ॥ १० ॥ (अभ्यास०) जैसा अभ्यास उपासना प्रकरण में आगे लिखेंगे वैसा करें और वैराग्य अर्थात् सब बुरे कामों और दोषों से अलग रहें । इन दोनों उपायों से पूर्वोक्त पांच वृत्तियों को रोक के उन को उपासनायोग में प्रवृत्त रखना ॥ ११ ॥ तथा उस समाधि के योग होने का यह भी साधन है कि (ईश्वरप्र०) ईश्वर में विशेष भक्ति होने से मन का समाधान होके मनुष्य समाधियोग को शीघ्र प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥

अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति । क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ १३ ॥ अ० १ । सू० २४ ॥ भा० अविद्यादयः क्लेशाः कुशलाकुशलानि कर्माणि तत्फलं विपाकस्तदनुगुणा वासना आशयस्ते च मनसि वर्त्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते स हि तत्फलस्य भोक्तेति यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते योह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः, कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ता ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति योऽसौ प्रकृष्टसत्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति तस्य शास्त्रं निमित्तं शास्त्रं पुनः किं निमित्तं प्रकृष्टसत्वनिमित्तमेतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादिः सम्बन्धः, एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति तच्च तस्यैश्वर्य्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तं न तावदैश्वर्य्यान्तरेण तदतिशय्यते यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात्तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्य्यस्य स ईश्वरः; न च तत्समानमैश्वर्य्यमस्ति कस्मात् द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत् कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्वित्ति, एकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तं द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत् कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति, अर्थस्य विरुद्धत्वात्तस्माद्यस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तमैश्वर्य्यं स ईश्वरः स च पुरुषविशेष इति किं च ॥ १३ ॥ तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ १४ ॥ अ० १ । पा० १ । सूत्र २५ ॥ भा० यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजमेतद्विवर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञ अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात्परिमाणवदिति यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः स च पुरुषविशेष इति सामान्यमात्रोपसंहारे कृतोपक्षयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्य्यन्वेष्या तस्यात्मानुग्रहाभावेपि भूतानुग्रहः प्रयोजनं ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति । तथा चोक्तं । आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति ॥ १४ ॥ स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ १५ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० २६ ॥ भा० पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते यत्रावच्छेदार्थेन कालो

नोपावर्त्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः यथाऽस्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धः त-थातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥ १५ ॥ तस्य वाचकः प्रणवः ॥ १६ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० २७ ॥ भा० वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमिति स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति यथावस्थितः पितापुत्र-योः सम्बन्धः संकेतेनावद्योत्यते अयमस्य पिता अयमस्य पुत्र इति सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दा-र्थसम्बन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः ॥ १ ॥ तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ १७ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० २८ ॥ भा० प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावना तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते । तथा चोक्तम् । स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वा-ध्यायमामनेत् स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशत इति ॥ १७ ॥

भाषार्थ ॥

अब ईश्वर का लक्षण कहते हैं कि (क्लेशकर्म०) अर्थात् इसी प्रकरण में आगे लिखे हैं जो अविद्यादि पांच क्लेश और अच्छे बुरे कर्मों की जो २ वासना इन सब से जो सदा अलग और बन्धरहित है उसी पूर्ण पुरुष को ईश्वर कहते हैं । फिर वह कैसा है जिससे अधिक वा तुल्य दूसरा पदार्थ कोई नहीं तथा जो सदा आनन्द ज्ञानस्वरूप सर्वशक्तिमान् है उसीको ईश्वर कहते हैं क्योंकि ॥ १३ ॥ (तत्र निरति०) जिस में नित्य सर्वज्ञ ज्ञान है वही ईश्वर है जिसके ज्ञानादि गुण अनन्त हैं जो ज्ञानादि गुणों की पराकाष्ठा है जिसके सामर्थ्य की अवधि नहीं। और जीव के सामर्थ्य की अवधि प्रत्यक्ष देखने में आती है इसलिये सब जीवों को उचित है कि अपने ज्ञान बढ़ाने के लिये सदैव परमेश्वर की उपासना करते रहें ।। १४ ॥ अब उस की भक्ति किस प्रकार से करनी चाहिये सो आगे लिखते हैं (तस्य वा०) जो ईश्वर का ओंकार नाम है सो पिता पुत्र के सम्बन्ध के समान है और यह नाम ईश्वर को छोड़ के दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता ई-श्वर के जितने नाम हैं उनमें से ओंकार सब से उत्तम नाम है इसलिये ॥ १५ ॥ (त-ज्जप०) इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थविचार सदा करना चा-हिये कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त हो-

कर स्थिर हो जिससे उस के हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर की प्रेमभक्ति सदा बढ़ती जाय। फिर उससे उपासकों को यह भी फल होता है कि ॥ १६ ॥

किंचास्य भवति । ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ १८ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० २६ ॥ भा० ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवल अनुपसर्गः तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदनीयः पुरुष इत्येवमधिगच्छति ॥ अथ केऽन्तरायाः ये चित्तस्य विक्षेपकाः के पुनस्ते कियन्तो वेति ॥ १८ ॥ व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ १६ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ३० ॥ भा० नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्त्येतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः; व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्, स्त्यानमकर्मण्यता, चित्तस्य संशय उभयकोटिस्पृक् विज्ञानं स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति । प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम्, (आलस्यम्) कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः। अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्द्धः। भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानं, अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः। अनवस्थितत्वं यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति । एते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते ॥ १६ ॥ दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ १६ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ३१ ॥ भा० दुःखमाध्यात्मिकं, आधिभौतिकं, आधिदैविकं, च येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखं, दौर्मनस्यम् । इच्छाभिघाताच्चेतसः क्षोभः । यदङ्गान्येजयति कंपयति तदङ्गमेजयत्वं । प्राणोयद्बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः । यत्कौष्ठ्यं वायुं निस्सारयति स प्रश्वासः । विक्षेपसहभुवो विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति । अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षाः ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह ॥ १६ ॥ तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यासः ॥ २० ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ३२ ॥ भा० विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्वावलम्बनं चित्तमभ्यस्येत् यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं नास्त्येव विक्षिप्तं यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतं

योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मः तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तं क्षणिकत्वात् अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः । तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति यदि च चित्तेनैकेनानन्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन् । अथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्ता भवेत् । अन्यप्रत्ययोपचितस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत् कथञ्चित्समाधीयमानमप्येतद् गोमयपायसीयं न्यायमाक्षिपति किंच स्वात्मानुभवापह्नवः चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति कथं यदहमद्राक्षं तत् स्पृशामि यच्चास्प्राक्षं तत्पश्यामीति । अहमिति प्रत्ययः कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्त्तमानः सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत् स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्मा अहमिति प्रत्ययः न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभूयते प्रमाणान्तरञ्च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तं यस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत्कथम् ॥ २० ॥

भाषार्थ ॥

इस मनुष्य को क्या होता है (ततः प्र०) अर्थात् उस अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति और (अन्तराय) उस के अविद्यादि क्लेशों तथा रोगरूप विघ्नों का नाश हो जाता है वे विघ्न नव प्रकार के हैं ॥ १७ ॥ (व्याधि) एक व्याधि अर्थात् धातुओं की विषमता से ज्वर आदि पीड़ा का होना । (दूसरा) स्त्यान अर्थात् सत्य कर्मों में अप्रीति । (तीसरा) संशय अर्थात् जिस पदार्थ का निश्चय किया चाहे उस का यथावत् ज्ञान न होना । (चौथा) प्रमाद अर्थात् समाधिसाधनों के ग्रहण में प्रीति और उनका विचार यथावत् न होना । (पांचवां) आलस्य अर्थात् शरीर और मन में आराम की इच्छा से पुरुषार्थ छोड़ बैठना । (छठा) अविरति अर्थात् विषय सेवा में तृष्णा का होना । (सातवां) भ्रान्तिदर्शन अर्थात् उलटे ज्ञान का होना जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़बुद्धि करना तथा ईश्वर में अनीश्वर और अनीश्वर में ईश्वरभाव करके पूजा करना । (आठवां) अलब्धभूमिकत्व अर्थात् समाधि की प्राप्ति न होना और (नववां) अनवस्थितत्व अर्थात् समाधि की प्राप्ति होने पर भी उस में चित्त स्थिर न होना ये सब चित्त की समाधि होने में विक्षेप अर्थात् उपासनायोग के शत्रु हैं ॥ १९ ॥ अब इन के फल लिखते हैं (दुःख दौर्म०) अर्थात् दुःख की प्राप्ति

मन का दुष्ट होना, शरीर के अवयवों का कम्पना, श्वास और प्रश्वास के अत्यन्त वेग से चलने में अनेक प्रकार के क्लेशों का होना जो कि चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं। ये सब क्लेश अशान्त चित्तवाले को प्राप्त होते हैं शान्तचित्तवाले को नहीं और उन के छुड़ाने का मुख्य उपाय यही है ॥ २० ॥ कि (तत्प्रतिषेधा०) जो केवल एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व है उसी में प्रेम और सर्वदा उसी की आज्ञापालन में पुरुषार्थ करना है वही एक उन विघ्नों के नाश करने को वज्ररूप शस्त्र है अन्य कोई नहीं इसलिये सब मनुष्यों को अच्छे प्रकार प्रेमभाव से परमेश्वर के उपासनायोग में नित्य पुरुषार्थ करना चाहिये कि जिस से वे सब विघ्न दूर हो जायँ। आगे जिस भावना से उपासना करने वाले को व्यवहार में अपने चित्त को प्रसन्न करना होता है सो कहते हैं ॥ २० ॥

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ २१ ॥ अ० १। पा० १। सू० ३३ ॥ भा० तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत् दुःखितेषु करुणां पुण्यात्मकेषु मुदितां अपुण्यशीलेषूपेक्षामेवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते ततश्च चित्तं प्रसीदति प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते ॥ २१ ॥ प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ २२ ॥ अ० १। पा० १। सू० ३४ ॥ भा० कौष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनं विधारणं प्राणायामः। ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत् ॥ छर्दनं भक्षितान्नवमनवत् प्रयत्नेन शरीरस्थं प्राणं बाह्यदेशं निस्सार्य्य यथाशक्ति बहिरेव स्तम्भनेन चित्तस्य स्थिरता सम्पादनीया ॥ २२ ॥ योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २३ ॥ अ० १। पा० २। सू० २८ ॥ एषामुपासनायोगाङ्गानामनुष्ठानाचरणादशुद्धिरज्ञानं प्रतिदिनं क्षीणं भवति ज्ञानस्य च वृद्धिर्यावन्मोक्षप्राप्तिर्भवति ॥ २३ ॥ यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २४ ॥ अ० १। पा० २। सू० २९ ॥ तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ २५ ॥ अ० १। पा० २। सू० ३० ॥ भा० तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते (तथा चोक्तम्) स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति, सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे यथा दृष्टं यथाऽनुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा

प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेत् इत्येषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत् तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रकृतिरूपकेन कष्टन्तमः प्राप्नुयात् तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् । स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति । ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमाः ॥ २४ ॥ एषां विवरणं प्राकृतभाषायां वक्ष्यते ॥

भाषार्थ ॥

(मैत्री) अर्थात् इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणी सुखी हैं उन सबों के साथ मित्रता करना । दुःखियों पर कृपादृष्टि रखनी । पुण्यात्माओं के साथ प्रसन्नता । पापियों के साथ उपेक्षा अर्थात् न उनके साथ प्रीति रखना और न वैर ही करना इस प्रकार के वर्त्तमान से उपासक के आत्मा में सत्यधर्म का प्रकाश और उसका मन स्थिरता को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥ (प्रच्छर्दन०) जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुखपूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दे, पुनः धीरे २ भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करे । इसी प्रकार वारंवार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है । इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिये । जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर आता है फिर गोता लगा जाता है इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में वारंवार मग्न करना चाहिये ॥ २३ ॥ (योगाङ्गानु०) आगे जो उपासनायोग के आठ अङ्ग लिखते हैं जिनके अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥ (यमनियमा०) अर्थात् एक (यम) दूसरा (नियम) तीसरा (आसन) चौथा (प्राणायाम) पांचवां (प्रत्याहार) छठा (धारणा) सातवां (ध्यान) और आठवां (समाधि) ये सब उपासनायोग के अङ्ग कहाते हैं और आठ अङ्गों का सिद्धान्तरूप फल संयम है ॥ २५ ॥ (तत्राहिंसा०) उन आठों में से पहिला यम है सो पांच प्रकार का है एक (अहिंसा) अर्थात् सब प्रकार से सब काल में सब प्राणियों के साथ वैर छोड़ के प्रेम प्रीति से

वर्त्तना । दूसरा (सत्य) अर्थात् जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा ही सत्य बोले, करे और माने । तीसरा (अस्तेय) अर्थात् पदार्थ वाले की आज्ञा के विना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना इसी को चोरीत्याग कहते हैं । चौथा (ब्रह्मचर्य्य) अर्थात् विद्या पढ़ने के लिये बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय होना और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त विवाह का करना परस्त्री वेश्या आदि का त्यागना सदा ऋतुगामी होना विद्या को ठीक २ पढ़ के सदा पढ़ाते रहना और उपस्थ इन्द्रिय का सदा नियम करना । पांचवां (अपरिग्रह) अर्थात् विषय और अभिमानादि दोषों से रहित होना, इन पांचों का ठीक २ अनुष्ठान करने से उपासना का बीज बोया जाता है । दूसरा अङ्ग उपासना का नियम है जो कि पांच प्रकार का है ॥ २५ ॥

॥ ते तु ॥ शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ २६ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ३२ ॥ शौचं बाह्यमाभ्यन्तरं च बाह्यं जलादिनाऽऽभ्यन्तरं रागद्वेषाऽसत्यादित्यागेन च कार्यम् । संतोषो धर्मानुष्ठानेन सम्यक् प्रसन्नता सम्पादनीया । तपः सदैव धर्मानुष्ठानमेव कर्त्तव्यं,वेदादिसत्यशास्त्राणामध्ययनाध्यापने प्रणवजपो वा । ईश्वरप्रणिधानम् । परमगुरवे परमेश्वराय सर्वात्मादिद्रव्यसमर्पणमित्युपासनायाः पञ्च नियमा द्वितीयमङ्गम् ॥ २६ ॥ अथाहिंसा धर्मस्य फलम् ॥ अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ २७ ॥ अथ सत्याचरणस्य फलम् ॥ सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥२८॥ अथ चौरीत्यागफलम् ॥ अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ २९ ॥ अथ ब्रह्मचर्य्याश्रमानुष्ठानेन यल्लभ्यते तदुच्यते ॥ ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३० ॥ अथापरिग्रहफलमुच्यते ॥ अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंता संबोधः ॥ ३१ ॥ अथ शौचानुष्ठानफलम् ॥ शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ३२ ॥ किंच सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ३३ ॥ संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ३४ ॥ कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥३५॥ स्वाध्यायादिष्टदेवता संप्रयोगः ॥३६॥ समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ३७ ॥ योग० अ० १ । पा० १ । सू० ३५ । ३६ । ३७ । ३८ । ३९ । ४० । ४१ । ४२ । ४३ । ४४ । ४५ ॥

भाषार्थ ॥

(पहिला) (शौच) अर्थात् पवित्रता करनी, सो भी दो प्रकार की है । एक भीतर की और दूसरी बाहर की । भीतर की शुद्धि धर्माचरण सत्यभाषण

विद्याभ्यास सत्सङ्ग आदि शुभगुणों के आचरण से होती है और बाहर की पवित्रता जल आदि से, शरीर स्थान मार्ग वस्त्र खाना पीना आदि शुद्ध करने से होती है। (दूसरा) (सन्तोष) जो सदा धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ करके प्रसन्न रहना और दुःख में शोकातुर न होना किन्तु आलस्य का नाम सन्तोष नहीं है। (तीसरा) (तपः) जैसे सोने को अग्नि में तपा कर निर्मल कर देते हैं वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभगुणों के आचरणरूप तप से निर्मल कर देना। (चौथा) (स्वाध्याय) अर्थात् मोक्षविद्याविधायक वेद शास्त्र का पढ़ना पढ़ाना और ओंकार के विचार से ईश्वर का निश्चय करना कराना और (पांचवां) (ईश्वरप्रणिधानम्) अर्थात् सब सामर्थ्य सब गुण प्राण आत्मा और मन के प्रेमभाव से आत्मादि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के लिये समर्पण करना, ये पांच नियम भी उपासना का दूसरा अङ्ग है अब पांच यम और पांच नियमों के यथावत् अनुष्ठान का फल कहते हैं ॥ २६ ॥ (अहिंसाप्र०) अर्थात् जब अहिंसा धर्म निश्चय हो जाता है तब उस पुरुष के मन से वैरभाव छूट जाता है, किन्तु उस के सामने वा उस के सङ्ग से अन्य पुरुष का भी वैरभाव छूट जाता है ॥२७॥ (सत्यप्र०) तथा सत्याचरण का ठीक २ फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता बोलता और करता है तब वह जो २ योग्य काम करता और करना चाहता है वे २ सब सफल हो जाते हैं ॥ २८ ॥ चोरीत्याग करने से यह बात होती है कि (अस्तेय०) अर्थात् जब मनुष्य अपने शुद्ध मन से चोरी के छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर लेता है तब उसको सब उत्तम २ पदार्थ यथायोग्य प्राप्त होने लगते हैं, और चोरी इसका नाम है कि मालिक की आज्ञा के बिना अधर्म से उसकी चीज को कपट से वा छिपाकर ले लेना ॥ २९ ॥ (ब्रह्मचर्य०) ब्रह्मचर्यसेवन से यह बात होती है कि जब मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करे, उपस्थ इन्द्रिय का संयम रक्खे, वेदादि शास्त्रों को पढ़ता पढ़ाता रहे, विवाह के पीछे भी ऋतुगामी बना रहे और परस्त्रीगमन आदि व्यभिचार को मन कर्म वचन से त्याग देवे तब दो प्रकार का वीर्य अर्थात् बल बढ़ता है। एक शरीर का दूसरा बुद्धि का। उसके बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है ॥ ३० ॥ (अपरिग्रहस्थै०) अपरिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विषयासक्ति से बचकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है तब मैं कौन हूं कहां से आया हूं और मुझ को क्या करना चाहिये अर्थात् क्या काम करने से मेरा कल्याण होगा इत्यादि शुभ गुणों का विचार उसके मन में स्थिर होता है। ये ही पांच यम कहाते हैं। इन का ग्रहण करना उपासकों को अवश्य चाहिये ॥ ३१ ॥ परन्तु यमों का नियम सहकारी कारण

है जो कि उपासना का दूसरा अङ्ग कहाता है और जिसका साधन करने से उपासक लोगों का अत्यन्त सहाय होता है सो भी पांच प्रकार का है। उन में से प्रथम शौच का फल लिखा जाता है (शौचात्स्वां०) पूर्वोक्त दो प्रकार के शौच करने से भी जब अपना शरीर और उस के सब अवयव बाहर भीतर से मलीन ही रहते हैं तब औरों के शरीर की भी परीक्षा होती है कि सब के शरीर मल आदि से भरे हुए हैं इस ज्ञान से वह योगी दूसरे से अपना शरीर मिलाने में घृणा अर्थात् संकोच कर के सदा अलग रहता है ॥ ३२ ॥ और उसका फल यह है कि (किञ्च०) अर्थात् शौच से अन्तःकरण की शुद्धि मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों का जय तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता प्राप्त होती है तदनन्तर ॥ ३३ ॥ (संतोषाद०) अर्थात् पूर्वोक्त संतोष से जो सुख मिलता है वह सब से उत्तम है और उसी को मोक्षसुख कहते हैं ॥ ३४ ॥ (कायेन्द्रिय०) अर्थात् पूर्वोक्त तप से उन के शरीर और इन्द्रियां अशुद्धि के क्षय से दृढ़ होके सदा रोगरहित रहती हैं तथा ॥ ३५ ॥ (स्वाध्याय०) पूर्वोक्त स्वाध्याय से इष्ट देवता अर्थात् परमात्मा के साथ सम्प्रयोग अर्थात् साझा होता है फिर परमेश्वर के अनुग्रह का सहाय अपने आत्मा की शुद्धि सत्याचरण पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है तथा ॥ ३६ ॥ (समाधि०) पूर्वोक्त प्रणिधान से उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है तथा ॥ ३७ ॥

तत्र स्थिरसुखमासनम् ॥ ३८ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ४६ ॥ भा० तद्यथा पद्मासनं वीरासनं भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनं सोपाश्रयं पर्यङ्कं क्रौञ्चनिषदनं हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमादीनि ॥ ३८ ॥ पद्मासनादिकमासनं विदध्यात् यद्वा यादृशीच्छा तादृशमासनं कुर्यात् ॥ ३८ ॥ ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ४८ ॥ भा० शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते ॥ ३९ ॥ तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४० ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ४९ ॥ भा० सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः कौष्ठ्यस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासस्तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः ॥ ४० ॥ आसने सम्यक् सिद्धे कृते बाह्याभ्यन्तरगमनशीलस्य वायोर्युक्त्या शनैः शनैरभ्यासेन जयकरणमर्थात् स्थिरीकृत्य गत्यभावकरणं प्राणायामः ॥ ४० ॥ स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ४१ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५० ॥ भा० यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः यत्र श्वासपूर्वको गत्य-

भावः स आभ्यन्तरः तृतीयस्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति यथा तप्तन्यस्तमुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद्गत्यभाव इति ॥ ५१ ॥ बालबुद्धिभिरङ्गुल्यङ्गुष्ठाभ्यां नासिकाछिद्रमवरुध्य यः प्राणायामः क्रियते स खलु शिष्टैस्त्याज्य एवास्ति किन्त्वत्र बाह्याभ्यन्तराङ्गेषु शान्तिशैथिल्ये सम्पाद्य सर्वाङ्गेषु यथावत् स्थितेषु सत्सु बाह्यदेशं गतं प्राणं तत्रैव यथाशक्ति संरुध्य प्रथमो बाह्याख्यः प्राणायामः कर्त्तव्यः तथोपासकैर्यो बाह्याद्देशादन्तः प्रविशति तस्याभ्यन्तर एव यथाशक्ति निरोधः क्रियते स आभ्यन्तरो द्वितीयः सेवनीयः । एवं बाह्याभ्यन्तराभ्यामनुष्ठिताभ्यां द्वाभ्यां कदाचिदुभयोर्युगपत्संरोधो यः क्रियते स स्तम्भवृत्तिस्तृतीयः प्राणायामोऽभ्यसनीयः ॥ ५० ॥ बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५१ ॥ भा० देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः तथाभ्यन्तरविषयः परिदृष्ट आक्षिप्त उभयथा दीर्घसूक्ष्मः तत्पूर्वको भूमिजयात् क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामस्तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मश्चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात् क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेष इति यः प्राणायाम उभयाक्षेपी स चतुर्थो गृह्यते । तद्यथा यदोदराद् बाह्यदेशं प्रतिगन्तुं प्रथमक्षणं प्रवर्त्तेत तं संलक्ष्य पुनः बाह्यदेशं प्रत्येव प्राणाः प्रक्षेप्याः पुनश्च यदा बाह्याद्देशादाभ्यन्तरं प्रथममागच्छेत्तमाभ्यन्तर एव पुनः पुनः यथाशक्ति गृहीत्वा तत्रैव स्तम्भयेत्स द्वितीयः ॥ एवं द्वयोरेतयोः क्रमेणाभ्यासेन गत्यभावः क्रियते स चतुर्थः प्राणायामः । यस्तु खलु तृतीयोऽस्ति स नैव बाह्याभ्यन्तराभ्यासस्यापेक्षां करोति किन्तु यत्र २ देशे प्राणो वर्त्तते तत्र तत्रैव सकृत्स्तम्भनीयः । यथा किमप्यद्भुतं दृष्ट्वा मनुष्यश्चकितो भवति तथैव कार्य्यमित्यर्थः ॥ ५१ ॥

भाषार्थ ॥

(तत्र स्थिर०) अर्थात् जिस में सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो उसको आसन कहते हैं अथवा जैसी रुचि हो वैसा आसन करे ॥ ४८ ॥ (ततोद्वन्द्वा०) जब आसन दृढ़ होता है तब उपासना करने में कुछ परिश्रम करना नहीं पड़ता है और न सर्दी गर्मी अधिक बाधा करती है ॥ ४९ ॥ (तस्मिन्सति०) जो वायु बाहर से भीतर

को आता है उस को श्वास और जो भीतर से बाहर जाता है उस को प्रश्वास कहते हैं। उन दोनों के जाने आने को विचार से रोके, नासिका को हाथ से कभी न पकड़े किन्तु ज्ञान से ही इन के रोकने को प्राणायाम कहते हैं और यह प्राणायाम चार प्रकार से होता है ॥ ४० ॥ (स तु बाह्य) अर्थात् एक बाह्य विषय दूसरा आभ्यन्तर विषय तीसरा स्तम्भवृत्ति और चौथा जो बाहर भीतर रोकने से होता है ॥ ४१ ॥ अर्थात् जो कि (बाह्याभ्यं०) इस सूत्र का विषय। वे चार प्राणायाम इस प्रकार से होते हैं कि जब भीतर से बाहर को श्वास निकले तब उस को बाहर ही रोक दे इस को प्रथम प्राणायाम कहते हैं जब बाहर से श्वास भीतर को आवे तब उस को जितना रोक सके उतना भीतर ही रोक दे इस को दूसरा प्राणायाम कहते हैं तीसरा स्तम्भवृत्ति है कि न प्राण को बाहर निकाले और न बाहर से भीतर लेजाय, किन्तु जितनी देर सुख से हो सके उस को जहां का तहां ज्यों का त्यों एक दम रोक दे और चौथा यह है कि जब श्वास भीतर से बाहर को आवे तब बाहर ही कुछ २ रोकता रहे और जब बाहर से भीतर जावे तब उस को भीतर ही थोड़ा २ रोकता रहे इस को बाह्याभ्यन्तराक्षेपी कहते हैं और इन चारों का अनुष्ठान इसलिये है कि जिससे चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर रहे ॥ ४२ ॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ४२ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५२ ॥ एवं प्राणायामाभ्यासाद्यत्परमेश्वरस्यान्तर्यामिनः प्रकाशे सत्यविवेकस्यावरणाख्यमज्ञानमस्ति तत्क्षीयते क्षयं प्राप्नोतीति ॥ ४२ ॥ किंच धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ४३ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५३ ॥ भा० प्राणायामाभ्यासादेव प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्येति वचनात् ॥ ४३ ॥ प्राणायामानुष्ठानेनोपासकानां मनसो ब्रह्मध्याने सम्यग्योग्यता भवति ॥ ४३ ॥ अथ कः प्रत्याहारः ॥ स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्यहारः ॥ ४४ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५४ ॥ यदा चित्तं जितं भवति परमेश्वरस्मरणालम्बनाद्विषयान्तरे नैव गच्छति तदिन्द्रियाणां प्रत्याहारोऽर्थान्निरोध भवति। कस्य केषामिव यथा चित्तं परमेश्वरस्वरूपस्थं भवति तथैवेन्द्रियाण्यप्यर्थाच्चित्ते जिते सर्वमिन्द्रियादिकं जितं भवतीति विज्ञेयम् ॥ ४४ ॥ ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ४५ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५५ ॥ ततस्तदनन्तरं स्वस्वविषयासंप्रयोगेऽर्थात्स्वस्वविषयान्निवृत्तौ सत्यामिन्द्रियाणां परमावश्यता यथावद्विजयो जायते स उपासको यदा यदेश्वरोपासनं कर्त्तुं प्रवर्त्तते तदा तदैव चित्तस्येन्द्रियाणां च वश्यत्वं कर्त्तुं शक्नोतीति ॥ ४५ ॥ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ ४६ ॥

अ० १ । पा० ३ । सू० १ ॥ भा० नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति बन्धो धारणा ॥ ४६ ॥ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ ४७ ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० २ ॥ तस्मिन्देशेऽध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ॥ ४७ ॥ तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ४८ ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० ३ ॥ ध्यानसमाध्योरयं भेदः ध्याने मनसो ध्यातृध्यानध्येयाकारेण विद्यमाना वृत्तिर्भवति समाधौ तु परमेश्वरस्वरूपे तदानन्दे च मग्नः स्वरूपशून्य इव भवतीति ॥ ४८ ॥ त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४९ ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० ४ ॥ भा० तदेतद् धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः । एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति ॥ ४९ ॥ संयमश्चोपासनाया नवमाङ्गम् ॥

भाषार्थ ॥

इस प्रकार प्राणायामपूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का आवरण अर्थात् ढांकने वाला जो अज्ञान है वह नित्यप्रति नष्ट होता जाता है और ज्ञान का प्रकाश धीरे २ बढ़ता जाता है, उस अभ्यास से यह भी फल होता है कि ॥ ४३ ॥ (किञ्च धारणा०) परमेश्वर के बीच में मन और आत्मा की धारणा होने से मोक्षपर्यन्त उपासनायोग और ज्ञान की योग्यता बढ़ती जाती है तथा उस से व्यवहार और परमार्थ का विवेक भी बराबर बढ़ता रहता है इसी प्रकार प्राणायाम करने से भी जान लेना ॥ ४४ ॥ (स्वविषया०) प्रत्याहार उस का नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है क्योंकि मन ही इन्द्रियों का चलाने वाला है ॥ ४५ ॥ (ततः पर०) तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय हो के जहां अपने मन को ठहराना वा चलाना चाहे उसी में ठहरा और चला सकता है फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है असत्य में कभी नहीं ॥ ४६ ॥ (देशबं०) जब उपासना योग के पूर्वोक्त पांचों अङ्ग सिद्ध हो जाते हैं तब उसका छठा अङ्ग धारणा भी यथावत् प्राप्त होती है । (धारणा) उसको कहते हैं कि मन को चञ्चलता से छुड़ा के नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर कर के ओंकार का जप और उस का अर्थ जो परमेश्वर है उस का विचार करना तथा ॥ ४७ ॥ (तत्र प्र०) धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान

करने और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है उस के प्रकाश और आनन्द में अत्यन्त विचार और प्रेम भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है- उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना इसी का नाम ध्यान है इन सात अङ्गों का फल समाधि है ॥ ४८ ॥ (तदेवार्थ०) जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जान के आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं ॥ ध्यान और समाधि में इतना ही भेद है कि ध्यान में तो ध्यान करने वाला जिस मन से जिस चीज़ का ध्यान करता है वे तीनों विद्यमान रहते हैं परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्दस्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है वहां तीनों का भेदभाव नहीं रहता जैसे मनुष्य जल में डुबकी मारके थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न हो के फिर बाहर को आजाता है ॥ ४९ ॥ (त्रयमेकत्र०) जिस देश में धारणा की जाय उसी में ध्यान और उसी में समाधि अर्थात् ध्यान करने के योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को संयम कहते हैं जो एक ही काल में तीनों का मेल होना है अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है उन में बहुत सूक्ष्म काल का भेद रहता है परन्तु जब समाधि होती है तब आनन्द के बीच में तीनों का फल एक ही हो जाता है ॥ ५० ॥

अथोपासनाविषये उपनिषदां प्रमाणानि ॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ कठोपनि० वल्ली० २ । मं० २४ ॥ तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्य्यां चरन्तः । सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ २ ॥ मुण्ड० १ । खं० २ । मं० ११ ॥ अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ ३ ॥ तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ ४ ॥ स ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्य्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समा-

हितमिति ॥ ५ ॥ तं चेद् ब्रूयुरस्मिंश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वंसमाहितंसर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैनज्जरावाप्नोति प्रध्वंसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥ ६ ॥ स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्य्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्म पुरमस्मिन् कामाः समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पो यथाह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥ ७ ॥ छान्दोग्योपनि० प्रपा० ८ ॥ खं० १ । २ । ३ । ४ । ५ ॥ अस्य सर्वस्य भाषायामभिप्रायः प्रकाशयिष्यते ॥ सेयं तस्य परमेश्वरस्योपासना द्विविधास्ति ॥ एका सगुणा द्वितीया निर्गुणा चेति । तद्यथा । (सपर्य्यगाच्छुक्र०) इत्यस्मिन् मन्त्रे शुक्रशुद्धमिति सगुणोपासनम् । अकायमव्रणमस्नाविरमित्यादि निर्गुणोपासनं च । तथा । एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । सर्वाध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ १ ॥

भाषार्थ ॥

यह उपासनायोग दुष्ट मनुष्य को सिद्ध नहीं होता क्योंकि (नाविरतो०) जब तक मनुष्य दुष्ट कामों से अलग होकर अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं करता तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता तब तक कितना ही पढ़े वा सुने उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥ १ ॥ (तपः श्रद्धे०) जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उस की आज्ञा में अत्यन्त प्रेम कर के अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदयरूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं । जो लोग अधर्म के छोड़ने और धर्म के करने में दृढ़ तथा वेदादि सत्य विद्याओं में विद्वान् हैं, जो भिक्षाचर्य्य आदि कर्म करके संन्यास वा किसी अन्य आश्रम में हैं इस प्रकार के गुणवाले मनुष्य (सूर्य्यद्वारेण०) प्राणद्वार से परमेश्वर के सत्य राज्य में प्रवेश करके (विरजाः) अर्थात् सब दोषों से छूट के परमानन्द मोक्ष को प्राप्त होते हैं जहां कि पूर्ण पुरुष सब में भरपूर सब से सूक्ष्म (अमृतः) अर्थात् अविनाशी और जिस में हानि लाभ कभी नहीं होता ऐसे परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं, जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उस में प्रवेश किया चाहें उस समय इस रीति से करें कि ॥ २ ॥ (अथ यदिद०) कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदयदेश है जिस को ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर

का नगर कहते हैं उस के बीच में जो गर्त है उस में कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है और उस के बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस होकर भर रहा है वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है ॥ ३ ॥ और कदाचित् कोई पूछे कि (तं चेद् ब्रूयु०) अर्थात् उस हृदयाकाश में क्या रक्खा है जिसकी खोजना की जाय तो उसका उत्तर यह है कि ॥ ४ ॥ (स ब्रूयाद्या०) हृदय देश में जितना आकाश है वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर ही से भर रहा है और उसी हृदयाकाश के बीच में सूर्य्य आदि प्रकाश तथा पृथिवीलोक अग्नि वायु सूर्य चन्द्र बिजुली और सब नक्षत्र लोक भी ठहर रहे हैं। जितने दीखने वाले और नहीं दीखने वाले पदार्थ हैं वे सब उसी की सत्ता के बीच में स्थिर हो रहे हैं ॥ ५ ॥ (तं चेद् ब्रूयु०) इसमें कोई ऐसी शङ्का करे कि जिस ब्रह्मपुर हृदयाकाश में सब भूत और काम स्थिर होते हैं उस हृदयदेश के वृद्धावस्था के उपरान्त नाश हो जाने पर उस के बीच में क्या बाकी रह जाता है कि जिस को तुम खोजने को कहते हो तो इसका उत्तर यह है ॥ ६ ॥ (स ब्रूयात्) सुनो भाई उस ब्रह्मपुर में जो परिपूर्ण परमेश्वर है उस को न तो कभी वृद्धावस्था होती है और न कभी नाश होता है उसी का नाम सत्य ब्रह्मपुर है कि जिस में सब काम परिपूर्ण हो जाते हैं वह (अपहतपाप्मा०) अर्थात् सब पापों से रहित शुद्धस्वभाव (विजरः) जरा अवस्थारहित (विशोकः) शोकरहित (विजिघत्सोपि०) जो खाने पीने की इच्छा कभी नहीं करता (सत्यकामः) जिस के सब काम सत्य हैं (सत्यसङ्कल्पः) जिस के सब संकल्प भी सत्य हैं उसी आकाश में प्रलय होने के समय सब प्रजा प्रवेश कर जाती है और उसी के रचने से उत्पत्ति के समय फिर प्रकाशित होती है इस पूर्वोक्त उपासना से उपासक लोग जिस २ काम की जिस २ देश की जिस २ क्षेत्रभाग अर्थात् अवकाश की इच्छा करते हैं उन सब को वे यथावत् प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥ सो उपासना दो प्रकार की है एक सगुण और दूसरी निर्गुण उनमें से (स पर्य्यगा०) इस मन्त्र के अर्थानुसार शुक्र अर्थात् जगत् का रचने वाला वीर्यवान् तथा शुद्ध कवि मनीषी परिभू और स्वयंभू इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण है और अकाय अव्रण अस्नाविर० इत्यादि गुणों के निषेध होने से वह निर्गुण कहाता है। तथा ॥

एको देव इत्यादिसगुणोपासनम्, निर्गुणश्चेति वचनान्निर्गुणोपासनम्, तथा सर्वज्ञादिगुणैः सह वर्त्तमानः सगुणः अविद्यादिक्लेशपरिमाणद्वित्वादिसंख्याशब्दस्पर्शरूपरसगन्धादिगुणेभ्यो निर्गतत्वान्निर्गुणः। तद्यथा। परमेश्वरः सर्वतः

सर्वव्यापी सर्वाध्यक्षः सर्वस्वामी चेत्यादिगुणैः सह वर्त्तमानत्वात् परमेश्वरस्य सगुणोपासनं विज्ञेयम्, तथा सोऽजोऽथाज्जन्मरहितः (अव्रणः) छेदरहितः । निराकारः । आकाररहितः । अकायः । शरीरसम्बन्धरहितः । तथैव रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणादयो गुणास्तस्मिन्न सन्तीदमेव तस्य निर्गुणोपासनं ज्ञातव्यम् । अतो देहधारणेनेश्वरः सगुणो भवति देहत्यागेन निर्गुणश्चेति या मूढानां कल्पनास्ति सा वेदादिशास्त्रप्रमाणविरुद्धा विद्वदनुभवविरुद्धा चास्ति तस्मात्सज्जनैर्व्यर्थेयं रीतिः सदा त्याज्येति शिवम् ॥

भाषार्थ ॥

(एको देवः०) एक देव इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण और (निर्गुणश्च०) इस के कहने से निर्गुण समझा जाता है तथा ईश्वर के सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् शुद्ध सनातन न्यायकारी दयालु सब में व्यापक सब का आधार मङ्गलमय सबकी उत्पत्ति करने वाला और सब का स्वामी इत्यादि सत्यगुणों के ज्ञानपूर्वक उपासना करने को सगुणोपासना कहते हैं और वह परमेश्वर कभी जन्म नहीं लेता निराकार अर्थात् आकारवाला कभी नहीं होता अकाय अर्थात् शरीर कभी नहीं धारता अव्रण अर्थात् जिसमें छिद्र कभी नहीं होता जो शब्द स्पर्श रूप रस और गन्धवाला कभी नहीं होता जिसमें दो तीन आदि संख्या की गणना नहीं बन सकती जो लम्बा चौड़ा और हलका भारी कभी नहीं होता इत्यादि गुणों के निवारणपूर्वक उसका स्मरण करने को निर्गुण उपासना कहते हैं । इससे क्या सिद्ध हुआ कि जो अज्ञानी मनुष्य ईश्वर के देहधारण करने से सगुण और देहत्याग करने से निर्गुण उपासना कहते हैं, सो यह उन की कल्पना सब वेद शास्त्रों के प्रमाणों और विद्वानों के अनुभव से विरुद्ध होने के कारण सज्जन लोगों को कभी न माननी चाहिये किन्तु सब को पूर्वोक्त रीति से ही उपासना करनी चाहिये ॥

इति संक्षेपतो ब्रह्मोपासनाविधानम् ॥

अथ मुक्तिविषयः संक्षेपतः ॥

एवं परमेश्वरोपासनेनाविद्याऽधर्माचरणनिवारणाच्छुद्धविज्ञानधर्मानुष्ठानोन्नतिभ्यां जीवो मुक्तिं प्राप्नोतीति ॥ अथात्र योगशास्त्रस्य प्रमाणानि तद्यथा । अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः ॥ १ ॥ अविद्याक्षेत्रमु-

त्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ २ ॥ अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ३ ॥ दृक्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ४ ॥ सुखानुशयी रागः ॥ ५ ॥ दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ६ ॥ स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ७ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ३-६ ॥ तदभावात्संयोगाभावो हानन्तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ अ० १ । पा० २ । सू० २५ ॥ तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ९ ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० ४८ ॥ सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ १ ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० ५३ ॥ तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ ११ ॥ अ० १ । पा० ४ । सू० २६ ॥ पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ १२ ॥ अ० १ । पा० ४ । सू० ३४ ॥ अथ न्यायशास्त्रप्रमाणानि ॥ दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ १ ॥ बाधनालक्षणं दुःखमिति ॥ २ ॥ तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ ३ ॥ न्यायद० अ० १ । आह्निक १ । सू० २ । २१ । २२ ॥

भाषार्थ ॥

इसी प्रकार परमेश्वर की उपासना करके अविद्या आदि क्लेश तथा अधर्म्माचरण आदि दुष्ट गुणों को निवारण करके शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है अब इस विषय में प्रथम योगशास्त्र का प्रमाण लिखते हैं । पूर्व लिखी हुई चित्त की पांच वृत्तियों को यथावत् रोकने और मोक्ष के साधन में सब दिन प्रवृत्त रहने से नीचे लिखे हुये पांच क्लेश नष्ट हो जाते हैं । वे क्लेश ये हैं (अविद्या०) एक (अविद्या) दूसरा (अस्मिता) तीसरा (राग) चौथा (द्वेष) और पांचवां (अभिनिवेश) ॥ १ ॥ (अविद्याक्षेत्र०) उन में से अस्मितादि चार क्लेशों और मिथ्याभाषणादि दोषों की माता अविद्या है जो कि मूढ़ जीवों को अन्धकार में फँसा के जन्ममरणादि दुःखसागर में सदा डुबाती है । परन्तु जब विद्वान् और धर्मात्मा उपासकों की सत्यविद्या से अविद्या (विच्छिन्न) अर्थात् छिन्नभिन्न होके (प्रसुप्ततनु) नष्ट हो जाती है तब वे जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं ॥ २ ॥ अविद्या के लक्षण ये हैं (अनित्या०) (अनित्य) अर्थात् कार्य्य (जो शरीर आदि स्थूल पदार्थ तथा लोक लोकान्तर में नित्यबुद्धि) तथा जो (नित्य) अर्थात् ईश्वर जीव जगत् का कारण क्रिया क्रियावान् गुण गुणी और धर्म धर्मी हैं इन नित्य पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध है इन में अनित्यबुद्धि का होना यह

अविद्या का प्रथम भाग है तथा (अशुचि) मल मूत्र आदि के समुदाय दुर्गन्धरूप मल से परिपूर्ण शरीर में पवित्रबुद्धि का करना तथा तलाव, बावरी, कुण्ड, कूंआ और नदी आदि में तीर्थ और पाप छुड़ाने की बुद्धि करना और उन का चरणामृत पीना, एकादशी आदि मिथ्या व्रतों में भूख प्यास आदि दुःखों का सहना स्पर्श इन्द्रिय के भोग में अत्यन्त प्रीति करना इत्यादि अशुद्ध पदार्थों को शुद्ध मानना और सत्यविद्या, सत्यभाषण, धर्म, सत्सङ्ग, परमेश्वर की उपासना, जितेन्द्रियता, सर्वोपकार करना सब से प्रेम-भाव से वर्त्तना आदि शुद्धव्यवहार और पदार्थों में अपवित्रबुद्धि करना यह अविद्या का दूसरा भाग है तथा दुःख में सुखबुद्धि अर्थात् विषयतृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, ईर्षा, द्वेष आदि दुःखरूप व्यवहारों में सुख मिलने की आशा करना, जितेन्द्रियता, निष्काम, शम, संतोष, विवेक, प्रसन्नता, प्रेम, मित्रता आदि सुखरूप व्यवहारों में दुःख-बुद्धि का करना यह अविद्या का तीसरा भाग है, इसी प्रकार अनात्मा में आत्मबुद्धि अर्थात् जड़ में चेतनभाव और चेतन में जड़भावना करना अविद्या का चतुर्थ भाग है। यह चार प्रकार की अविद्या संसार के अज्ञानी जीवों को बन्धन का हेतु होके उनको सदा नचाती रहती है परन्तु विद्या अर्थात् पूर्वोक्त अनित्य अशुचि दुःख और अनात्मा में अनित्य अपवित्रता दुःख और अनात्मबुद्धि का होना तथा नित्य शुचि सुख और आत्मा में नित्य पवित्रता सुख और आत्मबुद्धि करना यह चार प्रकार की विद्या है। जब विद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है तब बन्धन से छूट के जीव मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥ (अस्मिता०) दूसरा क्लेश (अस्मिता) कहाता है अर्थात् जीव और बुद्धि को मिले के समान देखना अभिमान और अहङ्कार से अपने को बड़ा समझना इत्यादि व्यवहार को अस्मिता जानना जब सम्यक् विज्ञान से अभिमान आदि के नाश होने से इस की निवृत्ति हो जाती है तब गुणों के ग्रहण में रुचि होती है ॥ ४ ॥ तीसरा (सुखानु०) राग अर्थात् जो २ सुख संसार में साक्षात् भोगने में आते हैं उनके संस्कार की स्मृति से जो तृष्णा के लोभसागर में बहना है इसका नाम राग है। जब ऐसा ज्ञान मनुष्य को होता है कि सब संयोग वियोग संयोगवियोगान्त हैं अर्थात् वियोग के अन्त में संयोग और संयोग के अन्त में वियोग तथा वृद्धि के अन्त में क्षय और क्षय के अन्त में वृद्धि होती है तब इसकी निवृत्ति होजाती है ॥ ५ ॥ (दुःखानु०) चौथा द्वेष कहाता है। अर्थात् जिस अर्थ का पूर्व अनुभव किया गया हो उस पर और उसके साधनों पर सदा क्रोधबुद्धि होना इसकी निवृत्ति भी रागकी निवृत्ति से ही होती है ॥ ६ ॥ (स्वरसवा०) पांचवां (अभिनिवेश) क्लेश है जो सब प्राणियों को नित्य आशा होती

है कि हम सदैव शरीर के साथ बने रहैं अर्थात् कभी मरें नहीं सो पूर्वजन्म के अनुभव से होती है और इससे पूर्वजन्म भी सिद्ध होता है क्योंकि छोटे २ कृमि चींटी आदि जीवों को भी मरण का भय बराबर बना रहता है इसी से इस क्लेश को अभिनिवेश कहते हैं जो कि विद्वान् मूर्ख तथा क्षुद्रजन्तुओं में भी बराबर दीख पड़ता है इस क्लेश की निवृत्ति उस समय होगी कि जब जीव परमेश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण को नित्य और कार्य्यद्रव्य के संयोग वियोग को अनित्य जानलेगा इन क्लेशों की शान्ति से जीवों को मोक्षसुख की प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥ (तदभावात्०) अर्थात् जब अविद्यादि क्लेश दूर होके विद्यादि शुभ गुण प्राप्त होते हैं तब जीव सब बन्धनों और दुःखों से छूट के मुक्ति को प्राप्त होजाता है ॥ ८ ॥ (तद्वैराग्या०) अर्थात् शोकरहित आदि सिद्धि से भी विरक्त होके सब क्लेशों और दोषों का बीज जो अविद्या है उस के नाश करने के लिये यथावत् प्रयत्न करे क्योंकि उस के नाश के विना मोक्ष कभी नहीं हो सकता ॥ ९ ॥ तथा (सत्वपुरुष) अर्थात् सत्व जो बुद्धि, पुरुष जो जीव इन दोनों की शुद्धि से मुक्ति होती है अन्यथा नहीं ॥ १० ॥ (तदा विवेक०) जब सब दोषों से अलग होके ज्ञान की ओर आत्मा झुकता है तब कैवल्य मोक्ष धर्म के संस्कार से चित्त परिपूर्ण होजाता है तभी जीव को मोक्ष प्राप्त होता है क्योंकि जब तक बन्धन के कामों में जीव फसता जाता है तब तक उस को मुक्ति प्राप्त होना असम्भव है ॥ ११ ॥ कैवल्य मोक्ष का लक्षण यह है कि (पुरुषार्थ) अर्थात् कारण के सत्व रजो और तमोगुण और उन के सब कार्य्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर आत्मा में विज्ञान और शुद्धि यथावत् हो के स्वरूपप्रतिष्ठा जैसा जीव का तत्व है वैसा ही स्वाभाविक शक्ति और गुणों से युक्त हो के शुद्धस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप विज्ञान प्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहना है उसी को कैवल्य मोक्ष कहते हैं ॥ १२ ॥ अब मुक्तिविषय में गोतमाचार्य्य के कहे हुए न्यायशास्त्र के प्रमाण लिखते हैं (दुःखजन्म०) जब मिथ्याज्ञान अर्थात् अविद्या नष्ट हो जाती है तब जीव के सब दोष नष्ट हो जाते हैं उसके पीछे (प्रवृत्ति०) अर्थात् अधर्म अन्याय विषयाशक्ति आदि की वासना सब दूर होजाती है उसके नाश होने से (जन्म) अर्थात् फिर जन्म नहीं होता उस के न होने से सब दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है । दुःखों के अभाव से पूर्वोक्त परमानन्द मोक्ष में अर्थात् सब दिन के लिये परमात्मा के साथ आनन्द ही आनन्द भोगने को बाकी रह जाता है इसी का नाम मोक्ष है ॥ १ ॥ (बाधना०) सब प्रकार की बाधा अर्थात् इच्छाविघात और परतन्त्रता का नाम दुःख है ॥ २ ॥ (तदत्यन्त०) फिर उस दुःख के अत्यन्त अभाव और परमात्मा के नित्य योग करने से जो सब दिन के लिये परमानन्द प्राप्त होता है उसी सुख का नाम मोक्ष है ॥ ३ ॥

अथ वेदान्तशास्त्रस्य प्रमाणानि ॥

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १ ॥ भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ २ ॥ द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोतः ॥ ३ ॥ अ० ४ । पा० ४ । सू० १० । ११ । १२ ॥ यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ॥ बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥ १ ॥ तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ॥ अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ २ ॥ यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ॥ अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ ३ ॥ यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ॥ अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥ ४ ॥ कठो० वल्ली० ६ । मं० १० । ११ । १४ । १५ ॥ दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥ ५ ॥ य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषाꣳ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य जानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥ ६ ॥ यदन्तरापस्तद्ब्रह्म तदमृतꣳ स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि सहाहं यशसां यशः ॥ ७ ॥ छान्दोग्योपनि० प्रपा० ॥ ८ ॥ अणुः पन्था वितरः पुराणो माꣳस्पृष्टो वित्तो मयैव ॥ तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविद उत्क्रम्य स्वर्गं लोकमितो विमुक्ताः ॥ ८ ॥ तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च ॥ एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्तैजसः पुण्यकृच्च ॥ ९ ॥ प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः ॥ ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यं मनसैवाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ॥ १० ॥ मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम् ॥ ११ ॥ विरजः पर आकाशात् अज आत्मा महाध्रुवः ॥ तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ॥ १२ ॥ श० कां० १४ । अ० ७ ॥

भाषार्थ ॥

अब व्यासोक्त वेदान्तदर्शन और उपनिषदों में जो मुक्ति का स्वरूप और लक्षण लिखा है सो आगे लिखते हैं (अभावं) व्यासजी के पिता जो बादरि आचार्य्य थे उनका मुक्तिविषय में ऐसा मत है कि जब जीव मुक्तिदशा को प्राप्त होता है तब

वह शुद्ध मन से परमेश्वर के साथ परमानन्द मोक्ष में रहता है और इन दोनों से भिन्न इन्द्रियादि पदार्थों का अभाव होजाता है ॥ १ ॥ तथा (भावं जैमिनि०) इसी विषय में व्यासजी के मुख्य शिष्य जो जैमिनि थे उनका ऐसा मत है कि जैसे मोक्ष में मन रहता है वैसे ही शुद्धसंकल्पमय शरीर तथा प्राणादि और इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति भी बराबर बनी रहती है क्योंकि उपनिषद् में (स एकधा भवति द्विधा भवति त्रिधा भवति) इत्यादि वचनों का प्रमाण है कि मुक्ति जीव सङ्कल्पमात्र से ही दिव्यशरीर रच लेता है और इच्छामात्र ही से शीघ्र छोड़ भी देता है और शुद्ध ज्ञान का सदा प्रकाश बना रहता है ॥ २ ॥ (द्वादशाह) इस मुक्तिविषय में बादरायण जो व्यासजी थे उन का ऐसा मत है कि मुक्ति में भाव और अभाव दोनों ही बने रहते हैं अर्थात् क्लेश अज्ञान और अशुद्धि आदि दोषों का सर्वथा अभाव हो जाता है और परमानन्द ज्ञान शुद्धता आदि सब सत्यगुणों का भाव बना रहता है इस में दृष्टान्त भी दिया है कि जैसे वानप्रस्थ आश्रम में बारह दिन का प्राजापत्यादि व्रत करना होता है उस में थोड़ा भोजन करने से क्षुधा का थोड़ा अभाव और पूर्ण भोजन न करने से क्षुधा का कुछ भाव भी बना रहता है इसी प्रकार मोक्ष में भी पूर्वोक्त रीति से भाव और अभाव समझ लेना इत्यादि निरूपण मुक्ति का वेदान्तशास्त्र में किया है ॥ ३ ॥ अब मुक्तिविषय में उपनिषत्कारों का जो मत है सो भी आगे लिखते हैं कि (यदा पञ्चाव०) अर्थात् जब मन के सहित पांच ज्ञानेन्द्रिय परमेश्वर में स्थिर हो के उसी में सदा रमण करती हैं और जब बुद्धि भी ज्ञान से विरुद्ध चेष्टा नहीं करती उसी को परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं ॥ १ ॥ (तां योग०) उसी गति अर्थात् इन्द्रियों की शुद्धि और स्थिरता को विद्वान् लोग योग की धारणा मानते हैं जब मनुष्य उपासना योग से परमेश्वर को प्राप्त होके प्रमादरहित होता है तभी जानो की वह मोक्ष को प्राप्त हुआ । वह उपासनायोग कैसा है कि प्रभव अर्थात् शुद्धि और सत्यगुणों का प्रकाश करनेवाला तथा (अप्ययः) अर्थात् सब अशुद्धि दोषों और असत्य गुणों का नाश करने वाला है इसलिये केवल उपासना योग ही मुक्ति का साधन है ॥ २ ॥ (यदा सर्वे०) जब इस मनुष्य का हृदय सब बुरे कामों से अलग हो के शुद्ध हो जाता है तभी वह अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होके आनन्दयुक्त होता है (प्र०) क्या वह मोक्षपद कहीं स्थानान्तर वा पदार्थविशेष है क्या वह किसी एक ही जगह में है वा सब जगह में (उत्तर) नहीं ब्रह्म जो सर्वत्र व्यापक हो रहा है वही मोक्षपद कहाता है और मुक्त पुरुष उसी मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥ तथा (यदा सर्वे०) जब जीव की अविद्यादि बन्धन की सब गांठें छिन्न भिन्न होके टूट जाती हैं तभी वह मुक्ति को प्राप्त

होता है ॥ ४ ॥ (प्र०) जब मोक्ष में शरीर और इन्द्रियां नहीं रहतीं तब वह जीवात्मा व्यवहार को कैसे जानता और देख सकता (उत्तर) (दैवेन०) वह जीव शुद्ध इन्द्रिय और शुद्धमन से इन आनन्दरूप कामों को देखता और भोगता भया उस में सदा रमण करता है क्योंकि उस का मन और इन्द्रियां प्रकाशस्वरूप होजाती हैं ॥ ५ ॥ (प्र०) वह मुक्तजीव सब सृष्टि में घूमता है अथवा कहीं एक ही ठिकाने बैठा रहता है (उ०) (य एते ब्रह्मलोके०) जो मुक्त पुरुष होते हैं वे ब्रह्मलोक अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त होके और सब के आत्मारूप परमेश्वर की उपासना करते हुए उसी के आश्रय से रहते हैं इसी कारण से उन का जाना आना सब लोकलोकान्तरों में होता है उन के लिये कहीं रुकावट नहीं रहती और उन के सब काम पूर्ण होजाते हैं कोई काम अपूर्ण नहीं रहता इसलिये जो मनुष्य पूर्वोक्त रीति से परमेश्वर को सब का आत्मा जान के उस की उपासना करता है वह अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त होता है यह बात प्रजापति परमेश्वर सब जीवों के लिये वेदों में बताता है ॥ ६ ॥ पूर्व प्रसङ्ग का अभिप्राय यह है कि मोक्ष की इच्छा सब जीवों को करनी चाहिये (यदन्तरा०) जो कि आत्मा का भी अन्तर्यामी है उसी को ब्रह्म कहते हैं और वही अमृत अर्थात् मोक्षस्वरूप है और जैसे वह सब का अन्तर्यामी है वैसे उस का अन्तर्यामी कोई भी नहीं किन्तु वह अपना अन्तर्यामी आपही है । ऐसे प्रजानाथ परमेश्वर के व्याप्तिरूप सभास्थान को मैं प्राप्त होऊं और इस संसार में जो पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण हैं उनके बीच में (यशः) अर्थात् कीर्त्ति को प्राप्त होऊं तथा (राज्ञाम्) क्षत्रियों (विशाम्) अर्थात् व्यवहार में चतुर लोगों के बीच में यशस्वी होऊं । हे परमेश्वर मैं कीर्त्तियों का भी कीर्त्तिरूप होके आप को प्राप्त हुआ चाहता हूं आप भी कृपा करके मुझ को सदा अपने समीप रखिये ॥ ७ ॥ अब मुक्ति के मार्ग का स्वरूप वर्णन करते हैं (अणुः पन्था०) मुक्ति का जो मार्ग है सो अणु अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म है (विततः) उस मार्ग से सब दुःखों के पार सुगमता से पहुंच जाते हैं जैसे दृढ़ नौका से समुद्र को तर जाते हैं तथा (पुराणः) जो मुक्ति का मार्ग है वह प्राचीन है दूसरा कोई नहीं मुझ को (स्पृष्टः) वह ईश्वर की कृपा से प्राप्त हुआ है उसी मार्ग से विमुक्त मनुष्य सब दोष और दुःखों से छूटे हुए (धीराः) अर्थात् विचारशील और ब्रह्मवित् वेदविद्या और परमेश्वर के जाननेवाले जीव (उत्क्रम्य) अर्थात् अपने सत्य पुरुषार्थ से सब दुःखों का उल्लङ्घन करके (स्वर्गं लोकं०) सुखस्वरूप ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥ (तस्मिञ्छुक्ल०) अर्थात् उसी मोक्षपद में (शुक्ल) श्वेत (नील) शुद्ध घनश्याम (पिङ्गल) पीला श्वेत (हरित) हरा और (लोहित)

लाल ये सब गुणवाले लोक लोकान्तर ज्ञान से प्रकाशित होते हैं यही मोक्ष का मार्ग परमेश्वर के साथ समागम के पीछे प्राप्त होता है उसी मार्ग से ब्रह्म का जानने वाला तथा (तैजसः०) शुद्धस्वरूप और पुण्य का करने वाला मनुष्य मोक्षसुख को प्राप्त होता है अन्य प्रकार से नहीं ॥ ९ ॥ (प्राणस्य प्राण०) जो परमेश्वर प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र श्रोत्र, अन्न का अन्न और मन का मन है उस को जो विद्वान् निश्चय करके जानते हैं वे पुरातन और सब से श्रेष्ठ ब्रह्म को मन से प्राप्त होने के योग्य मोक्षसुख को प्राप्त होके आनन्द में रहते हैं (नेह ना०) जिस सुख में किञ्चित् भी दुःख नहीं है ॥ १० ॥ (मृत्योः स मृत्यु०) जो अनेक ब्रह्म अर्थात् दो, तीन, चार, दश, बीस जानता है वा अनेक पदार्थों के संयोग से बना जानता है वह वारंवार मृत्यु अर्थात् जन्ममरण को प्राप्त होता है क्योंकि वह ब्रह्म एक और चेतनमात्रस्वरूप ही है तथा प्रमादरहित और व्यापक हो के सब में स्थिर है उस को मन से ही देखना होता है क्योंकि ब्रह्म आकाश से भी सूक्ष्म है ॥ ११ ॥ (विरजः परआ०) जो परमात्मा विक्षेपरहित आकाश से परम सूक्ष्म (अजः) अर्थात् जन्मरहित और महाध्रुव अर्थात् निश्चल है ज्ञानी लोग उसी को जान के अपनी बुद्धि को विशाल करें और वह इसी से ब्राह्मण कहाता है ॥ १२ ॥

स होवाच । एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमस्पर्शमगन्धमरसमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनाममगोत्रमजरममरमभयममृतमरजोऽशब्दमविवृतमसंवृतमपूर्वमनपरमनन्तरमवाह्यं न तदश्नोति कञ्चन न तदश्नोति कश्चन ॥ १३ ॥ श० कां० १४ । अ० ६ । कं० ८ ॥ इति सूक्तैः प्राप्तव्यस्य मोक्षस्वरूपस्य सच्चिदानन्दादिलक्षणस्य परब्रह्मणः प्राप्त्या जीवस्सदासुखी भवतीति बोध्यम् ॥

अथ वैदिकप्रमाणम् ॥

ये युज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सुख्यमंमृतत्वमानुश । तेभ्यो भुद्रमंङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानुवं सुमेधसः ॥ १ ॥ ऋ० अ० ८ । अ० २ । व० १ । मं० १ ॥ स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नुध्यैरयन्त ॥ २ ॥ यजु० अ० ३२ । मं० १० ॥

अविद्यास्मितेत्यारभ्याध्येयन्तेत्यन्तेन मोक्षस्वरूपनिरूपणमस्तीति वेदितव्यम् । एषामर्थः प्राकृतभाषायां प्रकाश्यते ॥

भाषार्थ ॥

(स होवाच ए०) याज्ञवल्क्य कहते हैं, हे गार्गि ! जो परब्रह्म नाश, स्थूल, सूक्ष्म, लघु, लाल, चिक्कन, छाया, अन्धकार, वायु, आकाश, सङ्ग, शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस, नेत्र, कर्ण, मन, तेज, प्राण, मुख, नाम, गोत्र, वृद्धावस्था, मरण, भय, आकार, विकाश, संकोच, पूर्व, अपर, भीतर, बाह्य अर्थात् बाहर, इन सब दोष और गुणों से रहित मोक्षस्वरूप है । वह साकार पदार्थ के समान किसी को प्राप्त नहीं होता और न कोई उस को मूर्त्त द्रव्य के समान प्राप्त होता है क्योंकि वह सब में परिपूर्ण सब से अलग अद्भुतस्वरूप परमेश्वर है उस को प्राप्त होने वाला कोई नहीं हो सकता । जैसे मूर्त्त द्रव्य को चक्षुरादि इन्द्रियों से साक्षात् कर सकता है क्योंकि वह सब इन्द्रियों के विषयों से अलग और सब इन्द्रियों का आत्मा है तथा (ये यज्ञेन) अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञानरूप यज्ञ और आत्मादि द्रव्यों की परमेश्वर को दक्षिणा देने से वे मुक्त लोग मोक्ष सुख में प्रसन्न रहते हैं (इन्द्रस्य) जो परमेश्वर की सख्य अर्थात मित्रता से मोक्षभाव को प्राप्त हो गये हैं उन्हीं के लिये भद्र नाम सब सुख नियत किये गये हैं (अङ्गिरसः) अर्थात् उन के जो प्राण हैं वे (सुमेधसः) उन की बुद्धि को अत्यन्त बढ़ाने वाले होते हैं और उस मोक्षप्राप्त मनुष्य को पूर्व मुक्त लोग अपने समीप आनन्द में रख लेते हैं और फिर वे परस्पर अपने ज्ञान से एक दूसरे को प्रीतिपूर्वक देखते और मिलते हैं (स नो बन्धु०) सब मनुष्यों को यह जानना चाहिये कि वही परमेश्वर हमारा बन्धु अर्थात् दुःख का नाश करने वाला (जनिता) सब सुखों का उत्पन्न और पालन करने वाला है तथा वही सब कामों का पूर्णकर्त्ता और सब लोकों को जानने वाला है कि जिस में देव अर्थात् विद्वान् लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं और वे तीसरे धाम अर्थात् शुद्ध सत्व से सहित होके सर्वोत्तम सुख में सदा स्वच्छन्दता से रमण करते हैं ॥ २ ॥ इस प्रकार संक्षेप से मुक्ति विषय कुछ तो वर्णन करदिया और कुछ आगे भी कहीं २ करेंगे सो जानलेना । जैसे (वेदाहमेतं) इस मन्त्र में भी मुक्ति का विषय कहा गया है ॥

इति मुक्तिविषयः संक्षेपतः ॥

अथ नौविमानादिविद्याविषयस्संक्षेपतः ॥

तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः । तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः ॥ १ ॥ तिस्रः क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भिर्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः । समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः शतपद्भिः षडश्वैः ॥ २ ॥ ऋ० अ० १ । अ० ८ । व० ८ । मं० ३ । ४ ॥

भाष्यम् ॥

एषामभिप्रायः तुग्रो हेत्यादिषु मन्त्रेषु शिल्पविद्या विधीयत इति । (तुग्रो ह०) तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु । अस्माद्धातोरौणादिके रक्प्रत्यये कृते तुग्र इति पदं जायते । यः कश्चिद् धनाभिलाषी भवेत् स (रयिं) धनं कामयमानो (भुज्युं) पालनभोगमयं धनादिपदार्थभोगमिच्छन् विजयं च । पदार्थविद्यया स्वाभिलाषं प्राप्नुयात् । स च (अश्विना०) पृथिवीमयैः काष्ठलोष्ठादिभिः पदार्थैर्नावं रचयित्वाऽग्निजलादिप्रयोगेण (उदमेघे) समुद्रे गमयेदागमयेच्च तेन द्रव्यादिसिद्धिं साधयेत् । एवं कुर्वन् न कश्चिन् ममृवान् योगक्षेमविरहः सन् न मरणं कदाचित् प्राप्नोति कुतः तस्य कृतपुरुषार्थत्वात् । अतो नावं (अवाहाः) अर्थात् समुद्रे द्वीपान्तरगमनं प्रति नावो वाहनावहने परमप्रयत्नेन नित्यं कुर्यात् । कौ साधयित्वा (अश्विना) द्यौरिति द्योतनात्मकाग्निप्रयोगेण पृथिव्या पृथिवीमयेनायस्ताम्ररजतधातुकाष्ठादिमयेन चेयं क्रिया साधनीया । अश्विनौ युवां तौ साधितौ द्वौ नावादिकं यानं (ऊहथुः) देशान्तरगमनं सम्यक्सुखेन प्रापयतः । पुरुषव्यत्ययेनात्र प्रथमपुरुषस्थाने मध्यमपुरुषप्रयोगः । कथंभूतैर्यानैः (नौभिः) समुद्रे गमनागमनहेतुरूपाभिः । (आत्मन्वतीभिः) स्वयं स्थिताभिः स्वात्मीयास्थिताभिर्वा । राजपुरुषैर्व्यापारिभिश्च मनुष्यैर्व्यवहारार्थं समुद्रमार्गेण तासां गमनागमने नित्यं कार्य्ये इति शेषः । तथा ताभ्यामुक्तप्रयत्नाभ्यां भूयांस्यन्यान्यपि विमानादीनि साधनीयानि । एवमेव (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अन्तरिक्षं प्रति गन्तृभिर्विमानाख्ययानैः साधितैः सर्वैर्मनुष्यैः परमैश्वर्यं सम्यक् प्रापणीयम् ॥ पुनः कथम्भूताभिर्नौभिः (अपोदकाभिः) अपगतं दूरीकृतं जल-

लेपो यासां ता अपोदका नावः । अर्थात् सचिक्कनास्ताभिः । उदरे जलागमनरहिताभिश्च समुद्रे गमनं कुर्य्यात्तथैव भूयानैर्भूमौ जलयानैर्जले अन्तरिक्षयानैश्चान्तरिक्षे चेति त्रिविधं यानं रचयित्वा जलभूम्याकाशगमनं यथावत् कुर्य्यादिति ॥ १ ॥ अत्र प्रमाणम् । अथातो द्युस्थाना देवतास्तासामश्विनौ प्रथमगामिनौ भवतोऽश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्योऽश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभस्तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येकेसूर्य्याचन्द्रमसावित्येके ॥ निरु० अ० १२ । खं० १ ॥ तथाश्विनौ चापि भर्त्तारौ जर्भरीभर्त्तारावित्यर्थस्तुर्फरी तू हन्तारौ ॥ उदन्यजेवेत्युदकजे इव रत्ने सामुद्रे ॥ निरु० अ० ३ । खं० ५ ॥ एतैः प्रमाणैरेतत्सिध्यति वायुजलाग्निपृथिवीविकारकलाकौशलसाधनेन त्रिविधं यानं रचनीयमिति ॥ १ ॥ (तिस्रः क्षपस्त्रिरहा०) कथम्भूतैर्नावादिभिः तिसृभीरात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैः । (आर्द्रस्य) जलेन पूर्णस्य समुद्रस्य तथा (धन्वनः) स्थलस्यान्तरिक्षस्य पारे (अतिव्रजद्भिः अत्यन्तवेगवद्भिः । पुनः कथम्भूतैः (पतङ्गैः) प्रतिपातं वेगेन गन्तृभिः । तथा (त्रिभीरथैः) त्रिभी रमणीयसाधनैः (शतपद्भिः) शतेनासंख्यातेन वेगेन पद्भ्यां यथा गच्छेत्तादृशैरत्यन्तवेगवद्भिः (षडश्वैः) षडश्वा आशुगमनहेतवो यन्त्राण्यग्निस्थानानि वा येषु तानि षडश्वानि तैःषडश्वैर्यानैस्त्रिषु मार्गेषु सुखेन गन्तव्यमिति शेषः । तेषां यानानां सिद्धिः केन द्रव्येण भवतीत्यत्राह ॥ (नासत्या) पूर्वोक्ताभ्यामश्विभ्याम् । अत एवोक्तं नासत्यौ द्यावापृथिव्यौ तानि यानानि (ऊहथुः) इत्यत्र पुरुषव्यत्ययेन प्रथमस्य स्थानं मध्यमः । प्रत्यक्षविषयवाचकत्वात् अत्र प्रमाणम् । व्यत्ययो बहुलम् । अष्टाध्याय्याम् ॥ अ० ३ । पा० १ ॥ अत्राह महाभाष्यकारः ॥ सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च । व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोपि च सिध्यति बाहुलकेनेति महाभाष्यप्रामाण्यात् ॥ तावेव नासत्यावश्विनौ सम्यग् यानानि वहत इत्यत्र सामान्यकाले लिड्विधानात् । ऊहथुरित्युक्तम् । तावेव तेषां यानानां मुख्ये साधने स्तः ॥ एवं कुर्वतो भुज्युमुत्तमसुखभोगं प्राप्नुयुर्नान्यथेति ॥ २ ॥

भाषार्थ ॥

अब मुक्ति के आगे समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष में शीघ्र चलने के लिये यानविद्या लिखते हैं जैसी कि वेदों में लिखी है (तुग्रो ह०) तुजि धातु से रक् प्रत्यय करने से

तुग्र शब्द सिद्ध होता है उसका अर्थ हिंसक, बलवान्, ग्रहण करने वाला और स्थान वाला है क्योंकि वैदिक शब्द सामान्य अर्थ में वर्त्तमान हैं जो शत्रु को हनन करके अपने विजय बल और धनादि पदार्थ और जिस २ स्थान में सवारियों से अत्यन्त सुख का ग्रहण किया चाहे उन सबों का नाम तुग्र है (रयि) जो मनुष्य उत्तमविद्या सुवर्ण आदि पदार्थों की कामनावाला है उसका जिनसे पालन और भोग होता है उन धनादि पदार्थों की प्राप्ति भोग और विजय की इच्छा को आगे लिखे हुए प्रकारों से पूर्ण करे (अश्विना) जो कोई सोना, चांदी, तांबा, पीतल, लोहा और लकड़ी आदि पदार्थों से अनेक प्रकार की कलायुक्त नौकाओं को रच के उनमें अग्नि वायु और जल आदि का यथावत् प्रयोग कर और पदार्थों को भर के व्यापार के लिये (उदमेघे) समुद्र और नदी आदि में (अवाहाः) आवे जावे तो उसके द्रव्यादि पदार्थों की उन्नति होती है। जो कोई इस प्रकार से पुरुषार्थ करता है वह (न कश्चिन्ममृवान्) पदार्थों की प्राप्ति और उनकी रक्षासहित होकर दुःख से मरण को प्राप्त कभी नहीं होता क्योंकि वह पुरुषार्थी होके आलसी नहीं रहता। वे नौका आदि किन को सिद्ध करने से होते हैं अर्थात् जो अग्नि वायु और पृथिव्यादि पदार्थों में शीघ्रगमनादि गुण और अश्वि नाम से सिद्ध हैं वे ही यानों को धारण और प्रेरणा आदि अपने गुणों से वेगवान् करदेते हैं। वेदोक्त युक्ति से सिद्ध किये हुए नाव विमान और रथ अर्थात् भूमि में चलने वाली सवारियों का (ऊहथुः) जाना आना जिन पदार्थों से देश देशान्तर में सुख से होता है। यहां पुरुषव्यत्यय से (ऊहतुः) इस के स्थान में (ऊहथुः) ऐसा प्रयोग किया गया है। उनसे किस २ प्रकार की सवारी सिद्ध होती हैं सो लिखते हैं (नौभिः) अर्थात् समुद्र में सुख से जाने आने के लिये अत्यन्त उत्तम नौका होती हैं (आत्मन्वतीभिः) जिनसे उनके मालिक अथवा नौकर चला के जाते आते रहें, व्यवहारी और राजपुरुष लोग इन सवारियों से समुद्र में जावें आवें तथा (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अर्थात् जिनसे आकाश में जाने आने की क्रिया सिद्ध होती है, जिनका नाम विमान शब्द करके प्रसिद्ध है तथा (अपोदकाभिः) वे सवारी ऐसी शुद्ध और चिक्कन होनी चाहियें जो जल से न गलें और न जल्दी टूटें फूटें। इन तीन प्रकार की सवारियों की जो रीति पहिले कह आये और जो आगे कहेंगे उसी के अनुसार बराबर उनको सिद्ध करें। इस अर्थ में निरुक्त का प्रमाण संस्कृत में लिखा है सो देख लेना। उस का अर्थ यह है (अथातोद्युस्थानादे०) वायु और अग्नि आदि का नाम अश्वि है क्योंकि सब पदार्थों में धनञ्जयरूप करके वायु और विद्युत् रूप से अग्नि ये दोनों व्याप्त हो रहे हैं।

तथा जल और अग्नि का नाम भी अश्वि है क्योंकि अग्नि ज्योति से युक्त और जल रस से युक्त हो के व्याप्त हो रहा है । (अश्वैः) अर्थात् वे वेगादि गुणों से भी युक्त हैं । जिन पुरुषों को विमान आदि सवारियों की सिद्धि की इच्छा हो वे वायु अग्नि और जल से उन को सिद्ध करें यह और्णनाम आचार्य्य का मत है । तथा कई एक ऋषियों का ऐसा मत है कि अग्नि की ज्वाला और पृथिवी का नाम अश्वि है पृथिवी के विकार काष्ठ और लोहा आदि के कलायन्त्र चलाने से भी अनेक प्रकार के वेगादि गुण सवारियों वा अन्य कारीगरियों में किये जाते हैं. तथा कई एक विद्वानों का ऐसा मत है. कि (अहोरात्रौ) अर्थात् दिन रात्रि का नाम अश्वि है क्योंकि इन से भी सब पदार्थों के संयोग और वि-योग होने के कारण से वेग उत्पन्न होते हैं अर्थात् जैसे शरीर और ओषधि आदि में वृद्धि और क्षय होते हैं इसी प्रकार कई एक शिल्पविद्या जानने वाले विद्वानों का ऐसा भी मत है कि (सूर्य्याचन्द्रमसौ) सूर्य्य और चन्द्रमा को अग्नि कहते हैं क्योंकि सूर्य्य और चन्द्रमा के आकर्षणादि गुणों से जगत् के पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग वियोग वृद्धि क्षय आदि श्रेष्ठ गुण उत्पन्न होते हैं । तथा (जर्भरी) और (तुर्फरीतू) ये दोनों पूर्वोक्त अश्वि के नाम हैं । (जर्भरी) अर्थात् विमान आदि सवारियों के धारण करने वाले और (तुर्फरीतू) अर्थात् कलायन्त्रों के हनन से वायु अग्नि जल और पृथिवी के युक्तिपूर्वक प्रयोग से विमान आदि सवारियों का धारण पोषण और वेग होते हैं । जैसे घोड़े और बैल चाबुक मारने से शीघ्र चलते हैं वैसे ही कलाकौशल से धारण और वायु आदि को कलाओं करके प्रेरने से सब प्रकार की शिल्पविद्या सिद्ध होती है । (उदन्यजे) अर्थात् वायु अग्नि और जल के प्रयोग से समुद्र में सुख करके गमन हो सकता है ॥ १ ॥ (तिस्रः क्षपस्त्रि०) । नासत्या० । जो पूर्वोक्त अश्वि कह आये हैं वे (भु-ज्युमूहथुः) अनेक प्रकार के भोगों को प्राप्त करते हैं क्योंकि जिन के वेग से तीन दिन रात में (समुद्र) सागर (धन्वन्०) आकाश और भूमि के पार नौका विमान और रथ करके (वृजद्भिः०) सुखपूर्वक पार जाने में समर्थ होते हैं (त्रिभीरथैः) अर्थात् पूर्वोक्त तीन प्रकार के वाहनों से गमनागमन करना चाहिये तथा (षडश्वैः) छः अश्व अर्थात् उन में अग्नि और जल के छः घर बनाने चाहियें जैसे उन यानों से अनेक प्रकार के गमनागमन हो सकें तथा (पतङ्गैः) जिन से तीन प्रकार के मार्गों में यथा-वत् गमन हो सकता है ॥ २ ॥

अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे । यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम् ॥ ३ ॥ यमश्विना द-

दधुः श्वेतमश्वमघाश्वाय शश्वदित्स्वस्ति । तद्वां दात्रं महि कीर्त्तेन्यं भूत्पैद्वो वाजी सदमिद्धव्यो अर्यः ॥ ४ ॥ ऋ० अष्ट० १ । अ० ८ । व० ८ । ६ । मं० ५ । १ ॥

भाष्यम् ॥

हे मनुष्याः पूर्वोक्ताभ्यां प्रयत्नाभ्यां कृतसिद्धयानैः (अनारम्भणे) आलम्बरहिते (अनास्थाने) स्थातुमशक्ये (अग्रभणे) हस्तालम्बनाविद्यमाने (समुद्रे) समुद्रवन्त्यापो यस्मिन् तस्मिन् जलेन पूर्णे । अन्तरिक्षे वा कार्यसिद्ध्यर्थं युष्माभिर्गन्तव्यमिति । अश्विना ऊहथुर्भुज्युमिति पूर्ववद्विज्ञेयम् । तद्यानं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यां ताभ्यामश्विभ्यां (अस्तं) क्षिप्तं चालितं सम्यक् कार्य्यं साधयतीति ॥ कथम्भूतां नावं समुद्रे चालयेत् (शतारित्राम्) शतानि अरित्राणि लोहमयानि समुद्रस्थलान्तरिक्षमध्ये स्तम्भनार्थानि गाधग्रहणार्थानि च भवन्ति यस्यां तां शतारित्रां एवमेव शतारित्रं भूम्याकाशविमानं प्रति योजनीयं तथा तदेतत् त्रिविधं यानं शतकलं शतबन्धनं शतस्तम्भनसाधनं च रचनीयमिति । तद्यानैः कथम्भूतं भुज्युं भोगं प्राप्नुवन्ति ॥ (तस्थिवांसं) स्थितिमन्तमित्यर्थः ॥ ३ ॥ यद्यस्मादेवं भोगो जायते तस्मादेवं सर्वमनुष्यैः प्रयत्नः कर्त्तव्यः (यमश्विना०) यं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यामग्निजलाभ्यामश्विभ्यां शुक्लवर्णं बाष्पाख्यमश्वं (अघाश्वाय) शीघ्रगमनाय शिल्पविद्याविदो मनुष्याः प्राप्नुवन्ति तमेवाश्वं गृहीत्वा पूर्वोक्तानि यानानि साधयन्ति । (शश्वत्) तानि शश्वन्निरन्तरमेव (स्वस्ति) सुखकारकाणि भवन्ति । तद्यानंसिद्धं (अश्विना ददथुः) दत्तस्ताभ्यामेवायं गुणो मनुष्यैर्ग्राह्य इति (वाम्) अत्रापि पुरुषव्यत्ययः । तयोरश्विनोर्मध्ये यत्सामर्थ्यं वर्त्तते तत् कीदृशं (दात्रं) दानयोग्यं सुखकारकत्वात् पोषकं च (महि०) महागुणयुक्तम् (कीर्त्तेन्यम्) कीर्त्तनीयमत्यन्तप्रशंसनीयम् । कृत्यार्थे तवैकेन केन्य त्वन इति केन्यप्रत्ययः । अन्येभ्यस्तच्छ्रेष्ठोपकारकम् । (भूत्) अभूत् भवतीति अत्र लडर्थे लुङ् विहित इति वेद्यम् । स चाग्न्याख्यो वाजी वेगवान् (पैद्वः०) यो यानं मार्गे शीघ्रवेगेन गमयिताश्वि पैद्वपतङ्गावश्वनाम्नी ॥ निघं० अ० १ । खं० १४ ॥ (सदमित्) यः सदं वेगं इत् एति प्राप्नोतीतीदृशोऽश्वोऽग्निरस्माभि. (हव्यः) ग्राह्योस्ति । (अर्यः) तम-

श्वभर्य्यो वैश्यो वणिग्जनोऽवश्यं गृह्णीयात् ॥ अर्य्यः स्वामिवैश्ययोः ॥ इति पाणिनिसूत्रात् । अर्य्यो वैश्यस्वामिवाचीति ॥ ४ ॥

त्रयः पवयो मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद्विदुः । त्रयः स्कम्भासः स्कभितास आरभे त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा ॥ ५ ॥ ऋ० अष्ट० १ । अ० ३ । वर्ग ४ । मं० १ ॥

भाष्यम् ॥

(मधुवाहने) मधुरगतिमति रथे (त्रयः पवयः) वज्रतुल्याश्चक्रसमूहाः कलायन्त्रयुक्ता दृढाः शीघ्रं गमनार्थं त्रयः कार्य्याः । तथैव शिल्पिभिः (त्रयः स्कम्भासः) स्तम्भनार्थाः स्तम्भास्त्रयः कार्य्याः (स्कभितासः०) किमर्थाः सर्वकलानां स्थापनार्थाः (विश्वे) सर्वे शिल्पिनो विद्वांसः । (सोमस्य ; सोमगुणविशिष्टस्य सुखस्य (वेनां) कमनीयां कामनासिद्धिं विदुर्जानन्त्येव ॥ अर्थात् (अश्विना) अश्विभ्यामेवैतद्यानमारब्धुमिच्छेयुः । कुतः तावेवाश्विनौ तद्यानसिद्धिं (याथः) प्रापयत इति । तत्कीदृशमित्यत्राह (त्रिर्नक्तम्) (त्रिर्दिवा) तिसृभीरात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैश्चातिदूरमपि मार्गं गमयतीति बोध्यम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ ॥

(अनारम्भणे०) हे मनुष्य लोगो ! तुम पूर्वोक्त प्रकार से अनारम्भण अर्थात् आलम्बरहित समुद्र में अपने कार्य्यों की सिद्धि करने योग्य यानों को रचलो (तद्वीरयेथाम्) वे यान पूर्वोक्त अश्विनी से ही जाने आने के लिये सिद्ध होते हैं (अनास्थाने) अर्थात् जिस आकाश और समुद्र में विना आलम्ब से कोई भी नहीं ठहर सकता (अग्रभणे) जिसमें हाथ से पकड़ने का आलम्ब कोई भी नहीं मिल सकता (समुद्रे) ऐसा जो पृथिवी पर जल से पूर्ण समुद्र प्रत्यक्ष है तथा अन्तरिक्ष का भी नाम समुद्र है क्योंकि वह भी वर्षा के जल से पूर्ण रहता है उन में किसी प्रकार का आलंबन सिवाय नौका और विमान से नहीं मिल सकता इससे इन यानों को पुरुषार्थ से रच लेवें (यदश्विना) (ऊहथुर्भु०) जो यान वायु आदि अश्वि से रचा जाता है वह उत्तम भोगों को प्राप्त कर देता है क्योंकि (अस्तं) जो उनसे चलाया जाता है वह पूर्वोक्त समुद्र भूमि और अन्तरिक्ष में सब कार्य्यों को सिद्ध करता है (शतारित्राम्) उन नौकादि सवारियों में सैकड़ह अरित्र अर्थात् जल की थाह लेने उन के थांभने और वायु आदि विघ्न से रक्षा के लिये लोह आदि के लंगर भी रखना चाहिये जिन से जहां चाहे वहां उन यानों को थांभे इसी

प्रकार उन में सैकड़ह कलाबन्धन और थंभने के साधन रचने चाहियें । इस प्रकार के यानों से (तस्थिवांसम्) स्थिर भोग को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥ (यमश्विना) जो अश्वि अर्थात् अग्नि और जल हैं उन के संयोग से (श्वेतमश्वं) भाफरूप अश्व अत्यन्त वेग देने वाला होता है जिस से कारीगर लोग सवारियों को (अघाश्वाय) शीघ्र गमन के लिये वेगयुक्त कर देते हैं जिस वेग की हानि नहीं हो सकती उसको जितना बढ़ाया चाहे उतना बढ़ सकता है (शश्वदित्स्वस्ति०) जिन यानों में बैठ के समुद्र और अन्तरिक्ष में निरन्तर स्वस्ति अर्थात् नित्य सुख बढ़ता है (ददथुः) जो कि वायु अग्नि और जल आदि से वेग गुण उत्पन्न होता है उस को मनुष्य लोग सुविचार से ग्रहण करें (वाम्) यह सामर्थ्य पूर्वोक्त अश्विसंयुक्त पदार्थों ही में है (तत्) सो सामर्थ्य कैसा है कि (दात्रम्) जो दान करने के योग्य (महि) अर्थात् बड़े २ शुभ गुणों से युक्त (कीर्त्तेन्यम्) अत्यन्त प्रशंसा करने के योग्य और सब मनुष्यों को उपकार करने वाला (भूत्) है क्योंकि वही (पैद्वः) अश्व मार्ग में शीघ्र चलाने वाला है । (सदमित्) अर्थात् जो अत्यन्त वेग से युक्त है (हव्यः) वह ग्रहण और दान देने के योग्य है (अर्य्यः) वैश्य लोग तथा शिल्पविद्या का स्वामी इस को अवश्य ग्रहण करे क्योंकि इन यानों के विना द्वीपान्तर में जाना आना कठिन है ॥ ४ ॥ यह यान किस प्रकार का बनाना चाहिये कि (त्रयः पवयो मधु०) जिस में तीन पहिये हों जिन से वह जल और पृथिवी के ऊपर चलाया जाय और मधुर वेगवाला हो उस के सब अङ्ग वज्र के समान दृढ़ हों जिन में कलायन्त्र भी दृढ़ हों जिन से शीघ्र गमन होवे (त्रयः स्कम्भासः) उन में तीन २ थंभे ऐसे बनाने चाहियें कि जिन के आधार सब कलायन्त्र लगे रहें तथा (स्कभितासः) वे थम्भे भी दूसरे काष्ठ वा लोहे के साथ लगे रहें (आरा) जो कि नाभि के समान मध्यकाष्ठ होता है उसी में सब कलायन्त्र जुड़े रहते हैं । (विश्वे) सब शिल्पिविद्वान् लोग ऐसे यानों को सिद्ध करना अवश्य जानें, (सोमस्य वेनाम्) जिन से सुन्दर सुख की कामना सिद्ध होती है (रथे) जिस रथ में सब क्रीड़ासुखों की प्राप्ति होती है (आरभे) उस के आरम्भ में अश्वि अर्थात् अग्नि और जल ही मुख्य हैं (त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा०) जिन यानों से तीन दिन और तीन रात में द्वीप द्वीपान्तर में जा सकते हैं ॥

त्रिनौ अश्विना यजता दिवे दिवे परि त्रिधातु पृथिवीमंशायतम् । तिस्रो नासत्या रथ्या परावत आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम् ॥ ६ ॥ ऋ० अष्ट० १ । अ० ३ । व० ५ । मं० ७ ॥ अरित्रं वां दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूनां रथः । धिया युयुज्र इन्दवः ॥ ७ ॥ ऋ० अष्ट० १ । अ० ३ । व० ३४ । मं० ८ ॥ वि ये भ्राजन्ते सुमखास ऋष्टिभिः प्रच्यावयन्तो अच्युता चिदोजसा । मनोजुवो यन्मरुतो रथेष्वा वृषव्रातासः पृषतीरयुग्ध्वम् ॥ ८ ॥ ऋ० अ० १ । अ० ६ । व० ६ । मं० ४ ॥

भाष्यम् ॥

यत्पूर्वोक्तं भूमिसमुद्रान्तरिक्षेषु गमनार्थं यानमुक्तं तत् पुनः कीदृशं कर्त्तव्यमित्यत्राह । (परि त्रिधातु) अयस्ताम्ररजतादिधातुत्रयेण रचनीयम् । इदं कीदृग्वेगं भवतीत्यत्राह । (आत्मेव वातः०) आगमनागमने । यथात्मा मनश्च शीघ्रं गच्छत्यागच्छति तथैव कलाप्रेरितौ वाय्वग्नी अश्विनौ तद्यानं त्वरितं गमयत आगमयतश्चेति विज्ञेयमिति संक्षेपतः ॥ ६ ॥ तच्च कीदृशं यानमित्यत्राह । (अरित्रं) स्तम्भनार्थसाधनयुक्तं (पृथु) अतिविस्तीर्णम् । ईदृशः स रथः अनन्यश्वयुक्तः (सिन्धूनाम्) महासमुद्राणां (तीर्थे) तरणे कर्त्तव्येऽलंवेगवान् भवतीति बोध्यम् (धिया यु०) तत्र त्रिविधे रथे (इन्दवः) जलानि वाष्पवेगार्थं (ययुज्रे) यथावद्युक्तानि कार्य्याणि । येनातीव शीघ्रगामी स रथः स्यादिति (इन्दवः) इति जलनामसु निघण्टौ खण्डे १२ पठितम् (उन्देरिच्चादेः) । उणादौ प्रथमे पादे सूत्रम् ॥ ७ ॥ हे मनुष्याः (मनोजुवः) मनोवद्गतयो वायवो यन्त्रकलाचालनैस्तेषु रथेषु पूर्वोक्तेषु त्रिविधयानेषु यूयम् (अयुग्ध्वम्) तान् यथावद्योजयत । कथम्भूता अग्निवाय्वादयः । (वृषव्रातासः) जलसेचनयुक्ताः येषां संयोगे वाष्पजन्यवेगोत्पत्त्या वेगवन्ति तानि यानानि सिद्ध्यन्तीत्युपदिश्यते ॥ ८ ॥

भाषार्थ ॥

फिर वह सवारी कैसी बनानी चाहिये कि (त्रिर्नो अश्विना य०) (पृथिवीमशायतम् जिन सवारियों से हमारा भूमि जल और आकाश में प्रतिदिन आनन्द से जाना आना बनता है (परित्रिधातु पृ०) वे लोहा तांबा चांदी आदि तीन धातुओं से बनती है। और जैसे (श्येना प्रावतः०) नगर वा ग्राम की गलियों में झट पट जाना आना बनता है वैसे दूर देश में भी उन सवारियों से शीघ्र २ जाना आना होता है ॥ (नासत्या०) इसी प्रकार विद्या के निमित्त पूर्वोक्त जो अश्वि हैं उन से बड़े २ कठिन मार्ग में भी सहज से जाना आना करें, जैसे (आत्मेव वातः स्व०) मन के वेग के समान शीघ्र गमन के लिये सवारियों से प्रतिदिन सुख से सब भूगोल के बीच जावें आवें ॥ ६ ॥ (अरित्रं वाम्) जो पूर्वोक्त अरित्रयुक्त यान बनते हैं वे (तीर्थे सिन्धूनां रथः) जो रथ बड़े २ समुद्रों के मध्य से भी पार पहुंचाने में श्रेष्ठ होते हैं (दिवस्पृथु) जो विस्तृत और आकाश तथा समुद्र में जाने आने के लिये अत्यन्त उत्तम होते हैं उन रथों में जो मनुष्य यन्त्र सिद्ध करते हैं वे सुखों को प्राप्त होते हैं। (धिया युयुज्र०) उन तीन प्रकार के यानों में (इन्दवः) वाष्पवेग के लिये एक जलाशय बना के उस में जलसेचन करना चाहिये जिस से वह अत्यन्त वेग से चलने वाला यान सिद्ध हो ॥ ७ ॥ (वि ये भ्राजन्ते०) हे मनुष्यलोगो (मनोजवः) अर्थात् जैसा मन का वेग है वैसे वेगवाले यान सिद्ध करो (यन्मरुतो रथेषु) उन रथों में (मरुत्) अर्थात् वायु और अग्नि को मनोवेग के समान चलाओ और (आ वृषव्रातासः) उन के योग में जलों का भी स्थापन करो (पृषतीरयुग्ध्वम्) जैसे जल के वाष्प घूमने की कलाओं को वेगवाली कर देते हैं वैसे ही तुम भी उन को सब प्रकार से युक्त करो। जो इस प्रकार से प्रयत्न करके सवारी सिद्ध करते हैं वे (विभ्राजन्ते) अर्थात् विविध प्रकार के भोगों से प्रकाशमान होते हैं और (सुमखास ऋष्टिभिः) जो इस प्रकार से इन शिल्पविद्यारूप श्रेष्ठ यज्ञ करने वाले सब भोगों से युक्त होते हैं (अच्युता चिदोजसा०) वे कभी दुखी होके नष्ट नहीं होते और सदा पराक्रम से बढ़ते जाते हैं क्योंकि कलाकौशलता से युक्त वायु और अग्नि आदि पदार्थों की (ऋष्टि) अर्थात् कलाओं से (प्रच्या०) पूर्व स्थान को छोड़ के मनोवेग यानों से जाते आते हैं उन ही से मनुष्यों को सुख भी बढ़ता है इसलिये इन उत्तम यानों को अवश्य सिद्ध करें ॥ ८ ॥

आ नो नावा मतीनां यातं पाराय गन्तवे । युञ्जाथामश्विना रथम् ॥ ६ ॥ ऋ० अष्ट० १ । अ० ३ । व० ३४ । मं० ७ ॥ कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति । त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥ १० ॥ द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत । तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥ ११ ॥ ऋ० अष्ट० २ । अ० ३ । व० २३ । २४ । मं० ४७ । ४८ ॥

भाष्यम् ॥

समुद्रे भूमौ अन्तरिक्षे गगनयोग्यमार्गस्य (पराय) (गन्तवे) गन्तुं यानानि रचनीयानि (नावा मतीनाम्) यथा समुद्रगमनवृत्तीनां मेधाविनां नावा नौकया पारं गच्छन्ति तथैव (नः) अस्माकमपि नौरुत्तमा भवेत् (आयुञ्जाथाम०) यथा मेधाविभिरग्निजले आसमन्ताद्यानेषु युज्येते तथास्माभिरपि योजनीये भवतः । एवं सर्वैर्मनुष्यैः समुद्रादीनां पारावारगमनाय पूर्वोक्तयानरचने प्रयत्नः कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ मेधाविनामसु निघण्टौ १५ खण्डे मतय इति पठितम् ॥ ६ ॥ हे मनुष्याः (सुपर्णाः) शोभनपतनशीलाः (हरयः) अग्न्यादयोऽश्वाः । (अपोवसानाः) जलपात्राच्छादिता अधस्ताज्ज्वालारूपाः काष्ठेन्धनैः प्रज्वालिताः कलाकौशलभ्रमणयुक्ताः कृताश्चेत्तदा (कृष्णं) पृथिवीविकारमयं (नियानं) निश्चितं यानं (दिवमुत्प०) द्योतनात्मकमाकाशमुत्पतन्ति ऊर्ध्वं गमयन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥ (द्वादश प्रधयः) तेषु यानेषु प्रधयः सर्वकलायुक्तानामराणां धारणार्थाः द्वादश कर्त्तव्याः ॥ (चक्रमेकम्) तन्मध्ये सर्वकलाभ्रामणार्थमेकं चक्रं रचनीयम् (त्रीणि नभ्यानि) मध्यस्थानि मध्यावयवधारणार्थानि त्रीणि यन्त्राणि रचनीयानि तैः (साकं त्रिशता) त्रीणि शतानि (शङ्कवोऽर्पिताः) यन्त्रकला रचयित्वा स्थापनीयाः (चलाचलासः) ताः कलाः चलाः चालनार्हाः अचलाः स्थित्यर्हाः । (षष्टिः) षष्टिसङ्ख्याकानि कलायन्त्राणि स्थापनीयानि । तस्मिन् याने एतदादिविधानं सर्वं कर्त्तव्यम् । (क उ तच्चिकेत) इत्येतत्

कृत्यं को विजानीति (न) नहि सर्वे । इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्रास्सन्त्यप्रसङ्गादत्र सर्वे नोल्लिख्यन्ते ॥ ११ ॥

भाषार्थ ॥

हे मनुष्यो ! (आ नो नावा मतीनाम्) जैसे बुद्धिमान् मनुष्यों के बनाये नाव आदि यानों से (पाराय) समुद्र के पारावार जाने के लिये सुगमता होती है वैसे ही (आ०) (युञ्जाथाम्) पूर्वोक्त वायु आदि अश्वि का योग यथावत् करो (रथम्) जिस प्रकार उन यानों से समुद्र के पार और वार में जा सको (नः) हे मनुष्यो ! आओ आपस में मिल के इस प्रकार के यानों को रचें जिनसे सब देश देशान्तर में हमारा जाना आना बने ॥ ६ ॥ (कृष्णं नि०) अग्निजलयुक्त (कृष्णं) अर्थात् खैंचने वाला जो (नियानं) निश्चित यान है उसके (हरयः) वेगादि गुण रूप (सुपर्णाः) अच्छी प्रकार गमन कराने वाले जो पूर्वोक्त अग्न्यादि अश्व हैं वे (अपोवसानाः) जलसेचनयुक्त वाष्प को प्राप्त होके (दिवमुत्पतन्ति०) उस काष्ठ लोहा आदि से बने हुए विमान को आकाश में उड़ा चलते हैं (त आववृ०) वे जब चारों ओर से सदन अर्थात् जल से वेगयुक्त होते हैं तब (ऋतस्य) अर्थात् यथार्थ सुख के देने वाले होते हैं (पृथिवी घृ०) जब जल कलाओं के द्वारा पृथिवी जल से युक्त किई जाती है तब उससे उत्तम २ भोग प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥ (द्वादश प्रधयः) इन यानों के बाहर भी थम्भे रचने चाहियें जिनमें सब कलायन्त्र लगाये जायं (चक्रमेकम्) उनमें एक चक्र बनाना चाहिये जिसके घुमाने से सब कला घूमें (त्रीणि नभ्यानि०) फिर उसके मध्य में तीन चक्र रचने चाहियें कि एक के चलाने से सब रुक जायं, दूसरे के चलाने से आगे चलें और तीसरे के चलाने से पीछे चलें (तस्मिन् साकं त्रिशता०) उनमें तीन तीनसौ (शङ्कवः) बड़ी बड़ी कीलें अर्थात् पेंच लगाने चाहियें कि जिनसे उनके सब अङ्ग जुड़ जायं और उनके निकालने से सब अलग २ हो जायं (षष्टिर्न चलाचलासः) उनमें ६० साठ कलायन्त्र रचने चाहियें कई एक चलते रहें और कुछ बन्द रहें अर्थात् जब विमान को ऊपर चढ़ाना हो तब भाफघर के ऊपर के मुख बन्द रखने चाहियें और जब ऊपर से नीचे उतारना हो तब ऊपर के मुख अनुमान से खोल देना चाहिये ऐसे ही जब पूर्व को चलाना हो तो पूर्व के बन्द पश्चिम के खोलने चाहियें और जो पश्चिम को चलाना हो तो पश्चिम के बन्द करके पूर्व के खोल देने चाहियें इसी प्रकार उत्तर दक्षिण में भी जान लेना (न) उन में किसी प्रकार की भूल न रहनी चाहिये (क उतच्चिकेत) इस महागम्भीर शिल्पविद्या को सब साधारण लोग नहीं जान सकते किन्तु जो महाविद्वान् हस्तक्रिया में

चतुर और पुरुषार्थी लोग हैं वे ही सिद्ध कर सकते हैं। इस विषय के वेदों में बहुत मन्त्र हैं परन्तु यहां थोड़ा ही लिखने में बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेंगे ॥ ११ ॥

इति नौविमानादिविद्याविषयः संक्षेपतः ॥

अथ तारविद्यामूलं संक्षेपतः ॥

युवं पेदवे पुरुवारमश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः। शर्य्यैरभिद्युं पृतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम् ॥८॥ ऋ० अष्ट० १। अ० ८। व० २१। मं० १० ॥

भाष्यम् ॥

अस्याभि०—अस्मिन् मन्त्रे तारविद्याबीजं प्रकाश्यत इति। हे मनुष्याः (अश्विना०) अश्विनोर्गुणयुक्तं (पुरुवारं) बहुभिर्विद्वद्भिः स्वीकर्त्तव्यं बहूत्तमगुणयुक्तम् ॥ (श्वेतं) अग्निगुणविद्युन्मयं शुद्धधातुनिर्मितम्। (अभिद्युं) प्राप्तविद्युत्प्रकाशम्। (पृतनासु दुष्टरं) राजसेनाकार्य्येषु दुस्तरं सवितुमशक्यं (चर्कृत्यं) वारंवारं सर्वक्रियासु योजनीयम्। (तरुतारं) ताराख्यं यन्त्रं यूयं कुरुत। कथम्भूतैर्गुणैर्युक्तं (शर्य्यैः) पुनः पुनर्हननप्रेरणगुणैर्युक्तम्। कस्मै प्रयोजनाय (पेदवे) परमोत्तमव्यवहारसिद्धिप्रापणाय। पुनः कथम्भूतं (स्पृधां) स्पर्द्धमानानां शत्रूणां पराजयाय स्वकीयानां वीराणां विजयाय च परमोत्तमम्। पुनः कथम्भूतं (चर्षणीसहम्०) मनुष्यसेनायाः कार्यसहनशीलम्। पुनः कथम्भूतं (इन्द्रमिव०) सूर्यवत् दूरस्थमपि व्यवहारप्रकाशनसमर्थं (युवं) युवामश्विनौ (दुवस्यथः) पुरुषव्यत्ययेन पृथिवीविद्युदाख्यावश्विनौ सम्यक् साधयित्वा तत्ताराख्यं यन्त्रं नित्यं सेवध्वमिति बोध्यम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ ॥

(युवं पेदवे०) अभिप्रा०—इस मन्त्र से तारविद्या का मूल जाना जाता है पृथिवी से उत्पन्न धातु तथा काष्ठादि के यन्त्र और विद्युत् अर्थात् बिजुली इन दोनों के

प्रयोग से तारविद्या सिद्ध होती है क्योंकि (द्यावापृथिव्योरित्येके०) इस निरुक्त के प्रमाण से इनका अश्वि नाम जान लेना चाहिये (पेदवे) अर्थात् वह अत्यन्त शीघ्र गमनागमन का हेतु होता है (पुरुवारम्) अर्थात् इस तारविद्या से बहुत उत्तम व्यवहारों के फलों को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं (संग्रामम्) अर्थात् लड़ाई करने वाले जो राजपुरुष हैं उनके लिये यह तारविद्या अत्यन्त हितकारी है (श्वेतं०) वह तार शुद्ध धातुओं का होना चाहिये (अभिद्युम्) और विद्युत् प्रकाश से युक्त करना चाहिये (पृतनासु दुष्टरम्) सब सेनाओं के बीच में जिसका दुःसह प्रकाश होता और उल्लंघन करना अशक्य है (चर्कृत्यम्) जो सब क्रियाओं के वारंवार चलाने के लिये योग्य होता है (शर्य्यैः) अनेक प्रकार कलाओं के चलाने से अनेक उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करने के लिये विद्युत् की उत्पत्ति करके उसका ताड़न करना चाहिये (तरुतारम्) जो इस प्रकार का तारारूप यन्त्र है उसको सिद्ध करके प्रीति से सेवन करो किस प्रयोजन के लिये (पेदवे०) परम उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिये तथा दुष्ट शत्रुओं के पराजय और श्रेष्ठ पुरुषों के विजय के लिये तारविद्या सिद्ध करनी चाहिये (चर्षणीसहं०) जो मनुष्यों की सेना के युद्धादि अनेक कार्य्यों को सहन करने वाला है (इन्द्रमिव०) जैसे समीप और दूरस्थ पदार्थों का प्रकाश सूर्य्य करता है वैसे तारयन्त्र से भी दूर और समीप के सब व्यवहारों का प्रकाश होता है (युवं) (दुवस्युथः) यह तारयन्त्र पूर्वोक्त अश्वि के गुणों ही से सिद्ध होता है इसको बड़े प्रयत्न से सिद्ध करके सेवन करना चाहिये इस मन्त्र में पुरुषव्यत्यय पूर्वोक्त नियम से हुआ है अर्थात् मध्यम पुरुष के स्थान में प्रथम पुरुष समझना चाहिये ॥ १ ॥

इति तारविद्यामूलं संक्षेपतः ॥

अथ वैद्यकशास्त्रमूलोद्देशः संक्षेपतः ॥

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु । दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ १ ॥ य० अ० ६ । मं० २२ ॥

भाष्यम् ॥

अस्याभिप्रायार्थः—इदं वैद्यकशास्त्रस्यायुर्वेदस्य मूलमस्ति । हे परमवैद्येश्वर ! भवत्कृपया (नः) अस्मभ्यं (ओषधयः)सोमादयः (सुमित्रिया) अत्र (इया-

डियाजीकाराणामुपसङ्ख्यानम्) इति वार्त्तिकेन जसः स्थाने (डियाच्) इत्यादेशः । सुमित्राः सुखप्रदा रोगनाशकाः सन्तु यथावद्विज्ञाताश्च । तथैव (आपः) प्राणाः सुमित्राः सन्तु । तथा (योऽस्मान्द्वेष्टि) योऽधर्मात्मा कामक्रोधादिर्वा रोगश्च विरोधी भवति (यं च वयं द्विष्मः) यमधर्मात्मानं रोगं च वयं द्विष्मः (तस्मै०) दुर्मित्रिया दुःखप्रदा विरोधिन्यः सन्तु । अर्थात् ये सुपथ्यकारिणस्तेभ्य ओषधयो मित्रवद् दुःखनाशिका भवन्ति । तथैव कुपथ्यकारिभ्यो मनुष्येभ्यश्च शत्रुवद् दुःखाय भवन्तीति । एवं वैद्यकशास्त्रस्य मूलार्थविधायका वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति प्रसङ्गाभावान्नात्र लिख्यन्ते । यत्र यत्र ते मन्त्राः सन्ति तत्र तत्रैव तेषामर्थान् यथावदुदाहरिष्यामः ॥

भाषार्थ ॥

(सुमित्रिया न०) हे परमेश्वर ! आप की कृपा से (आपः) अर्थात् जो प्राण और जल आदि पदार्थ तथा (ओषधयः) सोमलता आदि सब ओषधि (नः) हमारे लिये (सुमित्रियाः) (सन्तु) सुखकारक हों तथा (दुर्मित्रियाः) जो दुष्ट, प्रमादी, हमारे द्वेषी लोग हैं और हम जिन दुष्टों से द्वेष करते हैं उनके लिये विरोधिनी हों, क्योंकि जो धर्मात्मा और पथ्य के करनेवाले मनुष्य हैं उन को ईश्वर के रचे सब पदार्थ सुख देनेवाले होते हैं और जो कुपथ्य करनेवाले तथा पापी हैं उन के लिये सदा दुःख देनेवाले होते हैं इत्यादि मन्त्र वैद्यकविद्या के मूल के प्रकाश करनेवाले हैं ॥

इति वैद्यकविद्याविषयः संक्षेपतः ॥

अथ पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः ॥

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम् । ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृडया नः स्वस्ति ॥ १ ॥ पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम् । पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां या स्वस्तिः ॥ २ ॥ ऋ० अ० ८ । अ० १ । व० २३ । मं० ६ । ७ ॥

भाष्यम् ॥

एतेषामभि०-एतदादिमन्त्रेणात्र पूर्वजन्मानि पुनर्जन्मानि च प्रकाश्यन्त इति (असुनीते०) असवः प्राणा नीयन्ते येन सोऽसुनीतिस्तत्सम्बुद्धौ हे असुनीते ईश्वर ! मरणानन्तरं द्वितीयशरीरधारणे वयं सदा सुखिनो भवेम (पुनरस्मा०) अर्थाद्यदा वयं पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा द्वितीयशरीरधारणं कुर्मस्तदा (चक्षुः) चक्षुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणाम् । पुनर्जन्मनि सर्वाणीन्द्रियाण्यस्मासु धेहि (पुनः प्राणमि०) प्राणमिति वायोरन्तःकरणस्योपलक्षणम् । पुनर्द्वितीयजन्मनि प्राणमन्तःकरणं च धेहि । एवं हे भगवन् ! पुनर्जन्मसु (नः) अस्माकं (भोगं) भोगपदार्थान् (ज्योक्) निरन्तरमस्मासु धेहि । यतो वयं सर्वेषु जन्मसु (उच्चरन्तं) सूर्य्यं श्वासप्रश्वासात्मकं प्राणं प्रकाशमयं सूर्य्यलोकं च निरन्तरं पश्येम (अनुमते) हे अनुमन्तः परमेश्वर ! (नः) अस्मान् सर्वेषु जन्मसु (मृडय) सुखय भवत्कृपया पुनर्जन्मसु (स्वस्ति) सुखमेव भवेदिति प्रार्थ्यते ॥ १ ॥ (पुनर्नो) हे भगवन् ! भवदनुग्रहेण (नः) अस्मभ्यं (असुं) प्राणमन्नमयं बलं च (पृथिवी पुनर्ददातु) तथा (पुनर्द्यौः०) पुनर्जन्मनि द्यौर्देवी द्योतमाना सूर्य्यज्योतिरसुं ददातु (पुनरन्तरिक्षम्) तथान्तरिक्षं पुनर्जन्मन्यसुं जीवनं ददातु (पुनर्नः सोमस्त०) तथा सोम ओषधिसमूहजन्यो रसः पुनर्जन्मनि तन्वं शरीरं ददातु (पुनः पूषा०) हे परमेश्वर ! पुष्टिकर्त्ता भवान् (पथ्यां) पुनर्जन्मनि धर्ममार्गं ददातु तथा सर्वेषु जन्मसु (या स्वस्तिः) सा भवत्कृपया नोऽस्मभ्यं सदैव भवत्विति प्रार्थ्यते भवान् ॥ १ ॥

भाषार्थ ॥

(असुनीते०) हे सुखदायक परमेश्वर ! आप (पुनरस्मासु चक्षुः) कृपा करके पुनर्जन्म में हमारे बीच में उत्तम नेत्र आदि सब इन्द्रियां स्थापन कीजिये तथा (पुनः प्राणं०) प्राण अर्थात् मन बुद्धि चित्त अहंकार बल पराक्रम आदि युक्त शरीर पुनर्जन्म में कीजिये (इह नो धेहि भोगं०) हे जगदीश्वर ! इस संसार अर्थात् इस जन्म और परजन्म में हम लोग उत्तम २ भोगों को प्राप्त हों तथा (ज्योक् पश्येम सूर्य्यमुच्चरन्तम्) हे भगवन् ! आप की कृपा से सूर्य्यलोक, प्राण और आप को विज्ञान तथा प्रेम से सदा देखते रहें (अनुमते मृडया नः

स्वस्ति) हे अनुमते ! सब को मान देनेहारे ! सब जन्मों में हम लोगों को (मृडय) सुखी रखिये जिससे हम लोगों को स्वस्ति अर्थात् कल्याण हो ॥ १ ॥ (पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पु०) हे सर्वशक्तिमन् ! आप के अनुग्रह से हमारे लिये वारंवार पृथिवी प्राण को, प्रकाश चक्षु को और अन्तरिक्ष स्थानादि अवकाशों को देते रहें (पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु) पुनर्जन्म में सोम अर्थात् ओषधियों का रस हम को उत्तम शरीर देने में अनुकूल रहे तथा (पूषा०) पुष्टि करनेवाला परमेश्वर कृपा करके सब जन्मों में हम को सब दुःख निवारण करने वाली पथ्यरूप स्वस्ति को देवे ॥ २ ॥

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन् । वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥ ३ ॥ यजु० अ० ४ । मं० १५ ॥ पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च । पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पन्तामिहैव ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० ७ । अनु० ६ । व० ६७ । मं० १ ॥ आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि । धास्युर्योनिं प्रथम आविवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत ॥ ५ ॥ अथर्व० कां० ५ । अनु० १ । व० १ । मं० २ ॥

भाष्यम् ॥

(पुनर्मनः पु०) हे जगदीश्वर भवदनुग्रहेण विद्यादिश्रेष्ठगुणयुक्तं मन आयुश्च (मे) ममागच्छतु पुनः पुनर्जन्मसु प्राप्नुयात् (पुनरात्मा) पुनर्जन्मनि सदात्मा विचारः शुद्धः सन् प्राप्नुयात् (पुनश्चक्षुः) चक्षुः श्रोत्रं च मह्यं प्राप्नुयात् (वैश्वानरः) यः सकलस्य जगतो नयनकर्त्ता (अदब्धः) दम्भादिदोषरहितः (तनूपाः) शरीरादिरक्षकः (अग्निः) विज्ञानानन्दस्वरूपः परमेश्वरः (पातु दुरि०) जन्मजन्मान्तरे दुष्टकर्मभ्योऽस्मान् पृथक्कृत्य पातु रक्षतु येन वयं निष्पापा भूत्वा सर्वेषु जन्मसु सुखिनो भवेम ॥ ३ ॥ (पुनर्मै०) हे भगवन् पुनर्जन्मनीन्द्रियमर्थात् सर्वाणीन्द्रियाण्यात्मा प्राणधारको बलाख्यः (द्रविणं) विद्यादिश्रेष्ठधनं (ब्राह्मणं च) ब्रह्मनिष्ठात्वं (पुनरग्नयः) मनुष्यशरीरं धारयित्वाऽऽहवनीयाद्यग्न्याधानकरणं (ऐतु) पुनः पुनर्जन्मस्वेतानि मामाप्नुवन्तु (धिष्ण्या यथास्थाम) हे जगदीश्वर वयं यथा येन प्रकारेण पूर्वेषु जन्मसु

णिः पथ्या धारणावत्या क्रिया सोऽस्मच्छरीरेन्द्रिया आस्थाय सर्वेन्द्रियैः संसारे पुनर्जन्मनि बुद्ध्या सह स्वस्वकार्यकरणे समर्था भवेम येन वयं केनापि कारणेन न कदाचिद् दुःखिता भवेम ॥ ४ ॥ (आ यो ध०) यो जीवः (प्रथमः) पूर्वजन्मनि (धर्माणि) धर्मयुक्तानि धर्मकार्याणि (आ ससाद) कृतवानस्ति स (ततो वपूं०) तस्माद् धर्मकरणाद् बहूत्तमानि शरीराणि पुनर्जन्मनि कृणुते धारयति । एवं यश्चाधर्मकृत्यानि करोति स नैव पुनः पुनर्मनुष्य-शरीराणि प्राप्नोति किन्तु पश्वादीनि हि शरीराणि धारयित्वा दुःखानि भुङ्क्ते ॥ इदमेव मन्त्रार्थेनेश्वरो ज्ञापयति (धास्युर्योनि०) धास्युः धारणकर्त्ता पूर्वजन्मकृतपापपुण्यफलभोगशीलो जीवात्मा (प्रथमः) पूर्वं देहं त्यक्त्वा वायु-जलौषध्यादिपदार्थान् (आ विवेश) प्रविश्य पुनः कृतपापपुण्यानुसारेण योनिमाविवेश प्रविशतीत्यर्थः । (यो वाचम०) यो जीवोऽनुदितामीश्वरोक्तां वेदवाणीं आ समन्तात् विदित्वा धर्ममाचरति स पूर्वं श्रेष्ठं देहं धृत्वा सुखमेव भुङ्क्ते । तद्विपरीताचरणोऽनिकृष्टं देहं धृत्वा दुःखभागी भवतीति निश्चयम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ ॥

(पुनर्मनः पुनरात्मा) हे सर्वज्ञ ईश्वर ! जब जब हम जन्म लेवें तब २ हम को शुद्धमन, पूर्णआयु, आरोग्य, प्राण, कुशलतायुक्त जीवात्मा, उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हो (वैश्वानरोऽदब्धः) जो विश्व में विराजमान ईश्वर है वह सब जन्मों में हमारे शरीरों का पालन करे (अग्निर्नः) सब पापों के नाश करने वाले आप हम को (पातु दुरितादवद्यात्) बुरे कामों और सब दुःखों से पुनर्जन्म में अलग रक्खें ॥ २ ॥ (पुनर्मैत्विन्द्रियम्) हे जगदीश्वर आप की कृपा से पुनर्जन्म में मन आदि ग्यारह इन्द्रिय मुझ को प्राप्त हों अर्थात् सर्वदा मनुष्य देह ही प्राप्त होता रहे (पुनरात्मा) अर्थात् प्राणों को धारण करने हारा सामर्थ्य मुझको प्राप्त होता रहे जिससे दूसरे जन्म में भी हम लोग सौ वर्ष वा अच्छे आचरण से अधिक भी जीवें (द्रविणं) तथा सत्यविद्यादि श्रेष्ठ धन भी पुनर्जन्म में प्राप्त होते रहें (ब्राह्मणं च०) और सदा के लिये ब्रह्म जो वेद है उसका व्याख्यान सहित विज्ञान तथा आप ही में हमारी निष्ठा बनी रहे (पुनरग्नयः)

तथा सब जगत् के उपकार के अर्थ हम लोग अग्निहोत्रादि यज्ञ को करते रहें (अभिष्यामः) हे जगदीश्वर! हम लोग जैसे पूर्वजन्मों में शुभ गुण धारण करनेवाली बुद्धि से उत्तम शरीर और इन्द्रियसहित थे वैसे ही इस संसार में पुनर्जन्म में भी बुद्धि के साथ मनुष्यदेह के कर्म करने में समर्थ हों, ये सब शुद्धबुद्धि के साथ (सेतु) पुल को प्राप्तवत् प्राप्त हों (इहेम) जिस से हम लोग इस संसार में मनुष्यजन्म को धारण करके धर्म अर्थ काम और मोक्ष को सदा सिद्ध करें और इस सामग्री से आपकी भक्ति को प्रेम से सदा किया करें जिस करके किसी जन्म में हम को कभी दुःख प्राप्त न हो ॥ ४ ॥

(आ यो धर्माणि०) जो मनुष्य पूर्व जन्म में धर्माचरण करता है (ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि) उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है (धास्युर्योनिं०) जो पूर्वजन्म में किए हुए पाप पुण्य के फलों को भोग करने के स्वभावयुक्त जीवात्मा है वह पूर्व शरीर को छोड़ के वायु के साथ रहता है (पुनः०) जल ओषधि वा प्राण आदि में प्रवेश करके वीर्य में प्रवेश करता है तदनन्तर योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थिर होके पुनः जन्म लेता है (यो वाचमनुदितां चिकेत) जो जीव अनुदित वाणी अर्थात् जैसी ईश्वर ने वेदों में सत्यभाषण करने की आज्ञा दी है वैसा ही (आचिकेत) यथावत् जान के बोलता है और धर्म ही में (पदाद्) यथावत् स्थित रहता है, वह मनुष्ययोनि में उत्तम शरीर धारण करके अनेक सुखों को भोगता है और जो अधर्माचरण करता है वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट पतङ्ग पशु आदि के शरीर को धारण करके अनेक दुःखों को भोगता है ॥ ५ ॥

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥ ६ ॥ य० अ० १९। मं० ४७ ॥ मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः। नानायोनिसहस्राणि मयोषितान्यनेकशः ॥ १ ॥ आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः। मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥ २ ॥ अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः ॥ निरु० अ० १३। खं० १९ ॥

भाष्यम् ॥

(द्वे सृती०) अस्मिन् संसारे पापपुण्यफलभोगाय द्वौ मार्गौ स्तः। एकः पितॄणां ज्ञानिनां देवानां विदुषां च द्वितीयः (मर्त्यानां) विद्याविज्ञानरहितानां मनुष्याणाम् । तयोरेकः पितृयानो द्वितीयो देवयानश्चेति यत्र जीवो मातापितृभ्यां देहं धृत्वा पापपुण्यफले सुखदुःखे पुनः पुनर्भुङ्क्ते । अर्थात् पूर्वापरजन्मानि च धारयति सा पितृयानाख्या सृतिरस्ति । तथा यत्र मोक्षाख्यं पदं लब्ध्वा जन्ममरणाख्यात् संसाराद्विमुच्यते सा द्वितीया सृतिर्भवति । तत्र प्रथमायां सृतौ पुण्यसञ्चयफलं भुक्त्वा पुनर्जायते म्रियते च । द्वितीयायां च सृतौ पुनर्न जायते न म्रियते चेत्यहमेवम्भूते द्वे सृती (अशृणवं) श्रुतवानस्मि । (ताभ्यामिदं विश्व०) पूर्वोक्ताभ्यां द्वाभ्यां मार्गाभ्यां सर्वं जगत् (एजत्समेति०) कम्पमानं गमनागमने समेति सम्यक् प्राप्नोति (यदन्तरा पितरं मातरं च) यदा जीवः पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा वायुजलौषध्यादिषु भ्रमित्वा पितृशरीरं मातृशरीरं वा प्रविश्य पुनर्जन्म प्राप्नोति तदा स सशरीरो जीवो भवतीति विज्ञेयम् ॥ ६ ॥ अत्र मृतश्चाहं पुनर्जात इत्यादिनिरुक्तकारैरपि पुनर्जन्मधारणमुक्तमिति बोध्यम् ॥ ७ ॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ८ ॥ पातं० अ० १ । पा० २ । सू० ६ ॥ पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥ ६ ॥ न्या० अ० १ । आ० १ । सू० १६ ॥

(स्वरस०) योगशास्त्रे पतञ्जलिमहामुनिना तदुपरि भाष्यकर्त्रा वेदव्यासेन च पुनर्जन्मसद्भावः प्रतिपादितः । या सर्वेषु प्राणिषु जन्मारभ्य मरणत्रासाख्या प्रवृत्तिर्दृश्यते तया पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति विज्ञायते। कुतः। जातमात्रकृमिरपि मरणत्रासमनुभवति । तथा विदुषोप्यनुभवो भवतीत्यतो जीवेनानेकानि शरीराणि धार्य्यन्ते । यदि पूर्वजन्मनि मरणानुभवो न भवेच्चेत्तर्हि तत्संस्कारोपि न स्यान्नैव संस्कारेण विना स्मृतिर्भवति स्मृत्या विना मरणत्रासः कथं जायेत । कुतः । प्राणिमात्रस्य मरणभयदर्शनात् पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति वेदितव्यम् ॥ ८ ॥ (पुनरु०) तथा महाविदुषा गोतमेनार्षिणा न्यायदर्शने तद्भाष्यकर्त्रा वात्स्यायनेनापि पुनर्जन्मभावो मतः यत् पूर्वशरीरं त्यक्त्वा पुनर्द्वितीयशरीरधारणं भवति तत्प्रेत्यभावाख्यः पदार्थो भवतीति विज्ञेयम् । प्रेत्यार्थान्मरणं प्राप्य भावोऽर्थात् पुनर्जन्म धृत्वा जीवो देहवान् भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

भावार्थ ॥

(द्वे सृती०) इस संसार में हम दो प्रकार के जन्मों को (अशृणवम्) सुनते हैं एक मनुष्य शरीर का धारण करना और दूसरा नीचगति से पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, वृक्ष आदि का होना। इन में मनुष्यशरीर के तीन भेद हैं एक पितृ अर्थात् ज्ञानी होना, दूसरा देव अर्थात् सब विद्याओं को पढ़के विद्वान् होना, तीसरा मर्त्य अर्थात् साधारणमनुष्यशरीर का धारण करना। इन में प्रथम गति अर्थात् मनुष्यशरीर पुण्यात्माओं और पुण्यपापतुल्यवालों को होता है और दूसरा जो जीव अधिक पाप करते हैं उनके लिये है (ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति०) इन्हीं भेदों से सब जगत् के जीव अपने २ पुण्य और पापों के फल भोग रहे हैं (यदन्तरा पितरं मातरं च) जीवों को माता और पिता के शरीर में प्रवेश करके जन्मधारण करना, पुनः शरीर का छोड़ना, फिर जन्म को प्राप्त होना वारंवार होता है। जैसा वेदों में पूर्वापर जन्म के धारण करने का विधान किया है वैसा ही निरुक्तकार ने भी प्रतिपादन किया है। जब मनुष्य को ज्ञान होता है तब वह ठीक २ जानता है कि (मृतश्चाहं पु०) मैंने अनेक वार जन्ममरण को प्राप्त होकर नाना प्रकार के हजारह गर्भाशयों का सेवन किया ॥ १ ॥ (आहारावि०) अनेक प्रकार के भोजन किये, अनेक माताओं के स्तनों का दुग्ध पिया, अनेक माता पिता और सुहृदों को देखा ॥ २ ॥ (अवाङ्मुखः) मैंने गर्भ में नीचे मुख ऊपर पग इत्यादि नाना प्रकार की पीड़ाओं से युक्त होके अनेक जन्म धारण किये परन्तु अब इन महादुःखों से तभी छूटूंगा कि जब परमेश्वर में पूर्ण प्रेम और उसकी आज्ञा का पालन करूंगा नहीं तो इस जन्ममरणरूप दुःखसागर के पार जाना कभी नहीं हो सकता। तथा योगशास्त्र में भी पुनर्जन्म का विधान किया है (स्वरस०) (सर्वस्य प्रा०) हरएक प्राणियों की यह इच्छा नित्य देखने में आती है कि (भूयासमिति) अर्थात् मैं सदैव सुखी बना रहूं, मरूं नहीं। यह इच्छा कोई भी नहीं करता कि (मा न भूवं) अर्थात् मैं न होऊं ऐसी इच्छा पूर्वजन्म के अभाव से कभी नहीं हो सकती। यह अभिनिवेश क्लेश कहलाता है जो कि कृमिपर्य्यन्त को भी मरण का भय बराबर होता है यह व्यवहार पूर्वजन्म की सिद्धि को जनाता है ॥ तथा न्यायदर्शन के (पुनरु०) सू० । और उसी के वात्स्या० भा० में भी कहा है कि जो उत्पन्न अर्थात् किसी शरीर को धारण करता है वह मरण अर्थात् शरीर को छोड़ के पुनरुत्पन्न दूसरे शरीर को भी अवश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार मरके पुनर्जन्म लेने को प्रेत्यभाव कहते हैं ॥ ६ ॥

देता है इससे ईश्वर का न्याय वा जीवों का सुधार कभी नहीं हो सकता (उत्तर) ज्ञान दो प्रकार का होता है एक प्रत्यक्ष दूसरा अनुमानादि से। जैसे एक वैद्य और दूसरा अवैद्य, इन दोनों को ज्वर आने से वैद्य तो इस का पूर्व निदान जान लेता है और दूसरा नहीं जान सकता परन्तु उस पूर्व कुपथ्य का कार्य्य जो ज्वर है वह दोनों को प्रत्यक्ष होने से वे जान लेते हैं कि किसी कुपथ्य से ही यह ज्वर हुआ है अन्यथा नहीं। इस में इतना विशेष है कि विद्वान् ठीक २ रोग के कारण और कार्य्य को निश्चय करके जानता है और वह अविद्वान् कार्य्य को तो ठीक २ जानता है परन्तु कारण में उसको यथावत् निश्चय नहीं होता वैसे ही ईश्वर न्यायकारी होने से किसी को विना कारण से सुख वा दुःख कभी नहीं देता। जब हम को पुण्य पाप का कार्य्य सुख और दुःख प्रत्यक्ष है तब हम को ठीक निश्चय होता है कि पूर्वजन्म के पाप पुण्यों के विना उत्तम मध्यम और नीच शरीर तथा बुद्ध्यादि पदार्थ कभी नहीं मिल सकते। इससे हम लोग निश्चय करके जानते हैं कि ईश्वर का न्याय और हमारा सुधार ये दोनों काम यथावत् बनते हैं, इत्यादि प्रकार से बुद्धिमान् लोग अपने विचार से यथावत् जान लेवें मैं यहां इस विषय के बढ़ाने की आवश्यकता नहीं देखता॥

॥ इति पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः ॥

अथ विवाहविषयः संक्षेपतः ॥

गृ॒भ्णामि॑ ते सौभग॒त्वाय॒ हस्तं॒ मया॒ पत्या॑ ज॒रद॑ष्टि॒र्यथासः॑। भगो॑ अर्य॒मा स॑वि॒ता पुर॑न्धि॒र्मह्यं॑ त्वादु॒र्गार्ह॑पत्याय दे॒वाः॥ १ ॥ इ॒हैव स्तं॒ मा वि यौ॑ष्टं॒ विश्व॒मायु॒र्व्य॑श्नुतम्। क्रीळ॑न्तौ पु॒त्रैर्नप्तृ॑भि॒र्मोद॑मानौ॒ स्वे॒ गृ॒हे ॥ २ ॥ ऋ० अ० ८। अ० ३। व० २७। २८। मं० १। २॥

भाष्यम् ॥

अनयोरभि०—अत्र विवाहविधानं क्रियत इति। हे कुमारि युवते कन्ये! (सौभगत्वाय) सन्तानोत्पत्त्यादिप्रयोजनसिद्धये (ते) तव हस्तं (गृभ्णामि) गृह्णामि त्वया सहाहं विवाहं करोमि त्वं च मया सह कुरु। (यथा) येन प्रकारेण (मया पत्या) सह (जरदष्टिः) (आसः) जरावस्थां प्राप्नुयास्त

थैव तथा स्त्रिया सह जरदष्टिरहं भवेयं वृद्धावस्थां प्राप्नुयाम् । एवमावां सम्प्रीत्या परस्परं धर्ममानन्दं कुर्य्यावहि । (भगः) सकलैश्वर्य्यसम्पन्नः (अर्य्यमा) न्यायव्यवस्थाकर्त्ता (सविता) सर्वजगदुत्पादकः (पुरन्धिः) सर्वजगद्धारकः परमेश्वरः (मह्यं गार्हपत्याय) गृहकार्य्याय त्वां मदर्थं दत्तवान् तथा (देवाः) अत्र सर्वे विद्वांसः साक्षिणः सन्ति यद्यावां गतिज्ञोल्लङ्घनं कुर्य्यावहि तर्हि परमेश्वरदण्डयौ विद्वद्दण्डयौ च भवेवेति ॥ १ ॥ विवाहं कृत्वा परस्परं स्त्रीपुरुषौ कीदृशवर्त्तमानौ भवेतामेतदर्थमीश्वर आज्ञां ददाति (इहैवस्तं०) हे स्त्रीपुरुषौ ! युवां द्वाविहास्मिंल्लोके गृहाश्रम सुखेनैव सदा (वस्तम्) निवासं कुर्यातम् (मा वियौष्टं) तथा कदाचिद्विरोधेन देशान्तरगमनेन वा वियुक्तौ वियोगं प्राप्तौ मा भवेताम् एवम्मदाशीर्वादेन धर्मं कुर्वाणौ सर्वोपकारिणौ मद्भक्तिमाचरन्तौ (विश्वमायुर्व्यश्नुतम्) विविधसुखरूपमायुः प्राप्नुतम् । पुनः (स्वे गृहे) स्वकीये गृहे पुत्रैर्नप्तृभिश्च सह मोदमानौ सर्वानन्दं प्राप्नुवन्तौ (क्रीडन्तौ) सद्धर्मक्रियां कुर्वन्तौ सदैव भवतम् । इत्यनेनाप्येकस्याः स्त्रिया एक एव पतिर्भवत्वेकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री चेति । अर्थादनेकस्त्रीभिः सह विवाहनिषेधो नरस्य तथाऽनेकैः पुरुषैः सहैकस्याः स्त्रियाश्चेति सर्वेषु वेदमन्त्रेष्वेकवचनस्यैव निर्देशात् । एवं विवाहविधायका वेदेष्वनेके मन्त्राः सन्तीति विज्ञेयम् ॥

भाषार्थ ॥

(गृभ्णामि ते) (सौभगत्वाय हस्तं) हे स्त्रि ! मैं सौभाग्य अर्थात् गृहाश्रम में सुख के लिये तेरा हस्त ग्रहण करता हूं और इस बात की प्रतिज्ञा करता हूं कि जो काम तुझ को अप्रिय होगा उसको मैं कभी न करूंगा । ऐसे ही स्त्री भी पुरुष से कहे कि जो व्यवहार आपको अप्रिय होगा उसको मैं भी कभी न करूंगी और हम दोनों व्यभिचारादि दोषरहित होके वृद्धावस्थापर्य्यन्त परस्पर आनन्द के व्यवहारों को करेंगे । हमारी इस प्रतिज्ञा को सब लोग सत्य जानें कि इससे उलटा काम कभी न किया जायगा । (भगः) जो ऐश्वर्यवान् (अर्यमा) सब जीवों के पाप पुण्य के फलों को यथावत् देनेवाला (सविता) सब जगत् का उत्पन्न करने और सब ऐश्वर्य का देनेवाला तथा (पुरन्धिः) सब जगत् का धारण करनेवाला परमेश्वर है वही हमारे दोनों के बीच में साक्षी है तथा (मह्यं त्वा०) परमेश्वर और विद्वानों ने मुझ को

लिये और तुझ को मेरे लिये दिया है कि हम दोनों परस्पर प्रीति करेंगे तथा उद्योगी होकर घर का काम अच्छी तरह से करेंगे और मिथ्याभाषणादि से बचकर सदा धर्म ही में वर्त्तेंगे, सब जगत् का उपकार करने के लिये सत्यविद्या का प्रचार करेंगे और धर्म से पुत्रों को उत्पन्न करके उन को सुशिक्षित करेंगे इत्यादि प्रतिज्ञा हम ईश्वर की साक्षी से करते हैं कि इन नियमों का ठीक २ पालन करेंगे। दूसरी स्त्री और दूसरे पुरुष से मन से भी व्यभिचार न करेंगे (देवाः) हे विद्वान् लोगो! तुम भी हमारे साक्षी रहो कि हम दोनों गृहाश्रम के लिये विवाह करते हैं। फिर स्त्री कहे कि मैं इस पति को छोड़ के मन वचन और कर्म से भी दूसरे पुरुष को पति न मानूंगी तथा पुरुष भी प्रतिज्ञा करे कि मैं इसके सिवाय दूसरी स्त्री को अपने मन कर्म और वचन से कभी न चाहूंगा॥१॥ (इहैवस्तं०) विवाहित स्त्री पुरुषों के लिये परमेश्वर की आज्ञा है कि तुम दोनों गृहाश्रम के शुभ व्यवहारों में रहो (मावियौष्टं) अर्थात् विरोध करके अलग कभी मत हो और व्यभिचार भी किसी प्रकार का मत करो, ऋतुगामित्व से सन्तानों की उत्पत्ति, उनका पालन और सुशिक्षा, गर्भस्थिति के पीछे एक वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य्य और लड़कों को प्रसूता स्त्री का दुग्ध बहुत दिन न पिलाना इत्यादि श्रेष्ठ व्यवहारों से (विश्वमा०) सौ (१००) वा १२५ वर्ष पर्यन्त आयु को सुख से भोगो (क्रीडन्तौ०) अपने घर में आनन्दित होके पुत्र और पौत्रों के साथ नित्य धर्मपूर्वक क्रीड़ा करो इससे विपरीत व्यवहार कभी न करो और सदा मेरी आज्ञा में वर्त्तमान रहो। इत्यादि विवाहविधायक वेदों में बहुत मन्त्र हैं। उनमें से कई एक मन्त्र संस्कारविधि में भी लिखे हैं वहां देख लेना॥

इति संक्षेपतो विवाहविषयः॥

अथ नियोगविषयः संक्षेपतः॥

कुहस्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्य्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ॥१॥
ऋ० अ० ७। अ० ८। व० १८। मं० २॥ इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्। धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥२॥ अथर्व० कां० १८। अनु० ३। व० १। मं० १॥

उदी॑र्ष्व ना॒र्य॒भि जी॑वलो॒कं ग॒तासु॑मे॒तमुप॑ शेष॒ एहि॑ । ह॒स्त॒ग्रा॒भस्य॑ दि॒धि॒षोस्तवे॒दं पत्यु॑र्जनि॒त्वम॒भि सं ब॑भूथ ॥ २ ॥ ऋ० मं० १० । सू० १८ । मं० ८ ॥

भाषार्थ ॥

एषामभि०-अत्र विधवाविगतस्त्रीकनियोगव्यवस्था विधीयत इति (कुहस्वि-द्दोषा) हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ युवां (कुह) कस्मिन्स्थाने (दोषा) रात्रौ (वस्तोः) वसथः (कुह०) अश्विना दिवसे च क्व वासं कुरुथः (कुहाभि०) काभिपित्वं प्राप्तिं करतः कुरुतः (कुहोषतुः) क्व युवयोर्निजस्थानवासोऽस्ति (को वां शयुत्रा) शयनस्थानं युवयोः क्वास्ति । इति स्त्रीपुरुषौ प्रतिप्रश्नेन द्विवचनोच्चारणेन चैकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री कर्तुं योग्यास्ति । तथैकस्याः स्त्रिया एक एव पुरुषश्च द्वयोः परस्परं सदैव प्रीतिर्भवेन्न कदाचिद्वियोगव्यभिचारौ भवेता-मिति द्योत्यते (विधवेव देवरं) कं केव यथा देवरं द्वितीयं वरं नियोगेन प्राप्त विधवा इव । अत्र प्रमाणं । देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते ॥ निरु० अ० ३ । खं० १५ ॥ विधवाया द्वितीयपुरुषेण सह नियोगकरणे आज्ञास्ति तथा पुरुषस्य च विधवया सह । विधवा स्त्री मृतकस्त्रीकपुरुषेण सहैव सन्तानार्थं नियोगं कु-र्यान्न कुमारेण सह तथा कुमारस्य विधवया सह च । अर्थात् कुमारयोः स्त्री-पुरुषयोरेकवारमेव विवाहः स्यात् । पुनरेवं नियोगश्च नैव द्विजेषु द्वितीयवारं विवाहो विधीयते । पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्ण एव विधीयते तस्य विद्याव्यव-हाररहितत्वात् । नियोजितौ स्त्रीपुरुषौ कथं परस्परं वर्त्तेतामित्यत्राह । (मर्यं न योषा) यथा विवाहितं मनुष्यं (सधस्थे) समानस्थाने सन्तानार्थं योषा विवाहिता स्त्री (कृणुते) आकृणुते । तथैव विधवा विगतस्त्रीकश्च सन्तानोत्प-त्तिकरणार्थं परस्परं नियोगं कृत्वा विवाहितस्त्रीपुरुषवद्वर्त्तेयाताम् ॥ १ ॥ (इ-यंनारी०) इयं विधवा नारी (प्रेतं) मृतं पतिं विहाय (पतिलोकं) पतिसुखं (वृणाना) स्वीकर्तुमिच्छन्ती सती (मर्त्य) हे मनुष्य ! (त्वा) त्वामुपनिप-द्यते त्वां पतिं प्राप्नोति तव समीपं नियोगविधानेनागच्छति तां त्वं गृहाणाऽस्यां सन्तानान्युत्पादय । कथम्भूता सा (धर्मं पुराणं) वेदप्रतिपाद्यं सनातनं धर्म-मनुपालयन्ती सती त्वां नियोगेन पतिं वृणुते । त्वमपीमां वृणु (तस्यै) विध-

वार्थं (इह) अस्मिन् समये लोके वा (प्रजां धेहि) त्वमस्यां प्रजोत्पत्तिं कुरु (द्रविणं) द्रव्यं वीर्यं (च) अस्यां धेहि अर्थाद् गर्भाधानं कुरु ॥ २ ॥ (उदीर्ष्वना०) हे विधवे ! नारि ! (एतं) (गतासुं) गतप्राणं मृतं विवाहितं पतिं त्यक्त्वा (अभिजीवलोकं) जीवन्तं देवरं द्वितीयवरं पतिं (एहि) प्राप्नुहि (उपशेषे) तस्यैवोपशेषे सन्तानोत्पादनाय वर्त्तस्व तत्सन्तानं (हस्तग्राभस्य) विवाहे सङ्ग्रहीतहस्तस्य पत्युः स्यात् । यदि नियुक्तपत्यर्थो नियोगः कृतस्तर्हि (दिधिषोः) तस्यैव सन्तानं भवेत् (तवेदं) इदमेव विधवायास्तव (जनित्वं) सन्तानं भवति । हे विधवे ! विगतविवाहितस्त्रीकस्य पत्युर्थैतन्नियोगकरणार्थं त्वं (उदीर्ष्व) विवाहितपतिमरणानन्तरमिमं नियोगमिच्छ तथा (अभिसंबभूथ) सन्तानोत्पत्तिं कृत्वा सुखसंयुक्ता भव ॥ ३ ॥

भाषार्थ ॥

नियोग उस को कहते हैं जिससे विधवा स्त्री और जिस पुरुष की स्त्री मरगई हो वह पुरुष ये दोनों परस्पर नियोग करके सन्तानों को उत्पन्न करते हैं। नियोग करने में ऐसा नियम है कि जिस स्त्री का पुरुष वा किसी पुरुष की स्त्री मरजाय अथवा उन में किसी प्रकार का स्थिर रोग होजाय वा नपुंसक वन्ध्यादोष पड़जाय और उन की युवावस्था हो तथा संतानोत्पत्ति की इच्छा हो तो उस अवस्था में उन का नियोग होना अवश्य चाहिये इस का नियम आगे लिखते हैं (कुहस्वित्०) अर्थात् तुम दोनों विवाहित स्त्री पुरुषों ने (दोषा) रात्रि में कहां निवास किया था (कुह वस्तोरश्विना) तथा दिन में कहां वसे थे (कुहाभिपित्वं करतः) तुमने अन्न वस्त्र धन आदि की प्राप्ति कहां की थी (कुहोषतुः) तुम्हारा निवासस्थान कहां है (को वां शयुत्रा) रात्रिमें तुम कहां शयन करते हो, यहां में पुरुष और स्त्री के विवाहविषय में एक ही वचन के प्रयोग करने से यह निश्चित हुआ कि वेदरीति से एक पुरुष के लिये एक ही स्त्री और एक स्त्री के लिये एक ही पुरुष होना चाहिये अधिक नहीं और न कभी इन द्विजों का पुनर्विवाह वा नियोग होना चाहिये (विधवेव देवरम्) जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ संतानोत्पत्ति करती है वैसे तुम भी करो। विधवा का जो दूसरा पति होता है उसको देवर कहते हैं इससे यह नियम होना चाहिये कि द्विजों अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों में दो २ सन्तानों के लिये नियोग होना और शूद्रकुल में पुनर्विवाह मरणपर्यन्त के लिये होना चाहिये परन्तु माता गुरुपत्नी भगिनी कन्या पुत्रवधू आदि के साथ नियोग करने का सर्वथा निषेध है। यह नियोग शिष्ट पुरुषों की सम्मति और दोनों की प्रसन्नता से हो सकता

है जब दूसरा गर्भ रहे तब नियोग छूट जाय और जो कोई इस नियम को तोड़े उसको द्विजकुल में से अलग करके शूद्रकुल में रख दिया जाय ॥ १ ॥ (इयं नारी पतिलोकं॰) जो विधवा नारी पतिलोक अर्थात् पतिसुख की इच्छा करके नियोग किया चाहे तो (प्रेतम्) अर्थात् वह पति मरजाने के अनन्तर दूसरे पति को प्राप्त हो (उपत्वामर्त्य॰) इस मन्त्र में स्त्री और पुरुष को परमेश्वर आज्ञा देता है कि हे पुरुष! (धर्मं पुराणमनुपालयन्ती) जो इस सनातन नियोगधर्म की रक्षा करने वाली स्त्री है उस के संतानोत्पत्ति के लिये (तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि) धर्म से वीर्यदान कर जिस से वह प्रजा से युक्त होके आनन्द में रहे। तथा स्त्री के लिये भी आज्ञा है कि जब किसी पुरुष की स्त्री मरजाय और वह संतानोत्पत्ति किया चाहे तब स्त्री भी उस पुरुष के साथ नियोग करके उसको प्रजायुक्त करदे इसलिये मैं आज्ञा देता हूं कि तुम मन कर्म और शरीर से व्यभिचार कभी मत करो किन्तु धर्मपूर्वक विवाह और नियोग से सन्तानोत्पत्ति करते रहो ॥ २ ॥ (उदीर्ष्वनारी) हे स्त्रि! अपने मृतक पति को छोड़ के (अभिजीवलोकं) इस जीवलोक में (एतमुपशेष एहि) जो तेरी इच्छा हो तो दूसरे पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त हो नहीं तो ब्रह्मचर्याश्रम में स्थिर होकर कन्या और स्त्रियों को पढ़ाया कर। और जो नियोगधर्म में स्थित हो तो जब तक मरण न हो तब तक ईश्वर का ध्यान और सत्य धर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होकर (हस्तग्राभस्य दिधिषोः) जोकि तेरा हस्त ग्रहण करनेवाला दूसरा पति है उस की सेवा किया कर वह तेरी सेवा किया करे और इसका नाम दिधिषु है (तवेदं) वह तेरे सन्तान की उत्पत्ति करनेवाला हो और जो तेरे लिये नियोग किया गया हो तो वह तेरा सन्तान हो (पत्युर्जनित्वम॰) और जो नियुक्त पति के लिये नियोग हुआ हो तो वह संतान पुरुष का हो इस प्रकार नियोग से अपने २ सन्तानों को उत्पन्न करके दोनों सदा सुखी रहो ॥ ३ ॥

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु । दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि ॥ ४ ॥ सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ ५ ॥ ऋ॰ अष्ट॰ ८। अध्याय ३। व॰ २८। २७। मं॰ ५। ६ ॥ अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः। प्रजावती वीरसूर्देवृकामा

स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० १४ । अनु० २ । मं० १८ ॥

भाष्यम् ॥

इदानीं नियोगस्य सन्तानोत्पत्तेश्च परिगणनं क्रियते । कतिवारं नियोगः कर्त्तव्यः कियन्ति सन्तानानि चोत्पाद्यानीति । तद्यथा—(इमां त्वमिन्द्र०) हे इन्द्र विवाहितपते (मीढ्वः) हे वीर्य्यदानकर्त्तस्त्वमिमां विवाहितास्त्रियं वीर्य्यसेकेन गर्भयुक्तां कुरु । तां (सुपुत्रां) श्रेष्ठपुत्रवतीं (सुभगां) अनुत्तमसुखयुक्तां (कृणु) कुरु (दशास्यां) अस्यां विवाहितास्त्रियां दशपुत्रानाधेहि उत्पादय नातोऽधिकमिति । ईश्वरेण दशसन्तानोत्पादनस्यैवाज्ञा पुरुषाय दत्तेति विज्ञेयम् । तथा (पतिमेकादशं कृधि) हे स्त्रि ! त्वं विवाहितपतिं गृहीत्वैकादशपतिपर्य्यन्तं नियोगं कुरु । अर्थात् कस्याश्चिदापत्कालावस्थायां प्राप्तायामेकैकस्याभावे सन्तानोत्पत्त्यर्थं दशमपुरुषपर्य्यन्तं नियोगं कुर्य्यात् । तथा पुरुषोऽपि विवाहितस्त्रियां मृतायां सत्यां सन्तानाभावे एकैकस्या अभावे दशम्या विधवया सह नियोगं करोत्विति इच्छा नास्ति चेन्मा कुरुताम् ॥ ४ ॥ अथोत्तरोत्तरं पतीनां संज्ञा विधीयते (सोमः प्रथमः) हे स्त्रि ! यस्त्वां प्रथमं (विविदे) विवाहितः पतिः प्राप्नोति स सौकुमार्य्यादिगुणयुक्तत्वात् सोमसंज्ञो भवति । (गन्धर्वो वि०) यस्तु (उत्तरः) द्वितीयो नियुक्तः पतिर्विधवां त्वां विविदे प्राप्नोति स गन्धर्वसंज्ञां लभते कुतस्तस्य भोगाभिज्ञत्वात् (तृतीयो अ०) येन सह त्वं तृतीयवारं नियोगं करोषि सोऽग्निसंज्ञो जायते । कुतः । द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां भुक्तभोगया त्वया सह नियुक्तत्वादग्निदाहवत्तस्य शरीरस्थधातवो दह्यन्त इत्यतः । (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) हे स्त्रि ! चतुर्थमारभ्य दशमपर्य्यन्तास्तव पतयः । साधारणबलवीर्य्यत्वान्मनुष्यसंज्ञा भवन्तीति बोध्यम् । तथैव स्त्रीणामपि सोम्या गन्धर्व्यग्नायी मनुष्यजाः संज्ञास्तत्तद्गुणयुक्तत्वाद्भवन्तीति ॥ ५ ॥ (अदेवृघ्न्यपतिघ्नि) हे अदेवृघ्नि ! देवरसेविके ! हे अपतिघ्नि ! विवाहितपतिसेविके ! स्त्रि ! त्वं शिवा कल्याणगुणयुक्ता (पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः) गृहकृत्येषु शोभननियमयुक्ता गृहसम्बन्धिपशुभ्यो हिता श्रेष्ठकान्तिविद्यासहिता तथा (प-

जावती वीरसूः) प्रजापालनतत्परा वीरसन्तानोत्पादिका (देवृकामा) नियोगेन द्वितीयवरस्य कामनावती (स्योना) सम्यक् सुखयुक्ता सुखकारिणी सती (इममग्निं गार्हपत्यं) गृहसम्बन्धिनमाहवनीयादिमग्निं सर्वं गृहसम्बन्धिव्यवहारं च (सपर्य) प्रीत्या सम्यक् सेवस्व । अत्र स्त्रियाः पुरुषस्य चापत्काले नियोगव्यवस्था प्रतिपादितास्तीति वेदितव्यम् । इति ॥ ६ ॥

भाषार्थ ॥

(इमां०) ईश्वर मनुष्यों को आज्ञा देता है कि हे इन्द्रपते ! ऐश्वर्ययुक्त ! तू इस स्त्री को वीर्यदान दे के सुपुत्र और सौभाग्ययुक्त कर, हे वीर्यप्रद ! (दशास्यां पुत्राताधेहि) पुरुष के प्रति वेद की यह आज्ञा है कि इस विवाहित वा नियोजित स्त्री में दश सन्तानपर्यन्त उत्पन्न कर अधिक नहीं (पतिमेकादशं कृधि०) तथा हे स्त्री ! तू नियोग में ग्यारह पति तक कर अर्थात् एक तो उन में प्रथम विवाहित और दशपर्यन्त नियोग के पति कर अधिक नहीं । इसकी यह व्यवस्था है कि विवाहित पति के मरने वा रोगी होने से दूसरे पुरुष वा स्त्री के साथ सन्तानों के अभाव में नियोग करे तथा दूसरे को भी मरण वा रोगी होने के अनन्तर तीसरे के साथ करले इसी प्रकार दशवें तक करने की आज्ञा है परन्तु एक काल में एक ही वीर्यदाता पति रहे दूसरा नहीं । इसी प्रकार पुरुष के लिये भी विवाहित स्त्री के मरजाने पर विधवा के साथ नियोग करने की आज्ञा है और जब वह भी रोगी हो वा मरजाय तो सन्तानोत्पत्ति के लिये दशमस्त्रीपर्यन्त नियोग करलेवे ॥ ४ ॥ अब पतियों की संज्ञा कहते हैं (सोमः प्रथमो विविदे) उनमें से जो विवाहित पति होता है उसकी सोमसंज्ञा है क्योंकि वह सुकुमार होने से मृदु आदि गुणयुक्त होता है (गन्धर्वो विविद उत्तरः) दूसरा पति जो नियोग से होता है सो गन्धर्वसंज्ञक अर्थात् भोग में अभिज्ञ होता है (तृतीयो अग्निष्टो पतिः०) तीसरा पति जो नियोग से होता है वह अग्निसंज्ञक अर्थात् तेजस्वी अधिक उमरवाला होता है (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) और चौथे से ले के दशमपर्यन्त जो नियुक्त पति होते हैं वे सब मनुष्यसंज्ञक कहाते हैं क्योंकि वे मध्यम होते हैं ॥ ५ ॥ (अदेवृघ्न्यपतिघ्नी०) हे विधवा स्त्रि ! तू देवर और विवाहितपति को सुख देनेवाली हो किन्तु उनका अप्रिय किसी प्रकार से मत कर और वे भी तेरा अप्रिय न करें (एधि शिवा०) इसी प्रकार मङ्गलकार्यों को करके सदा सुख बढ़ाते रहो (पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः) घर के पशु आदि सब प्राणियों की रक्षा करके जितेन्द्रिय होके धर्मयुक्त

श्रेष्ठकार्य्यों को करती रहो तथा सब प्रकार के विद्यारूप उत्तम तेज को बढ़ाती जा (प्रजावती वीरसूः) तू श्रेष्ठप्रजायुक्त हो बड़े २ वीर पुरुषों को उत्पन्न कर (देवृकामा) जो तू देवर की कामना करने वाली है तो जब तेरा विवाहित पति न रहे वा रोगी तथा नपुंसक होजाय तब दूसरे पुरुष से नियोग करके संतानोत्पत्ति कर (स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य्य) और तू इस अग्निहोत्रादि घर के कामों को सुखरूप होके सदा प्रीति से सेवन कर ॥ ६ ॥ इसी प्रकार से विधवा और पुरुष तुम दोनों आपत्काल में धर्म करके संतानोत्पत्ति करो और उत्तम २ व्यवहारों को सिद्ध करते जाओ, गर्भहत्या वा व्यभिचार कभी मत करो किन्तु नियोग ही करलो, यही व्यवस्था सब से उत्तम है ॥

इति नियोगविषयः संक्षेपतः ॥

अथ राजप्रजाधर्मविषयः संक्षेपतः ॥

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि । अपश्यमत्र मनसा जगन्वान्व्रते गन्धर्वाँ अपि वायुकेशान् ॥ १ ॥ ऋ० अ० ३ । अ० २ । व० २४ । मं० ६ ॥ क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि । मा त्वा हिंसीन्मा मा हिंसीः ॥ २ ॥ य० अ० २० । मं० १ ॥ यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह । तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥ ३ ॥ य० अ० २० । मं० २५ ॥

भाष्यम् ॥

एषामभि०—अत्र मन्त्रेषु राजधर्मो विधीयत इति । यथा सूर्य्यचन्द्रौ राजानौ सर्वमूर्त्तद्रव्यप्रकाशकौ भवतस्तथा सूर्य्यचन्द्रगुणशीलौ प्रकाशन्याययुक्तौ व्यवहारौ त्रीणि सदांसि (भूषथः) भूषयतोऽलङ्कुरुतः (विदथे) ताभिः सभाभिरेव युद्धे (पुरूणि) बहूनि विजयादीनि सुखानि मनुष्याः प्राप्नुवन्ति तथा (परिविश्वानि) राजधर्म्मादियुक्ताभिस्सभाभिर्विश्वस्थानि सर्वाणि वस्तूनि प्राणिजातानि च भूषयन्ति सुखयन्ति । इदमत्र बोध्यम् । एका राजार्य्यसभा

तत्र विशेषतो राजकार्य्याण्येव भवेयुः । द्वितीयाऽऽर्य्यविद्यासभा तत्र विशेषतो विद्याप्रचारोन्नती एव कार्य्ये भवतः । तृतीयाऽऽर्य्यधर्मसभा तत्र विशेषतो धर्मोन्नतिरधर्महानिश्चोपदेशेन कर्त्तव्या परन्त्वेतास्तिस्रस्सभाः सामान्ये कार्य्ये मिलित्वैव सर्वानुत्तमान् व्यवहारान् प्रजासु प्रचारयेयुरिति । यत्रैतासु सभासु धर्मात्मभिर्विद्वद्भिः सारासारविचारेण कर्त्तव्याकर्त्तव्यस्य प्रचारो निरोधश्च क्रियते । तत्र सर्वाः प्रजाः सदैव सुखयुक्ता भवन्ति । यत्रैको मनुष्यो राजा भवति तत्र पीडिताश्चेति निश्चयः (अपश्यमत्र) इदमत्राहमपश्यम् । ईश्वरोऽभिवदति यत्र सभया राजप्रबन्धो भवति तत्रैव सर्वाभ्यः प्रजाभ्यो हितं जायत इति । (व्रते) यो मनुष्यः सत्याचरणे (मनसा) विज्ञानेन सत्यं न्यायं (जगन्वान्) विज्ञातवान् स राजसभामर्हति नेतरश्च (गन्धर्वान्) पूर्वोक्तासु सभासु गन्धर्वान् पृथिवीराजपालनादिव्यवहारेषु कुशलान् (अपि वायुकेशान्) वायुवद्दूतप्रचारेण विदितसर्वव्यवहारान् सभासदः कुर्य्यात् । केशाः सूर्य्यरश्मयस्तद्वत्सत्यन्यायप्रकाशकान्सर्वहितं चिकीर्षून् धर्मात्मनः सभासदस्स्थापयितुमहमाज्ञापयामि नेतरांश्चेतीश्वरोपदेशः सर्वैर्मन्तव्य इति ॥ १ ॥ (क्षत्रस्य योनिरसि) हे परमेश्वर ! त्वं यथा क्षत्रस्य राजव्यवहारस्य योनिर्निमित्तमसि । तथा (क्षत्रस्य नाभिरसि) एवं राजधर्मस्य त्वं प्रबन्धकर्त्तासि तथैव नोऽस्मानपि कृपया राज्यपालननिमित्तान् क्षत्रधर्मप्रबन्धकर्तॄंश्च कुरु (मा त्वा हिंसीन्मा मा हिंसीः) तथाऽस्माकं मध्यात् कोपि जनस्त्वा मा हिंसीदर्थाद्भवन्तं तिरस्कृत्य नास्तिको मा भवतु तथा त्वं मां मा हिंसीरर्थान्मम तिरस्कारं कदाचिन्मा कुर्य्याः । यतो वयं भवत्सृष्टौ राज्याधिकारिणस्सदा भवेम ॥ २ ॥ (यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च) यत्र देशे ब्रह्म परमेश्वरो वेदो वा ब्राह्मणो ब्रह्मविच्चैतत्सर्वं ब्रह्म तथा (क्षत्रं) शौर्य्यधैर्य्यादिगुणवन्तो मनुष्याश्चैतौ द्वौ (सम्यञ्चौ) यथावद्विज्ञानयुक्तावविरुद्धौ (चरतः सह) तं लोकं देशं पुण्यं पुण्ययुक्तं (प्रज्ञेषं) यज्ञकरणेच्छाविशिष्टं विजानीमः (यत्र देवाः सहाग्निना) यस्मिन्देशे विद्वांसः परमेश्वरेणाग्निहोत्रादियज्ञानुष्ठानेन च सह वर्त्तन्ते तत्रैव प्रजाः सुखिन्यो भवन्तीति विज्ञेयम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ ॥

सब जगत् का राजा एक परमेश्वर ही है और सब संसार उस की प्रजा है इसमें यह यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय के २६ वें मन्त्र के वचन का प्रमाण है

(वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम) अर्थात् सब मनुष्य लोगों को निश्चय करके जानना चाहिये कि हम लोग परमेश्वर की प्रजा हैं और वही एक हमारा राजा है (त्रीणि राजाना) तीन प्रकार की सभा ही को राजा मानना चाहिये एक मनुष्य को कभी नहीं, वे तीनों ये हैं—प्रथम राज्यप्रबन्ध के लिये एक आर्य्यराजसभा कि जिससे विशेष करके सब राज्यकार्य्य ही सिद्ध किये जावें, दूसरी आर्य्यविद्यासभा कि जिससे सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाय, तीसरी आर्य्यधर्मसभा कि जिससे धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे. इन तीन सभाओं से (विदथे) अर्थात् युद्ध में (पुरूणि परिविश्वानि भूषथः) सब शत्रुओं को जीत के नाना प्रकार के सुखों से विश्व को परिपूर्ण करना चाहिये ॥ १ ॥ (क्षत्रस्य योनिरसि) हे राज्य के देने वाले परमेश्वर ! आप ही राज्यसुख के परम कारण हैं (क्षत्रस्य नाभिरसि) आप ही राज्य के जीवनहेतु हैं तथा क्षत्रियवर्ण के राज्य का कारण और जीवन सभा ही है (मा त्वा हिंसीन्मा माहिंसीः) हे जगदीश्वर ! सब प्रजा आप को छोड़ के किसी दूसरे को अपना राजा कभी न माने और आप भी हम लोगों को कभी मत छोड़िये किन्तु आप और हम लोग परस्पर सदा अनुकूल वर्त्तें ॥ २ ॥ (यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च) जिस देश में उत्तम विद्वान् ब्राह्मण विद्यासभा और राजसभा विद्वान् शूरवीर क्षत्रिय लोग ये सब मिलके राजकार्मों को सिद्ध करते हैं वही देश धर्म और शुभ क्रियाओं से संयुक्त हो के सुख को प्राप्त होता है (यत्र देवाः सहाग्निना०) जिस देश में परमेश्वर की आज्ञापालन और अग्निहोत्रादि सत्क्रियाओं से वर्त्तमान विद्वान् होते हैं वही देश सब उपद्रवों से रहित होके अखण्डराज को नित्य भोगता है ॥ ३ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभिषिञ्चामि ॥ इन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभिषिञ्चामि ॥ ४ ॥ कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा । सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन् ॥ ५ ॥ शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि । राजा मे प्राणो अमृतं सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ॥ ६ ॥ य० अ० २० । मं० ३ । ४ । ५ ॥

भाष्यम् ॥

(देवस्य त्वा सवितुः) हे सभाध्यक्ष ! स्वप्रकाशमानस्य सर्वस्य जगत उत्पादकस्य परमेश्वरस्य (प्रसवे) अस्यां प्रजायां (अश्विनोर्बाहुभ्यां) सूर्य्याचन्द्रमसोर्बाहुभ्यां बलवीर्याभ्यां (पूष्णो हस्ताभ्यां) पुष्टिकर्तुः प्राणस्य ग्रहणदानाभ्यां (अश्विनोर्भैषज्येन) पृथिव्यन्तरिक्षौषधिसमूहेन सर्वरोगनिवारकेण सह वर्त्तमानं त्वां (तेजसे) न्यायादिसद्गुणप्रकाशाय (ब्रह्मवर्चसाय) पूर्णविद्याप्रचाराय (अभिषिञ्चामि) सुगन्धजलैर्मूर्द्धनि मार्जयामि तथा (इन्द्रस्येन्द्रियेण) परमेश्वरस्य परमैश्वर्य्येण विज्ञानेन च (बलाय) उत्तमबलार्थं (श्रियै) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्मीप्राप्त्यर्थं त्वां (यशसे) अतिश्रेष्ठकीर्त्यर्थं च (अभिषिञ्चामि) राजधर्मपालनार्थं स्थापयामीतीश्वरोपदेशः ॥ ४ ॥ (कोसि) हे परमात्मन् ! त्वं सुखस्वरूपोसि भवानस्मानपि सुराज्येन सुखयुक्तान करोतु (कतमोसि) त्वमत्यन्तानन्दयुक्तोसि । अस्मानपि राजसभाप्रबन्धेनात्यन्तानन्दयुक्तान्सम्पादय (कस्मैत्वा) अतो नित्यसुखाय त्वामाश्रयाम । तथा (कायत्वा) सुखरूपराज्यप्रदाय त्वामुपास्महे (सुश्लोक) हे सत्यकीर्त्ते ! (सुमङ्गल) हे सुष्ठुमङ्गलमय सुमङ्गलकारक ! (सत्यराजन्) हे सत्यप्रकाशक ! सत्यराज्यप्रदेश्वरास्मद्राजसभाया भवानेव महाराजाधिराजोस्तीति वयं मन्यामहे ॥ ५ ॥ सभाध्यक्ष एवं मन्येत (शिरो मे श्रीः) राज्यश्रीर्मे मम शिरोवत् (यशो मुखं) उत्तमकीर्त्तिर्मुखवत् (त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि) सत्यन्यायदीप्तिः मम केशश्मश्रुवत् (राजा मे प्राणः) परमेश्वरः शरीरस्थो जीवनहेतुर्वायुश्च मम राजवत् (अमृतꣳसम्राट्) मोक्षाख्यं सुखं ब्रह्म वेदश्च सम्राट् चक्रवर्त्तिराजवत् (चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्) सत्यविद्यादिगुणानां विविधप्रकाशकरणं श्रोत्रं चक्षुर्वत् । एवं सभासदोपि मन्येरन् । एतानि सभाध्यक्षस्य सभासदां चाङ्गानि सन्तीति सर्वे विजानीयुः ॥ ६ ॥

भाषार्थ ॥

(देवस्य त्वा सवितुः) जो कोई राजा सभाध्यक्ष होने के योग्य हो उस का हम लोग अभिषेक करें और उससे कहें कि हे सभाध्यक्ष ! आप सब जगत् को प्रकाशित और उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर की (प्रसवे) सृष्टि में प्रजापालन के लिये (अश्विनोर्बाहुभ्याम्) सूर्य्य चन्द्रमा के बल और वीर्य्य से (पूष्णो हस्ताभ्याम्) पुष्टि करने वाले प्राण को ग्रहण और दान की शक्तिरूप हाथों से आप को सभाध्यक्ष होने

में स्वीकार करते हैं (अश्विनोर्भैषज्येन) परमेश्वर कहता है कि पृथिवीस्थ और शुद्ध वायु इन ओषधियों से दिन रात में सब रोगों से तुम को निवारण करके (तेजसे) सत्यन्याय के प्रकाश, (ब्रह्मवर्चसाय) ब्रह्म के ज्ञान और विद्या की वृद्धि के लिये तथा (इन्द्रस्येन्द्रियेण) परमेश्वर के परमैश्वर्य्य और आज्ञा के विज्ञान से (बलाय) उत्तम सेना, (श्रियै) सर्वोत्तम लक्ष्मी और (यशसे) सर्वोत्तम कीर्त्ति की प्राप्ति के लिये मैं तुम लोगों को सभा करने की आज्ञा देता हूं कि यह आज्ञा राजा और प्रजा के प्रबन्ध के अर्थ है इससे सब मनुष्य लोग इस का यथावत् प्रचार करें ॥ ४ ॥ हे महाराजेश्वर ! आप (कोसि कतमोसि) सुखस्वरूप अत्यन्त आनन्दकारक हैं हम लोगों को भी सब आनन्द से युक्त कीजिये (सुश्लोक) हे सर्वोत्तम कीर्त्ति के देने वाले ! तथा (सुमङ्गल) शोभनमङ्गलरूप आनन्द के करने वाले जगदीश्वर ! (सत्यराजन्) सत्यस्वरूप और सत्य के प्रकाश करने वाले ! हम लोगों के राजा तथा सब सुखों के देने वाले आप ही हैं (कस्मै त्वा काय त्वा) उसी अत्यन्त सुख, श्रेष्ठ विचार और आनन्द के लिये हम लोगों ने आप का शरण लिया है क्योंकि इसीसे हम को पूर्ण राज्य और सुख निस्सन्देह होगा ॥ ५ ॥ सभाध्यक्ष सभासद् और प्रजा को ऐसा निश्चय करना चाहिये कि (शिरो मे श्रीः) श्री मेरा शिरस्थानी (यशो मुखं) उत्तम कीर्त्ति मेरा मुखवत् (त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि) सत्यगुणों का प्रकाश मेरे केश और डाढ़ी मूछ के समान तथा (राजा मे प्राणः) जो ईश्वर सब का आधार और जीवनहेतु है वही प्राणप्रिय मेरा राजा (अमृतꣳसम्राट्) अमृतस्वरूप जो ब्रह्म और मोक्षसुख है वही मेरा चक्रवर्त्ती राजा तथा (चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्) जो अनेक सत्यविद्याओं के प्रकाशयुक्त मेरा श्रोत्र है वही मेरी आंख है ॥ ६ ॥

बाहू मे बलमिन्द्रियꣳहस्तौ मे कर्म वीर्यम् । आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥ ७ ॥ पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी । ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥ ८ ॥ य० अ० २० । मं० ७ । ८ ॥

भाष्यम् ॥

(बाहू मे बलं) यदुत्तमं बलं तन्मम बाहुवदस्ति (इन्द्रियꣳहस्तौ मे) शुद्धं विद्यायुक्तं मनः श्रोत्रादिकं च मम ग्रहणसाधनवत् (कर्म वीर्यं) यदुत्तमपराक्रमधारणं तन्मम कर्मवत् (आत्मा क्षत्रमुरो मम) यन्मम हृदयं तत् क्षत्रवत् ॥ ७ ॥

(पृष्ठीर्मे राष्ट्रम्) यद्राष्ट्रं तन्मम पृष्ठभागवत् (उदरमꣳसौ) यौ सेनाकोशौ स्तस्तत्कर्म मम हस्तमूलोदरवत् (ग्रीवाश्च श्रोणी) यत्प्रजायाः सुखेन भूषणं पुरुषार्थीकरणं तत्कर्म मम नितम्बाङ्गवत् (ऊरू अरत्नी) यत्प्रजायाः व्यापारे गणितविद्यायां च निपुणीकरणं तन्ममोर्वरत्न्यङ्गवदस्ति (जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः) यत्प्रजाराजसभयोः सर्वथा मेलरक्षणं तन्मम कर्म जानुवत् । एवं पूर्वोक्तानि सर्वाणि कर्माणि ममावयववत् सन्ति । यथा स्वाङ्गेषु प्रीतिस्तत्पालने पुरुषस्य श्रद्धा भवति तथा प्रजापालने च स्वकीया बुद्धिस्सर्वैः कार्य्येति ॥ ८ ॥

भाषार्थ ॥

(बाहू मे बलं) जो पूर्ण बल है वही मेरी भुजा (इन्द्रियꣳहस्तौ) जो उत्तम कर्म और पराक्रम से युक्त इन्द्रिय और मन हैं वे मेरे हाथों के समान (आत्मा क्षत्रमुरो मम) जो राजधर्म शौर्य्य धैर्य्य और हृदय का ज्ञान है यही सब मेरे आत्मा के समान है ॥ ७ ॥ (पृष्ठीर्मे राष्ट्रं) जो उत्तम राज्य है सो मेरी पीठ के समतुल्य (उदरमꣳसौ) जो राज्य सेना और कोश है वह मेरे हस्त का मूल और उदर के समान तथा (ग्रीवाश्च श्रोणी) जो प्रजा को सुख से भूषित और पुरुषार्थी करना है सो मेरे कण्ठ और श्रोणी अर्थात् नाभि के अधोभागस्थान के समतुल्य (ऊरू अरत्नी) जो प्रजा को व्यापार और गणितविद्या में निपुण करना है सो ही अरत्नी और ऊरू अङ्ग के समान तथा (जानुनी) जो प्रजा और राजसभा का मेल रखना यह मेरी जानु के समान है (विशोमेऽङ्गानि सर्वतः) जो इस प्रकार से प्रजापालन में उत्तम कर्म करते हैं ये सब मेरे अङ्गों के समान हैं ॥ ८ ॥

प्रति॑क्ष॒त्रे प्रति॑तिष्ठामि रा॒ष्ट्रे प्रत्यश्वे॑षु प्रति॑तिष्ठामि॒ गोषु॑ । प्रत्य॑ङ्गेषु प्रति॑तिष्ठाम्या॒त्मन् प्रति॑प्रा॒णेषु॑ प्रति॑तिष्ठामि पु॒ष्टे प्रति॒द्यावा॑पृथि॒व्योः प्रति॑तिष्ठामि य॒ज्ञे ॥ १० ॥ त्रा॒तार॒मिन्द्र॑मवि॒तार॒मिन्द्र॒ꣳहवे॑हवे सु॒हव॒ꣳशूर॒मिन्द्र॑म् । ह्वया॑मि श॒क्रं पु॑रुहू॒तमिन्द्र॑ꣳस्व॒स्ति नो॑ म॒घवा॑ धा॒त्विन्द्रः॑ ॥ ११ ॥ य० अ० २० । मं० १० । ५० ॥

भाष्यम् ॥

(प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे) अहं परमेश्वरो धर्मेण प्रणीते क्षत्रे प्रतिष्ठितो भवामि विद्याधर्मप्रचारिते देशे च (प्रत्यश्वेषु) प्रत्यश्वं प्रतिगां च तिष्ठामि (प्रत्यङ्गेषु) सर्वस्य जगतोऽङ्गमङ्गं प्रतितिष्ठामि तथा चात्मानमात्मानं प्रतितिष्ठामि (प्रतिप्राणे०) प्राणं प्राणं प्रत्यत्र पुष्टं पुष्टं पदार्थं प्रतितिष्ठामि (प्रति द्यावापृथिव्योः) दिवं दिवं प्रति पृथिवीं पृथिवीं प्रति च तिष्ठामि (यज्ञे) तथा यज्ञं यज्ञं प्रति तिष्ठाम्यहमेव सर्वत्र व्यापकोऽस्मीति । मामिष्टदेवं समाश्रित्य ये राजधर्ममनुसरन्ति तेषां सदैव विजयाभ्युदयौ भवतः । एवं राजपुरुषैश्चापि प्रजापालने सर्वत्र न्यायविज्ञानप्रकाशो रक्षणीयो यतोऽन्यायाविद्याविनाशः स्यादिति ॥ १० ॥ (त्रातारमिन्द्र०) यं विश्वस्य त्रातारं रक्षकं परमैश्वर्यवन्तं (सुहवंशूरमिन्द्रं) सुहवं शोभनयुद्धकारिणमत्यन्तशूरं जगतो राजानमनन्तबलवन्तं (शक्रं) शक्तिमन्तं शक्तिप्रदं च (पुरुहूतं) बहुभिः शूरैः सुसेवितं (इन्द्रं) न्यायेन राज्यपालकं (इन्द्रंहवेहवे) युद्धे युद्धे स्वविजयार्थं इन्द्रं परमात्मानं (ह्वयामि) आह्वयामि आश्रयामि (स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः) स परमधनप्रदातेन्द्रः सर्वशक्तिमानीश्वरः सर्वेषु राज्यकार्येषु नोऽस्मभ्यं स्वस्ति (धातु) निरन्तरं विजयसुखं दधातु ॥ ११ ॥

भाषार्थ ॥

(प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे) जो मनुष्य इस प्रकार के उत्तम पुरुषों की सभा से न्यायपूर्वक राज्य करते हैं उनके लिये परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि हे मनुष्यो ! तुम लोग धर्मात्मा होके न्याय से राज्य करो क्योंकि जो धर्मात्मा पुरुष हैं मैं उन के क्षत्रधर्म और सब राज्य में प्रकाशित रहता हूं और वे सदा मेरे समीप रहते हैं (प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु०) उन की सेना के अश्व और गौ आदि पशुओं में भी मैं स्वसत्ता से प्रतिष्ठित रहता हूं (प्रत्यङ्गेषु प्रतितिष्ठाम्यात्मन्) तथा सब सेना राजा के अङ्गों और उनके आत्माओं के बीच में भी सदा प्रतिष्ठित रहता हूं (प्रतिप्राणेषु प्रतितिष्ठामि पुष्टे) उनके प्राण और पुष्ट व्यवहारों में भी सदा व्यापक रहता हूं (प्रतिद्यावापृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे) जितना सूर्यादि प्रकाशरूप और पृथिव्यादि अप्रकाशरूप जगत् तथा जो अश्वमेधादि यज्ञ हैं इन सब के बीच में भी मैं सर्वदा व्यापक

होने से प्रतिष्ठित रहता हूं इस प्रकार से तुम लोग मुझ को सब स्थानों में परिपूर्ण देखो ॥ १० ॥ जिन लोगों की ऐसी निष्ठा है उनका राज्य सदा बढ़ता रहता है (त्रातारमिन्द्रं) जिन मनुष्यों का ऐसा निश्चय है कि केवल परमैश्वर्य्यवान् परमात्मा ही हमारा रक्षक है (अविता) जो ज्ञान और आनन्द का देने वाला है (सुहवꣳ शूरमिन्द्रꣳ हवेहवे) वही इन्द्र परमात्मा प्रतियुद्ध में जो उत्तम युद्ध करानेवाला शूरवीर और हमारा राजा है (ह्वयामी शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं) जो अनन्त पराक्रमयुक्त ईश्वर है जिसका सब विद्वान् वेदादि शास्त्रों से प्रतिपादन और इष्ट करते हैं वही हमारा सब प्रकार से राजा है (स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः) जो इन्द्र परमेश्वर मघवा अर्थात् परमविद्यारूप धनी और हमारे लिये विजय आदि सब सुखों का देनेवाला है, जिन मनुष्यों को ऐसा निश्चय है उन का पराजय कभी नहीं होता ॥ ११ ॥

इमं देवा असपत्नꣳसुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय । इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳराजा ॥ १२ ॥ य० अ० ६ । मं० ४० ॥ इन्द्रो जयाति न पराजयाता अधिराजो राजसु राजयातै । चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ १३ ॥ त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् । त्वं दैवीर्विश इमा विराजा युष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु ॥ १४ ॥ अथर्व० कां० ६ । अनु० १० । व० ९८ । मं० १ । २ ॥

भाष्यम् ॥

(देवाः) हे देवा विद्वांसः सभासदः (महते क्षत्राय) अतुलराजधर्माय (महते ज्यैष्ठ्याय) अत्यन्तवृद्धव्यवहारस्थापनाय (महते जानराज्याय) जनानां विदुषां मध्ये परमराज्यकरणाय (इन्द्रस्येन्द्रियाय) सूर्यस्य प्रकाशवन्न्यायव्यवहारप्रकाशनायान्यायान्धकारविनाशाय (अस्यै विशे) वर्त्तमानायै प्रजायै यथावत्सुखप्रदानाय (इमं) (असपत्नꣳसुवध्वम्) इमं प्रत्यक्षं

शत्रूद्भवरहितं निष्कण्टकमुत्तमराजधर्म्मं सुवध्वमीशिध्वमैश्वर्य्यसहितं कुरुत यूयम-प्येवं जानीत (सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाᳬराजा) वेदविदां सभासदां मध्ये यो मनुष्यः सोम्यगुणसम्पन्नः सकलविद्यायुक्तोऽस्ति स एव सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृतः सन् राजास्तु । हे सभासदः (अमी) ये प्रजास्था मनुष्याः सन्ति तान् प्रत्य-प्येवमाज्ञा श्राव्या (एष वो राजा) अस्माकं वो युष्माकं च स सभासत् कोयं राजसभाव्यवहार एव राजास्तीति । एतदर्थं वयं (इममनुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रं) प्रख्यातनाम्नः पुरुषस्य प्रख्यातनाम्न्याः स्त्रियाश्च सन्तानमभिषिच्याध्यक्षत्वे स्वीकुर्म्म इति ॥ १२ ॥ (इन्द्रो जयाति) स एवेन्द्रः परमेश्वरः सभाप्रबन्धो वा जयाति विजयोत्कर्षं सदा प्राप्नोतु (न पराजयातै) स मा कदाचित्पराजयं प्राप्नोतु (अधिराजो राजसु राजयातै) स राजाधिराजो विश्वस्येश्वरः सर्वेषु चक्रवर्त्तिराजसु माण्डलिकेषु वा स्वकीयसत्यप्रकाशन्यायेन सहास्माकं मध्ये सदा प्रसिध्यताम् । (चर्कृत्यः) यो जगदीश्वरः सर्वैर्मनुष्यैः पुनः पुनरुपास-नायोग्योऽस्ति (ईड्यः) अस्माभिः स एवैकः स्तोतुं योग्यः (वन्द्यश्च) पूज-नीयः (उपसद्यः) समाश्रयितुं योग्यः (नमस्यः नमस्कर्तुं योग्योऽस्ति (भवेह) हे महाराजेश्वर त्वमुत्तमप्रकारेणास्मिन् राज्ये सत्कृतो भव (भवत्सत्कारेण सह वर्त्तमाना वयमप्यस्मिन् चक्रवर्त्तिराज्ये सदा सत्कृता भवेम) ॥ १३ ॥ (त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः) हे इन्द्र परमेश्वर त्वं सर्वस्य जगतोऽधिराजोसि श्रव इवाचरतीति सर्वस्य श्रोता च स्वकृपया मामपि तादृशं कुरु (त्वं भूरभि-भूतिर्जनानाम्) हे भगवन् त्वं भूः सदा भवसि यथा जनानामभिभूतिरभीष्ट-स्यैश्वर्य्यस्य दातासि तथा मामप्यनुग्रहेण करोतु (त्वं दैवीर्विश इमा विराजाः) हे जगदीश्वर यथा त्वं दिव्यगुणसम्पन्ना विविधोत्तमराजपालिताः प्रत्यक्षवि-षयाः प्रजाः सत्यन्यायेन पालयसि तथा मामपि कुरु (युष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु) हे महाराजाधिराजेश्वर तव यदिदं सनातनं राजधर्मयुक्तं नाशरहितं विश्वरूपं राष्ट्रमस्ति तदिदं भवद्दत्तमस्माकमस्त्विति याचितः सन्नाशीर्ददातीदं मद्रचितं भू-गोलाख्यं राष्ट्रं युष्मदधीनमस्तु ॥ १४ ॥

भाषार्थ ॥

(इमं देवा असपत्न०) अब ईश्वर सब मनुष्यों को राज्यव्यवस्था के विषय में आज्ञा देता है कि हे विद्वान् लोगो ! तुम इस राजधर्म को यथावत् जानकर अपने राज्य

का ऐसा प्रबन्ध करो कि जिससे तुम्हारे देश पर कोई शत्रु न आजाय (महते क्षत्राय०) हे शूरवीर लोगो ! अपने क्षत्रियधर्म चक्रवर्त्ति राज्य श्रेष्ठकीर्त्ति सर्वोत्तम राज्यप्रबन्ध के अर्थ (महते जानराज्याय) सब प्रजा को विद्वान् करके ठीक २ राज्यव्यवस्था में चलाने के लिये तथा (इन्द्रस्येन्द्रियाय) बड़े ऐश्वर्य सत्य न्याय के प्रकाश करने के अर्थ (सुवध्वं) अच्छे २ राज्यसंबन्धी प्रबन्ध करो कि जिन से सब मनुष्यों को उत्तम सुख बढ़ता जाय ॥ १२ ॥ (इन्द्रो जयाति) हे बन्धु लोगो ! जो परमात्मा अपने लोगों का विजय कराने वाला (न पराजयाता) जो हम को दूसरों से कभी हारने नहीं देता (अधिराजो) जो महाराजाधिराज (राजसु राजयातै) सब राजाओं के बीच में प्रकाशमान होकर हम को भी भूगोल में प्रकाशमान करने वाला है (चर्कृत्यः) जो आनन्दस्वरूप परमात्मा सब जगत् को सुखों से पूर्ण करने हारा तथा (ईड्यो वन्द्यश्च) सब मनुष्यों को स्तुति और बंदना करने के योग्य (उपसद्यो नमस्यः) सब को शरण लेने और नमस्कार करने के योग्य है (भवेह) सो ही जगदीश्वर हमारा विजय कराने वाला रक्षक न्यायाधीश और राजा है इसलिये हमारी यह प्रार्थना है कि हे परमेश्वर ! आप कृपा करके हम सबों के राजा हूजिये और हम लोग आप के पुत्र और भृत्य के समान राज्याधिकारी होकर आप के राज्य को सत्यन्याय से सुशोभित करें ॥ १३ ॥ (त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः) हे परमेश्वर ! आप ही सब संसार के अधिराज और आप्तों के समान सत्यन्याय के उपदेशक (त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्) आप ही सदा नित्यस्वरूप और सज्जन मनुष्यों को राज्य ऐश्वर्य के देने वाले (त्वं दैवीर्विश इमा विराजाः) आप ही इन विविध प्रजाओं को सुधारने और दुष्ट राजाओं का युद्ध में पराजय कराने वाले हैं (युष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु) हे जगदीश्वर ! आप का राज्य नित्य तरुण बना रहे जिससे सब संसार को विविध प्रकार का सुख मिले इस प्रकार जो मनुष्य अपने सत्य प्रेम और पुरुषार्थ से ईश्वर की भक्ति और उस की आज्ञा पालन करते हैं उन को वह आशीर्वाद देता है कि मेरे रचे हुए भूगोल का राज्य तुम्हारे आधीन हो ॥ १४ ॥

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे । युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥ १५ ॥ ऋ० अ० १ । अ० ३ । व० १८ । मं० २ ॥ तं सभा च समितिश्च सेना च ॥ १६ ॥ अथर्व० कां० १५ । अनु० २ । व० ६ । मं० २ ॥ इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु संरभध्वम् । ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म

प्रमृणन्तमोजसा ॥ १७ ॥ अथर्व० कां० ६ । अनु० १० । व० ६७ । मं० ३ ॥ सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः । त्वयेद्गाः पुरुहूत विश्वमायुर्व्यश्नवम् ॥ १८ ॥ अ० कां० १६ । अनु० ७ । व० ५५ । मं० ६ ॥

भाष्यम् ॥

(त्रिया वा०) अस्यार्थः प्रार्थनाविषय उक्तः ॥ १५ ॥ (तं सभा च) राजसभा प्रजा च तं पूर्वोक्तं सर्वराजाधिराजं परमेश्वरं तथा सभाध्यक्षमभिषिच्य राजानं मन्येत (समितिश्च) तमनुश्रित्यैव समितिर्युद्धमाचरणीयम् (सेना च) तथा वीरपुरुषाणां या सेना सापि परमेश्वरं सभाध्यक्षं सभां स्वसेनानीं चानुश्रित्य युद्धं कुर्यात् ॥ १६ ॥ ईश्वरः सर्वान्मनुष्यान्प्रत्युपदिशति (सखायः) हे सखायः (इमं वीरमुग्रमिन्द्रं) शत्रूणां हन्तारं युद्धकुशलं निर्भयं तेजस्विनं प्रतिराजपुरुषं तथेन्द्रं परमैश्वर्यवन्तं परमेश्वरं (अनुहर्षध्वं) सर्वे यूयमनुमोदयध्वमेवं कृत्वैव दुष्टशत्रूणां पराजयार्थं (अनुसंरभध्वं) युद्धारम्भं कुरुत कथम्भूतं तं (ग्रामजितं) येन पूर्वं शत्रूणां समूहा जिताः (गोजितं) येनेन्द्रियाणि पृथिव्यादिकं च जितं (वज्रबाहुं) वज्रः प्राणो बलं बाहुर्यस्य (जयन्तं) जयं प्राप्नुवन्तं (प्रमृणन्तमोजसा) ओजसा बलेन शत्रून् प्रकृष्टतया हिंसन्तं (अस्म) वयं तमाश्रित्य सदा विजयं प्राप्नुमः ॥ १७ ॥ (सभ्य सभां मे पाहि) हे सभायां साधो परमेश्वर मे मम सभां यथावत् पालय । म इत्यस्मच्छब्दनिर्देशात्सर्वान्मनुष्यानिदं वाक्यं गृह्णातीति (ये च सभ्याः सभासदः) ये सभाकर्मसु साधवश्चतुराः सभायां सीदन्ति तेऽस्माकं पूर्वोक्तां त्रिविधां सभां पान्तु यथावद्रक्षन्तु (त्वयेद्गाः पुरुहूत) हे बहुभिः पूजित परमात्मन् त्वया सह ये सभाध्यक्षाः सभासद इद्गा इतं राजधर्मज्ञानं गच्छन्ति त एव सुखं प्राप्नुवन्ति ॥ (विश्वमायुर्व्यश्नवम्) एवं सभापालितोऽहं सर्वो जनः शतवार्षिकं सुखयुक्तमायुः प्राप्नुयाम् ॥ १८ ॥

भावार्थ ॥

(स्थिरा वः सन्त्वायुधा०) इस मन्त्र का अर्थ प्रार्थनादि विषय में कर दिया है ॥ १५ ॥ (तं सभा च) प्रजा तथा सब सभासद् सब राजाओं के राजा परमेश्वर को जान के सब सभाओं में सभाध्यक्ष का अभिषेक करें (समितिश्च) सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर और सर्वोपकारक धर्म का ही आश्रय करके युद्ध करें तथा (सेना च) जो सेना सेनापति और सभाध्यक्ष हैं वे सब सभा के आश्रय से विचारपूर्वक उत्तम सेनाको बना के सदैव प्रजापालन और युद्ध करें ॥ १६ ॥ ईश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि (सखायः) हे बन्धुलोगो (इमं वीरं) हे शूरवीर लोगो न्याय और दृढ़भक्ति से अनन्त बलवान् परमेश्वर को इष्ट करके (अनुहर्षध्वं) शूरवीर लोगों को सदा आनन्द में रक्खो (उग्रमिन्द्रं) तुम लोग अत्यन्त उग्र परमेश्वर के सहाय से एकसंमति होकर (अनुसंरभध्वं) दुष्टों को युद्ध में जीतने का उपाय रचा करो (ग्रामजितं) जिसने सब भूगोल तथा (गोजितं) सबके मन और इन्द्रियों को जीत रक्खा है (वज्रबाहुं) प्राप्त जिसके बाहु और (जयन्तं) जो हम सब को जिताने वाला है (अज्म) उसी को इष्ट जान के हम लोग अपना राजा मानें (प्रमृणन्तमोजसा) जो अपने अनन्त पराक्रम से दुष्टों का पराजय करके हम को सुख देता है ॥ १७ ॥ (सभ्य सभां मे पाहि) हे सभा के योग्य परमेश्वर आप हम लोगों की राजसभा की रक्षा कीजिये (ये च सभ्याः सभासदः) हम लोग जो सभा के सभासद् हैं सो आप की कृपा से सभ्यतायुक्त होकर अच्छी प्रकार से सत्य न्याय की रक्षा करें (त्वेद्गाः पुरुहूत०) हे सब के उपास्यदेव (विश्वमायुर्व्यश्नवम्) हम लोग आप ही के सहाय से आप की आज्ञा को पालन करते रहें जिससे संपूर्ण आयु को सुख से भोगें ॥ १८ ॥

जनिष्ठा उग्रः सहसे तुरायेति सूक्तमुग्रवत्सह स्वत्तत्क्षत्रस्य रूपं मन्द्र ओजिष्ठ इत्योजस्वत्तत्क्षत्रस्य रूपम् ॥ १ ॥ बृहत्पृष्ठं भवति क्षत्रं वै बृहत्क्षत्रेणैव तत्क्षत्रं समर्धयत्यथो क्षत्रं वै बृहदात्मा यजमानस्य निष्केवल्यं तद्यद्बृहत्पृष्ठं भवति ॥ २ ॥ ब्रह्म वै रथन्तरं क्षत्रं बृहद्ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितं क्षत्रे ब्रह्म ॥ ३ ॥ ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं पञ्चदश, ओजः क्षत्रं वीर्यं राजन्यस्तदेनमोजसा क्षत्रेण वीर्येण समर्द्धयति तद्भारद्वाजं भवति भारद्वाजं वै बृहत् ॥ ४ ॥ ऐ०

पं० ८ । कं २ । ३ ॥ नानहमतु राज्याय साम्राज्याय भौज्याय स्वाराज्याय वैराज्याय पारमेष्ठ्याय राज्याय माहाराज्यायाधिपत्याय स्वावश्या-यातिष्ठायां रोहामीति ॥ ५ ॥ नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मण इति त्रिष्कृत्वो ब्रह्मणे नमस्करोति । ब्रह्मण एव तत्क्षत्रं वशमेति यत्र वै ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाहास्मिन् वीरो जायते ॥ ६ ॥ ऐ० पञ्चि० ८ । कं० ६ । ६ ॥

भाष्यम् ॥

इयं राजधर्मव्याख्या वेदरीत्या मंत्रेण लिखिताऽतोऽग्र ऐतरेयशतपथ-ब्राह्मणादिग्रन्थरीत्या संक्षेपतो लिख्यते । तद्यथा—(जनिष्ठा उग्रः०)राजस-भायां जनिष्ठा अतिशयेन जना विद्वांसो धर्मात्मानः श्रेष्ठप्रकृतीन् मनुष्यान् प्रति भद्रा सुखदाः सौम्या भवेयुः । तथा दुष्टान् प्रत्युग्रो व्यवहारो धार्य्य इति कुतो यद्राजकर्म्मास्ति तद् द्विविधं भवत्येकं सहस्वद् द्वितीयमुग्रवद् यात्काविद्रा क ालव-स्त्वनुसारेण सहनं कर्त्तव्यम् । क्वचित्तद्विपर्य्यये राजपुरुषैर्दुष्टेषूग्रो दण्डो निपात-नीयश्चैतत्क्षत्रस्य धर्मस्य स्वरूपं भवति तथा (मन्द्र ओजिष्ठः०) उत्तमकर्मका-रिभ्य आनन्दकरो दुष्टेभ्यो दुःखप्रदश्चात्युत्तमशरीरपुष्टबलसेनादिपदार्थसामग्र्या सहितो यो राजधर्मोस्ति स च क्षत्रस्य स्वरूपमस्ति ॥ १ ॥ (बृहत्पृष्ठं०) यत्क्षत्रं कर्म तत्सर्वेभ्यः कर्मेभ्यो बृहन्महदस्ति तथा पृष्ठमर्थान्निवर्त्तानां रक्षकं सत् पुनरुत्तमसुखकारकं भवति । एतेनोक्तेन च क्षत्रराजकर्म्मणा मनुष्यो राज-कर्म्म वर्द्धयति नातोऽन्यथा क्षत्रधर्मस्य वृद्धिर्भवितुमर्हति । तस्मात्क्षत्रं सर्वस्मा-त्कर्मणो वृद्धयजमानस्य प्रजास्थस्य जनस्य राजपुरुषस्य चात्मात्मवदानन्दप्रदं भवति तथा सर्वस्य संसारस्य निष्कैवल्यं निरन्तरं केवलं सुखं सम्पादयितुं यतः समर्थं भवति तस्मात्क्षत्रकर्म सर्वेभ्यो महत्तरं भवतीति ॥ २ ॥ (ब्रह्म वै रथन्त-रं०) ब्रह्मशब्देन सर्वविद्यायुक्तो ब्राह्मणवर्णो गृह्यते. तस्मिन् खलु क्षत्रधर्मः प्रतिष्ठितो भवति नैव कदाचित्सत्यविद्यया विना क्षत्रधर्मस्य वृद्धिरक्षणे भवतः तथा (क्षत्रे ब्रह्म) राजन्ये ब्रह्माऽर्थात् सत्यविद्या प्रतिष्ठिता भवति । नैवास्मा-द्विना कदाचिद्विद्याया वृद्धिरक्षणे सम्भवतस्तस्माद्विद्याराज्यव्यवहारौ मिलित्वैव राष्ट्रसुखोन्नतिं कर्त्तुं शक्नुत इति ॥ ३ ॥ (ओजो वा इन्द्रियं०) राजपुरुषैर्-

त्पराक्रमवन्तीन्द्रियाणि सदैव रक्षणीयान्यथाजितेन्द्रियतयैव सदैव वर्त्तितव्यम् । कुत ओज एव क्षत्रं वीर्य्यमेव राजन्य इत्युक्तत्वात् । तत्तस्मादोजसा क्षत्रेण वीर्य्येण राजन्येनैनं राजधर्मं मनुष्यः समर्द्धयति सर्वसुखैरेधमानं करोतीदमेव भारद्वाजं भरणीयं बृहदर्थान्महत्कर्मास्तीति ॥ ४ ॥ (तानहमनुराज्याय०) सर्वे मनुष्या एवमिच्छां कृत्वा पुरुषार्थं कुर्युः । परमेश्वरानुग्रहेणाहमनुराज्याय सभाध्यक्षत्वप्राप्तये तथा माण्डलिकानां राज्ञामुपरि राजसत्ताप्राप्तये (साम्राज्याय) सार्वभौमराज्यकरणाय (भौज्याय) धर्मन्यायेन राज्यपालनायोत्तमभोगाय च (स्वाराज्याय) स्वस्मै राज्यप्राप्तये (वैराज्याय) विविधानां राज्ञां मध्ये महत्त्वेन प्रकाशाय (पारमेष्ठ्याय) परमराज्यस्थितये (माहाराज्याय) महाराज्यसुखभोगाय तथा (आधिपत्याय) अधिपतित्वकरणाय (स्वावश्याय) स्वार्थमजावशत्वकरणाय च । (अतिष्ठायां) अत्युत्तमा विद्वांसस्तिष्ठन्ति यस्यां सा अतिष्ठा सभा तस्यां सर्वगुणैः सुखैश्च रोहामि वर्द्धमानो भवामीति ॥ ५ ॥ (नमो ब्रह्मणे०) परमेश्वराय त्रिवारं चतुर्वारं वा नमस्कृत्य राजकर्मारम्भं कुर्य्यात् यत् क्षत्रं ब्रह्मणः परमेश्वरस्य वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं सम्यक् ऋद्धियुक्तं वीरवद् भवति । तस्मिन्नेव राष्ट्रे वीरपुरुषो जायते नान्यत्रेत्याह परमेश्वरः ॥ ६ ॥

भाषार्थ ॥

इस प्रकार वेदरीति से राजा और प्रजा के धर्म संक्षेप से कह चुके इस के आगे वेद की सनातन व्याख्या जो ऐतरेय और शतपथब्राह्मणादि ग्रन्थ हैं उनकी साक्षी भी यहां लिखते हैं (जनिष्ठा उग्रः) राजाओं की सेना और सभा में जो पुरुष हों, वे सब दुष्टों पर तेजधारी श्रेष्ठों पर शान्तरूप सुख दुःख के सहन करने वाले और धन के लिये अत्यन्त पुरुषार्थी हों क्योंकि दुष्टों पर क्रुद्धस्वभाव और श्रेष्ठों पर सहनशील होना यही राज्य का स्वरूप है ॥ १ ॥ (मन्द्र ओजिष्ठ०) जो आनन्दित और पराक्रमयुक्त होना है वही राज्य का स्वरूप है क्योंकि राज्यव्यवहार सब से बड़ा है इस में शूरवीर आदि गुणयुक्त पुरुषों की सभा और सेना रख कर अच्छे प्रकार राज्य को बढ़ाना चाहिये ॥ २ ॥ (ब्रह्म वै रथन्तरं०) ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेदविद्या से युक्त जो पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण है वही राज्य के प्रबन्धों में सुखप्राप्ति का हेतु होता है इसलिये अच्छे राज्य के होने से ही सत्यविद्या प्रकाश को प्राप्त होती है । उत्तम विद्या और न्याययुक्त राज्य का नाम ओज है जिसको दण्ड के भय से उल्लङ्घन वा अन्यथा कोई नहीं कर सकता क्योंकि ओज अर्थात् बल का नाम क्षत्र और पराक्रम का नाम

राजन्य है ये दोनों जब परस्पर मिलते हैं तभी संसार की उन्नति होती है इसके होने और परमेश्वर की कृपा से मनुष्य के राजधर्म चक्रवर्त्तिराज्य, भोग का राज्य, अपना राज्य, विविध राज्य, परमेष्ठि राज्य, प्रकाशरूप राज्य, महाराज्य, राजों का अधिपतिरूप राज्य और अपने वश का राज्य इत्यादि उत्तम २ सुख बढ़ते हैं इसलिये उस परमात्मा को मेरा वारंवार नमस्कार है कि जिसके अनुग्रह से हम लोग इन राज्यों के अधिकारी होते हैं ॥ ६ ॥

स प्रजापतिका अयं वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतम इममेवाभिषिञ्चा महा इति तथेति तद्वैतदिन्द्रमेव ॥ ७ ॥ सम्राजं साम्राज्यं भोजं भोजपितरं स्वराजं स्वाराज्यं विराजं वैराज्यं राजानं राजपितरं परमेष्ठिनं पारमेष्ठ्यं क्षत्रमजनि क्षत्रियोऽजनि विश्वस्य भूतस्याधिपतिरजनि विशामत्ताजनि पुरां भेत्ता जन्यसुराणां हन्ताजनि ब्रह्मणो गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनीति ॥ ऐतरे० पं० ८ । कं० १२ ॥ स परमेष्ठी प्राजापत्योऽभवत् ॥ ८ ॥ ऐत० पं० ८ । कं० १४ ॥ स एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेणाभिषिक्तः क्षत्रियः सर्वा जितीर्जयति सर्वान् लोकान् विन्दति सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छति साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं माहाराज्यमाधिपत्यं जित्वास्मिँल्लोके स्वयंभूः स्वराडमृतोऽमुष्मिन्त्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः सम्भवति यमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाऽभिषिञ्चति ॥ ९ ॥ ऐत० पं० ८ । कं० १६ ॥

भाष्यम् ॥

(स प्रजापतिका०) सर्वे सभासदः प्रजास्थमनुष्याः स्वामिनेष्टेन पूज्यतमेन परमेश्वरेणैव सह वर्त्तमाना भवेयुः । सर्वे मिलित्वैवं विचारं कुर्युर्यतो न कदाचित्सुखहानिपराजयौ स्याताम् । यो देवानां विदुषां मध्ये (ओजिष्ठः) पराक्रमवत्तमः (बलिष्ठः) सर्वोत्कृष्टबलसहितः (सहिष्ठः) अतिशयेन सहन-

शीलः (सत्तमः) सर्वैर्गुणैरत्यन्तश्रेष्ठः (तारयिष्णुतमः) सर्वेभ्यो युद्धादिदुःखेभ्योऽतिशयेन सर्वान्सन्तारयितृतमो विजयकारकतमोऽस्माकं मध्ये श्रेष्ठतमोऽस्तीति वयं निश्चित्य तमेव पुरुषमभिषिञ्चाम इतीच्छेयुः । तथैव खल्वस्त्विति सर्वे प्रतिजानीयुरेवं भूतस्योत्तमपुरुषस्याभिषेककरणं सर्वैश्वर्यप्रापकत्वादिन्द्रमित्याहुः ॥ ७ ॥ (सम्राजं०) एवम्भूतं सार्वभौमराजानं (साम्राज्यं) सार्वभौमराज्यं (भोजं) उत्तमभोगसाधकं (भोजपितरं) उत्तमभोगानां रक्षकं (स्वराजं) राजकर्मसु प्रकाशमानं सद्विद्यादिगुणैस्स्वहृदये देदीप्यमानं (स्वाराज्यं) स्वकीयराज्यपालनं (विराजं) विविधानां राज्ञां प्रकाशकं (वैराज्यं) विविधराज्यप्राप्तिकरं (राजानं) श्रेष्ठैश्वर्येण प्रकाशमानं (राजपितरं) राज्ञां रक्षकं (परमेष्ठिनं) परमोत्कृष्टे राज्ये स्थापयितुं योग्यं (पारमेष्ठ्यं) परमेष्ठिमत्त्वादितं सर्वोत्कृष्टं पुरुषं वयमभिषिञ्चामहे । एवमभिषिक्तस्य पुरुषस्य सुराज्ययुक्तं क्षत्रमजनि प्रादुर्भवतीति । अजनीति छन्दसि लुङ्लङ्लिट इति वर्त्तमानकाले लुङ् (क्षत्रियोऽजनि) तथा क्षत्रियो वीरपुरुषः (विश्वं०) सर्वस्य प्राणिमात्रस्याधिपतिः सभाध्यक्षः (विशामत्ता०) दुष्टप्रजानामत्ता विनाशकः (पुरां भे०) शत्रुनगराणां विनाशकः (असुराणां हन्ता) दुष्टानां हन्ता हननकर्त्ता (ब्रह्मणो०) वेदस्य रक्षकः (धर्मस्य गो०) धर्मस्य च रक्षकोऽजनि प्रादुर्भवतीति (स परमेष्ठीप्रा०) स राजधर्मः सभाध्यक्षादिमनुष्यैः (प्राजापत्यः) अर्थात् परमेश्वर इष्टः करणीयः । न तद्भिन्नोऽर्थः केनचिन्मनुष्येणेष्टः कर्त्तुं योग्योऽस्त्यतः सर्वे मनुष्याः परमेश्वरपूजका भवेयुः ॥ ८ ॥ यो मनुष्यो राज्यं कर्त्तुमिच्छेत्स (एतेनैन्द्रेण०) पूर्वोक्तेन सर्वैश्वर्यप्राप्तिनिमित्तेन (महाभिषेकेणा०) अभिषिक्तः स्वीकृतः (क्षत्रियः) क्षत्रधर्मवान् (सर्व०) सर्वेषु युद्धेषु जयति सर्वत्र विजयं तथा सर्वानुत्तमांल्लोकांश्च विन्दति प्राप्नोति सर्वेषां राज्ञां मध्ये श्रैष्ठ्यं सर्वोत्तमत्वं पूर्वोक्तां प्रतिष्ठां या परेषु शत्रुषु विजयेन हर्षनिमित्ता तथा परेषां शत्रूणां दीनत्वनिमित्ता सा परमता सभा तां वा गच्छति प्राप्नोति तथा सभया पूर्वोक्तं साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं महाराज्यमाधिपत्यं राज्यं च जित्वाऽस्मिन् लोके चक्रवर्त्तिसार्वभौमो महाराजाधिराजो भवति तथा शरीरं त्यक्त्वाऽस्मिन्स्वर्गे सुखस्वरूपे लोके परब्रह्मणि

स्वयम्भूः स्वाधीनः (स्वराट्) स्वप्रकाशः (अमृतः) प्राप्तमोक्षसुखः सन्सर्वान्कामानाप्नोति (आप्तामृतः) पूर्णकामोऽजरामरः सम्भवति (परमेणेन्द्रेण) एतेनोक्तेन सर्वैश्वर्य्येण (शापयित्वा) प्रतिज्ञां कारयित्वा यं सकलगुणोत्कृष्टं क्षत्रियं (महाभिषे०) अभिषिञ्चन्ति सभासदः सभायां स्वीकुर्वन्ति तस्य राष्ट्रे कदाचिदनिष्टं न प्रसज्यत इति विज्ञेयम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ ॥

जो क्षत्र अर्थात् राज्य परमेश्वर आधीन और विद्वानों के प्रबन्ध में होता है वह सब सुखकारक पदार्थ और वीर पुरुषों से अत्यन्त प्रकाशित होता है (स प्रजापतिका०) और वे विद्वान् एक अद्वितीय परमेश्वर के ही उपासक होते हैं क्योंकि वही एक परमात्मा सब देवों के बीच में अनन्त विद्यायुक्त और अपार बलवान् है तथा अत्यन्त सहनस्वभाव और सबसे उत्तम है वही हम को सब दुःखों के पार उतार के सब सुखों को प्राप्त कराने वाला है उसी परमात्मा को हम लोग अपने राज्य और सभा में अभिषेक करके अपना न्यायकारी राजा सदा के लिये मानते हैं तथा जिस का नाम इन्द्र अर्थात परमैश्वर्य्ययुक्त है वही हमारा सम्राट् अर्थात् चक्रवर्त्ती राजा और वही हम को भी चक्रवर्त्ति राज्य देनेवाला है जो पिता के सदृश सब प्रकार से हमारा पालन करने वाला स्वराट् अर्थात् स्वयं प्रकाशस्वरूप और प्रकाशरूप राज्य का देनेवाला है तथा जो विराट् अर्थात् सब का प्रकाशक विविध राज्य का देनेवाला है उसी को हम राजा और सब राजाओं का पिता मानते हैं क्योंकि वही परमेष्ठी सर्वोत्तम राज्य का भी देनेवाला है। उसी की कृपा से मैंने राज्य को प्रसिद्ध किया अर्थात् मैं क्षत्रिय और सब प्राणियों का अधिपति हुआ तथा प्रजाओं का संग्रह दुष्टों के नगरों का भेदन असुर अर्थात् चोर डाकुओं का ताड़न ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या का पालन और धर्म की रक्षा करनेवाला हुआ हूं। जो क्षत्रिय इस प्रकार के गुण और सत्य कर्मों से अभिषिक्त अर्थात् युक्त होता है वह सब युद्धों को जीत लेता है तथा सब उत्तम सुख और लोकों का अधिकारी बन कर सब राजाओं के बीच में अत्यन्त उत्तमता को प्राप्त होता है जिससे इस लोक में

चक्रवर्त्ति राज्य और लक्ष्मी को भोग के मरणानन्तर परमेश्वर के समीप सब सुखों को भोगता है क्योंकि ऐन्द्र अर्थात् महाऐश्वर्ययुक्त अभिषेक से क्षत्रिय को प्रतिज्ञापूर्वक राज्याधिकार मिलता है इसलिये जिस देश में इस प्रकार का राज्यप्रबन्ध किया जाता है वह देश अत्यन्त सुख को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

क्षत्रं वै स्विष्टकृत् ॥ क्षत्रं वै साम ॥ साम्राज्यं वै साम ॥ श० कां० १२ । अ० ८ । ब्रा० २ ॥ ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रꣳराजन्यस्तदस्य ब्रह्मणा च क्षत्रेण चोभयतः श्रीः परिगृहीता भवति । युद्धं वै राजन्यस्य वीर्य्यम् ॥ श० कां० १३ । अ० १ । ब्रा० ५ ॥ राष्ट्रं वा अश्वमेधः ॥ श० कां० १३ । अ० १ । ब्रा० ६ ॥ राजन्य एव शौर्य्यं महिमानं दधाति तस्मात्पुरा राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जज्ञे ॥ श० कां० १३ । अ० १ । ब्रा० ६ ॥

(क्षत्रं वै०) क्षत्रमर्थाद्राजसभाप्रबन्धेन यद्यथावत्प्रजापालनं क्रियते तदेव स्विष्टकृदर्थादिष्टसुखकारि (क्षत्रं वै साम०) यद्दुष्टकर्मणामन्तकारि तथा सर्वस्याः प्रजायाः सान्त्वप्रयोगकर्त्तृ च भवति (साम्राज्यं वै०) तदेव श्रेष्ठं राज्यं वर्णयन्ति (ब्रह्म वै०) ब्रह्मार्थाद्वेदं परमेश्वरं च वेत्ति स एव ब्राह्मणो भवितुमर्हति । (क्षत्रꣳ) यो जितेन्द्रियो विद्वान् शौर्य्यादिगुणयुक्तो महावीरः पुरुषः क्षत्रधर्मं स्वीकरोति स राजन्यो भवितुमर्हति । (तदस्य ब्रह्मणा०) तादृशैर्ब्राह्मणै राजन्यैश्च सहास्य राष्ट्रस्य सकाशादुभयतः श्री राज्यलक्ष्मीः परितः सर्वतो गृहीता भवति नैवं राजधर्मानुष्ठानेनास्याः श्रियः कदाचिद्ध्रासान्यथात्वे भवतः । (युद्धं वै०) अत्रेदं बोध्यं युद्धकरणमेव राजन्यस्य वीर्य्यं बलं भवति नानेन विना महाधनसुखयोः कदाचित्प्राप्तिर्भवति । कुतः । निघं० अ० २ । खं० १७ । सङ्ग्रामस्यैव महाधनसञ्ज्ञत्वात् । महान्ति धनानि प्राप्तानि भवन्ति यस्मिन्स महाधनः सङ्ग्रामो नास्माद्विना कदाचिन्महती प्रतिष्ठा महाधनं च प्राप्नुतः । (राष्ट्रं वा अश्वमेधः) राष्ट्रपालनमेव क्षत्रियाणामश्वमेधाख्यो यज्ञो भवति नाश्वं हत्वा तदङ्गानां होमकरणं चेति ॥ (राजन्य एव०) पुरा पूर्वोक्तैर्गुणैर्युक्तो राजन्यो यदा शौर्य्यं महिमानं दधाति तदा सार्वभौमं राज्यं कर्तुं

समर्थो भवति तस्मात्कारणाद्राजन्यः शूरो युद्धोत्सुको निर्भयः (इषव्यः) शस्त्रास्त्रप्रक्षेपणे कुशलः (अतिव्याधी) अत्यन्ता व्याधाः शत्रूणां हिंसका योद्धारो यस्य (महारथः) महान्तो भूजलान्तरिक्षगमनाय रथा यस्येति । यस्मिन् राष्ट्र ईदृशो राजन्यो जज्ञे जातोस्ति नैव कदाचित्तस्मिन्भयदुःखे सम्भवतः ॥ १३ ॥

भाषार्थ ॥

(क्षत्रं वै०) राजसभाप्रबन्ध से जो यथावत् प्रजा का पालन किया जाता है वही स्विष्टकृत् अर्थात् अच्छे प्रकार चाहे हुए सुख का करने वाला होता है । (क्षत्रं वै सा०) जो राजकर्म्म दुष्टों का नाश और श्रेष्ठों का पालन करने वाला है वही साम्राज्यकारी अर्थात् राजसुखकारक होता है । (ब्रह्म वै०) जो मनुष्य ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेद का जाननेवाला है वही ब्राह्मण होने के योग्य है । (क्षत्रं०) जो इन्द्रियों का जीतनेवाला पण्डित शूरतादि गुणयुक्त श्रेष्ठ वीरपुरुष क्षत्रधर्म को स्वीकार करता है सो क्षत्रिय होने के योग्य है । (तदस्य ब्रह्मणा०) ऐसे ब्राह्मण और क्षत्रियों के साथ न्यायपालक राजा को अनेक प्रकार से लक्ष्मी प्राप्त होती है और उसके खजाने की हानि कभी नहीं होती । (युद्धं वै०) यहां इस बात को जानना चाहिये कि जो राजा को युद्ध करना है वही उसका बल होता है उसके विना बहुत धन और सुख की प्राप्ति कभी नहीं होती क्योंकि निघण्टु में सङ्ग्राम ही का नाम महाधन है । सो उसको महाधन इसलिये कहते हैं कि उससे बड़े २ उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं क्योंकि विना संग्राम के अत्यन्त प्रतिष्ठा और धन कभी नहीं प्राप्त होता और जो न्याय से राज्य का पालन करना है वही क्षत्रियों का अश्वमेध कहाता है किन्तु घोड़े को मार के उसके अङ्गों का होम करना यह अश्वमेध नहीं है (राजन्य एव०) पूर्वोक्त राजा जब शूरतारूप कीर्त्ति को धारण करता है तभी सम्पूर्ण पृथिवी के राज्य करने को समर्थ होता है इसलिये जिस देश में युद्ध को अत्यन्त चाहनेवाला निर्भय शस्त्र अस्त्र चलाने में अतिचतुर और जिसका रथ पृथिवी समुद्र और अन्तरिक्ष में जाने आनेवाला हो ऐसा राजा होता है वहां भय और दुःख नहीं होते ॥

श्रीर्वै राष्ट्रम् । श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः । श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम् । क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतम् । विड्वै गर्भो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्या हन्ति

तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः॥ विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशुमन्यत इति॥ शत॰ कां॰ १३। अ॰ २। ब्रा॰ ३॥

(श्रीर्वै राष्ट्रम्) या विद्याद्युत्तमगुणरूपा नीतिः सैव राष्ट्रं भवति (श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः) सैव राज्यश्री राष्ट्रस्य सम्भारो भवति (श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम्) राष्ट्रस्य मध्यभागोपि श्रीरेवास्ति (क्षेमो वै रा॰) क्षेमो यद्रक्षणं तदेव राष्ट्रस्य शयनवन्निरुपद्रवं सुखं भवति (विड्वै गर्भो॰) विड् या प्रजा सा गर्भरूपास्ति (राष्ट्रं पसो॰) यद्राष्ट्रं तत्पसारूपं भवति तस्माद्राष्ट्रमस्वतन्त्रमेकं तद्विशि प्रजायामाविश्यताभाहन्त्यासमन्तात्करग्रहणेन प्रजाया उत्तमपदार्थानां हरणं करोति (तस्माद्राष्ट्रीवि॰) यस्मात्सभया विनैकाकी पुरुषो भवति तत्र प्रजा सदा पीडिता भवति तस्मादेकः पुरुषो राजा नैव कर्त्तव्यो नैकस्य पुरुषस्य राजधर्मानुष्ठाने यथावत् सामर्थ्यं भवति तस्मात्सभयैव राज्यप्रबन्धः कर्त्तुं शक्योऽस्ति (विशमेव राष्ट्राया॰) यत्रैको राजास्ति तत्र राष्ट्राय विशं प्रजामाद्यां भक्षणीयां भोज्यवत्ताडितां करोति। यस्मात्स्वसुखार्थं प्रजाया उत्तमान्पदार्थान् गृह्णन्सन् प्रजायै पीडां ददाति तस्मादेको राष्ट्री विशमत्ति (न पुष्टं पशुम॰) यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा हन्तुमिच्छति तथैको राजा न मत्तः कश्चिदधिको भवेदितीर्ष्यया नैव प्रजास्थस्य कस्यचिन्मनुष्यस्योत्कर्षं सहते तस्मात्सभाप्रबन्धयुक्तेन राज्यव्यवहारेणैव भद्रमित्येवं राजधर्मव्यवहारप्रतिपादका मन्त्रा बहवः सन्तीति॥

भाषार्थ॥

(श्रीर्वै राष्ट्रं) श्री जो लक्ष्मी है वही राज्य का स्वरूप सामग्री और मध्य है तथा राज्य का जो रक्षण करना है वही शोभा अर्थात् श्रेष्ठभाग कहाता है। राज्य के लिये एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये क्योंकि जहां एक को राजा मानते हैं वहां सब प्रजा दुःखी और उसके उत्तम पदार्थों का अभाव हो जाता है, इसीसे किसी की उन्नति नहीं होती। इसी प्रकार सभा करके राज्य का प्रबन्ध आर्यों में श्रीमन्महाराज युधिष्ठिरपर्यन्त बराबर चला आया है कि जिसकी साक्षी महाभारत के राजधर्म आदि ग्रन्थ तथा मनुस्मृत्यादि धर्मशास्त्रों में यथावत लिखी है, उनमें जो कुछ प्रक्षिप्त किया है उसको छोड़ के बाकी सब अच्छा है क्योंकि वह वेदों के अनुकूल है और आर्यों की

यह एक बात बड़ी उत्तम थी कि जिस सभा वा न्यायाधीश के सामने अन्याय हो वह प्रजा का दोष नहीं मानते थे किन्तु वह दोष सभाऽध्यक्ष सभासद् और न्यायाधीश का ही गिना जाता था, इसलिये वे लोग सत्य न्याय करने में अत्यन्त पुरुषार्थ करते थे कि जिससे आर्य्यावर्त्त के न्यायघर में कभी अन्याय नहीं होता था और जहां होता था वहां उन्हीं न्यायाधीशों को दोष देते थे। यही सब आर्यों का सिद्धान्त है अर्थात् इन्हीं वेदादि शास्त्रों की रीति से आर्य्यों ने भूगोल में करोड़ों वर्ष राज्य किया है, इसमें कुछ सन्देह नहीं ॥

इति संक्षेपतो राजप्रजाधर्मविषयः ॥

अथ वर्णाश्रमविषयः संक्षेपतः ॥

तत्र वर्णविषयो मन्त्रो ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीदित्युक्तस्तदर्थश्च तस्याग्रे शेषः ॥ वर्णो वृणोतेः ॥ १ ॥ नि० अ० २ । खं० ३ ॥ ब्रह्म हि ब्राह्मणः ॥ क्षत्रꣳ हीन्द्रः क्षत्रꣳ राजन्यः ॥ २ ॥ श० कां० ५ । अ० १ । ब्रा० १ ॥ बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्त्तः ॥ वीर्य्यं वा एतद्राजन्यस्य यद्बाहू वीर्य्यं वा एतदपाꣳ रसः ॥ श० कां० ५ । अ० ४ । ब्रा० ३ ॥ इषवो वै दिद्यवः ॥ ३ ॥ श० कां० ५ । अ० ४ । ब्रा० ४ ॥

भाष्यम् ॥

वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद्वरणीया वरीतुमर्हा गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः ॥ १ ॥ (ब्रह्म हि ब्राह्मणः) ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्योपासनेन च सह वर्त्तमानो विद्याद्युत्तमगुणयुक्तः पुरुषो ब्राह्मणो भवितुमर्हति । तथैव (क्षत्रꣳ हीन्द्रः०) क्षत्रं क्षत्रियकुलम् । यः पुरुष इन्द्रः परमैश्वर्य्यवान् शत्रूणां क्षयकरणाद्युद्धोत्सुकत्वाच्च प्रजापालनतत्परः (राजन्यः) क्षत्रियो भवितुमर्हति ॥ २ ॥ (मित्रः) सर्वेभ्यः सुखदाता (वरुणः) उत्तमगुणकर्मधारणेन श्रेष्ठः । इमावेव क्षत्रियस्य द्वौ बाहुवद् भवेताम् (वा) अथवा वीर्य्यं पराक्रमो बलं चैतदुभयं राजन्यस्य क्षत्रियस्य बाहू भवतः । अपां प्राणानां यो रस आनन्दस्तं प्रजाभ्यः प्रयच्छतः क्षत्रियस्य वीर्य्यं वर्धते तस्य (इषवः)

वाणाः शस्त्रास्त्राणामुपलक्षणमेतत् । (दिघव०) मस्काशकाः सदा भवेयुः ॥ ३ ॥

भाषार्थ ॥

अब वर्णाश्रमविषय लिखा जाता है, इस में यह विशेष जानना चाहिये कि प्रथम मनुष्यजाति सब की एक है सो भी वेदों से सिद्ध है इस विषय का प्रमाण सृष्टि विषय में लिख दिया है तथा (ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) यह मन्त्र सृष्टि विषय में लिख चुके हैं । वर्णों के प्रतिपादन करनेवाले वेदमन्त्रों की जो व्याख्या ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रन्थों में लिखी है वह कुछ यहां भी लिखते हैं । मनुष्यजाति के ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये वर्ण कहाते हैं । वेदरीति से इन के दो भेद हैं एक आर्य्य और दूसरा दस्यु इस विषय में यह प्रमाण है कि (विजानीह्यार्य्यान्ये च दस्यवो०) अर्थात् इस मन्त्र से परमेश्वर उपदेश करता है कि हे जीव ! तू आर्य्य अर्थात् श्रेष्ठ और दस्यु अर्थात् दुष्ट स्वभावयुक्त डांकू आदि नामों से प्रसिद्ध मनुष्यों के ये दो भेद जान ले तथा (उत शूद्रे उत आर्य्ये) इस मन्त्र से भी आर्य्य ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी जो कि शूद्र कहाते हैं ये दो भेद जाने गये हैं तथा (असुर्या नाम ते लोका०) इस मन्त्र से भी देव और असुर अर्थात् विद्वान् और मूर्ख ये दो ही भेद जाने जाते हैं और इन्हीं दोनों के विरोध को देवासुर संग्राम कहते हैं । ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये चार भेद गुण कर्मों से किये गये हैं (वर्णो०) इन का नाम वर्ण इसलिये है कि जैसे जिस के गुण कर्म हों वैसा ही उस को अधिकार देना चाहिये (ब्रह्म हि ब्रा०) ब्रह्म अर्थात् उत्तम कर्म करने से उत्तम विद्वान् ब्राह्मणवर्ण होता है (क्षत्रं हि०) परम-ऐश्वर्य (बाहू०) बल वीर्य्य के होने से मनुष्य क्षत्रियवर्ण होता है जैसा कि राज-धर्म में लिख आये हैं ॥

आश्रमा अपि चत्वारः सन्ति । ब्रह्मचर्य्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासभेदात् । ब्रह्मचर्य्येण सद्विद्याशिक्षा च ग्राह्या । गृहाश्रमेणोत्तमाचरणानां श्रेष्ठानां पदार्थानां चोन्नतिः कार्य्या । वानप्रस्थेनैकान्तसेवनं ब्रह्मोपासनं विद्याफलविचारणादि च कार्य्यम् । संन्यासेन परब्रह्ममोक्षपरमानन्दप्रापणं क्रियते सदुपदेशेन सर्वस्मा आनन्ददानं चेत्यादि चतुर्भिराश्रमैर्धर्मार्थकाममोक्षाणां सम्यक् सिद्धिः सम्पादनीया । एतेषां मुख्यतया ब्रह्मचर्य्येण सद्विद्यासुशिक्षादयः शुभगुणाः सम्यग्ग्राह्याः ॥ अत्र ब्रह्मचर्य्याश्रमे प्रमाणम्--

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः । तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ १ ॥ इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति । ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति ॥ २ ॥ पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत् । तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ ३ ॥ अथर्व० कां० ११ । अनु० ३ । व० ५ । मं० ३ । ४ । ५ ॥

भाष्यम् ॥

(आचार्य्य उ०) आचार्य्यो विद्याध्यापको ब्रह्मचारिणमुपनयमानो विद्यापठनार्थमुपवीतं दृढव्रतमुपदिशन्नन्तर्गर्भमिव कृणुते करोति । तं तिस्रो रात्रीस्त्रिदिनपर्य्यन्तमुदरे बिभर्त्ति । यथावत् सर्वां शिक्षां करोति पठनस्य च रीतिमुपदिशति । यदा विद्यायुक्तो विद्वान् जायते तदा तं विद्यासु जातं प्रादुर्भूतं देवा विद्वांसो द्रष्टुमभिसंयन्ति प्रसन्नतया तस्य मानं कुर्वन्ति । अस्माकं मध्ये महाभाग्योदयेनेश्वरानुग्रहेण च सर्वमनुष्योपकारार्थं त्वं विद्वान् जात इति प्रशंसन्ति ॥ १ ॥ (इयं समित्०) इयं पृथिवी द्यौः प्रकाशोन्तरिक्षं चानया समिधा स ब्रह्मचारी पृणाति तत्रस्थान् सर्वान् प्राणिनो विद्यया होमेन च प्रसन्नान् करोति (समिधा) अग्निहोत्रादिना मेखलया ब्रह्मचर्य्यचिह्नधारणेन च (श्रमेण) परिश्रमेण (तपसा) धर्मानुष्ठानेनाध्यापनेनोपदेशेन च (लोकां०) सर्वान् प्राणिनः पिपर्त्ति पुष्टान्प्रसन्नान्करोति ॥ २ ॥ (पूर्वो जातो ब्रह्म०) ब्रह्मणि वेदे चरितुं शीलं यस्य स ब्रह्मचारी (घर्मं वसानः) अत्यन्तं तपश्चरन् । ब्राह्मणोऽर्थाद्वेदं परमेश्वरं च विदन् पूर्वः सर्वेषामाश्रमाणामादिमः सर्वाश्रमभूषकः (तपसा) धर्मानुष्ठानेन (उदतिष्ठत्) ऊर्ध्वे उत्कृष्टबोधे व्यवहारे च तिष्ठति तस्मात्कारणात् (ब्रह्म ज्येष्ठं) ब्रह्मैव परमेश्वरो विद्या वा ज्येष्ठा सर्वोत्कृष्टा यस्य तं ब्रह्मज्येष्ठम् । अमृतेन परमेश्वरमोक्षबोधेन परमानन्देन साकं सह वर्त्तमानं (ब्राह्मणं) ब्रह्मविदं (जातं) प्रसिद्धं (देवाः) सर्वे विद्वांसः प्रशंसन्ति ॥ ३ ॥

भावार्थ ॥

अब आगे चार आश्रमों का वर्णन किया जाता है। ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम कहाते हैं इन में से पांच वा आठ वर्ष की उमर से अड़तालीस वर्ष पर्य्यंत प्रथम ब्रह्मचर्य्याश्रम का समय है इस के विभाग पितृयज्ञ में कहेंगे वह सुशिक्षा और सत्यविद्यादि गुण ग्रहण करने के लिये होता है। दूसरा गृहाश्रम जो कि उत्तम गुणों के प्रचार और श्रेष्ठ पदार्थों की उन्नति से सन्तानों की उत्पत्ति और उन को सुशिक्षित करने के लिये किया जाता है। तीसरा वानप्रस्थ जिससे ब्रह्मविद्यादि साक्षात् साधन करने के लिये एकान्त में परमेश्वर का सेवन किया जाता है। चौथा संन्यास जो कि परमेश्वर अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति और सत्योपदेश से सब संसार के उपकार के अर्थ किया जाता है धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिये इन चार आश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों को उचित है इन में से प्रथम ब्रह्मचर्य्याश्रम जो कि सब आश्रमों का मूल है उसके ठीक २ सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिगड़ने से नष्ट हो जाते हैं। इस आश्रम के विषय में वेदों के अनेक प्रमाण हैं उन में से कुछ यहां भी लिखते हैं (आचार्य्य उ०) अर्थात् जो गर्भ में बस के माता और पिता के सम्बन्ध से मनुष्य का जन्म होता है वह प्रथम जन्म कहाता है और दूसरा यह है कि जिस में आचार्य्य पिता और विद्या माता होती है, इस दूसरे जन्म के न होने से मनुष्य को मनुष्यपन नहीं प्राप्त होता, इसलिये उस को प्राप्त होना मनुष्यों को अवश्य चाहिये। जब आठवें वर्ष पाठशाला में जाकर आचार्य्य अर्थात् विद्या पढ़ाने वाले के समीप रहते हैं तभी से उनका नाम ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी हो जाता है क्योंकि वे ब्रह्म वेद और परमेश्वर के विचार में तत्पर होते हैं उनको आचार्य तीन रात्रिपर्य्यन्त गर्भ में रखता है अर्थात् ईश्वर की उपासना धर्म परस्पर विद्या के पढ़ने और विचारने की युक्ति आदि जो मुख्य २ बातें हैं वे सब तीन दिन में उनको सिखाई जाती हैं। तीन दिन के उपरान्त उनको देखने के लिये अध्यापक अर्थात् विद्वान् लोग आते हैं ॥ १ ॥ (इयं समित्०) फिर उस दिन होम करके उनको प्रतिज्ञा कराते हैं कि जो ब्रह्मचारी पृथिवी सूर्य्य और अन्तरिक्ष इन तीनों प्रकार की विद्याओं को पालन और पूर्ण करने की इच्छा करता है सो इन समिधाओं से पुरुषार्थ करके सब लोकों को धर्मानुष्ठान से पूर्ण आनन्दित कर देता है ॥ २ ॥ (पूर्वो जातो ब्र०) जो ब्रह्मचारी पूर्व पद के ब्राह्मण होता है वह धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थी होकर सब मनुष्यों का कल्याण

करता है (ब्रह्म ज्येष्ठं०) फिर उस पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण को जो कि अमृत अर्थात् परमेश्वर की पूर्ण भक्ति और धर्मानुष्ठान से युक्त होता है देखने के लिये सब विद्वान् आते हैं ॥ ३ ॥

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः । स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥ ४ ॥ ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् । गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह ॥ ५ ॥ ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति । आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ ६ ॥ ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीषति ॥ ७ ॥ ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत । इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥ ८ ॥ अथर्व० कां० ११ । अनु० ३ । मं० ६ । ७ । १७ । १८ । १९ ॥

भाष्यम् ॥

(ब्रह्मचार्येति०) स ब्रह्मचारी पूर्वोक्तया (समिधा) विद्यया (समिद्धः) प्रकाशितः (कार्ष्णं) मृगचर्मादिकं (वसानः) आच्छादयन् (दीर्घश्मश्रुः) दीर्घकालपर्यन्तं केशश्मश्रूणि धारितानि येन स । दीक्षितः । प्राप्तदीक्षः (एति) परमानन्दं प्राप्नोति । तथा (पूर्वस्मात्) ब्रह्मचर्यानुष्ठानभूतात्समुद्रात् (उत्तरं) गृहाश्रमं समुद्रं (सद्य एति) शीघ्रं प्राप्नोति । एवं निवासयोग्यान्सर्वान् (लोकान्त्सं०) संगृह्य मुहुर्वारंवारं (आचरिक्रत्) धर्मोपदेशमेव करोति ॥ ४ ॥ (ब्रह्मचारी०) स ब्रह्मचारी (ब्रह्म) वेदविद्यां पठन् (अपः) प्राणान् (लोकं) दर्शनं (परमेष्ठिनं) प्रजापतिं (विराजं) विविधप्रकाशकं परमेश्वरं (जनयन्) प्रकटयन् (अमृतस्य) मोक्षस्य (योनौ) विद्यायां (गर्भो भूत्वा) गर्भवन्नियमेन स्थित्वा यथावद्विद्यां गृहीत्वा (इन्द्रो ह भूत्वा) सूर्यवत्प्रकाशकः सन् (असुरान्) दुष्टकर्मकारिणो मूर्खान्पाषण्डिनो जनान् दैत्यरक्षः स्वभावान् (ततर्ह)

तिरस्करोति सर्वान्निवारयति । यथेन्द्रः सूर्य्योऽसुरान्मेघान् रात्रिं च निवारयति तथैव ब्रह्मचारी सर्वशुभगुणप्रकाशकोऽशुभगुणनाशकश्च भवतीति ॥५॥ (ब्रह्मच-र्य्येण०) तपसा ब्रह्मचर्य्येण कृतेन राजा राष्ट्रं विरक्षति विशिष्टतया प्रजा रक्षितुं योग्यो भवति। आचार्य्योऽपि कृतेन ब्रह्मचर्य्येणैव विद्यां प्राप्य ब्रह्मचारिणमिच्छते स्वीकुर्य्यान्नान्यथेति ॥ ६ ॥ अत्र प्रमाणम् । आचार्य्यः कस्मादाचारं ग्राहयत्या-चिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा ॥ निरुक्त अ० १ । खं० ४ ॥ (ब्रह्मचर्य्ये-ण०) एवमेव कृतेन ब्रह्मचर्य्येणैव कन्या युवतिः सती युवानं स्वसदृशं पतिं विन्दते नान्यथा न चातः पूर्वमसदृशं वा । अनड्वानित्युपलक्षणं वेगवतां पशूनां ते पशवोऽश्वश्च घासं यथा तथा कृतेन ब्रह्मचर्य्येण स्वविरोधिनः पशून् जिगी-षन्ति युद्धेन जेतुमिच्छन्ति । अतो मनुष्यैस्त्ववश्यं ब्रह्मचर्य्यं कर्त्तव्यमित्य-भिप्रायः ॥ ७ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा०) देवा विद्वांसो ब्रह्मचर्य्येण वेदा-ध्ययनेन ब्रह्मविज्ञानेन तपसा धर्मानुष्ठानेन च मृत्युं जन्ममृत्युप्रभवदुःखमुपाघ्नत निरयं घ्नन्ति नान्यथा । ब्रह्मचर्य्येण सुनियमेन (होति किलार्थे) यथा इन्द्रः सूर्य्यो देवेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वः सुखं प्रकाशं चाभरद्धारयति । तथा विना ब्रह्म-चर्य्येण कस्यापि नैव विद्यासुखं च यथावद्भवति । अतो ब्रह्मचर्य्यानुष्ठानपूर्वका एव गृहाश्रमादयस्त्रय आश्रमाः सुखमेधन्ते । अन्यथा मूलाभावे कुतः शाखाः किन्तु मूले दृढशाखापुष्पफलच्छायादयः सिद्धा भवन्त्येवेति ॥ ८ ॥

भाषार्थ ॥

(ब्रह्म चार्येति०) जो ब्रह्मचारी होता है वही ज्ञान से प्रकाशित तप और बड़े २ केश श्मश्रुओं से युक्त दीक्षा को प्राप्त होके विद्या को प्राप्त होता है तथा जो कि शीघ्र ही विद्या को ग्रहण करके पूर्व समुद्र जो ब्रह्मचर्य्याश्रम का अनुष्ठान है उसके पार उतर के उत्तर समुद्र स्वरूप गृहाश्रम को प्राप्त होता है और अच्छी प्रकार विद्या का संग्रह करके विचार पूर्वक अपने उपदेश का सौभाग्य बढ़ाता है ॥ ४ ॥ (ब्रह्मचारी ज०) वह ब्रह्मचारी वेदविद्या को यथार्थ जान के प्राणविद्या लोकविद्या तथा प्रजापति परमेश्वर जो कि सबसे बड़ा और सब का प्रकाशक है उस का जानना इन विद्याओं में गर्भरूप और इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्य्य युक्त होके असुर अर्थात् मूर्खों की अविद्या का छेदन कर देता है ॥ ५ ॥

(ब्रह्मचर्य्येण त०) पूर्ण ब्रह्मचर्य्य से विद्या पढ़के और सत्यधर्म के अनुष्ठान से राजा राज्य करने को और आचार्य्य विद्या पढ़ाने को समर्थ होता है । आचार्य्य उसको कहते हैं कि जो असत्याचार को छुड़ा के सत्याचार का और अनर्थों को छुड़ा के अर्थों का ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है ॥ ६ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण क०) अर्थात् जब वह कन्या ब्रह्मचर्य्याश्रम से पूर्ण विद्या पढ़ चुके तब अपनी युवावस्था में पूर्ण जवान पुरुष को अपना पति करे इसी प्रकार पुरुष भी सुशील धर्मात्मा स्त्री के साथ प्रसन्नता से विवाह करके दोनों परस्पर सुख दुःख में सहायकारी हों क्योंकि अनड्वान् अर्थात् पशु भी जो पूरी जवानी पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्य अर्थात सुनियम में रक्खा जाय तो अत्यन्त बलवान् हो के निर्बल जीवों को जीत लेता है ॥ ७ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण त०) ब्रह्मचर्य्य और धर्मानुष्ठान से ही विद्वान लोग जन्म मरण को जीत के मोक्षसुख को प्राप्त हो जाते हैं जैसे इन्द्र अर्थात् सूर्य्य परमेश्वर के नियम में स्थित हो के सब लोकों का प्रकाश करने वाला हुआ है वैसे ही मनुष्य का आत्मा ब्रह्मचर्य्य से प्रकाशित होके सब को प्रकाशित कर देता है इससे ब्रह्मचर्य्याश्रम ही सब आश्रमों से उत्तम है ॥

॥ इति ब्रह्मचर्य्याश्रमविषयः संक्षेपतः ॥

अथ गृहाश्रमविषयः ॥

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये । यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा ॥ ९ ॥ देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे । निहारं च हरामि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा ॥ १० ॥ गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि । ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ ११ ॥ येषामध्येति प्रवसन्येषु सौमनसो बहुः । गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः ॥ १२ ॥ उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः । अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥ क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳ शग्मꣳ शंयोः शंयोः ॥ १३ ॥ य० अ० ३ । मं० ४५ । ५० । ४१ । ४२ । ४३ ॥

भाष्यम् ॥

(एषामभि०) एतेषु गृहाश्रमविधानं क्रियत इति । (यद् ग्रामे०) यद् ग्रामे गृहाश्रमे वसन्तो वयं पुण्यं विद्याप्रचारं सन्तानोत्पत्तिमत्युत्तमराजाधिकनियमं सर्वोपकारकं तथैवारण्ये वानप्रस्थाश्रमे ब्रह्मविचारं विद्याध्ययनं तपश्चरणं सभासम्बन्धे यच्छ्रेष्ठं इन्द्रिये मानसव्यवहारे च यदुत्तमं कर्म च कुर्मस्तत्सर्वमीश्वरमोक्षप्राप्त्यर्थमस्तु । यच्च भ्रमेणैनः पापं च कृतं तत्सर्वमिदं पापमवयजामहे आश्रमानुष्ठानेन नाशयामः ॥ ९ ॥ देहि मे० परमेश्वर आज्ञापयति हे जीव त्वमेवं वद मे मह्यं देहि मत्सुखार्थं विद्यां द्रव्यादिकं च त्वं देहि अहमपि ते तुभ्यं ददामि मे मह्यं मदर्थं त्वमुत्तमस्वभावदानमुदारतां सुशीलतां च धेहि धारय । ते तुभ्यं त्वदर्थमहमप्येवं च दधे । तथैव धर्मव्यवहारं ऋणदानादानाख्यं च हरासि प्रयच्छ । तथैवाहमपि ते तुभ्यं त्वदर्थं निहाराणि नित्यं प्रयच्छानि ददानि । स्वाहेति सत्यभाषणं सत्यमानं सत्याचरणं सत्यवचनश्रवणं च सर्वे वयं मिलित्वा कुर्य्यामेति सत्येनैव सर्वं व्यवहारं कुर्य्युः ॥ १० ॥ (गृहा०) हे गृहाश्रममिच्छन्तो मनुष्याः स्वयंवरं विवाहं कृत्वा यूयं गृहाणि प्राप्नुत गृहाश्रमानुष्ठाने (मा बिभीत) भयं मा प्राप्नुत तथा (मा वेपध्वं) मा कम्पध्वं (ऊर्जं बिभ्रत एमसि) ऊर्जं बलं पराक्रमं च बिभ्रतः पदार्थानेमसि वयं प्राप्नुम इतीच्छत (ऊर्जं बिभ्रद्वः) वो युष्माकं मध्येऽहमूर्जं बिभ्रत्सन् (सुमनाः) शुद्धमनाः सुमेधोत्तमबुद्धियुक्तः (मनसा मोदमानः) प्राप्तानन्दः (गृहानैमि) गृहाणि प्राप्नोमि । ११ ॥ (येषामध्येति प्र०) येषु गृहेषु प्रवसतो मनुष्यस्य (बहुः) अधिकः (सौमनसः) आनन्दो भवति । तत्र प्रवसन् येषां यान्पदार्थान्सुखकारकान्स (अध्येति) स्मरति (गृहानुपह्वयामहे) वयं गृहेषु विवाहादिषु सत्कारार्थं तान् गृहसम्बन्धिनः साक्षिवन्ध्वाचार्य्यादीन्निमन्त्रयामहे । (ते नः विवाहनियमेषु कृतप्रतिज्ञानस्मान् (जानतः) प्रौढज्ञानान् युवावस्थास्थान्स्वेच्छया कृतविवाहान् ते (जानन्तु) अस्माकं साक्षिणः सन्त्विति ॥ १२॥ (उपहूता इह०) हे परमेश्वर भवत्कृपया इहास्मिन गृहाश्रमे (गावः) पशुपृथिवीन्द्रियविद्याप्रकाशाह्लादादयः (उपहूताः) अर्थात्सम्यक् प्राप्ता भवन्तु तथा (अजावयः) उपहूता अस्मदनुकूला भवन्तु (अथो अन्नस्य की०) अथो इति पूर्वोक्तपदार्थप्राप्त्यनन्तरं नोऽस्माकं गृहेष्वन्नस्य भोक्तव्यपदार्थसमूहस्य कीलालो विशेषेणोत्तमरस उपहूतः सम्यक् प्राप्तो भवतु

(क्षेमाय वः शान्त्यै०) यो युष्मानत्र पुरुषव्यवस्थयोऽस्ति तान्पूर्वोक्तान्भवद्भ्यो न्यपदार्थान् (क्षेमाय) रक्षणाय (शान्त्यै) सुखाय मपद्ये प्राप्नोमि तत्प्राप्त्या (शिवं) निःश्रेयसंकल्याणं पारमार्थिकं सुखं (शग्मं) सांसारिकमाभ्युदयिकं सुखं च प्राप्नुयाम् । शंयोः शमिति निघण्टौ पदनामास्ति । परोपकाराय गृहाश्रमे स्थित्वा पूर्वोक्तस्य द्विविधस्य सुखस्योन्नतिं कुर्म्मः ॥ १३ ॥

भावार्थ ॥

(यद्ग्रामे०) गृहाश्रमी को उचित है कि जब वह पूर्ण विद्या को पढ़ चुके तब अपने तुल्य स्त्री से स्वयंवर करे और वे दोनों यथावत् उन विवाह के नियमों में चलें जो कि विवाह और नियोग के प्रकरणों में लिख आये हैं परन्तु उन से जो विशेष कहना है सो यहां लिखते हैं। गृहस्थ स्त्री पुरुषों को धर्म उन्नति और ग्रामवासियों के हित के लिये जो २ काम करना है तथा (यदरण्ये) वनवासियों के साथ हित और (यत्सभायाम्) सभा के बीच में सत्य विचार और अपने सामर्थ्य से संसार को सुख देने के लिये (यदिन्द्रिये०) जितेन्द्रियता से ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिये सो २ सब काम अपने पूर्ण पुरुषार्थ के साथ यथावत् करें और (यदेनश्चकृ०) पाप करने की बुद्धि को हम लोग मन वचन और कर्म से छोड़ कर सर्वथा सब के हितकारी बनें ॥ ९ ॥ परमेश्वर उपदेश करता है कि (देहि मे०) जो सामाजिक नियमों की व्यवस्था के अनुसार ठीक २ चलना है यही गृहस्थ की परम उन्नति का कारण है। जो वस्तु किसी से लेवें अथवा देवें सो भी सत्यव्यवहार के साथ करें (निमे धेहि नि ते दधे) अर्थात् मैं तेरे साथ यह काम करूंगा और तू मेरे साथ ऐसा करना, ऐसे व्यवहार को भी सत्यता से करना चाहिये (निहारं च हरासि मे नि०) यह वस्तु मेरे लिये तू दे वा तेरे लिये मैं दूंगा इस को भी यथावत् पूरा करें अर्थात् किसी प्रकार का मिथ्या व्यवहार किसी से न करें इस प्रकार गृहस्थ लोगों के सब व्यवहार सिद्ध होते हैं क्योंकि जो गृहस्थ विचारपूर्वक सब के हितकारी काम करते हैं उन की सदा उन्नति होती है ॥ १० ॥ (गृहा मा बिभीत०) हे गृहाश्रम की इच्छा करने वाले मनुष्य लोगो ! तुम लोग स्वयंवर अर्थात् अपनी इच्छा के अनुकूल विवाह करके गृहाश्रम को प्राप्त हो और उससे डरो वा कम्पो मत किन्तु उससे बल पराक्रम करनेवाले पदार्थों को प्राप्त होने की इच्छा करो

तथा गृहाश्रमी पुरुषों से ऐसा कहो कि मैं परमात्मा की कृपा से आप लोगों के बीच परा- क्रम, शुद्ध मन, उत्तम बुद्धि और आनन्द को प्राप्त होकर गृहाश्रम करूं ॥ ११ ॥ (येषामध्येति०) जिन घरों में वसते हुए मनुष्यों को अधिक आनन्द होता है उन में वे मनुष्य अपने सम्बन्धी मित्र बन्धु और आचार्य्य आदि का स्मरण करते हैं और उन्हीं लोगों को विवाहादि शुभ कार्य्यों में सत्कार से बुलाकर उन से यह इच्छा करते हैं कि ये सब हम को युवावस्थायुक्त और विवाहादि नियमों में ठीक २ प्रतिज्ञा करने- वाले जानें अर्थात् हमारे साक्षी हों ॥ १२ ॥ (उपहू०) हे परमेश्वर ! आप की कृपा से हम लोगों को गृहाश्रम में पशु, पृथिवी, विद्या, प्रकाश, आनन्द, बकरी और भेड़ आदि पदार्थ अच्छी प्रकार से प्राप्त हों तथा हमारे घरों में उत्तम रसयुक्त खाने, पीने के योग्य पदार्थ सदा बने रहें (वः) यह पद पुरुष व्यत्यय से सिद्ध होता है हम लोग उक्त पदार्थों को उन की रक्षा और अपने सुख के लिये प्राप्त हों फिर उस प्राप्ति से हम को परमार्थ और संसार का सुख मिले (शंयोः) यह निघण्टु में प्रतिष्ठा अर्थात् सांसा- रिक सुख का नाम है ॥ १३ ॥

इति गृहाश्रमविषयः संक्षेपतः ॥

अथ वानप्रस्थविषयः संक्षेपतः ॥

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्य्याचार्य्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुलेऽवसा- दयन्सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति ॥ छान्दोग्य० प्र० २ । खं० २३ ॥

भाष्यम् ॥

(त्रयो धर्म०) अत्र सर्वेष्वाश्रमेषु धर्मस्य स्कन्धा अवयवास्त्रयः सन्ति । अध्ययनं यज्ञः क्रियाकाण्डं दानं च । तत्र प्रथमो ब्रह्मचारी तपः सुशिक्षाधर्मा- नुष्ठानेनाचार्य्यकुले वसति । द्वितीयो गृहाश्रमी । तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमवसा- दयन् हृदये विचारयन्नेकान्तदेशं प्राप्य सत्यासत्ये निश्चिनुयात् स वानप्रस्था- श्रमी ॥ एते सर्वे ब्रह्मचर्य्यादयस्त्रय आश्रमाः पुण्यलोकाः सुखनिवासाः सुखयुक्ता भवन्ति पुण्यानुष्ठानादेवाश्रमसञ्ज्ञा जायते ॥ ब्रह्मचर्य्याश्रमेण गृहीतविद्यो धर्मेश्वरादि सम्यक् निश्चित्य गृहाश्रमेण तदनुष्ठानं तद्विज्ञानवृद्धिं च कृत्वा ततो

वनमेकान्तं गत्वा सम्यक् मरणान्तं वसेत्तुर्य्यवहाराभिश्रित्य वानप्रस्थाश्रमं समाप्य सन्न्यासी भवेत् । अर्थाद् ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेदित्येकः पक्षः । (यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा-गृहाद्वा । अस्मिन् पक्षे वानप्रस्थाश्रमकृत्वा गृहाश्रमानन्तरं सन्न्यासं गृह्णी-यादिति द्वितीयः पक्षः । ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् सम्यग्ब्रह्मचर्य्याश्रमं कृत्वा गृह-स्थवानप्रस्थाश्रमावकृत्वा सन्न्यासाश्रमं गृह्णीयादिति तृतीयः पक्षः । सर्वत्रा-न्याश्रमविकल्प उक्तः परन्तु ब्रह्मचर्य्याश्रमपनुष्ठानं नित्यमेव कर्त्तव्यमित्यायाति । कुतः । ब्रह्मचर्य्याश्रमेण विनाऽन्याश्रमानुत्पत्तेः ॥

भाषार्थ ॥

(त्रयो धर्म०) धर्म के तीन स्कन्ध हैं एक विद्या का अध्ययन, दूसरा यज्ञ अर्थात् उत्तम क्रियाओं का करना, तीसरा दान अर्थात् विद्यादि उत्तम गुणों का देना तथा प्रथम तप अर्थात् वेदोक्तधर्म के अनुष्ठानपूर्वक विद्या पढ़ाना दूसरा आचार्य्यकुल में वस के विद्या पढ़ना और तीसरा परमेश्वर का ठीक २ विचार करके सब विद्याओं को जान लेना । इन बातों से सब प्रकार की उन्नति करना मनुष्यों का धर्म है तथा संन्यास-श्रम के तीन पक्ष हैं उन में एक यह है कि जो विषय भोग किया चाहे वह ब्रह्मचर्य्य गृहस्थ और वानप्रस्थ इन आश्रमों को करके सन्न्यास ग्रहण करे दूसरा (यदहरेव प्र०) जिस समय वैराग्य अर्थात् बुरे कामों से चित्त हटकर ठीक २ सत्य मार्ग में निश्चित होजाय उस समय गृहाश्रम से भी संन्यास हो सकता है और तीसरा जो पूर्ण विद्वान् होकर सब प्राणियों का शीघ्र उपकार किया चाहे तो ब्रह्मचर्य्याश्रम से ही संन्यास ग्रहण करले ॥

ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ॥ छान्दो० प्रपा० २ । खं० २३ ॥ तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति । ब्रह्मचर्य्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनाना-शकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ति । एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे ब्राह्मणाः । अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति ते

ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः ॥ श० कां० १४ । अ० ७ । ब्रा० २ ॥

भाष्यम् ॥

(ब्रह्मसंस्थः०) चतुर्थो ब्रह्मसंस्थः सन्न्यासी (अमृतत्वं) प्रतिप्राप्नोति (तमेतं वेदा०) सर्वे आश्रमिणो विशेषतः सन्न्यासिनश्चैतमेतं परमेश्वरं सर्वभूताधिपतिं वेदानुवचनेन तदध्ययनेन तच्छ्रवणेन तदुक्तानुष्ठानेन च वेत्तुमिच्छन्ति । (ब्रह्मचर्य्येण०) ब्रह्मचर्य्येण तपसा धर्मानुष्ठानेन श्रद्धयाऽत्यन्तप्रेम्णा यज्ञेन नाशरहितेन विज्ञानेन धर्मक्रियाकाण्डेन चैतं परमेश्वरं विदित्वैव मुनिर्भवति ॥ प्रव्राजिनः सन्न्यासिन एवं यथोक्तं लोकं द्रष्टव्यं परमेश्वरमेवेच्छन्तः प्रव्रजन्ति सन्न्यासाश्रमं गृह्णन्ति (एतद् ब्रह्म०) य एतदिच्छन्तः सन्तः पूर्वे अत्युत्तमा ब्राह्मणा ब्रह्मविदोऽनूचाना निश्शङ्काः पूर्णज्ञानिनोऽन्येषां शङ्कानिवारका विद्वांसः प्रजां गृहाश्रमं न कामयन्ते नेच्छन्ति (ते ह स्म०) इति स्फुटे स्मेति स्मयेते प्रोत्फुल्लाः प्रकाशमाना वदन्ति वयं प्रजया किं करिष्यामः किमपि नेत्यर्थः । येषां नोऽस्माकमयमात्मा परमेश्वरः प्राप्यो लोको दर्शनीयश्चास्ति । एवं ते (पुत्रैषणायाश्च) पुत्रोत्पादनेच्छायाः (वित्तैषणायाश्च) जडधनप्राप्त्यनुष्ठानेच्छायाः (लोकैषणायाश्च) लोके स्वस्य प्रतिष्ठास्तुतिनिन्देच्छायाश्च (व्युत्थाय) विरज्य (भिक्षाचर्यं च०) सन्न्यासाश्रमानुष्ठानं कुर्वन्ति । यस्य पुत्रैषणा पुत्रप्राप्त्येषणेच्छा भवति तस्यावश्यं वित्तैषणापि भवति यस्य वित्तैषणा तस्य निश्चयेन लोकैषणा भवतीति विज्ञायते । तथा यस्यैका लोकैषणा भवति तस्योभे पूर्वे पुत्रैषणालोकैषणे भवतः । यस्य च परमेश्वरमोक्षप्राप्त्येषणेच्छास्ति तस्यैतास्तिस्रो निवर्त्तन्ते । नैव ब्रह्मानन्दवित्तेन तुल्यं लोकवित्तं कदाचिद् भवितुमर्हति । यस्य परमेश्वरे प्रतिष्ठास्ति तस्यान्याः सर्वाः प्रतिष्ठा नैव रुचिता भवन्ति । सर्वान्मनुष्याननुगृह्णन् सर्वदा सत्योपदेशेन सुखयति तस्य केवलं परोपकारमात्रं सत्यप्रवर्त्तनं प्रयोजनं भवतीति ॥

भाषार्थ ॥

(तमेतं०) जो कि वेद को पढ़ के परमेश्वर को जानने की इच्छा करते हैं ।

(ब्रह्मसंस्थः) वे संन्यासी लोग मोक्षमार्ग को प्राप्त होते तथा (ब्रह्म च०) जो सत्पुरुष ब्रह्मचर्य्य, धर्मानुष्टान श्रद्धायज्ञ और ज्ञान से परमेश्वर को जान के मुनि अर्थात् विचारशील होते हैं वे ही ब्रह्मलोक अर्थात् संन्यासियों के प्राप्तिस्थान को प्राप्त होने के लिये संन्यास लेते हैं जो उन में उत्तम पूर्ण विद्वान् हैं वे गृहाश्रम और वानप्रस्थ के विना ब्रह्मचर्य्य आश्रम से ही संन्यासी हो जाते हैं और उनके उपदेश से जो पुत्र होते हैं उन्हीं को सबसे उत्तम मानकर (पुत्रैषणा) अर्थात् सन्तानोत्पत्ति की इच्छा (वित्तैषणा) अर्थात् धन का लोभ (लोकैषणा) अर्थात् लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करना, इस तीन प्रकार की इच्छा को छोड़ के वे भिक्षाचरण करते हैं अर्थात् सर्वगुरु सब के अतिथि होके विचरते हुए संसार को अज्ञानरूपी अन्धकार से छुड़ा के सत्यविद्या के उपदेशरूप प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं ॥

प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेदिति शतपथे अत्यक्षराणि ॥ यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् । तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥ १ ॥ मुण्डकोपनि० मुण्डके ३ । खं० १ । मं० १० ॥

भाष्यम् ॥

(प्राजापत्या०) स च संन्यासी प्राजापत्यां परमेश्वरदेवताकामिष्टिं कृत्वा हृदये सर्वमेतन्निश्चित्य तस्यां (सर्ववेदसं) शिखासूत्रादिकं हुत्वा मुनिर्मननशीलः सन् प्रव्रजति संन्यासं गृह्णाति । परन्त्वयं पूर्णविद्यावतां रागद्वेषरहितानां सर्वमनुष्योपकारबुद्धीनां संन्यासग्रहणाधिकारो भवति नाल्पविद्याना मिति । तेषां संन्यासिनां प्राणापानहोमो दोषेभ्य इन्द्रियाणां मनसश्च सदा निवर्त्तनं सत्यधर्मानुष्ठानं चैवाग्निहोत्रम् । किन्तु पूर्वेषां त्रयाणामेवाश्रमिणामनुष्ठातुं योग्यं यद्वा ह्यक्रियामयमस्ति संन्यासिनां तन्न । सत्योपदेश एव संन्यासिनां ब्रह्मयज्ञः । देवयज्ञो ब्रह्मोपासनम् । विज्ञानिनां प्रतिष्ठाकरणं पितृयज्ञः । ह्यज्ञेभ्यो ज्ञानदानं सर्वेषां भूतानामुपर्य्यनुग्रहोऽपीडनं च भूतयज्ञः । सर्वमनुष्योपकारार्थं भ्रमणमभिमानशून्यता सत्योपदेशकरणेन सर्वमनुष्याणां सत्कारानुष्ठानं चातिथियज्ञः । एवं लक्षणाः पञ्च महायज्ञा विज्ञानधर्मानुष्ठानमया भवन्तीति विज्ञेयम् । परन्त्वेकस्याद्वितीयस्य सर्वशक्तिमदादिविशेषणयुक्तस्य परब्रह्मण उपासना सत्यधर्मानुष्ठानं च सर्वेषामाश्रमिणामेकमेव भवती-

स्यायं विशेषः ॥ (विशुद्धस०) शुद्धान्तःकरणो मनुष्यः (यं यं लोकं मनसा, ध्यानेन संविभाति इच्छति (कामयते यांश्च कामान्) यांश्च मनोरथानिच्छति तं तं लोकं तांश्च कामान् (जायते) प्राप्नोति तस्मात् कारणाद् (भूतिकामः ऐश्वर्य्यकामो मनुष्यः (आत्मज्ञं) आत्मानं परमेश्वरं जानाति तं संन्यासिनमेव सर्वदार्चयेत् सत्कुर्य्यात् । तस्यैव सङ्गेन सत्कारेण च मनुष्याणां सुखप्रदा लोकाः कामाश्च सिद्धा भवन्तीति । तद्भिन्नान् मिथ्योपदेशकान् स्वार्थसाधनतत्परान् पाखण्डिनः कोपि नैवार्चयेत् । कुतः । तेषां सत्कारस्य निष्फलत्वाद्दुःखफलत्वाच्चेति ॥

भावार्थ ॥

(प्राजापत्या०) अर्थात् इस इष्टि में शिखा सूत्रादि का होम कर के गृहस्थ आश्रम को छोड़ के विरक्त होकर संन्यास ग्रहण करे । (यं यं लोकं०) वह शुद्ध मन से जिस २ लोक और कामना की इच्छा करता है वे सब उस की सिद्ध हो जाती हैं इसलिये जिस को ऐश्वर्य्य की इच्छा हो वह आत्मज्ञ अर्थात ब्रह्मवेत्ता संन्यासी की सेवा करे । ये चारों आश्रम वेदों और युक्तियों से सिद्ध हैं क्योंकि सब मनुष्यों को अपनी आयु का प्रथम भाग विद्या पढ़ने में व्यतीत करना चाहिये और पूर्ण विद्या को पढ़कर उससे संसार की उन्नति करने के लिये गृहाश्रम भी अवश्य करें तथा विद्या और संसार के उपकार के लिये एकान्त में बैठकर सब जगत् का अधिष्ठाता जो ईश्वर है उस का ज्ञान अच्छी प्रकार करें और मनुष्यों को सब व्यवहारों का उपदेश करें फिर उनके सब संदेहों का छेदन और सत्य बातों के निश्चय कराने के लिये संन्यास आश्रम भी अवश्य ग्रहण करें क्योंकि इसके विना संपूर्ण पक्षपात छूटना बहुत कठिन है ॥

इत्याश्रमविषयः संक्षेपतः ॥

अथ पञ्चमहायज्ञविषयः संक्षेपतः ॥

ये पञ्चमहायज्ञाः मनुष्यैर्नित्यं कर्त्तव्याः सन्ति तेषां विधानं संक्षेपतोऽत्र लिखामः । तत्र ब्रह्मयज्ञस्यायं प्रकारः-साङ्गानां वेदादिशास्त्राणां सम्यगध्ययनमध्यापनं सन्ध्योपासनं च सर्वैः कर्त्तव्यम् । तत्राध्ययनाध्यापनक्रमो यादृशः पठनपाठनविषय उक्तस्तादृशो ग्राह्यः । सन्ध्योपासनविधिश्च पञ्चमहायज्ञवि-

धाने यादृश उक्तस्तादृशः कर्त्तव्यः । तथाग्निहोत्रविधिश्च यादृशस्तत्रोक्तस्तादृश एव कर्त्तव्यः । अत्र ब्रह्मयज्ञाग्निहोत्रप्रमाणं लिख्यते ॥

सुमिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयुतातिंथिम् । आस्मिन् हुव्या जुंहोतन ॥ १ ॥ य० अ० ३ । मं० १ ॥ अग्निं दूतं पुरोदंधे हव्युवाहुमुपंब्रुवे । देवाँ२॥ आसांदयादिह ॥ २ ॥ य० अ० २२ । मं० १७ ॥ सायं सायं गृहपंतिर्नो अग्निः प्रातः प्रांतः सौमनुसस्यं दाता । वसोर्वसोर्वसुदानं एधि वयन्त्वेन्धांनास्तुन्वं पुषेम ॥ ३ ॥ प्रातः प्रांतर्गृहपंतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनुसस्यं दाता । वसोर्वसोर्वसुदानं एधीन्धानास्त्वा शुतहिंमा ऋधेम ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० १९ । अनु० ७ । मं० ३ । ४ ॥

भाष्यम् ॥

(समिधाग्निं०) हे मनुष्या ! वाय्वोषधिवृष्टिजलशुद्ध्या परोपकाराय (घृतैः) घृतादिभिश्शोधितैर्द्रव्यैः समिधा चातिथिमग्निं यूयं बोधयत नित्यं प्रदीपयत (अस्मिन्) अग्नौ (हव्या) होतुमर्हाणि पुष्टिमधुरसुगन्धरोगनाशकैर्गुणैर्युक्तानि सम्यक् शोधितानि द्रव्याणि (आ जुहोतन) आ समन्ताज्जुहुत । एवमग्निहोत्रं नित्यं (दुवस्यत) परिचरत । अनेन कर्मणा सर्वोपकारं कुरुत ॥ १ ॥ (अग्निं दूतं०) अग्निहोत्रकर्त्तैवमिच्छेदहं वायौ मेघमण्डले च भुतद्रव्यस्य प्रापणार्थमग्निं दूतं भृत्यवत् (पुरोदधे) सम्मुखतः स्थापये कथम्भूतमग्निं (हव्यवाहं) हव्यं द्रव्यं देशान्तरं वहति प्रापयतीति हव्यवाट् तं (उपब्रुवे) अन्यान् जिज्ञासून्प्रत्युपदिशामि (देवान्) सोऽग्निरेतदग्निहोत्रकर्मणा देवान् दिव्यगुणान् वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारेहास्मिन् संसार आसादयादासमन्तात्प्रापयति यद्वा हे परमेश्वर ! (दूतं सर्वेभ्यः सत्योपदेशकं) (अग्निं) अग्निसंज्ञकं त्वां (पुरोदधे) इष्टत्वेनोपास्यं मन्ये तथा (हव्यवाहं) ग्रहीतुं योग्यं शुभगुणमयं विज्ञानं हव्यं तद् वहति प्रापयतीति तं त्वां (उपब्रुवे) उपदिशामि स भवान् कृपया (इह) अस्मिन् संसारे (देवान्) दिव्यगुणान् (आसादयात्) आ समन्तात् प्रापयतु ॥ २ ॥ (नः) अस्मा-

कथंभूतः (अग्निः) भौतिकः परमेश्वरश्च गृहपतिर्गृहादिपालकः प्रातः सायं परिचरितः सुपासितश्च । (सौमनस्य दाता) आरोग्यस्यानन्दस्य च दातास्ति तथा (वसोर्व०) उत्तमोत्तमपदार्थस्य च दातास्ति । अत एव परमेश्वरः (वसुदानः) इति नाम्नाख्यायते । हे परमेश्वरैवम्भूतस्त्वमस्माकं राज्यादिव्यवहारे हृदये च (एधि) प्राप्तो भव । तथा भौतिकोप्यग्निरत्र ग्राह्यः (वयन्त्वे०) हे परमेश्वर ! एवं (त्वा) त्वामिन्धानाः प्रकाशमाना वयं (तन्वं) शरीरं (पुषेम) पुष्टं कुर्य्याम । तथाग्निहोत्रादिकर्मणा भौतिकमग्निमिन्धानाः प्रदीपयितारः सन्तः सर्वे वयं पुष्यामः ॥ ३ ॥ (प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो०) अस्यार्थः पूर्ववद्विज्ञेयः । अत्र विशेषस्त्वयम् । एवमग्निहोत्रमीश्वरोपासनं च कुर्वन्तः सन्तः (शतहिमाः०) शतं हिमा हेमन्तर्त्तवो गच्छन्ति येषु संवत्सरेषु ते शतहिमा यावत्स्युस्तावत् (ऋधेम) वर्धेमहि । एवं कृतेन कर्मणा नोऽस्माकं कदाचिद्धानिर्न भवेदितीच्छामः ॥ ४ ॥ अग्निहोत्रकरणार्थं ताम्रस्य मृत्तिकाया वैका वेदिं सम्पाद्य काष्ठस्य रजतसुवर्णयोर्वा चमसमाज्यस्थालीं च सङ्गृह्य तत्र वेद्यां पलाशाम्रादिसमिधः संस्थाप्याग्निं प्रज्वाल्य तत्र पूर्वोक्तद्रव्यस्य प्रातः सायङ्कालयोः प्रातरेव वोक्तमन्त्रैर्नित्यं होमं कुर्य्यात् ॥

भाषार्थ ॥

अब पञ्चमहायज्ञ अर्थात् जो कर्म मनुष्यों को नित्य करने चाहिये उनका विधान संक्षेप से लिखते हैं । उनमें से प्रथम एक ब्रह्मयज्ञ कहाता है जिसमें अङ्गों के सहित वेदादि शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना तथा सन्ध्योपासन अर्थात् प्रातःकाल और सायंकाल में ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये । इन में पठन पाठन की व्यवस्था तो जैसी पठन पाठन विषय में विस्तारपूर्वक कह आये हैं वहां देख लेना तथा सन्ध्योपासन और अग्निहोत्र का विधान जैसा पञ्चमहायज्ञविधि पुस्तक में लिख चुके हैं वैसा जान । अब आगे ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का प्रमाण लिखते हैं (समिधाग्निं०) हे मनुष्यो ! तुम लोग वायु औषधी और वर्षाजल की शुद्धि से सब के उपकार के अर्थ घृतादि शुद्ध वस्तुओं और समिधा अर्थात् आम्र वा ढाक आदि काष्ठों से अतिथिरूप अग्निको नित्य प्रकाशमान करो, फिर उस अग्नि में होम करने के योग्य पुष्ट मधुर सुगन्धित-अर्थात् दुग्ध घृत शर्करा गुड़ केशर कस्तूरी आदि और रोगनाशक जो सोमलता आदि सब प्रकार से शुद्ध द्रव्य हैं उनका अच्छी प्रकार नित्य अग्निहोत्र

करके सब का उपकार करो ॥ १ ॥ (अग्निं दूतं०) अग्निहोत्र करनेवाला मनुष्य ऐसी इच्छा करे कि मैं प्राणियों के उपकार करनेवाले पदार्थों को पवन और मेघमण्डल में पहुंचाने के लिये अग्नि को सेवक की नाईं अपने सामने स्थापन करता हूं क्योंकि वह अग्नि हव्य अर्थात् होम करने के योग्य वस्तुओं को अन्य देश में पहुंचानेवाला है इसी से उसका नाम हव्यवाट् है । जो उस अग्निहोत्र को जानना चाहें उनको मैं उपदेश करता हूं कि वह अग्नि उस अग्निहोत्र कर्म्म में पवन और वर्षा जल की शुद्धि से (इह) इस संसार में (देवान्) श्रेष्ठ गुणों को पहुंचाता है । दूसरा अर्थ—हे सब प्राणियों को सत्य उपदेशकारक परमेश्वर जो कि आप अग्नि नाम से प्रसिद्ध हैं मैं इच्छापूर्वक आप को उपासना करने के योग्य मानता हूं ऐसी कृपा करो कि आप को जानने की इच्छा करनेवालों के लिये भी मैं आप का शुभगुणयुक्त विशेष ज्ञानदायक उपदेश करूं तथा आप भी कृपा करके इस संसार में श्रेष्ठ गुणों को पहुंचावें ॥ २ ॥ (सायं सायं०) प्रतिदिन प्रातःकाल श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त यह गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि परमेश्वर (सौमनसस्य दा०) आरोग्य, आनन्द और वसु अर्थात् धन का देनेवाला है इसीसे परमेश्वर (वसुदानः) अर्थात् धनदाता प्रसिद्ध है । हे परमेश्वर आप मेरे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में सदा प्रकाशित रहो यह भौतिक अग्नि भी ग्रहण करने के योग्य है (वयं त्वे०) हे परमेश्वर जैसे पूर्वोक्त प्रकार से हम आप को मान करते हुए अपने शरीर से (पुषेम) पुष्ट होते हैं वैसे ही भौतिक अग्नि को भी प्रज्वलित करते हुए पुष्ट हों ॥ ३ ॥ (प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो०) इस मन्त्र का अर्थ पूर्व मन्त्र के तुल्य जानो परन्तु इसमें इतना विशेष भी है कि अग्निहोत्र और ईश्वर की उपासना करते हुए हम लोग (शतहिमाः) सौ हेमन्त ऋतु व्यतीत हो जाने पर्य्यन्त अर्थात् सौ वर्ष तक धनादि पदार्थों से (ऋधेम) वृद्धि को प्राप्त हों ॥ ४ ॥ अग्निहोत्र करने के लिये ताम्र वा मिट्टी की वेदी बना के काष्ठ चांदी वा सोने का चमसा अर्थात् अग्नि में पदार्थ डालने का पात्र और आज्यस्थाली अर्थात् घृतादि पदार्थ रखने का पात्र लेके उस वेदी में ढाक वा आम्र आदि वृक्षों की समिधा स्थापन करके अग्नि को प्रज्वलित करके पूर्वोक्त पदार्थों का प्रातःकाल और सायंकाल अथवा प्रातःकाल ही नित्य होम करें ॥

अथाग्निहोत्रे होमकरणमन्त्राः ॥

सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा । सूर्यो वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा । ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा । सजूर्देवेन सवित्रा सजूः

रुषसेन्द्रवत्या ॥ जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥ इति प्रातःकालमन्त्राः ॥
अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥
अग्निर्ज्योतिरिति मन्त्रं मनसोच्चार्य तृतीयाहुतिर्देया ॥ सजूर्देवेन
सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या । जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ॥ य० अ० ३ ।
मं० ९ । १० ॥ इति सायङ्कालमन्त्राः ॥

भाष्यम् ॥

(सूर्यो०) यश्चराचरात्मा ज्योतिषां प्रकाशकानां ज्योतिः प्रकाशकः सूर्यः सर्वप्राणः परमेश्वरोस्ति तस्मै स्वाहाऽर्थात् तदाज्ञापालनेन सर्वजगदुपकारार्थमाहुतिं दद्मः ॥ १ ॥ (सूर्यो व०) यो वर्चः सर्वविद्यां ज्योतिषां ज्ञानवतां जीवानां वर्चोऽन्तर्यामितया सत्योपदेष्टा सर्वात्मा सूर्यः परमेश्वरोस्ति तस्मै० ॥ २ ॥ (ज्योतिः सू०) यः स्वयम्प्रकाशः सर्वजगत्प्रकाशकः सूर्यो जगदीश्वरोस्ति तस्मै० ॥ ३ ॥ (सजू०) यो देवेन द्योतकेन, सवित्रा सूर्यलोकेन जीवेन च तथा (इन्द्रवत्या) सूर्यप्रकाशवत्योषसाथवा जीववत्या मानसवृत्त्या (सजूः) सह वर्त्तमानः परमेश्वरोस्ति सः (जुषाणः) सम्प्रीत्या वर्त्तमानः सन् (सूर्यः) सर्वात्मा कृपाकटाक्षेणास्मान् वेतु विद्यादिसद्गुणेषु जातविज्ञानान् करोतु तस्मै० ॥ ४ ॥ इमा चतस्र आहुतीः प्रातरग्निहोत्रे कुर्वन्ति ॥ अथ सायङ्कालाहुतयः (अग्निर्ज्योतिः०) यो ज्ञानस्वरूपो ज्योतिषां ज्योतिरग्निः परमेश्वरोस्ति तस्मै० ॥ १ ॥ (अग्निर्वर्चो०) यः पूर्वोक्तोऽग्निः परमेश्वरोस्ति तस्मै० ॥ २ ॥ अग्निर्ज्योतिरित्यनेनैव तृतीयाहुतिर्देया तदर्थश्च पूर्ववत् ॥ ३ ॥ (सजूर्दे०) यः पूर्वोक्तेन देवेन सवित्रा सह परमेश्वरः सजूरस्ति । यश्चेन्द्रवत्या वायुचन्द्रवत्या रात्र्या सह वर्त्तते सोग्निः (जुषाणः) सम्प्रीतोऽस्मान् वेतु नित्यानन्दमोक्षसुखाय स्वकृपया कामयतु तस्मै जगदीश्वराय स्वाहेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥ एताभिः सायंकालेग्निहोत्रिणो जुह्वति एकस्मिन्काले सर्वाभिर्वा (सर्वं वै०) हे जगदीश्वर यदिदमस्माभिः परोपकारार्थं कर्म क्रियते तद्भवत्कृपयाऽलं भवत्विति हेतोरेतत्कर्म तुभ्यं समर्प्यते शतपथब्राह्मणे पञ्चमप्रपाठकस्यारम्भेकात्रिंशत्तमायां कण्डिकायां च सायम्प्रातरग्निहोत्रमन्त्रा भूर्भुवः स्वरोमित्यादयो दर्शिताः ॥

भाषार्थ ॥

(सूर्य्यो ज्योे०) जो चराचर का आत्मा प्रकाशस्वरूप और सूर्य्यादि प्रकाशक लोकों का भी प्रकाश करनेवाला है उस की प्रसन्नता के लिये हम लोग होम करते हैं ॥ १ ॥ (सूर्योवर्चो०) सूर्य जो परमेश्वर है वह हम लोगों को सब विद्याओं का देनेवाला और हम से उन का प्रचार करानेवाला है उसी के अनुग्रह से हम लोग अग्निहोत्र करते हैं ॥ २ ॥ (ज्योतिः सू०) जो आप प्रकाशमान और जगत् का प्रकाश करने वाला सूर्य अर्थात् संसार का ईश्वर है उस की प्रसन्नता के अर्थ हम लोग होम करते हैं ॥ ३ ॥ (सजूर्देवेन०) जो परमेश्वर सूर्य्यादि लोकों में व्याप्त वायु और दिन के साथ संसार का परमहितकारक है वह हम लोगों को विदित होकर हमारे किये हुए होम को ग्रहण करे इन चार आहुतियों से प्रातःकाल अग्निहोत्री लोग होम करते हैं ॥ ४ ॥ अब सायंकाल की आहुति के मन्त्र कहते हैं (अग्निर्ज्यो०) अग्नि जो ज्योतिस्स्वरूप परमेश्वर है उस की आज्ञा से हम लोग परोपकार के लिये होम करते हैं और उसका रचा हुआ यह भौतिक अग्नि इसलिये है कि वह उन द्रव्यों को परमाणुरूप कर के वायु और वर्षाजल के साथ मिला के शुद्ध करदे जिससे सब संसार को सुख और आरोग्यता की वृद्धि हो ॥ १ ॥ (अग्निर्वर्चो०) अग्नि परमेश्वर वर्च्च अर्थात् सब विद्याओं का देनेवाला और भौतिक अग्नि आरोग्यता और बुद्धि का बढ़ानेवाला है इसलिये हम लोग होम से परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं । यह दूसरी आहुति है । तीसरी मौन होके प्रथम मन्त्र से करनी । और चौथी (सजूर्देवेन०) जो अग्नि परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त, वायु और रात्रि के साथ संसार का परमहितकारक है वह हम को विदित होकर हमारे किये हुए होम का ग्रहण करे ॥

अथोभयोः कालयोरग्निहोत्रे होमकरणार्थाः समानमन्त्राः ॥

ओम्भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ १ ॥ ओम्भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥ २ ॥ ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥ ३ ॥ ओम्भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥ ओमापो ज्योतीरसोमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥ ५ ॥ ओं सर्वं वै पूर्णंᳬस्वाहा ॥ ६ ॥ इति सर्वे मन्त्रास्तैत्तिरीयोपनिषदाशयेनैकीकृताः ॥

भाष्यम् ॥

एषु मन्त्रेषु भूरित्यादीनि सर्वाणीश्वरस्य नामान्येव वेद्यानि एषामर्था गा-

यत्प्रयत्नं द्रष्टव्या। । अग्नये परमेश्वराय जलवायुशुद्धिकरणाय च होत्रं हवनं दानं यस्मिन् कर्मणि क्रियते तदग्निहोत्रम् । ईश्वराज्ञापालनार्थं वा । सुगन्धि, पुष्टि, मिष्ट, बुद्धिवृद्धि, शौर्य्य, धैर्य्य, बल, रोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानां द्रव्याणां होमकरणेन वायुवृष्टिजलयोः शुद्ध्या पृथिवीस्थपदार्थानां सर्वेषां शुद्धवायुजलयोगात् सर्वेषां जीवानां परमसुखं भवत्येव । अतस्तत्कर्मकर्त्तॄणां जनानां तदुपकारेणात्यन्तसुखमीश्वरानुग्रहश्च भवत्येतदाद्यर्थमग्निहोत्रकरणम् ॥

भाषार्थ ॥

इन मन्त्रों में जो भूः इत्यादि नाम हैं वे सब ईश्वर के ही जानो गायत्री मन्त्र के अर्थ में इन के अर्थ कर दिये हैं । इस प्रकार प्रातःकाल और सायङ्काल संध्योपासन के पीछे उक्त मन्त्रों से होम कर के अधिक होम करने की इच्छा हो तो स्वाहा शब्द अन्त में पढ़ कर गायत्री मन्त्र से करे । जिस कर्म में अग्नि वा परमेश्वर के लिये जल और पवन की शुद्धि वा ईश्वर की आज्ञापालन के अर्थ होत्र हवन अर्थात दान करते उसे अग्निहोत्र कहते हैं । जो जो केशर कस्तूरी आदि सुगन्धि घृत दुग्ध आदि पुष्ट गुड़ शर्करा आदि मिष्ट बुद्धि बल तथा धैर्य्यवर्धक और रोगनाशक पदार्थ हैं उन का होम करने से पवन और वर्षाजल की शुद्धि से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमता होती है उसी से सब जीवों को परमसुख होता है इस कारण अग्निहोत्र करने वाले मनुष्यों को उस उपकार से अत्यन्त सुख का लाभ होता है और ईश्वर उन पर अनुग्रह करता है । ऐसे २ लाभों के अर्थ अग्निहोत्र का करना अवश्य उचित है ॥

इत्यग्निहोत्रविधिः समाप्तः ॥

अथ तृतीयः पितृयज्ञः ॥

तस्य द्वौ भेदौ स्त एकस्तर्पणाख्यो द्वितीयः श्राद्धाख्यश्च । तत्र येन कर्मणा विदुषो देवानृषीन् पितॄंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत्तर्पणम् ॥ तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं वेदितव्यम् । तत्र विद्वत्सु विद्यमानेष्वेतत्कर्म सङ्घटते नैव मृतकेषु । कुतः । तेषां प्राप्त्यभावेन सेवनाशक्यत्वात् । तदर्थकृतकर्मणः प्राप्त्यभाव इति व्यर्थतापत्तेश्च । तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत्कर्मोपदिश्यते । सेव्यसेवकसन्निकर्षात्सर्वमेतत्कर्तुं शक्यत इति । तत्र सत्कर्त्तव्यास्त्रयः सन्ति । देवाः ऋषयः पितरश्च । तत्र देवेषु प्रमाणम् ॥

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः । पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥ १ ॥ य० अ० १६ । मं० ३६ ॥ द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति । सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति ॥ स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् । तस्मात्ते यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान् सत्यं वदति ॥ श० कां० १ । अ० १ । ब्रा० १ ॥ विद्वांसो हि देवाः ॥ श० कां० ३ । अ० ७ । ब्रा० ६ ॥ अथर्षिप्रमाणम् ॥ तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः । तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ २ ॥ य० अ० ३१ । मं० ६ ॥ अथ यदेवानुब्रुवीत ॥ तेनर्षिभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः ॥ श० कां० १ । अ० ७ । ब्रा० ५ । कण्डिका ३ ॥ अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्य्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥ श० कां० १ । अ० ४ । ब्रा० ५ । कं० ३ ॥

भाष्यम् ॥

(जातवेदः) हे परमेश्वर (मा) मां पुनीहि सर्वथा पवित्रं कुरु । भवन्निष्ठा भवदाज्ञापालिनो (देवजनाः) विद्वांसः श्रेष्ठा ज्ञानिनो विद्यादानेन (मा) मां (पुनन्तु) पवित्रं कुर्वन्तु तथा (पुनन्तु मन०) भवद्दत्तविज्ञानेन भवद्विषयकध्यानेन वाऽस्माकं बुद्धयः पुनन्तु पवित्रा भवन्तु । तथा (पुनन्तु विश्वा भूतानि) विश्वानि सर्वाणि संसारस्थानि भूतानि पुनन्तु भवत्कृपया सुखानन्दयुक्तानि पवित्राणि भवन्तु ॥ (द्वयं वा०) मनुष्याणां द्वाभ्यां लक्षणाभ्यां द्वे एव संज्ञे भवतः । देवा मनुष्याश्चेति तत्र (सत्यं चैवानृतं च) कारणे स्तः (सत्यमेव०) यत्सत्यवचनं सत्यमानं सत्यकर्म तदेव देवा आश्रयन्ति तथैवानृतवचनमनृतमानं

मनृतं कर्म चेति मनुष्याश्चेति । अत एव योऽनृतं त्यक्त्वा सत्यमुपैति स देवः परिगण्यते । यश्च सत्यं त्यक्त्वाऽनृतमुपैति स मनुष्यश्चातः सत्यमेव सर्वदा वदेन्मन्येत कुर्याच्च यः सत्यव्रतो देवोऽस्ति स एव यशस्विनां मध्ये यशस्वी भवति तद्विपरीतो मनुष्यश्च तस्मादत्र विद्वांस एव देवाः सन्ति ॥ तं यज्ञमिति सृष्टिविद्याविषये व्याख्यातः । (अथ यदेवा०) अथेत्यनन्तरं सर्वविद्यां पठित्वा यदनुवचनमध्यापनं कर्मानुष्ठानमस्ति तदृषिकृत्यं विज्ञायते तेनाध्ययनाध्याप नकर्मणर्षयः संचनीया जायन्ते । तत्तेषां प्रियमाचरन्ति तदेतत्तेभ्यः सेवाकर्तृभ्य एव सुखकारी भवति । यः सर्वविद्याविद्भूत्वाऽध्यापयति तमेवानूचानमृषिमाहुः । (अथार्षेयं प्रवृ०) यो मनुष्यः पाठनं कर्म प्रवृणीते तदार्षेयं कर्म कथ्यते य ऋषिभ्यो देवेभ्यो विद्यार्थिभ्यश्च प्रियं वस्तु निवेदयित्वा नित्यं विद्यामधीते स विद्वान् महावीर्यो भूत्वा यज्ञं विज्ञानाख्यं (प्रापत्) प्राप्नोति तस्मादिदमार्षेयं कर्म सर्वमनुष्यैः स्वीकार्य्यम् ॥

भाषार्थ ॥

अब तीसरा पितृयज्ञ कहते हैं उसके दो भेद हैं एक तर्पण और दूसरा श्राद्ध उन में से जिस कर्म करके विद्वानरूप देव ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं सो तर्पण कहाता है तथा जो उन लोगों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना है उसी को श्राद्ध जानना चाहिये यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जीते हुए जो प्रत्यक्ष हैं उन्हीं में घटता है मरे हुओं में नहीं क्योंकि मृतकों का प्रत्यक्ष होना असंभव है इसलिये उन की सेवा नहीं हो सकती तथा जो उनके लिये कोई पदार्थ दिया चाहे वह भी उन को नहीं मिल सकता इससे केवल विद्यमानों की ही श्रद्धापूर्वक सेवा करने का नाम तर्पण और श्राद्ध वेदों में कहा है क्योंकि सेवा करने योग्य और सेवा करने वाले इन दोनों ही के प्रत्यक्ष होने से यह सब काम हो सकता है दूसरे प्रकार से नहीं सो तर्पण आदि कर्म से सत्कार करने योग्य तीन हैं देव ऋषि और पितर वेदों में प्रमाण (पुनन्तु०) हे जातवेद परमेश्वर ! आप सब प्रकार से मुझे पवित्र कीजिये और जो आप के उपासक आप की आज्ञा पालते हैं अथवा जो कि विद्वान् ज्ञानी पुरुष कहाते हैं वे मुझ को विद्यादान से पवित्र करें और आप के दिये विशेषज्ञान वा आप के विषय के ध्यान से हमारी बुद्धियां पवित्र हों तथा (पुनन्तु विश्वाभूतानि) सब संसारी

जीव आप की कृपा से पवित्र होकर आनन्द में रहें (द्वयं वा०) दो लक्षणों के पाये जाने से मनुष्यों की दो संज्ञा होती हैं अर्थात् एक देव और दूसरी मनुष्य, उन में भेद होने के सत्य और झूठ दो कारण हैं। (सत्यमेव) जो कोई सत्यभाषण सत्यस्वीकार और सत्यकर्म करते हैं वे देव तथा जो झूठ बोलते, झूठ मानते और झूठ कर्म करते हैं वे मनुष्य कहाते हैं। इसलिये झूठ को छोड़कर सत्य को प्राप्त होना सब को उचित है। इस कारण से बुद्धिमान् लोग निरन्तर सत्य ही कहें, मानें और करें क्योंकि सत्यव्रत आचरण करनेवाले जो देव हैं वे तो कीर्त्तिमानों में भी कीर्त्तिमान् होके सदा आनन्द में रहते हैं परन्तु उन से विपरीत चलनेवाले मनुष्य दुःख को प्राप्त होकर सब दिन पीड़ित ही रहते हैं। इससे सत्यधारी विद्वान् ही देव कहाते हैं ॥ (तं यज्ञं) इस मन्त्र का व्याख्यान सृष्टिविद्याविषय में कर दिया है ॥ (अथ यदेवा०) जो सब विद्याओं को पढ़के औरों को पढ़ाना है यह ऋषिकर्म कहाता है और उस से जितना कि मनुष्यों पर ऋषियों का ऋण हो उस सब की निवृत्ति उन की सेवा करने से होती है। इस से जो नित्य विद्यादान ग्रहण और सेवाकर्म करना है वही परस्पर आनन्दकारक है और यही व्यवहार (निधिगोप०) अर्थात विद्याकोष का रक्षक है ॥ (अथार्षेयं प्रवृ०) विद्या पढ़ के सबों को पढ़ानेवाले ऋषियों और देवों की प्रिय पदार्थों से सेवा करनेवाला विद्वान् वह पराक्रम युक्त होकर विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है, इस से आर्षेय अर्थात् ऋषिकर्म को सब मनुष्य स्वीकार करें ॥

अथ पितृषु प्रमाणम् ॥

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्। स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ १ ॥ यजु० अ० २। मं० ३४ ॥ आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ २ ॥ य० अ० १९। मं० ५८ ॥

भाष्यम् ॥

(ऊर्जं वहन्ती०) सर्वे मनुष्याः सर्वान् प्रत्येवं जानीयुराज्ञापयेयुः (मे पितॄन्) मम पितृपितामहादीनाचार्यादींश्च सर्वे यूयं तर्पयत सेवया प्रसन्नान्

[illegible]तेति तथा (स्वधास्थ) सत्यविद्याभक्तिस्वपदार्थधारिण्यो भवत । केन केन पदार्थेन ते सेवनीयास्तानाह (ऊर्जं०) पराक्रमसाधिकाः सुगन्धिताः प्रिया हृद्या अपः (अमृतं) अमृतात्मकमनेकविधं रसं (घृतं) आज्यं (पयः) दुग्धं (कीलालं) संस्कारैः सम्पादितमनेकविधमन्नं (परिस्रुतम्) मादकं मधुवालपक्वं फलादिकं च निवेद्य पितॄन् प्रसन्नान् कुर्य्यात ॥ १ ॥ ये (सोम्यासः) सोमगुणाः शान्ताः सोमवल्ल्यादिरसनिष्पादने चतुराः (अग्निष्वात्ताः) अग्निः परमेश्वरोऽभ्युदयाय सुष्टुतयाऽऽत्तो गृहीतो यैस्तेऽग्निष्वात्ताः । तथा होमकरणार्थं शिल्पविद्यासिद्धये च भौतिकोऽग्निरात्तो गृहीतो यैस्ते पितरो विज्ञानवन्तः पालकाः सन्ति (आयन्तु नः) ते अस्मत्समीपमागच्छन्तु । वयं च तत्सामीप्यं नित्यं गच्छेम । (पथिभिर्देव०) तान् विद्वन्मार्गैर्दृष्टिपथमागतान् दृष्ट्वाऽभ्युत्थाय । हे पितरो ! भवन्त आयान्त्वित्युक्त्वा प्रीत्याऽऽसनादिकं निवेद्य नित्यं सत्कुर्य्याम (अस्मिन्०) हे पितरोऽस्मिन् ! सत्काररूपे यज्ञे (स्वधया) अमृतरूपया सेवया (मदन्तो) हर्षन्तोऽस्मान् रक्षितारः सन्तः सत्यविद्यामधिब्रुवन्तूपदिशन्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ ॥

(ऊर्जं वह०) पिता वा स्वामी अपने पुत्र पौत्र स्त्री और नौकरों को इस प्रकार आज्ञा देवें कि (तर्पयत मे०) जो २ हमारे मान्य पिता पितामहादि माता मातामहादि और आचार्य्य तथा इन से भिन्न भी विद्वान् लोग जो अवस्था वा ज्ञान में बड़े और मान्य करने योग्य हैं तुम लोग उनकी (ऊर्जं०) उत्तम २ जल (अमृतं) रोग नाश करने वाले उत्तम अन्न (परिस्रुतं) सब प्रकार के उत्तम फलों के रस आदि पदार्थों से नित्य सेवा किया करो कि जिससे वे प्रसन्न होके तुम लोगों को सदा विद्या देते रहें, क्योंकि ऐसा करने से तुम लोग भी सदा प्रसन्न रहोगे (स्वधास्थ०) और ऐसा विनय सदा रक्खो कि हे पूर्वोक्त पितर लोगो ! आप हमारे अमृतरूप पदार्थों के भोगों से तृप्त हूजिये और हम लोग जो २ पदार्थ आप लोगों की इच्छा के अनुकूल निवेदन कर सकें उन २ की आज्ञा किया कीजिये । हम लोग मन वचन और कर्म से आप के सुख करने में स्थित हैं आप किसी प्रकार का दुःख न पाइये क्योंकि जैसे आप लोगों ने बाल्यावस्था और ब्रह्मचर्य्याश्रम में हम लोगों को सुख दिया है वैसे ही हम को भी आप लोगों का प्रत्युपकार करना अवश्य चाहिये कि जिससे हम लोगों को कृतघ्नता दोष न

प्राप्त हो ॥ १ ॥ (आयन्तु नः) पितृ शब्द से सब के रक्षक श्रेष्ठस्वभाववाले ज्ञानियों का ग्रहण होता है क्योंकि जैसी रक्षा मनुष्यों की सुशिक्षा और विद्या से हो सक्ती है वैसी किसी दूसरे प्रकार से नहीं। इसलिये जो विद्वान् लोग मनुष्यों को ज्ञानचक्षु देकर उन के अविद्यारूपी अन्धकार के नाश करने वाले हैं इन को पितर कहते हैं उन के सत्कार के लिये मनुष्यमात्र को ईश्वर की यह आज्ञा है कि वे उन आते हुए पितर लोगों को देखकर अभ्युत्थान अर्थात् उठ के प्रीतिपूर्वक कहें कि आइये बैठिये कुछ जलपान कीजिये और खाने पीने की आज्ञा दीजिये पश्चात् जो २ बातें उपदेश करने के योग्य हैं सो २ प्रीतिपूर्वक समझाइये कि जिससे हम लोग भी सत्यविद्यायुक्त होके सब मनुष्यों के पितर कहावें और सदा ऐसी प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर आप के अनुग्रह से (सोम्यासः) जो शील स्वभाव और सब को सुख देने वाले विद्वान् लोग (अग्निष्वात्ताः) अग्नि नाम परमेश्वर और रूप गुण वाले भौतिक अग्नि की अलग २ करने वाली विद्युद्रूप विद्या को यथावत् जाननेवाले हैं वे इस विद्या और सेवायज्ञ में (स्वधया मदन्तः) अपनी शिक्षा विद्या के दान और प्रकाश से अत्यन्त हर्षित होके (अवन्त्वस्मान्) हमारी सदा रक्षा करें तथा उन विद्यार्थियों और सेवकों के लिये भी ईश्वर की आज्ञा है कि जब २ वे आवें वा जावें तब २ उन को उत्थान नमस्कार और प्रियवचन आदि से सन्तुष्ट रक्खें तथा फिर वे लोग भी अपने सत्यभाषण से निर्वैरता और अनुग्रह आदि सद्गुणों से युक्त होकर अन्य मनुष्यों का उसी मार्ग में चलावें और आप भी दृढ़ता के साथ उसी में चलें ऐसे सब लोग छल और लोभादि रहित होकर परोपकार के अर्थ अपना सत्य व्यवहार रक्खें (पथिभिर्देवयानैः) उक्त मंत्र से विद्वानों के दो मार्ग होते हैं एक देवयान और दूसरा पितृयान अर्थात् जो विद्या मार्ग है वह देवयान और जो कर्मोपासना मार्ग है वह पितृयान कहाता है सब लोग इन दोनों प्रकार के पुरुषार्थ को सदा करते रहें ॥

अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम् । अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत ॥ ३ ॥ नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो मन्यवे नमो वः पितरः पितरो

नमो वः। गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मैतद्वः पितरो वासः ॥ ४ ॥ आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत् ॥ ५ ॥ य० अ० २। मं० ३१। ३२। ३३ ॥

भाष्यम् ॥

(अत्र पितरो०) हे पितरोऽत्रास्यां सभायां पाठशालायां वाऽस्मान् विद्याविज्ञानदानेनानन्दयुक्तान् कुरुत (यथाभाग०) भजनीयं स्वं स्वं विद्यारूपं भागं (आवृषायध्वं) विद्वद्वत्स्वीकृत्य (अमीमदन्त) अस्मिन् सत्योपदेशे विद्यादानकर्मणि हर्षेण सदोत्साहवन्तो भवत। (यथाभागमा०) तथा यथायोग्यं सत्कारं प्राप्य श्रेष्ठाचारेण प्रसन्नाः सन्तो विचरत ॥ ३ ॥ (नमो वः) हे पितरः! रसाय सोमलतादिरसविज्ञानानन्दग्रहणाय (नमो वः पितरः) शोषायाग्निवायुविद्याप्राप्तये (नमो वः पितरो जी०) जीवनार्थं विद्याजीविकाप्राप्तये (नमो वः पितरः स्व०) मोक्षविद्याप्राप्तये (नमो वः०) आपत्कालनिवारणाय (नमो वः०) दुष्टानामुपरि क्रोधधारणाय क्रोधस्य निवारणाय च (नमो वः पितरः०) सर्वविद्याप्राप्तये च युष्मभ्यं वारं वारं नमोऽस्तु (गृहान्नः) हे पितरो गृहान् गृहसम्बन्धिव्यवहारबोधान्नोऽस्मभ्यं यूयं दत्त (सतो वः०) हे पितरो येऽस्माकमधिकारे विद्यमानाः पदार्थाः सन्ति तान् वयं वो युष्मभ्यं दद्मो यतो वयं (देष्मः) कदाचिद्भवद्भ्यो विद्यां प्राप्य क्षीणा न भवेम (एतद्वः पितरः) हे पितरोऽस्माभिर्यद्वासो वस्त्रादिकं वस्तु युष्मभ्यं दीयते एतद्यूयं प्रीत्या गृह्णीत ॥ ४ ॥ (आधत्त पितरो०) हे पितरो यूयं मनुष्येषु विद्यागर्भमाधत्त धारयत। तथा विद्यादानार्थं (पुष्करस्रजं) पुष्पमालाधारिणं कुमारं ब्रह्मचारिणं यूयं धारयत (यथेह०) येन प्रकारेणेहास्मिन् संसारे विद्यासुशिक्षायुक्तः पुरुषोऽसत्स्यात्। येन च मनुष्येषु समविद्योन्नतिर्भवेत्तथैव प्रयतध्वम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ ॥

(अत्र पितरो मा०) हे पितर लोगो आप यहां हमारे स्थान में आनन्द कीजिये (यथाभागमावृ०) अपनी इच्छा के अनुकूल भोजन वस्त्रादि भोग से आनन्दित हूजिये (अमीमदन्त पितरः०) आप यहां विद्या के प्रचार से सब को

आनन्दयुक्त कीजिये (यथाभागमा०) हम लोगों से यथायोग्य सत्कार को प्राप्त होकर अपनी प्रसन्नता के प्रकाश से हम को भी आनन्दित कीजिये ॥ ३ ॥ (नमो वः०) हे पितर लोगो ! हम लोग आप को नमस्कार करते हैं इसलिये कि आप के द्वारा हम को रस अर्थात् विद्यानन्द ओषधि और जल विद्या का यथावत् ज्ञान हो तथा (नमो वः०) शोष अर्थात् अग्नि और वायु की विद्या कि जिससे ओषधि और जल सूख जाते हैं उस के बोध होने के लिये भी हम आप को नमस्कार करते हैं (नमो वः०) हे पितर लोगो ! आप की सत्यशिक्षा से हम लोग प्रमादरहित और जितेन्द्रिय होके पूर्ण आयु को भोगें इसलिये हम आप को नमस्कार करते हैं (नमो वः०) हे विद्वान् लोगो अमृतरूप मोक्ष विद्या की प्राप्ति के लिये हम आप को नमस्कार करते हैं (नमो वः०) हे पितरो ! घोर विपत् अर्थात् आपत्काल में निर्वाह करने की विद्याओं को जानने की इच्छा से दुःखों के पार उतरने के लिये हम लोग आप की सेवा करते हैं (नमो वः०) हे पितरो ! दुष्ट जीव और दुष्ट कर्मों पर नित्य अप्रीति करने की विद्या सीखने के लिये हम आप को नमस्कार करते हैं (नमो वः०) हम आप लोगों को वारंवार नमस्कार इसलिये करते हैं कि गृहाश्रम आदि करने के लिये जो २ विद्या अवश्य हैं सो २ सब आप लोग हम को देवें (सतो वः०) हे पितर लोगो ! आप सब गुणों और सब संसारी सुखों के देने वाले हैं इसलिये हम लोग आप को उत्तम २ पदार्थ देते हैं इन को आप प्रीति से लीजिये तथा प्रतिष्ठा के लिये उत्तम २ वस्त्र भी देते हैं इन को आप धारण कीजिये और प्रसन्न होके सब के सुख के अर्थ संसार में सत्यविद्या का प्रचार कीजिये ॥ ४ ॥ (आधत्त पितरो०) हे विद्या के देने वाले पितर लोगो इस कुमार ब्रह्मचारी की गर्भ के समान रक्षा कर के उत्तम विद्या दीजिये कि जिस से वह विद्वान् होके (पुष्करस्र०) जैसे पुष्पों की माला धारण कर के मनुष्य शोभा को प्राप्त होता है वैसे ही यह भी विद्या पाकर सुन्दरतायुक्त होवे । (यथेह पुरुषोऽसत्) अर्थात् जिस प्रकार इस संसार में मनुष्यों की विद्यादि सद्गुणों से उत्तम कीर्त्ति और सब मनुष्यों को सुख प्राप्त हो सके वैसा ही प्रयत्न आप लोग सदा कीजिये । यह ईश्वर की आज्ञा विद्वानों के प्रति है इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि इस का पालन सदा करते रहैं ॥ ५ ॥

ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः । तेषां श्रीर्मयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतं समाः ॥ ६ ॥ य० अ० १९ । मं० ४६ ॥ उदीर-

तामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः । असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्तेनोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ७ ॥ अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः । तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ८ ॥ य० अ० १९ । मं० ४९ । ५० ॥ ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये । तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम् ॥ ९ ॥ य० अ० १९ । मं० ४५ ॥

भाष्यम् ॥

(ये समानाः) ये मामका मदीया आचार्यादयः (जीवाः) विद्यमानजीवनाः (समनसः) धर्मेश्वरसर्वमनुष्यहितकरणैकनिष्ठाः (समानाः) धर्मेश्वरसत्यविद्यादिशुभगुणेषु समानत्वेन वर्त्तमानाः (जीवेषु) उपदेश्येषु शिष्येषु सत्यविद्यादानाय छलादिदोषराहित्येन वर्त्तमाना विद्वांसः सन्ति (तेषां०) विदुषां या श्रीः सत्यविद्यादिगुणाढ्या शोभास्ति (अस्मिँल्लोके शतं०) सामयिकी लक्ष्मीः शतवर्षपर्यन्तं (कल्पतां) स्थिरा भवतु यतो वयं नित्यं सुखिनः स्याम ॥ ९ ॥ (उदीरतामवर०) ये पितरोऽवरकुष्टगुणाः (उत्परासः) उत्कृष्टगुणाः (उन्मध्यमाः) मध्यस्थगुणाः (सोम्यासः) सोम्यगुणाः (अवृकाः) अजातशत्रवः (ऋतज्ञाः) ब्रह्मविदो वेदविदश्च ते ज्ञानिनः पितरो हवेषु देयग्राह्यव्यवहारेषु विज्ञानदानेन (नोऽवन्तु) अस्मान् सदा रक्षन्तु तथा (असुं यईयुः) येऽसुं प्राणमीयुः प्राप्नुयुरर्थाद् द्वाभ्यां जन्मभ्यां विद्वांसो भूत्वा विद्यमानजीवनास्स्युस्त एव सर्वैः सेवनीया नैव मृताश्चेति कुतस्तेषां देशान्तरप्राप्त्या सन्निकर्षाभावात् सेवाग्रहणेऽसमर्थाः सेवितुमशक्याश्च ॥ ७ ॥ (अङ्गिरसोनः) येऽङ्गेषु रसभूतस्य प्राणाख्यस्य परमेश्वरस्य ज्ञातारः (नवग्वाः) सर्वासु विद्यासूत्तमकर्मसु च नवीना गतयो येषां ते (अथर्वाणः) अथर्ववेदविदो धनुर्वेदविदश्च (भृगवः) परिपक्वज्ञानाः शुद्धाः (सोम्यासः) शान्ताः सन्ति (तेषां वयं सुमतौ) वयं तेषां यज्ञानां यज्ञादिसत्कर्मसु कुशलानामपीति निश्चयेन सुमतौ विद्यादिशुभगुणग्रहणे (भद्रे) कल्याणकरे व्यवहारे (सौमनसे) यत्र विद्यानन्द-

युक्तं मनो भवति तस्मिन् (स्याम) अथोद्भवतां सकाशादुपदेशं गृहीत्वा धर्मार्थकाममोक्षप्राप्ता भवेम ॥ ८ ॥ (ये समानाः) (समनसः) अनयोरर्थ उक्तः । ये (यमराज्ये) राजसभायां न्यायाधीशत्वेनाधिकृताः (पितरः) विद्वांसः सन्ति (तेषां लोकः) यो न्यायदर्शनं स्वधा अमृतात्मको लोको भवतीति (यज्ञो०) यश्च प्रजापालनाख्यो राजधर्मव्यवहारो देवेषु विद्वत्सु प्रसिद्धोऽस्ति । सोऽस्माकं मध्ये (कल्पतां) समर्थतां प्रसिद्धो भवतु । य एवं सत्यन्यायकारिणः सन्ति तेभ्यो (नमः) नमोऽस्तु अर्थाद्ये सत्यन्यायाधीशास्ते सदैवास्माकं मध्ये तिष्ठन्तु ॥ ९ ॥

भाषार्थ ॥

(ये समानाः) जो आचार्य्य (जीवाः) जीते हुए (समनसः) धर्म ईश्वर और सर्वहित करने में उद्यत (समानाः) सत्यविद्यादि शुभगुणों के प्रचार में ठीक २ विचार और (जीवेषु) उपदेश करने योग्य शिष्यों में सर्व विद्यादान के लिये छलकपटादिदोषरहित होकर प्रीति करनेवाले विद्वान् हैं (तेषां) उन की जो श्री अर्थात् सत्यविद्यादि श्रेष्ठगुणयुक्त शोभा और राज्यलक्ष्मी है सो मेरे लिये (अस्मिँल्लोके शतं समाः) इस लोक में १०० सौ वर्षपर्य्यन्त स्थिर रहे जिस से हम लोग नित्य सुखसंयुक्त होके पुरुषार्थ करते रहैं ॥ ६ ॥ (उदीरताम०) जो विद्वान् लोग (अवरे) कनिष्ठ (उन्मध्यमाः) मध्यम और (उत्परासः) उत्तम (पितरः सोम्यासः) चन्द्रमा के समान सब प्रजाओं को आनन्द करानेवाले (असुं य ईयुः) प्राणविद्यानिधान, (अवृकाः) शत्रुरहित अर्थात् सब के प्रिय पक्षपात छोड़ के सत्यमार्ग में चलनेवाले तथा (ऋतज्ञाः) जो कि ऋत अर्थात् ब्रह्म, यथार्थ धर्म और सत्य विद्या के जानने वाले हैं (ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु) वे पितर लोग युद्धादि व्यवहारों में हमारे साथ होके अथवा उन की विद्या दे के हमारी रक्षा करें ॥ ७ ॥ (अङ्गिरसो नः) जो ब्रह्माण्डभर के पृथिव्यादि सब अङ्गों की मर्म विद्या के जाननेवाले (नवग्वाः) नवीन २ विद्याओं के ग्रहण करने और करानेवाले (अथर्वाणः) अथर्ववेद और धनुर्वेदविद्या में चतुर तथा दुष्ट शत्रु और दोषों के निवारण करने में प्रवीण (भृगवः) परिपक्वज्ञानी और तेजस्वी (सोम्यासः) जो परमेश्वर की उपासना और अपनी विद्या के गुणों में शान्तस्वरूप (तेषां वयꣳसुमतौ०) तथा यज्ञ के जानने और करनेवाले (पितरः) पितर हैं (तथा जिस कल्याणकारक विद्या से उन की सुमति, (भद्रे) कल्याण और (सौमनसे) मन की शुद्धि

होती है उसमें (अपिस्याम) हम लोग भी स्थिर हों कि जिसके बोध से व्यवहार और परमार्थ के सुखों को प्राप्त हो के सदा आनन्दित रहे ॥ ८ ॥ (ये समा०) जो पितर अर्थात् विद्वान् लोग यमराज्य अर्थात् परमेश्वर के इस राज्य में समासद् वा न्यायाधीश हो के न्याय करनेवाले और (समनसः पितरः) सब सृष्टि के हित करने में समान-बुद्धि हैं (तेषां लोकः स्वधा०) जिन का लोक अर्थात् देश सत्यन्याय को प्राप्त हो के सुखी रहता है (नमः) उन को हम लोग नमस्कार करते हैं क्योंकि वे पक्षपात रहित होके सत्य व्यवस्था में चल के अपने दृष्टान्त से औरों को भी उसी मार्ग में चलाने वाले हैं (यज्ञो देवेषु कल्पतां) यह सत्यधर्मसम्बन्धी प्रजापालनरूप जो अश्वमेध यज्ञ है सो परमात्मा की कृपा से विद्वानों के बीच में सत्य व्यवस्था की उन्नति के लिये सदा समर्थ अर्थात् प्रकाशमान् बना रहे ॥

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः । तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ १० ॥ बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् । त आगतावसा शन्तमेनाथा नः शं योररपो दधात ॥ ११ ॥ आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ२॥ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः । बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥ १२ ॥ य० अ० १६ । मं० ५१ । ५५ । ५६ ॥

भाष्यम् ॥

(ये) (सोम्यासः) सोमविद्यासम्पादिनः (वसिष्ठाः) सर्वविद्यासुवसु-गुणेष्वतिशयेन रममाणाः (सोमपीथं) सोमविद्यारक्षणं (अनूहिरे) पूर्वं सर्वा विद्याः पठित्वाऽध्याप्य तास्ता अनुप्रापयन्ति ते (नः पूर्वे पितरः) येऽस्माकं पूर्वे पितरः सन्ति (तेभिः) तैः (उशद्भिः) परमेश्वरं धर्मं च कामयमानैः पितृभिः सह समागमेनैव (संरराणः) सत्यविद्यायाः सम्यग्दानकर्त्ता (यमः) सत्य-विद्याव्यवस्थापकः परमेश्वरो विदितो भवति किं कुर्वन् । (हवींषि०) वि-ज्ञानादीन्युशन् सर्वेभ्यो दातुं कामयन् सन् । अतः सर्वो जन एवमाचरन् सन्

(प्रतिकामयन्तु) सर्वान् कामान्प्राप्नोतु ॥ १० ॥ (बर्हिषदः) ये बर्हिषि सर्वोत्तमे ब्रह्मणि विज्ञाने च निषण्णास्ते (पितरः) विद्वांसः (अवसा शन्तमेन) अतिशयेन कल्याणस्वरूपेण रक्षणेन सह वर्त्तमानाः (आगत) अस्माकं समीपमागच्छन्तु आगतान् तान्प्रत्येवं वयं ब्रूमहे हे विद्वांसः यूयमागत्य (अर्वाक्) पश्चात् (इमा) इमानि हव्यानि ग्राह्यदेयानि वस्तूनि (जुषध्वं) सम्यक्प्रीत्या सेवध्वम् । हे पितरः वयं (ऊत्या) भवद्रक्षणेन वो युष्माकं सेवां (चकृम) नित्यं कुर्य्याम । (अथानः शं०) अथेति सेवाप्राप्तेरनन्तरं यूयं नोऽस्माकं शंयोर्विज्ञानरूपं सुखं दधात । किन्त्वविद्यारूपं पापं दूरीकृत्य (अरपः) निष्पापतां दधात । येन वयमपि निष्पापा भवेमेति ॥ ११ ॥ (आहंपितॄन्सुविदत्रां०) ये बर्हिषदः स्वधयाऽन्नेन सुतस्य सोमवल्ल्यादिभ्यो निष्पादितस्य रसस्य प्राशनं (भजन्ते) सेवन्ते (पित्वः) तत्पानं कृत्वा (त इहाग०) अस्मिन्नस्मत्सत्कारविहिते देशे ते पितर आगच्छन्तु । य ईदृशाः पितरः सन्ति तान् विद्यादिशुभगुणानां दानकर्तॄनहं (आ, अवित्सि) आसमन्ताद्वेद्मि । अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदमिड्भावश्च । तान् विदित्वा सर्वस्य च (विष्णोः) सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्य (विक्रमणं च) विविधक्रमेण जगद्रचनं तथा (नपातं च) न विद्यते पातो विनाशो यस्य तन्मोक्षाख्यं पदं च वेद्मि यत्प्राप्य मुक्तानां सद्यः पातो न विद्यते तदेतद् विदुषां सङ्गेनैव प्राप्तं भवति । तस्मात्सर्वैर्विदुषां समागमः सदा कर्त्तव्य इति ॥ १२ ॥

भाषार्थ ॥

(ये नः पूर्वे पितरः) जो कि हमारे पूर्व पितर अर्थात् पिता पितामह और अध्यापक लोग शान्तात्मा तथा (अनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः) जो सोमपान के करने कराने और वसिष्ठ अर्थात् सब विद्या में वास करने वाले हैं (तेभिर्यमः सं०) ऐसे महात्माओं के साथ समागम करके विद्या होने से यम अर्थात् न्यायकारी अन्तर्यामी परमेश्वर निस्सन्देह जाना जाता है (हविः) जो सत्यभक्ति आदि पदार्थों की कामना और (उशद्भिः प्रतिका०) सब कामों के बीच में सत्यसेवन करने वाले तथा जिन का आधारभूत परमेश्वर

ही है। हे मनुष्य लोगो ! ऐसे धर्मात्मा पुरुषों के सङ्ग से तुम भी उसी परमात्मा के आनन्द से तृप्त हो इस में निरुक्तकार का प्रमाण अ० ११ । खं० १९ निरुक्त में लिखा है (अङ्गिरसो नवगतय इत्यादि) वहां देख लेना ॥ १० ॥ (बर्हिषदः पि० जो ब्रह्म और सत्यविद्या में स्थित पितर लोग हैं वे हमारी रक्षा के लिये सदा तत्पर रहें इस प्रकार से कि हम लोग तो उनकी सेवा करें और वे लोग हमको प्रीतिपूर्वक विद्यादि दान से प्रसन्न कर देवें (त आगतावसा०) हे पितर लोगो हम काङ्क्षा करते हैं कि जब २ आप हमारे वा हम आप के पास आवें जावें तब २ (इमा हव्या०) हम लोग उत्तम २ पदार्थों से आप लोगों की सेवा करें और आप लोग भी उनको प्रीतिपूर्वक ग्रहण करें (अथ०) अर्थात् हम लोग तो अन्नादि पदार्थों से और आप लोग (शन्त०) हमारे कल्याणकारी गुणों के उपदेश से (अथानः शंयो०) इस के पीछे हमारे कल्याण के विधान से (अरपः) अर्थात् जिससें हम लोग पाप न करें ऐसी बातों का धारण कराइये ॥ ११ ॥ (अहं पितॄन्०) मैं जानता हूं कि पितर लोग अपनी उत्तम विद्या और अपने उपदेश से सुख देने वाले हैं (नपातं च विक्रमणं च विष्णोः) जो मैं सब में व्यापक परमेश्वर का विक्रमण अर्थात् सृष्टि का रचन और नपात अर्थात् उसके अविनाशी पद को भी (आ) (अवित्सि) ठीक २ जानता हूं (बर्हिषदो ये०) यह ज्ञान मुझ को उन्हीं पितर लोगों की कृपा से हुआ है जिनको देवयान कहते हैं और जिसकी प्राप्ति से जीव फिर दुःख में कभी नहीं गिरता तथा जिस में पूर्ण सुख प्राप्त होता है उन दोनों मार्गों को भी मैं विद्वानों के ही सङ्ग से जानता हूं (स्वधा०) जो विद्वान् अपने अमृतरूप उपदेश से पुत्र की भावना के साथ विद्यादान करते हैं। तथा उस में आप भी (पितुः) आनन्दित होकर संसार में सब सुखों के देने वाले होते हैं वे सर्वहितकारी पुरुष हमारे पास भी सदा आया करें कि जिस से हम लोगों में नित्य ज्ञान की उन्नति हुआ करे ॥ १२ ॥

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु त आगमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ १३ ॥ अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः। अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिꣳ सर्ववीरं दधातन। १४ ॥ ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते। तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथा वशं तन्वं कल्पयाति ॥ १५ ॥ य० अ० १९ । मं० ५७ । ५८ । ६० ॥

भाष्यम् ॥

(सोम्यासः) ये प्रतिष्ठार्हाः पितरस्ते (बर्हिष्येषु) प्रकृष्टेषु (निधिषु) उत्तमवस्तुस्थापनार्हेषु (प्रियेषु) प्रीत्युत्पादकेषु आसनेषु (उपहूताः) निमन्त्रिताः सन्तः सीदन्तु (आगमन्तु) सत्कारं प्राप्यास्मत्समीपं वारंवारमागच्छन्तु (त इह) त इहागत्यास्मत्प्रश्नान् (श्रुवन्तु) शृण्वन्तु श्रुत्वा तदुत्तराणि (अधिब्रुवन्तु) कथयन्तु । एवं विद्यादानेन व्यवहारोपदेशेन च (तेऽवन्त्वस्मान्) सदाऽस्मान् रक्षन्तु ॥ १३ ॥ (अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत) हे पूर्वोक्ता अग्निष्वात्ताः पितरः अस्मत्सन्निधौ प्रीत्या आगच्छत आगत्य (सुप्रणीतयः) शोभना प्रकृष्टा नीतिर्येषां त एवम्भूता भवन्तः पूज्याः सन्तः (सदः सदः सदत) प्रतिगृहं प्रतिसभां चोपदेशार्थं स्थितिं भ्रमणं च कुरुत (अत्ता हवींषि) प्रयत्नयुक्तानि कर्माणि देययोग्यान्युत्तमान्नानि वा यूयं स्वीकुरुत (बर्हिष्यथा०) अथेत्यनन्तरं बर्हिषि सदसि गृहे वा स्थित्वा (रयिंसर्ववीरं) सर्वैर्वीरैर्युक्तं विद्यादिधनं यूयं दधातन यतोऽस्मासु बुद्धिशरीरबलयुक्ता वीराः स्थिराः भवेयुः सत्यविद्याकोशश्च ॥ १४ ॥ (ये अग्निष्वात्ता०) ये अग्निविद्यायुक्ताः (अनग्निष्वात्ताः) ये वायुजलभूगर्भादिविद्यानिष्ठाः (मध्ये दिवः) द्योतनात्मकस्य परमेश्वरस्य सद्विद्याप्रकाशकस्य च मध्ये (स्वधया) अन्नविद्यया शरीरबुद्धिबलधारणेन च (मादयन्ते) आनन्दिता भूत्वा अस्मान्सर्वान् जनानानन्दयन्ति (तेभ्यः) तेभ्यो विद्वद्भ्यो वयं नित्यं सद्विद्यां तथा (असुनीतिमेतां) सत्यन्याययुक्तामेतां प्राणनीतिं च गृह्णीयाम (यथा वशं) ते विद्वांसो वयं च विद्याविज्ञानप्राप्त्या सर्वोपकारकेषु नियमेषु स्वतन्त्राः प्रत्येकप्रियेषु च परतन्त्रा भवन्तु यतः (स्वराट्) स्वयं राजते प्रकाशते स्वान् राजयति प्रकाशयति वा स स्वराट् परमेश्वरः (तन्वं कल्पयाति) तनुं विद्वच्छरीरमस्मदर्थं कृपया कल्पयाति कल्पयतु निष्पादयतु यतोऽस्माकं मध्ये बहवो विद्वांसो भवेयुः ॥ १५ ॥

भाषार्थ ॥

(उपहूताः पितरः) उन पितरों को हम लोग निमन्त्रण देते हैं कि वे हमारे समीप आके (बर्हिष्येषु) उत्तम आसनों पर बैठकर जो कि बहुमूल्य और सुनने में प्रिय हों हमको उपदेश करें (त आगमन्तु०) जब वे पितर आवें तब सब लोग उन का

इस प्रकार से सन्मान करें कि आप आइये उत्तम आसन पर बैठिये (इह श्रुवन्तु) यहां हमारी विद्या की बातें और प्रश्न सुनिये (अधिब्रुवन्तु) इन प्रश्नों के उत्तर दीजिये और मनुष्यों को ज्ञान देके उन की रक्षा कीजिये ॥ १३ ॥ (अग्निष्वात्ताः पितर एह०) हे अग्निविद्या के जानने वाले पितर लोगो ! आप उपदेशक होकर हमारे घरों में आकर उपदेश और निवास कीजिये फिर वे पितर कैसे होने चाहियें कि (सुप्रणीतयः) उत्तम २ गुणयुक्त होके (बर्हिषि०) सभा के बीच में सत्य २ न्याय करते हों तथा (हविः) वे ही दान और ग्रहण के योग्य विद्यादि गुणों का दान और ग्रहण कराने वाले हों (रयिꣳसर्ववीरं दधातन) विद्यादि जो उत्तम धन है कि जिस से वीरपुरुषयुक्त सेना की प्राप्ति होती है उसके उपदेश से हम को पुष्ट करें ऐसे ही उन विद्वानों के प्रति भी ईश्वर का यह उपदेश है कि वे लोग देश २ और घर २ में जाके सब मनुष्यों को सत्यविद्या का उपदेश करें ॥ १४ ॥ (ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ताः) जो पितर अग्निविद्या और सोमविद्या के जानने वाले तथा (मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते) जो कि दिव अर्थात् विज्ञानरूप प्रकाश के बीच में सुखभोग से आनन्दित रहते हैं (तेभ्यः स्वराडसु०) उन के हितार्थ स्वराट् जो स्वप्रकाशस्वरूप परमेश्वर है वह (असुनीति) अर्थात् प्राणविद्या का प्रकाश कर देता है । इसलिये हम प्रार्थना करते हैं कि (यथावशन्तन्वं कल्पयाति) हे परमेश्वर ! आप अपनी कृपा से उन के शरीर सदा सुखी तेजस्वी और रोगरहित रखिये कि जिससे हम को उन के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता रहे ॥ १५ ॥

अ॒ग्नि॒ष्वा॒त्तानृ॑तु॒मतो॑ हवामहे नाराश॒ꣳसे सो॑मपी॒थं य आ॒शुः । ते नो॒ विप्रा॑सः सु॒हवा॑ भवन्तु व॒यꣳस्या॑म॒ पत॑यो र॒यी॒णाम् ॥ १६ ॥ ये चे॒ह पि॒तरो॒ ये च॒ नेह याँश्च॑ वि॒द्म याँ २॥ उ॑ च न प्र॑वि॒द्म ॥ त्वं वे॑त्थ॒ यति॒ ते जा॑तवेदः स्व॒धाभि॑र्य॒ज्ञꣳ सुकृ॑तं जुषस्व ॥ १७ ॥ इ॒दं पि॒तृभ्यो॒ नमो॑ अस्त्व॒द्य ये पूर्वा॑सो॒ य उप॑रास ई॒युः । ये पार्थि॑वे॒ रज॒स्या निष॑त्ता॒ ये वा॑ नू॒नꣳसु॑वृ॒जना॑सु वि॒क्षु ॥ १८ ॥ य० अ० १६ । मं० ६१ । ६७ । ६८ ॥

भाष्यम् ॥

(अग्निष्वात्ता०) हे मनुष्याः ! यथा वयं ऋतविद्यावतोऽर्थाद्यथा समयप्रयोगकारिणोऽग्निष्वात्ताः पितरः सन्ति तान् (हवामहे) आह्वयामहे तथैव युष्मा-

भिरपि तत्सेवनायाह्वानं नित्यं कार्य्यम् । (सोमपीथं य आशुः) ये सोमपानम-श्नन्ति ये च (नाराशंसे) नरैः प्रशस्येऽनुष्ठातव्ये कर्मणि कुशलाः सन्ति (ते नो विप्रासः) ते विप्रा मेधाविनो नोऽस्मान् (सुहवा०) सुष्ठुतया ग्रहीतारो भवन्तु (सोमपीथं०) ये सोमविद्यादानग्रहणाभ्यां तृप्ताः । एषां संगेन (वयंस्याम पतयो०) सत्यविद्याचक्रवर्त्तिराज्यश्रीणां पतयः पालकाः स्वामिनो भवेम ॥ १६ ॥ (ये चेह पितरो०) ये पितरो विद्वांस इहास्मत्सन्निधौ वर्त्तन्ते यं चेहास्मत्समक्षेन सन्त्यर्थादेशान्तरे तिष्ठन्ति (यांश्च विद्म) यान् वयं जानीमः (यान् उचन०) दूरदेशस्थित्या यांश्च वयं न जानीमस्तान् सर्वान् हे (जातवेदः) परमेश्वर ! (त्वं वेत्थ) त्वं यथावज्जानास्यतो भवान् तेषामस्माकं च सङ्गं निष्पादय (स्वधा०) योऽस्माभिस्सुकृतः सम्यगनुष्ठितो यज्ञोस्ति त्वं स्वधाभिरन्नाद्याभिः सामग्रीभिः सम्पादितं यज्ञं सदा जुषस्व सेवस्व येनास्माकमभ्युदय-निःश्रेयसकरं क्रियाकाण्डं सम्यक् सिध्येत् (यति ते) ये यावन्तः परोक्षा विद्यमाना विद्वांसः सन्ति तानस्मान्प्रापय ॥ १७ ॥ (इदं पितृभ्यः) ये पितरोऽद्येदानीमस्मत्समीपेऽध्ययनाध्यापने कर्मणि वर्त्तन्ते (पूर्वासः) पूर्वमतीत्य विद्वांसः सन्ति (ये पार्थिवे रजसि) ये पृथिवीसम्बन्धिभूगर्भविद्यायां (आनिषत्ता) आसमन्तान्निषण्णाः सन्ति (ये वानूनं सु०) ये च सुष्ठु बलयुक्ता सुप्रजासभाध्यक्षाः सभासदो भूत्वा न्यायाधीशत्वादिकर्मण्यधिकृताः सन्ति ते चास्मानीयुः प्राप्नुयुः इत्थं भूतेभ्यः पितृभ्योऽस्माकमिदं सततं नमोस्तु ॥ १८ ॥

भाषार्थ ॥

(अग्निष्वात्तानृतुमतो०) हे मनुष्य लोगो ! जैसे हम लोग अग्निविद्या और समयविद्या के जानने वाले पितरों को मान्य से बुलाते हैं वैसे ही तुम लोग भी उन के पास जाते और उन को अपने पास सदा बुलाते रहो जिससे तुम्हारी सब दिन विद्या बढ़ती रहै ॥ (नाराशंसे सोमपीथं य आशुः) जो सोमलतादि ओषधियों के रसपान तथा रक्षा से मनुष्यों को श्रेष्ठ करने वाले हैं उन से हम लोग सत्यशिक्षा लेके आनन्दित हों (तेनो विप्राः सुहवा०) वे विद्वान् लोग हम को सत्यविद्या का ग्रहण प्रीतिपूर्वक सदा कराते रहैं । (वयंस्याम पतयो रयीणाम्०) जिस से कि हम लोग सुविद्या से चक्रवर्ति राज्य की श्री आदि उत्तम पदार्थों को प्राप्त तथा उन की रक्षा और उन्नति करने में भी समर्थ हों ॥ १६ ॥ (ये चेह पितरो०) हे जातवेद परमेश्वर ! जो

पितर लोग हमारे समीप और दूर देश में हैं (यांश्च विद्म) जिन को समीप होने से हम लोग जानते और (यां २॥ उ नप्रविद्म) जिन को दूर होने के कारण नहीं भी जानते हैं (यति ते०) जो इस संसार के बीच में वर्त्तमान हैं (त्वं वेत्थ) उन सब को आप यथावत् जानते हैं। कृपा करके उन का और हमारा परस्पर सम्बन्ध सदा के लिये कीजिये (स्वधाभिर्यज्ञᳪसुकृतं) और आप अपनी धारणादि शक्तियों से व्यवहार और परमार्थरूप श्रेष्ठ यज्ञों को प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिये कि जिससे हम लोगों को सब सुख प्राप्त होते रहें ॥ १७ ॥ (इदं पितृभ्यो न०) हम लोग उन सब पितरों को नमस्कार करते हैं (अद्य पूर्वासो य उपरास ईयुः) जो कि प्रथम आप विद्वान् होके हम लोगों को भी विद्या देते हैं अथवा जो कि विरक्त और सन्न्यासी होके सर्वत्र विचरते हुए उपदेश करते हैं तथा (ये पार्थिवे रजस्या निषत्ताः) जो कि पार्थिव अर्थात् भूगर्भविद्या और सूर्यादि लोकों के जानने वाले हैं तथा (ये वा नूनᳪसु०) जो कि निश्चय करके प्रजाओं के हित में उद्यत और उत्तम सेनाओं के बीच में बड़े चतुर हैं उन सभों को हम लोग नमस्कार करते हैं इसलिये कि वे सब दिन हमारी उन्नति करते रहें ॥ १८ ॥

उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि । उशन्नुशत आवह पितॄन्हविषे अत्तवे ॥ १९ ॥ य० अ० १९ । मं० ७० ॥ पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम् ॥ २० ॥ पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा । पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥ २१ ॥ य० अ० १९ । मं० ३६ । ३७ ॥

भाष्यम् ॥

(उशन्तस्त्वानिधीमहि) हे परमेश्वर ! वयं त्वां कामयमाना इष्टत्वेन हृदयाकाशे स्थापयामोऽभीष्टत्वेन राष्ट्रे सदा स्थापयामः (उशन्तः समिधीमहि) जगदीश्वर !

त्वां भूषयन्तः भावयन्तः सम्यक् प्रकाशयेमहि तस्मै प्रयोजनायेत्याह (हविषे अत्तवे०) सद्विद्याग्रहणाय तेभ्यो धनाद्युत्तमपदार्थदानायानन्दभोगाय च (उशन्नुशत आवह पितॄन्) सत्योपदेशविद्याकामयमानान् कामयमानस्त्वमस्मानावहासमन्तात्प्रापय ॥ १९ ॥ (पितृभ्यः) त्वां स्वकीयाममृताख्यां मोक्षविद्यां कर्तुं शीलं येषां तेभ्यो वसुसंज्ञकेभ्यो विद्याप्रदातृभ्यो जनकेभ्यश्च (स्वधा) अन्नाद्युत्तमवस्तु दद्मः। ये च चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्यामधीत्याध्यापयन्ति ते वसुसंज्ञकाः (पितामहेभ्यः) ये चतुश्चत्वारिंशद्वर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्यां पठित्वा पाठयन्ति ते पितामहाः (प्रपितामहेभ्यः) येऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षमितेन ब्रह्मचर्येण विद्यापारावारं प्राप्याध्यापयन्ति त आदित्याख्या अर्थात् सत्यविद्याद्योतकाः (नमः) तेभ्योऽस्माकं सततं नमोऽस्तु। (अक्षन् पितरः) हे पितरो भवन्तोऽन्नमत्रैव भोजनाच्छादनादिकं कुर्वीरन्। अमीमदन्त पितर इति पूर्वं व्याख्यातम् (अतीतृपन्त पितरः) हे पितरोऽस्मत्सेवयाऽऽनन्दितां भूत्वा तृप्ता भवत (पितरः शुन्धध्वम्) हे पितरो यूयमुपदेशेनाविद्यादिदोषविनाशादस्मान् शुन्धध्वं पवित्रान् कुरुत ॥ २० ॥ (पुनन्तु मा पितरः) भो पितरः पितामहाः प्रपितामहाश्च भवन्तो मां मनःकर्मवचनद्वारा वारंवारं पुनन्तु पवित्रव्यवहारकारिणं कुर्वन्तु। केन पुनन्त्वित्याह (पवित्रेण०) पवित्रकर्मानुष्ठानकरणोपदेशेन (शतायुषा) शतवर्षपर्यन्तजीवननिमित्तेन ब्रह्मचर्येण मां पुनन्तु अग्रे पुनन्त्विति क्रियात्रयं योजनीयम्। येनाहं (विश्वमायुर्व्यश्नवै) सम्पूर्णमायुः प्राप्नुयाम्। अत्र पुरुषो वाव यज्ञ इत्याकारकेण छान्दोग्योपनिषत्प्रमाणेन विदुषां वसुरुद्रादित्यसंज्ञा वेदितव्याः ॥ २१ ॥

भाषार्थ ॥

(उशन्तस्त्वा निधीमहि) हे अग्ने परमेश्वर! हम लोग आपकी प्राप्ति की कामना करके आप को अपने हृदय में निहित अर्थात् स्थापित और (उशन्तः समिधीमहि) आप का ही सर्वत्र प्रकाश करते रहें। (उशन्नुशत आवह पितॄन्) हे भगवन्! आप हमारे कल्याण के अर्थ पूर्वोक्त पितरों को नित्य प्राप्त कीजिये कि (हविषे अत्तवे) हम लोग उन की सेवा में विद्या लेने के लिये स्थिर रहें ॥ १९ ॥ (पितृभ्यः स्वधा०) जो चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्याश्रम से विद्या पढ़के सब को पढ़ाते हैं उन पितरों को हमारा नमस्कार है (पितामहेभ्यः०) जो चवालीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम से वेदादि विद्याओं को पढ़ के सब के उपकारी और अमृतरूप ज्ञान के देने वाले होते हैं (प्रपितामहेभ्यः०)

अथ बलिवैश्वदेवकर्मणः प्रमाणम् ॥

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने। रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ १ ॥ अथर्व० कां० १९। अनु० ७। मं० ७ ॥ पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ॥ पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा स्वाहा ॥ २ ॥ य० अ० १९। मं० ३९ ॥

भाष्यम् ॥

(अग्ने) हे परमेश्वर ! (ते) तुभ्यं त्वदाज्ञापालनार्थं (इत्) एव (तिष्ठते ऽश्वाय) (घासं) यथाऽश्वस्याग्रे पुष्कलाः पदार्थाः स्थाप्यन्ते तथैव (इव) (अहरहः) नित्यं प्रति (बलिं) (हरन्तः) भौतिकमग्निमतिथींश्च बलीन् प्रापयन्तः (समिषा) सम्यगिष्यते या सा समिद् तया श्रद्धया (रायस्पोषेण) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्म्या (मदन्तः) हर्षन्तो वयं (अग्ने) हे परमात्मन् (ते) तव (प्रतिवेशाः) प्रतिकूला भूत्वा सृष्टिस्थान् प्राणिनः (मा रिषाम) मा पीडयेम किन्तु भवत्कृपया सर्वे जीवा अस्माकं मित्राणि सन्तु सर्वेषां च वयं सखायः स्म इति ज्ञात्वा परस्परं नित्यमुपकारं कुर्य्याम ॥ १ ॥ (पुनन्तु मा०) अस्य मन्त्रस्यार्थस्तर्पणविषय उक्तः ॥

भाषार्थ ॥

(अग्ने) हे परमेश्वर ! जैसे खाने योग्य पुष्कल पदार्थ घोड़े के आगे रखते हैं वैसे ही आप की आज्ञापालन के लिये (अहरहः) प्रतिदिन भौतिक अग्नि में होम करते और अतिथियों को (बलिं) अर्थात् भोजन देते हुए हम लोग अच्छी प्रकार वाञ्छित चक्रवर्त्ति राज्य की लक्ष्मी से आनन्द को प्राप्त होके (अग्ने) हे परमात्मन् ! (प्रतिवेशाः) आप की आज्ञा से उलटे होके आप के उत्पन्न किये हुए प्राणियों को (मा रिषाम) अन्याय से दुःख कभी न देवें किन्तु आप की कृपा से सब जीव हमारे मित्र और हम सब जीवों के मित्र रहें ऐसा जानकर परस्पर उपकार सदा करते रहें ॥ १ ॥ (पुनन्तु मा०) इस मन्त्र का अर्थ तर्पणविषय में कह दिया है ॥ २ ॥

ओमग्नये स्वाहा ॥ ओं सोमाय स्वाहा ॥ ओमग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ओं धन्वन्तरये स्वाहा ॥ ओं कुह्वै स्वाहा ॥ ओमनुमत्यै स्वाहा ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ ओं द्यावापृथिवीभ्याᳬ स्वाहा ॥ ओं स्विष्टकृते स्वाहा ॥

भाष्यम् ॥

(ओम०) अग्न्यर्थ उक्तः (ओं सो०) सर्वानन्दप्रदो यः सर्वजगदुत्पादक ईश्वरः सोऽत्र ग्राह्यः (ओमग्नी०) प्राणापानाभ्यामनयोरर्थो गायत्रीमन्त्रार्थ उक्तः (ओं वि०) विश्वे देवा विश्वप्रकाशका ईश्वरगुणाः सर्वे विद्वांसो वा (ओं ध०) सर्वरोगनाशक ईश्वरोऽत्र गृह्यते (ओं कु०) दर्शेष्टयर्थोयमारम्भः । अमावास्येष्टिप्रतिपादितायै चितिशक्तये वा (ओम०) पौर्णमास्येष्टयर्थोयमारम्भः । विद्यापठनानन्तरं मतिर्मननं ज्ञानं यस्याश्चितिशक्तेः साऽनुमतिर्वा तस्यै (ओं प्र०) सर्वजगतः स्वामी रक्षक ईश्वरः (ओं द्या०) ईश्वरेण प्रकृष्टगुणैः सहोत्पादिताभ्यामग्निभूमिभ्यां सर्वोपकारा ग्राह्याः । एतदर्थोयमारम्भः ॥ (ओं स्विष्ट०) यः सुष्ठुशोभनमिष्टं सुखं करोति स चेश्वरः । एतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाऽथ बलिप्रदानं कुर्य्यात् ॥

भाषार्थ ॥

(ओम०) अग्नि शब्द का अर्थ पीछे कह आये हैं । (ओं सो०) अर्थात् सब पदार्थों को उत्पन्न, पुष्ट करने और सुख देनेवाला (ओम०) जो सब प्राणियों के जीवन का हेतु प्राण तथा जो दुःख नाश का हेतु अपान (ओं वि०) संसार के प्रकाश करने वाले ईश्वर के गुण अथवा विद्वान् लोग (ओं ध०) जन्ममरणादि रोगों का नाश करनेवाला परमात्मा (ओं कु०) अमावास्येष्टि का करना (ओम०) पौर्णमास्येष्टि, वा सर्वशास्त्रप्रतिपादित परमेश्वर की चितिशक्ति (ओं प्र०) सब जगत् का स्वामी जगदीश्वर (ओं द्या०) सत्यविद्या के प्रकाश के लिये पृथिवी का राज्य और अग्नि तथा भूमि से अनेक उपकारों का ग्रहण (ओं स्वि०) इष्ट सुख का करनेवाला परमेश्वर इन दश मन्त्रों के अर्थों से ये १० प्रयोजन जान लेना । अब आगे बलिदान के मन्त्र लिखते हैं ॥

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥ १ ॥ ओं सानुगाय यमाय नमः ॥ २ ॥ ओं सानुगाय वरुणाय नमः ॥ ३ ॥ ओं सानुगाय सोमाय नमः ॥ ४ ॥ ओं मरुद्भ्यो नमः ॥ ५ ॥ ओमद्भ्यो नमः ॥ ६ ॥ ओं वनस्पतिभ्यो नमः ॥ ७ ॥ ओं श्रियै नमः ॥ ८ ॥ ओं भद्रकाल्यै नमः ॥ ९ ॥ ओं ब्रह्मपतये नमः ॥ १० ॥ ओं वास्तुपतये नमः ॥ ११ ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥ १२ ॥ ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥ १३ ॥ ओं नक्तंचारिभ्यो नमः ॥ १४ ॥ ओं सर्वात्मभूतये नमः ॥ १५ ॥ ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥ १६ ॥ इति नित्यश्राद्धम् ॥

भाष्यम् ॥

(ओं सा०) शमग्नद्भवते शर्म इत्यनेन सत्क्रियापुरस्सरविचारेण मनुष्याणां यथार्थं विज्ञानं भवतीति वेद्यम् । नित्यैर्गुणैः सह वर्त्तमानः परमैश्वर्य्यवानीश्वरोऽत्र गृह्यते (ओं सानु०) पक्षपातरहितो न्यायकारित्वादिगुणयुक्तः परमात्माऽत्र वेद्यः (ओं सा०) विद्याद्युत्तमगुणविशिष्टः सर्वोत्तमः परमेश्वरोऽत्र ग्रहीतव्यः (ओं सानुगाय०) अस्यार्थ उक्तः (ओम०) य ईश्वराधारेण सकलं विश्वं धारयन्ति चेष्टयन्ति च ते मरुतः (ओम०) अस्यार्थः शन्नोदेवीरित्यत्रोक्तः (ओं वन०) वनानां लोकानां पतय ईश्वरो वायुमेघादयः पदार्था अत्र ग्राह्याः यद्वोत्तमगुणयोगेनेश्वरेणोत्पादितेभ्यो महावृक्षेभ्यश्चोपकारग्रहणं सदा कार्यमिति बोध्यम् (ओं श्रि०) श्रीयते सेव्यते सर्वैर्जनैरसौ श्रीरीश्वरः सर्वसुखशोभावत्त्वात् । यद्वेश्वरेणोत्पादिता विश्वशोभा च (ओं भ०) या भद्रं कल्याणं सुखं कलयति सा भद्रकालीश्वरशक्तिः (ओम्ब्र०) ब्रह्मणः सर्वशास्त्रविद्यायुक्तस्य वेदस्य ब्रह्माण्डस्य वा पतिरीश्वरः (ओं वास्तु०) वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिन्स्वद्यास्तथाकाशं तत्पतिरीश्वरः (ओं वि०) अस्यार्थ उक्तः (ओं दिवा०) (ओं नक्तं०) ईश्वरकृपयैवं भवेमः दिवसे यानि भूतानि विचरन्ति रात्रौ च

तानि विघ्नं मा कुर्वन्तु तैः सहाविरोधोऽस्तु नः। एतदर्थोऽयमारम्भः (ओं स०) सर्वेषां जीवात्मनां भूतिर्भवनं सर्वेश्वरेण ग्राह्यः। (ओं पि०) अस्यार्थ उक्तः पितृतर्पणे। नम इत्यस्य निरभिमानद्योतनार्थः परस्योत्कृष्टतामान्यज्ञापनार्थ आरम्भः॥

भाषार्थ ॥

(ओं सानु०) सर्वैश्वर्ययुक्त परमेश्वर और उस के गुण (ओं सा०) सत्य न्याय करनेवाला और उस की सृष्टि में सत्य न्याय के करनेवाले सभासद् (ओं सा०) सब से उत्तम परमात्मा और उस के धार्मिक भक्त जन (ओं सा०) पुण्यात्माओं को आनन्द करानेवाला परमात्मा और वे लोग (ओं मरु०) अर्थात् प्राण जिन के रहने से जीवन और निकलने से मरण होता है उनकी रक्षा करना (ओमद्भ्यो०) इस का अर्थ शन्नोदेवी इस मन्त्र में लिख दिया है (ओं व०) ईश्वर के उत्पन्न किये हुए वायु और मेघ आदि सब के पालन के हेतु सब पदार्थ तथा जिनसे अधिक वर्षा और जिनके फलों से जगत् का उपकार होता है उन की रक्षा करनी (ओं श्रि०) जो सेवा करने के योग्य परमात्मा और पुरुषार्थ से राज्यश्री की प्राप्ति करने में सदा उद्योग करना। (ओं भ०) जो कल्याण करनेवाली परमात्मा की शक्ति अर्थात् सामर्थ्य है उस का सदा आश्रय करना (ओं ब्र०) जो वेद के स्वामी ईश्वर की प्रार्थना विद्या के लिये करना (ओं वा०) वास्तुपति अर्थात् जो गृहसम्बन्धी पदार्थों का पालन करनेवाला ईश्वर (ओं विश्व०) वेद शास्त्र का रक्षक जगदीश्वर (ओं वि०) इस का अर्थ कह दिया है (ओं दि०) जो दिन में और (ओं नक्तं०) रात्रि में विचरने वाले प्राणी हैं उन से उपकार लेना और उन को सुख देना (सर्वात्म०) सब में व्याप्त परमेश्वर की सत्ता को सदा ध्यान में रखना (ओं पि०) माता पिता और आचार्य्य आदि को प्रथम भोजनादि से सेवा करके पश्चात् स्वयं भोजनादि करना, स्वाहा शब्द का अर्थ पूर्व कर दिया है और नमः शब्द का अर्थ यह है कि आप अभिमान रहित होना और दूसरे का मान्य करना। इस के पीछे ये छः भाग करना चाहिये॥

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्॥
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि॥ १॥

अनेन षड्भागान् भूमौ दद्यात्। एवं सर्वप्राणिभ्यो भागान् विभज्य दत्वा च तेषां प्रसन्नतां सम्पादयेत्॥

भाषार्थ ॥

कुत्तों, कंगालों, कुष्ठी आदि रोगियों, काक आदि पक्षियों और चींटी आदि कृमियों के लिये भी छः भाग अलग २ बांट के दे देना और उनकी प्रसन्नता करना अर्थात् सब प्राणियों को मनुष्यों से सुख होना चाहिये यह वेद और मनुस्मृति की रीति से बलिवैश्वदेव पूरा हुआ ॥ इति बलिवैश्वदेवविधिः समाप्तः ॥

अथ पञ्चमोऽतिथियज्ञः प्रोच्यते । यत्रातिथीनां सेवनं यथावत् क्रियते तत्र सर्वाणि सुखानि भवन्तीति, अथ के अतिथयः । ये पूर्णविद्यावन्तः परोपकारिणो जितेन्द्रिया धार्मिकाः सत्यवादिनश्छलादिदोषरहिता नित्यभ्रमणकारिणो मनुष्यास्तानतिथय इति कथयन्ति । अत्रानेके प्रमाणभूता वैदिकमन्त्राः सन्ति । परन्त्वत्र संक्षेपतो द्वावेव लिखामः ॥

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥ स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वावात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥ २ ॥ अथ० कां० १५ । अनु० २ । व० ११ । मं० १।२॥

भाष्यम् ॥

(तद्य०) यः पूर्वोक्तविशेषणयुक्तो विद्वान् (व्रात्यः०) महोत्तमगुणविशिष्टः सेवनीयोऽतिथिर्यास्य गमनागमनयोरनियता तिथिः किन्तु स्वेच्छया कस्मादागच्छेद् गच्छेच्च ॥ १ ॥ स यदा यदा गृहस्थानां गृहेषु प्राप्नुयात् (स्वयमेन० म०) तदा गृहस्थोऽत्यन्तप्रेम्णोत्थाय नमस्कृत्य च तं महोत्तमासने निषादयेत् । ततो यथायोग्यं सेवां कृत्वा तदनन्तरं तं पृच्छेत् । (व्रात्य क्वावात्सीः) हे पुरुषोत्तम ! त्वं कुत्र निवासं कृतवान् (व्रात्योदकं) हे अतिथे जलमेतद् गृहाण (व्रात्य तर्पयन्तु) यथा भवन्तः स्वकीयसत्योपदेशेनास्मानस्मत्कं मित्रादींश्च तर्प्पयन्ति तथाऽस्मदीया भवन्तं च (व्रात्य यथा०) हे विद्वन् ! यथा भवतः प्रसन्नता स्यात्तथा वयं कुर्य्याम । यद्वस्तु भवत्प्रियमस्ति तस्याज्ञां कुरु (व्रात्य यथा ते) हे अतिथे ! भवान् यथेच्छति तथैव वयं तदनुकूलतया भवत्सेवाकरणे निश्चि-

ब्रुयाम (व्रात्य यथा ते) यथा भवदिच्छापूर्तिः स्यात्तथा सेवां वयं कुर्याम यतो भवान् वयं च परस्परं सेवासत्सङ्गपूर्विकया विद्यावृद्ध्या सदा सुखे तिष्ठेम ॥

भावार्थ ॥

अब पांचवां अतिथियज्ञ अर्थात् जिस में अतिथियों की यथावत् सेवा करनी होती है उस को लिखते हैं जो मनुष्य पूर्ण विद्वान् परोपकारी जितेन्द्रिय धर्मात्मा सत्यवादी छल कपट रहित और नित्य भ्रमण कर के विद्या धर्म का प्रचार और अविद्या अधर्म की निवृत्ति सदा करते रहते हैं उन को अतिथि कहते हैं। इस में वेदमन्त्रों के अनेक प्रमाण हैं परन्तु उन में से दो मन्त्र यहां भी लिखते हैं (तद्यस्यैवं विद्वान्) जिस के घर में पूर्वोक्त विशेषणयुक्त (व्रात्य) उत्तमगुणसहित सेवा करने के योग्य विद्वान् आवे तो उस की यथावत् सेवा करें और अतिथि वह कहाता है कि जिस के आने जाने की कोई तिथि (दिन) निश्चित न हो ॥ १ ॥ (स्वयमेनम०) गृहस्थ लोग ऐसे पुरुष को आते देखकर बड़े प्रेम से उठ के नमस्कार कर के उत्तम आसन पर बैठावें पश्चात् पूछें कि आप को जल अथवा किसी अन्य वस्तु की इच्छा हो सो कहिये और जब वे स्वस्थचित्त हो जावें तब पूछें कि (व्रात्य क्वावात्सीः) हे व्रात्य अर्थात् उत्तम पुरुष ! आपने कल के दिन कहां वास किया था (व्रात्योदकं) हे अतिथे ! यह जल लीजिये और (व्रात्य-तर्पयन्तु) हम को अपने सत्य उपदेश से तृप्त कीजिये कि जिस से हमारे इष्ट मित्र लोग सब प्रसन्न हो के आपको भी सेवा से संतुष्ट रक्खें ॥ (व्रात्य यथा०) हे विद्वान् जिस प्रकार आप की प्रसन्नता हो हम लोग वैसा ही काम करें तथा जो पदार्थ आप को प्रिय हो उस की आज्ञा कीजिये और (व्रात्य यथा०) जैसे आप की कामना पूर्ण हो वैसी सेवा कीजाय कि जिस से आप और हम लोग परस्पर प्रीति और सत्सङ्ग पूर्वक विद्या-वृद्धि करके सदा आनन्द में रहें ॥ २ ॥

इति संक्षेपतः पञ्चमहायज्ञविषयः ॥

अथ ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः ॥

सृष्टिमारभ्याद्यपर्य्यन्तं येषां येषां स्वतः परतः प्रमाणसिद्धानां ग्रन्थानां पक्षपातरहितैरागद्वेषशून्यैः सत्यधर्मप्रियाचरणैः सर्वोपकारकैरार्य्यैर्विद्वद्भिर्यथाङ्गीकारः कृतस्तथाऽत्रोच्यते । ये ईश्वरोक्ता ग्रन्थास्ते स्वतःप्रमाणं कर्त्तुं योग्याः सन्ति ये जीवोक्तास्ते परतः प्रमाणार्हाश्च । ईश्वरोक्तत्वाच्चत्वारो वेदाः स्वतः प्रमाणम् । कुतः । तदुक्तौ भ्रमादिदोषाभावात् तस्य सर्वज्ञत्वात् सर्वविद्यावत्त्वात् सर्वशक्तिमत्त्वाच्च । तत्र वेदेषु वेदानामेव प्रामाण्यं स्वीकार्य्यं सूर्य्यप्रदीपवत् । यथा सूर्य्यः प्रदीपश्च स्वप्रकाशेनैव प्रकाशितौ सन्तौ सर्वमूर्त्तद्रव्यप्रकाशकौ भवतः । तथैव वेदाः स्वप्रकाशेनैव प्रकाशिताः सन्तः सर्वानन्यविद्याग्रन्थान् प्रकाशयन्ति । ये ग्रन्था वेदविरोधिनो वर्त्तन्ते नैव तेषां प्रामाण्यं स्वीकर्त्तुं योग्यमस्ति । वेदानां तु खलु अन्येभ्यो ग्रन्थेभ्यो विरोधादप्यप्रामाण्यं न भवति तेषां स्वतः प्रामाण्यात्तद्भिन्नानां ग्रन्थानां वेदाधीनप्रामाण्याच्च । ये स्वतः प्रमाणभूता मन्त्रभागसंहिताख्याश्चत्वारो वेदा उक्तास्तद्भिन्नास्तद्व्याख्यानभूता ब्राह्मणग्रन्था वेदानुकूलतया प्रमाणमर्हन्ति तथैवैकादशशतानि सप्तविंशतिश्च वेदशाखा वेदार्थव्याख्याना अपि वेदानुकूलतयैव प्रमाणमर्हन्ति । एवमेव यानि शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति षडङ्गानि । तथाऽऽयुर्वेदो वैद्यकशास्त्रम् । धनुर्वेदः शस्त्रास्त्रराजविद्या । गान्धर्ववेदो गानविद्या । अर्थवेदश्च शिल्पशास्त्रं चत्वार उपवेदा अपि । तत्र चरकसुश्रुतनिघण्ट्वादय आयुर्वेदे ग्राह्याः । धनुर्वेदस्य ग्रन्था प्रायेण लुप्ताः सन्ति । परन्तु तस्य सर्वविद्याक्रियान्वयैः सिद्धत्वादिदानीमपि साधयितुमर्हाः सन्ति अङ्गिरः प्रभृतिभिर्निर्मिता धनुर्वेदग्रन्था बहव आसन्निति ॥ गान्धर्ववेदश्च सामगानविद्यादिसिद्धः । अर्थवेदश्च विश्वकर्मत्वष्टृमयंकृतशतसूसंहिताख्यो ग्राह्यः ॥

भाषार्थ ॥

जो २ ग्रन्थ सृष्टि की आदि से लेके आज तक पक्षपात और रागद्वेषरहित सत्यधर्मयुक्त सब लोगों के प्रिय प्राचीन विद्वान् आर्य्य लोगों ने स्वतः प्रमाण अर्थात् अपने आप ही प्रमाण, परतःप्रमाण अर्थात् वेद और प्रत्यक्षानुमानादि से प्रमाणभूत हैं जिन को जिस प्रकार करके जैसा कुछ माना है उन को आगे कहते हैं इस विषय में

उन लोगों का सिद्धान्त यह है कि ईश्वर की कही हुई जो चारों मन्त्र संहिता हैं वे ही स्वयंप्रमाण होने योग्य हैं अन्य नहीं। परन्तु उन से भिन्न भी जो २ जीवों के रचे हुए ग्रन्थ हैं वे भी वेदों के अनुकूल होने से परतःप्रमाण के योग्य होते हैं क्योंकि वेद ईश्वर के रचे हुए हैं और ईश्वर सर्वज्ञ सर्वविद्यायुक्त तथा सर्वशक्तिवाला है इस कारण से उस का कथन ही निर्भ्रम और प्रमाण के योग्य है और जीवों के बनाये ग्रन्थ स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं होते क्योंकि वे सर्वविद्यायुक्त और सर्वशक्तिमान् नहीं होते इसलिये उन का कहना स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं हो सकता ऊपर के कथन से यह बात सिद्ध होती है कि वेदविषय में जहां कहीं प्रमाण की आवश्यकता हो वहां सूर्य्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है अर्थात् जैसे सूर्य्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान् होके सब क्रियावाले द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं वैसे ही वेद भी अपने प्रकाश से प्रकाशित होके अन्य ग्रन्थों का भी प्रकाश करते हैं इस से यह सिद्ध हुआ कि जो जो ग्रन्थ वेदों से विरुद्ध हैं वे कभी प्रमाण वा स्वीकार करने के योग्य नहीं होते और वेदों का अन्य ग्रन्थों के साथ विरोध भी हो तब भी अप्रमाण के योग्य नहीं ठहर सके क्योंकि वे तो अपने ही प्रमाण से प्रमाणयुक्त हैं। इसी प्रकार ऐतरेय शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थ जो वेदों के अर्थ और इतिहासादि से युक्त बनाये गये हैं वे भी परतःप्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल ही होने से प्रमाण और विरुद्ध होने से अप्रमाण हो सकते हैं। मन्त्रभाग की चार संहिता कि जिनका नाम वेद है वे सब स्वतःप्रमाण कहे जाते हैं और उनसे भिन्न ऐतरेय शतपथ आदि प्राचीन सत्य ग्रन्थ हैं वे परतःप्रमाण के योग्य हैं तथा ग्यारहसौ सत्ताईस (११२७) चार वेदों की शाखा वेदों के व्याख्यान होने से परतःप्रमाण तथा (आयुर्वेदः) अर्थात् जो वैद्यकशास्त्र चरक सुश्रुत और धन्वन्तरिकृत निघण्टु आदि ये सब मिलकर ऋग्वेद का उपवेद कहाता है (धनुर्वेदः) अर्थात् जिसमें शस्त्र अस्त्रविद्या के विधानयुक्त अङ्गिरा आदि ऋषियों के बनाये ग्रन्थ जोकि आङ्गिरा भरद्वाजादिकृत संहिता हैं जिन से राजविद्या सिद्ध होती है परन्तु वे ग्रन्थ प्रायः लुप्त से होगये हैं। जो पुरुषार्थ से इस को सिद्ध किया चाहै तो वेदादि विद्या पुस्तकों से साक्षात् कर सकता है ॥ (गान्धर्ववेदः) जो कि सामगान और नारदसंहिता आदि गानविद्या के ग्रन्थ हैं (अर्थवेदः) अर्थात् शिल्पशास्त्र जिसके प्रतिपादन में विश्वकर्म्मा, त्वष्टा, देवज्ञ और मयकृत संहिता रची गई हैं, ये चारों उपवेद कहाते हैं ॥

शिक्षा पाणिन्यादिमुनिकृता । कल्पो मानवकल्पसूत्रादिः । व्याकरणमष्टाध्यायीमहाभाष्यधातुपाठोणादिगणप्रातिपदिकगणपाठाख्यम् । निरुक्तं यास्कमुनिकृतं निघण्टुसहितं चतुर्थं वेदाङ्गं मन्तव्यम् । छन्दः पिङ्गलाचार्यकृतसूत्रभाष्यम् । ज्योतिषं वशिष्ठाद्यृष्युक्तं रेखाबीजगणितमयं चेति वेदानां षडङ्गानि सन्ति । तथा षडुपाङ्गानि । तत्राद्यं कर्मकाण्डविधायकं धर्मधर्मिव्याख्यामयं व्यासमुन्यादिकृतभाष्यसहितं जैमिनिमुनिकृतसूत्रं पूर्वमीमांसाशास्त्राख्यं ग्राह्यम् । द्वितीयं विशेषतया धर्मधर्मिविधायकं प्रशस्तपादकृतभाष्यसहितं कणादमुनिकृतं वैशेषिकशास्त्रं तृतीयं पदार्थविद्याविधायकं वात्स्यायनभाष्यसहितं गोतममुनिकृतं न्यायशास्त्रम् । चतुर्थं यत्त्रिभिर्मीमांसावैशेषिकन्यायशास्त्रैः सर्वपदार्थानां श्रवणमननेनानुमानिकं ज्ञानतया निश्चयो भवति । तेषां साक्षाज्ज्ञानसाधनमुपासनाविधायकं व्यासमुनिकृतभाष्यसहितं पतञ्जलिमुनिकृतं योगशास्त्रम् । तथा पञ्चमं तत्त्वपरिगणनविवेकार्थं भागुरिमुनिकृतभाष्यसहितं कपिलमुनिकृतं सांख्यशास्त्रं षष्ठं बौद्धायनवृत्त्यादिव्याख्यानसहितं व्यासमुनिकृतं वेदान्तशास्त्रम् । तथैव ईशकेनकठप्रश्नमुण्डकमाण्डूक्यतैत्तिरीयैतरेयछान्दोग्यबृहदारण्यका दशोपनिषदश्चोपाङ्गानि च ग्राह्याणि । एवं चत्वारो वेदाः सशाखा व्याख्यानसहिताश्चत्वार उपवेदाः षड् वेदाङ्गानि षट् च वेदोपाङ्गानि मिलित्वा षड् भवन्ति । एतैरेव चतुर्दशविद्या मनुष्यैर्ग्राह्या भवन्तीति वेद्यम् ॥

भाषार्थ ॥

इसी प्रकार मन्वादिकृत मानवकल्पसूत्रादि, आश्वलायनादिकृत श्रौतसूत्रादि, पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी धातुपाठ गणपाठ उणादिपाठ और पतञ्जलिमुनिकृत महाभाष्य पर्यन्त व्याकरण । तथा यास्कमुनिकृत निरुक्त और निघण्टु वशिष्ठमुनि आदि कृत ज्योतिष् सूर्यसिद्धान्त आदि और (छन्दः) पिङ्गलाचार्यकृत सूत्रभाष्य आदि ये वेदों के छः अङ्ग भी परतःप्रमाण के योग्य और ऐसे ही वेदों के छः उपाङ्ग अर्थात् जिन का नाम षट्शास्त्र है उन में से एक व्यासमुनि आदि कृत भाष्यसहित जैमिनिमुनिकृत पूर्वमीमांसा जिसमें कर्मकाण्ड का विधान और धर्म धर्मि दो पदार्थों से सब पदार्थों की व्याख्या की है दूसरा वैशेषिक शास्त्र,जो कि कणादमुनिकृत सूत्र और गोतममुनिकृत प्रशस्तपादभाष्यादिव्याख्यासहित तीसरा न्यायशास्त्र जो कि गोतममुनिप्रणीत सूत्र और वात्स्यायनमुनिकृतभाष्यसहित चौथा योगशास्त्र जो कि पतञ्जलिमुनिकृत सूत्र और

व्यासमुनिकृतभाष्य सहित पांचवां सांख्यशास्त्र जो कि कपिलमुनिकृत सूत्र और भागुरिमुनिकृत भाष्य सहित और छठा वेदान्तशास्त्र जो कि ईश केन कठ प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य तैत्तिरीय ऐतरेय छान्दोग्य और बृहदारण्यक ये दश उपनिषद् तथा व्यासमुनिकृत सूत्र जो कि बौद्धायनवृत्त्यादिव्याख्या सहित वेदान्तशास्त्र है ये छः वेदों के उपाङ्ग कहाते हैं इस का यह अभिप्राय है कि जो शाखा शाखान्तरव्याख्या सहित चार वेद चार उपवेद छः अङ्ग और उपाङ्ग हैं ये सब मिल के चौदह विद्या के ग्रन्थ हैं ॥

एतासां पठनाद्यथार्थं विदितत्त्वात्मानसवाग्ज्ञानक्रियाकाण्डसाक्षात्करणाच्च महाविद्वान् भवतीति निश्चेतव्यम् । एत ईश्वरोक्तावेदास्तद्व्याख्यानमया ब्राह्मणादयो ग्रन्था आर्षा वेदानुकूलाः सत्यधर्मविद्यायुक्ता युक्तिप्रमाणसिद्धा एव माननीयाः सन्ति । नैवैतेभ्यो भिन्नाः पक्षपातक्षुद्रविचारस्वल्पविद्याऽधर्माचरणप्रतिपादना अनाप्तोक्ता वेदार्थविरुद्धा युक्तिप्रमाणविरहा ग्रन्थाः केनापि कदाचिदङ्गीकार्य्या इति । ते च संक्षेपतः परिगण्यन्ते । रुद्रयामलादयस्तन्त्रग्रन्थाः ॥ ब्रह्मवैवर्त्तादीनि पुराणानि च । प्रक्षिप्तश्लोकरयागाथा मनुस्मृतेर्व्यतिरिक्ताः स्मृतयः । सारस्वतचन्द्रिकाकौमुद्यादयो व्याकरणाभासग्रन्थाः । मीमांसाशास्त्रादिविरुद्धनिर्णयसिन्ध्वादयो ग्रन्थाः ॥ वैशेषिकन्यायशास्त्रविरुद्धास्तर्कसंग्रहमारभ्य जागदीश्यन्ता न्यायाभासा ग्रन्थाः ॥ योगशास्त्रविरुद्धा हठप्रदीपिकादयो ग्रन्थाः ॥ साङ्ख्यशास्त्रविरुद्धा सांख्यतत्त्वकौमुद्यादयः । वेदान्तशास्त्रविरुद्धा वेदान्तसारपञ्चदशीयोगवासिष्ठादयो ग्रन्थाः । ज्योतिषशास्त्रविरुद्धा मुहूर्त्तचिन्तामण्यादयो मुहूर्त्तजन्मपत्रफलादेशविधायका ग्रन्थाः । तथैव श्रौतसूत्रविरुद्धास्त्रिकण्डिकास्नानसूत्रपरिशिष्टादयो ग्रन्थाः । मार्गशीर्षैकादशीकाशीस्थलजलसेवनयात्राकरणदर्शननामस्मरणस्नानजडमूर्त्तिपूजाकरणमन्त्रेणैव मुक्तिभावनपापनिवारणमाहात्म्यविधायकाः सर्वे ग्रन्थाः । तथैव पाषण्डसम्प्रदायिनिर्मितानि सर्वाणि पुस्तकानि च नास्तिकत्वविधायका ग्रन्थाश्चोपदेशाश्च ते सर्वे वेदादिशास्त्रविरुद्धा युक्तिप्रमाणपरीक्षाहीनाः सन्त्यतः शिष्टैरग्राह्या भवन्ति ॥

भावार्थ ॥

इन ग्रन्थों का तो पूर्वोक्त प्रकार से स्वतः परतः प्रमाण करना सुनना और पढ़ना सब को उचित है इनसे भिन्नों का नहीं क्योंकि जितने ग्रन्थ पक्षपाती क्षुद्रबुद्धि

कम विद्यावाले अधर्मात्मा असत्यवादियों के कहे वेदार्थ से विरुद्ध और युक्तिप्रमाणरहित हैं उन को स्वीकार करना योग्य नहीं आगे उन में से मुख्य २ मिथ्या ग्रन्थों के नाम भी लिखते हैं जैसे रुद्रयामल आदि तन्त्रग्रन्थ, ब्रह्मवैवर्त्त श्रीमद्भागवत आदि पुराण। सूर्य्यगाथा आदि उपपुराण। मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और उस से पृथक् सब स्मृतिग्रन्थ। व्याकरणविरुद्ध सारस्वत चन्द्रिका कौमुद्यादि ग्रन्थ। धर्मशास्त्रविरुद्ध निर्णयसिन्धु आदि तथा वैशेषिक न्यायशास्त्र विरुद्ध तर्कसंग्रह मुक्तावल्यादि ग्रन्थ हठदीपिका आदि ग्रन्थ जो कि योगशास्त्र से विरुद्ध हैं। तथा सांख्यशास्त्रविरुद्ध सांख्यतत्वकौमुदी आदि ग्रन्थ, वेदान्तशास्त्रविरुद्ध वेदान्तसार पञ्चदशी योगवासिष्ठादि ग्रन्थ। तथा ज्योतिषशास्त्र से विरुद्ध मुहूर्त्तचिन्तामण्यादि मुहूर्त्तजन्मपत्रफलादेशविधायक पुस्तक, ऐसे ही श्रौतसूत्रादिविरुद्ध त्रिकण्डिकास्नानविधायकादि सूत्र। तथा मार्गशीर्ष एकादश्यादिव्रत काश्यादि स्थल पुष्कर गङ्गादि जलयात्रा माहात्म्य विधायक पुस्तक तथा दर्शन नामस्मरण जड़मूर्त्तिपूजा करने से मुक्तिविधायक ग्रन्थ। इसी प्रकार पापनिवारणविधायक और ईश्वर के अवतार वा पुत्र अथवा दूतप्रतिपादक वेदविरुद्ध शैव शाक्त गाणपत वैष्णवादि मत के ग्रन्थ तथा नास्तिक मत के पुस्तक और उन के उपदेश ये सब वेद युक्ति प्रमाण और परीक्षा से विरुद्ध ग्रन्थ हैं। इसलिये सब मनुष्यों को उक्त अशुद्ध ग्रन्थ त्याग कर देने योग्य हैं॥

प्र०—तेषु बह्वनृतभाषणेषु किञ्चित्सत्यमप्यग्राह्यं भवितुमर्हति विषयुक्तान्नवत्

उ०—यथा परीक्षका विषयुक्तममृततुल्यमप्यन्नं परीक्ष्य त्यजन्ति तद्वदप्रमाणा ग्रन्थास्त्याज्या एव। कुतः। तेषां प्रचारेण वेदानां सत्यार्थाप्रवृत्तेस्तदप्रवृत्त्याऽसत्यार्थान्धकारापत्तेरविद्यान्धकारतया यथार्थज्ञानानुत्पत्तेश्चेति। अथ तन्त्रग्रन्थानां मिथ्यात्वं प्रदर्श्यते। तत्र पञ्चमकारसेवनेनैव मुक्तिर्भवति नान्यथेति। तेषां मतं यत्रेमे श्लोकाः सन्ति॥ मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च॥ एते पञ्चमकाराश्च मोक्षदा हि युगे युगे॥ १॥ पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले॥ पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥ २॥ प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः॥ निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् पृथक्॥ ३॥ मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिषु॥ लिङ्गं योन्यां तु संस्थाप्य जपेन्मन्त्रमतन्द्रितः॥ ४॥ मातरमपि न त्यजेत्। इत्याद्यनेकविधमल्पबुद्ध्यधर्माश्रेयस्कर्माभायाभिहितयुक्तिप्रमाणरहितं वेदादिभ्योऽत्यन्तविरुद्धमनार्षमश्लीलमुक्तं तच्छिष्टैर्न कदापि ग्राह्यमिति। मद्यादिसेवनेन बुद्ध्यादिभ्रंशान्मुक्तिस्तु न जायते किन्तु नरकप्राप्ति-

रेव भवतीत्यन्यत् सुगमं प्रसिद्धं च । एवमेव ब्रह्मवैवर्त्तादिषु मिथ्या पुराणसंज्ञासु किं च नवीनेषु मिथ्याभूता बह्व्यः कथा लिखितास्तासां स्थालीपुलाकन्यायेन स्वल्पाः प्रदर्श्यन्ते । तत्रैनमेका कथा लिखिता प्रजापतिर्ब्रह्मा चतुर्मुखो देहधारी स्वां सरस्वतीं दुहितरं मैथुनाय जग्राहेति । सा मिथ्यैवास्ति कुतः । अस्याः कथाया अलंकाराभिप्रायत्वात् । तद्यथा—

भाषार्थ ॥

कदाचित् इन ग्रन्थों के विषय में कोई ऐसा प्रश्न करे कि इन असत्य ग्रन्थों में भी जो २ सत्य बात हैं उन का ग्रहण करना चाहिये तो इस का उत्तर यह है कि जैसे अमृत तुल्य अन्न में विष मिला हो तो उस को छोड़ देते हैं क्योंकि उन से सत्यग्रहण की आशा करने से सत्यार्थप्रकाशक वेदादि ग्रन्थों का लोप हो जाता है इसलिये इन सत्यग्रन्थों के प्रचार के अर्थ उन मिथ्या ग्रन्थों को छोड़ देना अवश्य चाहिये । क्योंकि विना सत्यविद्या के ज्ञान कहां । विना ज्ञान के उन्नति कैसी और उन्नति के न होने से मनुष्य सदा दुःखसागर ही में डूबे रहते हैं । अब आगे उन पूर्व लिखित अप्रमाण ग्रन्थों के संक्षेप से पृथक् २ दोष भी दिखलाये जाते हैं देखो तन्त्र ग्रन्थों में ऐसे २ श्लोक लिखे हुए हैं कि (मद्यं मांसं०) मद्य पीना मांस मच्छी खाना मुद्रा अर्थात् सब के साथ इकट्ठे बैठ के रोटी बड़े आदि उड़ाना कन्या बहिन माता और पुत्रवधू आदि के साथ भी मैथुन कर लेना इन पांच मकारों के सेवन से सब की मुक्ति होना ॥ १ ॥ (पीत्वा पीत्वा०) किसी मकान के चार आलयों में मद्य के पात्र घर के एक कोने से खड़े २ मद्य पीने का आरम्भ करके दूसरे में जाना दूसरे से पीते हुए तीसरे में और तीसरे से चौथे में जाकर पीना यहांतक कि जब पर्य्यन्त पीते २ बेहोश होकर लकड़ी के समान भूमि में न गिर पड़े तब तक बराबर पीते ही चले जाना इस प्रकार वारंवार पीके अनेक बार उठ २ कर भूमि में गिर जाने से मनुष्य जन्ममरणादि दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है ॥ २ ॥ (प्रवृत्ते भैरवीचक्रे०) जब कभी वाममार्गी लोग रात्रि के समय किसी स्थान में इकट्ठे होते हैं तब उन में ब्राह्मण से लेके चाण्डाल पर्य्यन्त सब स्त्री पुरुष आते हैं फिर वे लोग एक स्त्री को नंगी करके वहां उस की योनि की पूजा करते हैं सो केवल इतना ही नहीं किन्तु कभी २ पुरुष को भी नंगा करके स्त्री लोग भी उस के लिङ्ग की पूजा करती हैं । तदनन्तर मद्य के पात्र में से एक पात्र अर्थात् प्याला भरके उस स्त्री और पुरुष दोनों को पिलाते हैं फिर उसी पात्र से सब वाममार्गी लोग क्रम से मद्य पीते और अन्नमांसादिक

खाते चले जाते हैं । यहांतक कि जब तक उन्मत्त न होजायं तब तक खाना पीना बंद नहीं करते हैं फिर एक स्त्री के साथ एक पुरुष अथवा एक के साथ अनेक भी मैथुन करलेते हैं जब उस स्थान से बाहर निकलते हैं तब कहते हैं कि अब हम लोग अलग २ वर्णवाले हो गये ॥ ३ ॥ (मातृयोनिं०) उन के किसी २ श्लोक में तो ऐसा लिखा है कि माता को छोड़ के सब स्त्रियों से मैथुन कर लेवे इस में कुछ दोष नहीं और (मातरमपि न त्यजेत्) किसी २ का यह भी मत है कि माता को भी न छोड़ना तथा किसी में लिखा है कि योनि में लिङ्ग प्रवेश करके आलस्य छोड़कर मन्त्र को जपे तो वह शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है इत्यादि अनेक अनर्थरूप कथा तन्त्रग्रन्थों में लिखी हैं वे सब वेदादिशास्त्र युक्ति प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण श्रेष्ठ पुरुषों के ग्रहण करने योग्य नहीं क्योंकि मद्यादि सेवन से मुक्ति तो कभी नहीं हो सकती परन्तु ज्ञान का नाश और दुःखरूप नरक की प्राप्ति दीर्घकाल तक होती है ॥ ४ ॥ इसी प्रकार ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थ जो कि व्यासजी के नाम से संप्रदायी लोगों ने रचलिये हैं उन का नाम पुराण कभी नहीं हो सकता किन्तु उन को नवीन कहना उचित है अब उन की मिथ्यात्वपरीक्षा के लिये कुछ कथा यहां लिखते हैं ॥

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद्दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत् ॥ तस्य यद्रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवत् ॥ ऐ० पं० ३ । कण्डि० ३३ । ३४ ॥

प्रजापतिर्वै सुपर्णो गरुत्मानेष सविता ॥ शत० कां० १० । अ० २ । ब्रा० ७ । कं० ४ ॥ **तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः ॥** निरु० अ० ४ । खं० २१ ॥ **द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् ॥ उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥ १ ॥** ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मंत्रः ३३ ॥ **शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यंगाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन् ॥ पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे ॥ २ ॥** ऋ० मं० ३ । सू० ३१ । मं० १ ॥

भाष्यम् ॥

सविता सूर्य्यः सूर्य्यलोकः प्रजापतिसंज्ञकोऽस्ति तस्य दुहिता कन्यावद् द्यौरुषा चास्ति । यस्माद्यदुत्पद्यते तत्तस्यापत्यवत् स तस्य पितृवदिति रूपकालङ्कारोक्तिः स च पिता तां रोहितां किञ्चिद्रक्तगुणप्राप्तां स्वां दुहितरं किरणैर्वीर्य्यवच्छीघ्रमभ्यध्यायत् प्राप्नोति । एवं प्राप्तः प्रकाशाख्यमादित्यं पुत्रमजीजनदुत्पादयति । अस्य पुत्रस्य मातृवदुषा पितृवत्सूर्य्यश्च । कुतः । तस्यामुषसि दुहितरि किरणरूपेण वीर्य्येण सूर्य्याद्दिवसस्य पुत्रस्योत्पन्नत्वात् यस्मिन् भूप्रदेशे प्रातः पञ्चघटिकायां रात्रौ स्थितायां किञ्चित्सूर्य्यप्रकाशेन रक्तता भवति तस्योषा इति संज्ञा । तयोः पितादुहित्रोः समागमादुत्कटदीप्तिः प्रकाशाख्य आदित्यपुत्रो जातः । यथा मातापितृभ्यां सन्तानोत्पत्तिर्भवति । तथैवात्रापि बोध्यम् । एवमेव पर्जन्यपृथिव्योः पितादुहितृवत् । कुतः पर्जन्याद्द्भ्यः पृथिव्या उत्पत्तेः । अतः पृथिवी तस्य दुहितृवदस्ति । स पर्जन्यो वृष्टिद्वारा तस्यां वीर्य्यवज्जलप्रक्षेपणेन गर्भं दधाति तस्माद् गर्भादोषध्यादयोऽपत्यानि जायन्ते । अयमपि रूपकालङ्कारः । अत्र वेदप्रमाणम् (द्यौर्मे पिता०) प्रकाशो मम पिता पालयितास्ति (जनिता) सर्वव्यवहाराणामुत्पादकः । अत्र द्वयोः सम्बन्धत्वात् । तत्रेयं पृथिवी माता मानकर्त्री द्वयोश्चम्वोः पर्जन्यपृथिव्योः सेनावदुत्तानयोरूर्ध्वतानयोरुत्तानस्थितयोरलङ्कारः ॥ अत्र पिता पर्जन्यो दुहितुः पृथिव्या गर्भं जलसमूहमाधात् । आ समन्ताद्धारयतीति रूपकालङ्कारो मन्तव्यः ॥ १ ॥ (शासद्वह्नि) अयमपि मन्त्रोऽस्यैवालङ्कारस्य विधायकोऽस्ति । वह्निशब्देन सूर्य्यो दुहिताऽस्य पूर्वोक्तैव स पिता स्वस्या उषसो दुहितुः सेकं किरणाख्यवीर्य्यस्थापनेन गर्भाधानं कृत्वा दिवसपुत्रमजनयदिति ॥ २ ॥ अस्यां परमोत्तमायां रूपकालङ्कारविधायिन्यां निरुक्तब्राह्मणेषु व्याख्यातायां कथायां सत्यामपि ब्रह्मवैवर्त्तादिषु भ्रान्त्या याः कथा अन्यथा निरूपितास्ता नैव कदाचित्केनापि सत्या मन्तव्या इति ॥

भाषार्थ ॥

नवीन ग्रन्थकारों ने एक यह कथा भ्रान्ति से मिथ्या करके लिखी है जो कि प्रथम रूपकालङ्कार की थी (प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरम०) अर्थात् यहां प्रजापति कहते हैं सूर्य्य को जिस की दो कन्या एक प्रकाश और दूसरी उषा क्योंकि जो जिससे उत्पन्न

होता है वह उसका ही संतान कहाता है इसलिये उषा जो कि तीन चार घड़ी रात्रि शेष रहने पर पूर्व दिशा में रक्तता दीख पड़ती है वह सूर्य्य की किरण से उत्पन्न होने के कारण उसकी कन्या कहाती है उन में से उषा के सन्मुख जो प्रथम सूर्य्य की किरण जाके पड़ती है वही वीर्य्यस्थापन के समान है उन दोनों के समागम से पुत्र अर्थात् दिवस उत्पन्न होता है प्रजापति और सविता ये शतपथ में सूर्य्य के नाम हैं तथा निरुक्त में भी रूपकालङ्कार की कथा लिखी है कि पिता के समान पर्जन्य अर्थात् जलरूप जो मेघ है उस की पृथिवी रूप दुहिता अर्थात् कन्या है क्योंकि पृथिवी की उत्पत्ति जल से ही है जब वह उस कन्या में वृष्टिद्वारा जलरूप वीर्य को धारण करता है तब उससे गर्भ रहकर ओषध्यादि अनेक पुत्र उत्पन्न होते हैं इस कथा का मूल ऋग्वेद है कि (द्यौर्मे पिता०) द्यौ जो सूर्य्य का प्रकाश है सो सब सुखों का हेतु होने से मेरे पिता के समान और पृथिवी बड़ा स्थान और मान्य का हेतु होने से मेरी माता के तुल्य है (उत्तान०) जैसे ऊपर नीचे वस्त्र की दो चांदनी तान देते हैं अथवा आमने सामने दो सेना होती हैं इसी प्रकार सूर्य्य और पृथिवी अर्थात् ऊपर की चांदनी के समान सूर्य्य और नीचे के बिछौने के समान पृथिवी है तथा जैसे दो सेना आमने सामने खड़ी हों इसी प्रकार सब लोगों का परस्पर सम्बन्ध है इस में योनि अर्थात् गर्भस्थापन का स्थान पृथिवी और गर्भस्थापन करने वाला पति के समान मेघ है वह अपने विन्दुरूप वीर्य्य के स्थापन से उस को गर्भधारण कराने से ओषध्यादि अनेक सन्तान उत्पन्न करता है कि जिनसे सब जगत् का पालन होता है ॥ १ ॥ (शासद्वह्निः०) सब के वहन अर्थात् प्राप्ति कराने वाले परमेश्वर ने मनुष्यों की ज्ञानवृद्धि के लिये रूपकालङ्कार कथाओं का उपदेश किया है । तथा वही (ऋतस्य) जल का धारण करने वाला (नप्त्यङ्गा०) जगत् में पुत्र पौत्रादि का पालन और उपदेश करता है (पिता यत्र दुहितुः०) जिस सुखरूप व्यवहार में स्थित होके पिता दुहिता में वीर्य्य स्थापन करता है जैसा कि पूर्व लिख आये हैं इसी प्रकार यहां भी जान लेना । जिसने इस प्रकार के पदार्थ और उन के सम्बन्ध रचे हैं उस को हम नमस्कार करते हैं ॥ २ ॥ जो यह रूपकालङ्कार की कथा अच्छी प्रकार वेद ब्राह्मण और निरुक्तादि सत्यग्रन्थों में प्रसिद्ध है इस को ब्रह्मवैवर्त्त श्रीमद्भागवतादि मिथ्या ग्रन्थों में भ्रान्ति से बिगाड़ के लिख दिया है तथा ऐसी २ अन्य कथा भी लिखी हैं उन सब को विद्वान् लोग मन से त्याग के सत्य कथाओं को कभी न भूलें ॥

तथा च कश्चिद्देहधारीन्द्रो देवराज आसीत् स गोतमस्त्रियां जारकर्म कृतवान् तस्मै गोतमेन शापो दत्तस्त्वं सहस्रभगो भवेति। तस्यै अहल्यायै शापो दत्तस्त्वं पाषाणशिला भवेति। तस्या रामपादरजःस्पर्शेन शापस्य मोक्षणं जातमिति। तत्रेदृश्यो मिथ्यैव कथाः सन्ति। कुतः। आसामप्यालङ्कारार्थत्वात् ॥ तद्यथा—

इन्द्रागच्छेति। गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जारेति। तद्यान्येवास्य चरणानि तैरेवैनमेतत्प्रमुमोदयिषति ॥ शत० कां० ३। प्र० ३। अ० ३। ब्रा० १। कं० १८ ॥ रेतः सोमः ॥ श० कां० ३। अ० ३। ब्रा० ५। कं० १ ॥ रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते ॥ निरु० अ० १२। खं० ११ ॥ सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति सोपि गौरुच्यते ॥ निरु० अ० २। खं० ६ ॥ जार आभगः। जार इव भगमादित्योत्र जार उच्यते रात्रेर्जरयिता ॥ निरु० अ० ३। खं० १६ ॥ एष एवेन्द्रो य एष तपति ॥ श० कां० १। अ० ६। ब्रा० ३। कं० १८ ॥

भाष्यम् ॥

इन्द्रः सूर्यो य एष तपति भूमिस्थान्पदार्थांश्च प्रकाशयति। अस्येन्द्रेति नाम परमैश्वर्यप्राप्तेर्हेतुत्वात्। स अहल्याया जारोस्ति। सा सोमस्य स्त्री तस्य गोतमेति नाम। गच्छतीति गौरतिशयेन गौरिति गोतमश्चन्द्रः तयोः स्त्रीपुरुषवत् सम्बन्धोस्ति। रात्रिरहल्या कस्मादहर्दिनं लीयतेऽस्यां तस्माद्रात्रिरहल्योच्यते। स चन्द्रमाः सर्वाणि भूतानि प्रमोदयति स्वस्त्रियाऽहल्यया सुखयति। अत्र स सूर्य इन्द्रो रात्रेरहल्याया गोतमस्य चन्द्रस्य स्त्रिया जार उच्यते। कुतः। अयं रात्रेर्जरयिता। जृष् वयोहानाविति धात्वर्थोऽभिप्रेतोस्ति। रात्रेरायुषो विनाशक इन्द्रः सूर्य एवेति मन्तव्यम्। एवं सद्विद्योपदेशार्थालङ्कारायां भूषणरूपायां सच्छास्त्रेषु प्रणीतायां कथायां सत्यां या नवीनग्रन्थेषु पूर्वोक्ता मिथ्या कथा लिखितास्ति सा केनचित्कदापि नैव मन्तव्या ह्येतादृश्योऽन्याश्चापि ॥

भाषार्थ ॥

अब जो दूसरी कथा इन्द्र और अहल्या की है कि जिसको मूढ़ लोगों ने अनेक प्रकार बिगाड़ के लिखा है सो उस को ऐसे मान रक्खा है कि देवों का राजा इन्द्र देवलोक में देहधारी देव था वह गोतम ऋषि की स्त्री अहल्या के साथ जारकर्म किया करता था एक दिन जब उन दोनों को गोतम ने देख लिया तब इस प्रकार शाप दिया कि हे इन्द्र तू हजारभगवाला होजा तथा अहल्या को शाप दिया कि तू पाषाणरूप होजा परन्तु जब उन्होंने गोतम की प्रार्थना की कि हमारे शाप का मोक्षण कैसे वा कब होगा तब इन्द्र से तो कहा कि तुम्हारे हजार भगके स्थान में हजार नेत्र हो जायं और अहल्या को वचन दिया कि जिस समय रामचन्द्र अवतार लेकर तेरे पर चरण अपना लगावेंगे उस समय तू फिर अपने स्वरूप में आजावेगी इस प्रकार पुराणों में यह कथा बिगाड़ कर लिखी है सत्य ग्रन्थों में ऐसे नहीं है तद्यथा (इन्द्रागच्छेति) अर्थात् उन में इस रीति से है कि सूर्य्य का नाम इन्द्र रात्रि का अहल्या तथा चन्द्रमा का गोतम है यहां रात्रि और चन्द्रमा का स्त्री पुरुष के समान रूपकालङ्कार है चन्द्रमा अपनी स्त्री रात्रि से सब प्राणियों को आनन्द करता है और इस रात्रि का जार आदित्य है अर्थात् जिस के उदय होने से रात्रि अन्तर्धान हो जाती है और जार अर्थात् यह सूर्य ही रात्रि के वर्त्तमान रूप शृङ्गार को बिगाड़ने वाला है इसलिये यह स्त्रीपुरुष का रूपकालङ्कार बांधा है कि जैसे स्त्रीपुरुष मिलकर रहते हैं वैसे ही चन्द्रमा और रात्रि भी साथ २ रहते हैं। चन्द्रमा का नाम गोतम इसलिये है कि वह अत्यन्त वेग से चलता है और रात्रि को अहल्या इसलिये कहते हैं कि उस में दिन लय हो जाता है तथा सूर्य्य रात्रि को निवृत्त कर देता है इसलिये वह उसका जार कहाता है इस उत्तम रूपकालङ्कार विद्या को अल्पबुद्धि पुरुषों ने बिगाड़ के सब मनुष्यों में हानिकारक फल धर दिया है इसलिये सब सज्जन लोग पुराणोक्त मिथ्या कथाओं का मूल से ही त्याग कर दें ॥

एवमेवेन्द्रः कश्चिद्देहधारी देवराज आसीत्तस्य त्वष्टुरपत्येन वृत्रासुरेण सह युद्धमभूत्। वृत्रासुरेणेन्द्रो निगलितोऽतो देवानां महद्भयमभूत्। ते विष्णुशरणं गता विष्णुरुपायं वर्णितवान् मया प्रविष्टेन समुद्रफेनेनायं हतो भविष्यतीति। ईदृश्यः प्रमत्तगीतवत् प्रलपिताः कथाः पुराणाभासादिषु नवीनेषु ग्रन्थेषु मिथ्यैव सन्तीति भद्रैर्विद्वद्भिर्मन्तव्यम्। कुतः। एतासामप्यलङ्कारवत्त्वात्। तद्यथा ॥

इन्द्र॑स्य॒ नु वी॒र्या॑णि॒ प्र वो॑चं॒ यानि॑ च॒कार॑ प्रथ॒मानि॑ व॒ज्री । अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒ प्र व॒क्षणा॑ अभिन॒त्पर्व॑तानाम् ॥ १ ॥ अह॒न्नहि॒म्पर्व॑ते शिश्रिया॒णं त्वष्टा॑स्मै॒ वज्रं॑ स्व॒र्यं॑ ततक्ष ॥ वा॒श्रा इ॑व धे॒नवः॒ स्यन्द॑माना॒ अञ्जः॑ समु॒द्रमव॑ जग्मु॒रापः॑ ॥ २ ॥ ऋ० मं० १ । सू० ३२ । मं० १ । २ ॥

भाष्यम् ॥

इन्द्रस्य सूर्य्यस्य परमेश्वरस्य वातानि वीर्य्याणि पराक्रमानहं प्रवोचं कथयामि यानि प्रथमानि पूर्वं (नु) इति वितर्के वज्री चकार (वज्री) वज्रः प्रकाशः प्राणो वास्यास्तीति । वीर्य्यं वै वज्रः ॥ श० कां० ७ । अ० ४ ॥ स अहिं मेघमहन् हतवान् तं हत्वा पृथिव्यामनुपश्चादपस्ततर्द विस्तारितवान् । ताभिरद्भिः प्रवक्षणा नदीस्ततर्द जलप्रवाहेण हिंसितवान् । तटादीनां च भेदं कारितवानस्ति कीदृश्यस्ता नद्यः पर्वतानां मेघानां सकाशादुत्पद्यमानाः यज्जलमन्तरिक्षाद्धिंसित्वा निपात्यते तद् वृत्रस्य शरीरमेव विज्ञेयम् ॥ १ ॥ अग्रे मन्त्राणां संक्षेपतोऽर्थो वर्ण्यते (त्वष्टा) सूर्य्यः (अहन्नहिं) तं मेघमहन् हतवान् । कथं हतवानित्याह (अस्मै) अहये वृत्रासुराय मेघाय (पर्वते शिश्रियाणम्) मेघे श्रितम् (स्वर्य्यम्) प्रकाशमयम् (वज्रम्) स्वकिरणजन्यविद्युतं प्रक्षिपति । येन वृत्रासुरं मेघं (ततक्ष) कणीकृत्य भूमौ पातयति । पुनर्भूमौ गतमपि जलं कणीकृत्याकाशं गमयति । ता आपः समुद्रं (अवजग्मुः) गच्छन्ति कथम्भूता आपः (अञ्जः) व्यक्ताः (स्यन्दमानाः) चलन्त्यः । का इव वाश्रावत्समिच्छवो गाव इव । आप एव वृत्रासुरस्य शरीरम् । यदिदं वृत्रशरीराख्यजलस्य भूमौ निपातनं तदिदं सूर्यस्य स्तोतुमर्हं कर्मास्ति ॥ २ ॥

भाषार्थ ॥

तीसरी इन्द्र और वृत्रासुर की कथा है इस को भी पुराणवालों ने ऐसा धर के लौटा है कि वह प्रमाण और युक्ति इन दोनों से विरुद्ध जापड़ी है देखो कि त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर ने देवों के राजा इन्द्र को निगल लिया तब सब देवता लोग बड़े भययुक्त होकर विष्णु के समीप में गये और विष्णु ने उस के मारने का उपाय बतलाया

कि मैं समुद्र के फेन में प्रविष्ट होऊंगा तुम लोग उस फेन को उठा के वृत्रासुर को मारना वह मर जायगा यह पागलों की सी बनाई हुई पुराणग्रन्थों की कथा सब मिथ्या है श्रेष्ठ लोगों को उचित है कि इन को कभी न मानें देखो सत्यग्रन्थों में यह कथा इस प्रकार से लिखी है कि (इन्द्रस्य नु०) यहां सूर्य्य का इन्द्र नाम है उस के किये हुए पराक्रमों को हम लोग कहते हैं। जो कि परमैश्वर्य्य होने का हेतु अर्थात् बड़ा तेजधारी है वह अपनी किरणों से वृत्र अर्थात् मेघ को मारता है जब वह मरके पृथिवी में गिर पड़ता है तब अपने जलरूप शरीर को सब पृथिवी में फैला देता है फिर उससे अनेक बड़ी २ नदी परिपूर्ण होके समुद्र में जा मिलती हैं कैसी वे नदी हैं कि पर्वत अर्थात् मेघों से उत्पन्न होके जलही बहने के लिये होती हैं जिस समय इन्द्र मेघरूप वृत्रासुर को मार के आकाश से पृथिवी में गिरा देता है तब वह पृथिवी में सो जाता है ॥ १ ॥ फिर वही मेघ आकाश में से नीचे गिरके पर्वत अर्थात् मेघमण्डल का पुनः आश्रय लेता है जिसको सूर्य्य अपनी किरणों से फिर हनन करता है जैसे कोई लकड़ी को छील के सूक्ष्म कर देता है वैसे ही वह मेघ को भी बिन्दु २ करके पृथिवी में गिरादेता है और उस के शरीररूप जल सिमट २ कर नदियों के द्वारा समुद्र को ऐसे प्राप्त होते हैं कि जैसे अपने बछड़ों को गाय दौड़के मिलती हैं ॥ २ ॥

अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन । स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः ॥ ३ ॥ अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन्पुरुत्रा वृत्रो अशयद्व्यस्तः ॥ ४ ॥ ऋ० मण्ड० १ । सू० ३२ । मं० ५ । ७ ॥

भाष्यम् ॥

अहिरिति मेघनामसु पठितम् ॥ निघं० अ० १ । खं० १० ॥ इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुस्तत्को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः । वृत्रं जघ्निवानपववार तद्वृत्रो वृणोतेर्वा वर्त्ततेर्वा वर्धतेर्वा यदवृणोत्तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते यदवर्त्तत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते यदवर्धत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते ॥ निरु० अ० २ । खं० १७ ॥ (इन्द्रः)

सूर्य्य (वज्रेण) विद्युत् किरणाख्येन (महता व०) तीक्ष्णतरेण (वृत्रम्) मेघम् (वृत्रतरम्) अत्यन्तबलवन्तम् (व्यंसम्) छिन्नस्कन्धच्छेदितघनजालं यथास्यात्तथा (अहन्) हतवान् ॥ ३ ॥ स (अहिः) मेघः (कुलिशेन) वज्रेण (विवृक्णा) छिन्नानि स्कन्धांसीव (पृथिव्या उपपृक् . यथा कस्यचिन्मनुष्यादेरसिना छिन्नं सदङ्गं पृथिव्यां पतति तथैव स मेघोऽपि (अशयत्) छन्दसि लुङ् लङ् लिट इति सामान्यकाले लङ् पृथिव्यां शयान इवेन्द्रेण सूर्य्येणापादहस्तो व्यस्तो भिन्नाङ्गकृतो वृत्रो मेघो भूमावशयत् शयनं करोतीति ॥ ४ ॥ निघण्टौ वृत्र इति मेघस्य नाम । इन्द्रः शत्रुर्यस्य स इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य निवारकः । त्वष्टा सूर्य्यस्तस्यापत्यमसुरो मेघः । कुतः । सूर्य्यकिरणद्वारैव रसजलसमुदायभेदने यत् कणीभूतं जलमुपरि गच्छति तत्पुनर्मिलित्वा मेघरूपं भवति तस्यैवासुर इति संज्ञात्वात् । पुनश्च तं सूर्य्यो हत्वा भूमौ निपातयति । स च भूमिं प्रविशति नदीर्गच्छति । तद्द्वारा समुद्रमयनं कृत्वा तिष्ठति पुनश्चोपरि गच्छति । तं वृत्रमिन्द्रः सूर्य्यो जघ्निवानपववार निवारितवान् । वृत्रार्थो वृणोतेः स्वीकरणीयः । मेघस्य यद्वृत्रत्वमावरकत्वं तद्वर्त्तमानत्वाद्वर्धमानत्वाच्च सिद्धमिति विज्ञेयम् ॥

भावार्थ ॥

जब सूर्य उस अत्यन्त गर्जित मेघ को छिन्न भिन्न करके पृथिवी में ऐसे गिरा देता है कि जैसे कोई किसी मनुष्य आदि के शरीर को काट २ कर गिराता है तब वह वृत्रासुर भी पृथिवी पर गिरा हुआ मृतक के समान शयन करने वाला होजाता है ॥ ३ ॥ निघण्टु में मेघका नाम वृत्र है । (इन्द्रशत्रु०) वृत्र का शत्रु अर्थात् निवारक सूर्य्य है सूर्य्य का नाम त्वष्टा है उस का सन्तान मेघ है क्योंकि सूर्य्य की किरणों के द्वारा जल कण २ होकर ऊपर को जाकर वहां मिल के मेघरूप हो जाता है तथा मेघ का वृत्र नाम इसलिये है कि (वृत्रो वृणोतेः०) वह स्वीकार करने योग्य और प्रकाश का आवरण करने वाला है ॥

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम् । वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥ ५ ॥ नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां मिहमकिरद्ध्रादुनिं च ॥ इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा विजिग्ये ॥ ६ ॥ ऋ० मं० १ । सू० ३२ । मं० १० । १३ ॥

भाष्यम् ॥

इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति । वृत्रो ह वाऽइदꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये । यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिदꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम ॥ ४ ॥ तमिन्द्रो जघान । स हतः पूतिः सर्वत एवाऽपोऽभिप्रसुस्राव सर्वत इव ह्ययꣳ समुद्रस्तस्मादु हैका आपो बीभत्सां चक्रिरे ता उपर्युपर्यतिपुपुविरेऽत इमे दर्भास्ता हैता अनापूयिता आपोऽस्ति वाऽइतरासु संसृष्टमिव यदेना वृत्रः पूतिरभिप्रास्रवत्तदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्त्यथ मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति तस्माद्वा एताभ्यामुत्पुनाति ॥ ५ ॥ श० कां० १ । अ० १ । ब्रा० ३ । कण्डि० ४ । ५ ॥ तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः सूर्य्यो द्युस्थान इति । निरु० अ० ७ । खं० ५ ॥ (अतिष्ठन्तीनाम्०) वृत्रस्य शरीरमापो दीर्घं तमश्चरन्ति । अत एवेन्द्रशत्रुर्वृत्रो मेघो भूमावशयत् । आ समन्ताच्छेते ॥ ५ ॥ (नास्मै विद्युत्०) वृत्रेण मायारूपप्रयुक्ता विद्युत्तन्यतुश्चास्मै सूर्यायेन्द्राय न सिषेध निषेद्धुं न शक्नोति । अहिर्मेघ इन्द्रः सूर्यश्च द्वौ परस्परं युयुधाते । यदा वृत्रो वर्धते तदा सूर्यप्रकाशं निवारयति । यदा सूर्य्यस्य तापरूपसेना वर्धते तदा वृत्रं मेघं निवारयति । परन्तु मघवा इन्द्रः सूर्य्यस्तं वृत्रं मेघं विजिग्ये जितवान् भवति । अन्ततोऽस्यैव विजयो भवति न मेघस्येति ॥ ६ ॥ (वृत्रो ह वा इति०) स वृत्र इदं सर्वं विश्वं वृत्वाऽऽवृत्य शिश्ये शयनं करोति । तस्माद्वृत्रो नाम । तं वृत्रं मेघमिन्द्रः सूर्य्यो जघान हतवान् । स हतः सन् पृथिवीं प्राप्य सर्वतः काष्ठतृणादिभिः संयुक्तः पूतिर्दुर्गन्धो भवति । स पुराकाशस्थो भूत्वा सर्वतोऽपोऽभिसुस्राव तासां वर्षणं करोति । अयं हतो वृत्रः समुद्रं प्राप्य तत्रापि भयङ्करो भवति । अत एव तत्रस्था आपो भयप्रदा भवन्ति । इत्थं पुनः पुनस्तास्ता नदीसमुद्रपृथिवीगता आपः सूर्यद्वारेणोपर्य्युपर्य्यन्तरिक्षं पुपुविरे गच्छन्ति ततोऽभिवर्षन्ति च । ताभ्य एवेमे दर्भाद्योषधिसमूहा जायन्ते । यौ वाय्विन्द्रौ सूर्यपवनावन्तरिक्षस्थानौ सूर्यश्च द्युस्थाने अर्थात् प्रकाशस्थः । एवं सत्यशास्त्रेषु परमोत्तमायामलङ्कारयुक्तायां कथायां सत्यां ब्रह्मवैवर्त्तादिनवीनग्रन्थेषु पुराणाभासेष्वेता अन्यथा कथा उक्तास्ताः शिष्टैः कदाचिन्नैवाङ्गीकर्त्तव्या इति ॥

भाषार्थ ॥

(अतिष्ठन्तीनाम्) वृत्र के इस जलरूप शरीर से बड़ी २ नदियां उत्पन्न हो के

अगाध समुद्र में जाकर मिलती हैं और जितना जल तलाव वा कूप आदि में रहजाता है वह मानो पृथिवी में शयन कर रहा है ॥ ५ ॥ (नास्मै०) अर्थात् वह वृत्र अपने बिजुली और गर्जनरूप भय से भी इन्द्र को कभी नहीं जीत सकता इस प्रकार अलङ्काररूप वर्णन से इन्द्र और वृत्र ये दोनों परस्पर युद्ध के समान करते हैं अर्थात् जब मेघ बढ़ता है तब तो वह सूर्य्य के प्रकाश को हटाता है और जब सूर्य्य का ताप अर्थात् तेज बढ़ता है तब वह वृत्र नाम मेघ को हटा देता है परन्तु इस युद्ध के अन्त में इन्द्र नाम सूर्य्य ही का विजय होता है ॥ ६ ॥ (वृत्रो ह वा०) जब २ मेघ वृद्धि को प्राप्त होकर पृथिवी और आकाश में विस्तृत हो के फैलता है तब २ उसको सूर्य्य हनन करके पृथिवी में गिरा दिया करता है पश्चात् वह अशुद्ध भूमि, सड़े हुए वनस्पति, काष्ठ, तृण तथा मलमूत्रादि युक्त होने से कहीं २ दुर्गन्धरूप भी हो जाता है फिर उसी मेघ का जल समुद्र में जाता है तब समुद्र का जल देखने में भयंकर मालूम पड़ने लगता है इसी प्रकार वारंवार मेघ वर्षता रहता है (उपर्य्युपर्य्यन्त०) अर्थात् सब स्थानों से जल उड़ २ कर आकाश में बढ़ता है वहां इकट्ठा होकर फिर २ वर्षा किया करता है उसी जल और पृथिवी के संयोग से ओषध्यादि अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं उसी मेघ को वृत्रासुर के नाम से बोलते हैं वायु और सूर्य्य का नाम इन्द्र है वायु अन्तरिक्ष में और सूर्य्य प्रकाशस्थान में स्थित है इन्हीं वृत्रासुर और इन्द्र का आकाश में युद्ध हुआ करता है कि जिस के अन्त में मेघ का पराजय और सूर्य्य का विजय निःसंदेह होता है इस सत्य ग्रन्थों कि अलङ्काररूप कथा को छोड़ के छोकरों के समान अल्पबुद्धि वाले लोगों ने ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में मिथ्या कथा लिख रक्खी हैं उनको श्रेष्ठ पुरुष कभी न मानें ॥

एवमेव नवीनेषु ग्रन्थेषूक्ता अनेकविधा देवासुरसङ्ग्रामकथा अन्यथैव सन्ति ता अपि बुद्धिमद्भिर्मनुष्यैरितरैश्च नैव मन्तव्याः । कुतः । तासामप्यलङ्कारयोगात् । तद्यथा । देवासुराः संयत्ता आसन् । १ । श० कां० ११ । अ० २ । ब्रा० ६ । कं० १ ॥ असुरानभिभवेम देवा असुरा असुरता. स्थानेष्वस्ताः स्थानेभ्य इति वापि वासुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति तेन तद्वन्तः . सोर्देवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वमसोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वमिति विज्ञायते ॥ निरु० अ० ३ । खं० ८ ॥ देवानामसुरत्वमेकत्वं प्रज्ञावत्त्वं वा नवत्त्वं वापि वासुरिति प्रज्ञानामास्यत्यनर्थानस्तादचास्यामर्था असुरत्वमादिलुप्तम् ॥ निरु० अ० १० । खं० ३४ ॥ सोऽचन्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः । स आत्मन्येव प्रजातिमधत्त स आस्येनैव

देवानसृजत ते देवा दिवमभिपद्यासृज्यन्त तद्देवानां देवत्वं यद्दिवमभिपद्यासृज्यन्त तस्मै ससृजानाय दिवेवास तद्वेव देवानां देवत्वं यदस्मै ससृजानाय दिवेवास । अथ योऽयमवाङ्प्राणः । तेनासुरानसृजत त इमामेव पृथिवीमभिपद्यासृज्यन्त तस्मै ससृजानाय तम इवास । सोऽवेत् । पाप्मानं वाऽअसृक्षि यस्मै मे ससृजानाय तम इवाभूदिति तांस्तत एव पाप्मना विध्यत्ते तत एव पराभवंस्तस्मादाहुर्नैत-दस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यत इतिहासे त्वत्ततो ह्येव तान् प्रजापतिः पाप्मना विध्यत्ते तत एव पराभवन्निति । तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् । न त्वं युयुत्से कतमच्च नाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्च नास्ति । मायेत्सा ते यानि यु-द्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्स इति । स यदस्मै देवान्त्ससृजानाय दिवे-वासतदहरकुरुताथ यदस्मा असुरान्त्ससृजानाय तम इवास तां रात्रिमकुरुत ते अहोरात्रे । स ऐक्षत प्रजापतिः ॥ श० कां० ११ । अ० १ । ब्रा० ६ । कं० ७ । ८ । ९ । १० । ११ । १२ ॥ देवाश्च वा असुराश्च । उभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दायमुपेयुः ॥ श० कां० १ । अ० ७ । ब्रा० ५ । कं० २२ ॥ द्वया ह प्राजापत्याः । देवाश्चासुराश्च ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः । यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा ॥ श० कां० १४ । अ० ३ । ब्रा० ४ । कं० १ । ४ ॥ ऊर्गिति देवा मायेत्यसुराः ॥ श० कां० १० । अ० ५ । ब्रा० ६ । कं० २० ॥ प्राणा देवाः ॥ श० कां० ६ । अ० २ । ब्रा० ३ । कं० १५ ॥ प्राणो वा असुस्तस्यैषा माया ॥ श० कां० ६ । अ० ६ । ब्रा० ४ । कं० ६ ॥ (देवासुराः०) देवा असुराश्च संयत्ता सन्ना युद्धं कर्त्तुं तत्परा आसन् भवन्तीति शेषः । के ते देवासुरा इत्यत्रोच्यते । विद्वाꣳसो हि देवा ॥ श० कां० ३ । अ० ७ । ब्रा० ६ । कं० १० ॥ हीति निश्चयेन विद्वांसो देवास्तद्विपरीता अविद्वांसोऽसुराः । ये देवास्ते विद्यावत्त्वात्प्रकाशवन्तो भवन्ति । ये अविद्वांसस्ते खल्वविद्यावत्त्वाज् ज्ञानरहितान्धकारिणो भवन्ति । ए-षामुभयेषां परस्परं युद्धमिव वर्त्ततेऽयमेव देवासुरसङ्ग्रामः । द्वयं वा इदं न तृ-तीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः । इदमहमनृतात्सत्य-मुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति । स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्ध वै देवा व्रतं च-रन्ति यत्सत्यं तस्मात्ते यशो यशो ह भवति । य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति मनो ह वै देवा मनुष्यस्य ॥ श० कां० १ । अ० १ । ब्रा० १ । कं० ४ । ५ । ७ ॥ ये सत्य-वादिनः सत्यमानिनः सत्यकारिणश्च ते देवाः । ये चानृतवादिनोऽनृतकारिणो-

ऽनृतमानिनश्च ते मनुष्या असुरा एव । तयोरपि परस्परं विरोधो युद्धमिव भवत्येव मनुष्यस्य यन्मनस्तद्देवाः प्राणा असुरा एतयोरपि विरोधो भवति । मनसा विज्ञानबलेन प्राणानां निग्रहो भवति प्राणबलेन मनसश्चेति युद्धमिव प्रवर्त्तते । प्रकाशाख्यात्सांर्देवान्मनःषष्ठानीन्द्रियाणीश्वरोऽसृजत । अतस्ते प्रकाशकारकाः । असोरन्धकाराख्यात्पृथिव्यादेरसुरान्पञ्चकर्मेन्द्रियाणि प्राणांश्चासृजत । एतयोरपि प्रकाशाप्रकाशसाधकतमत्वानुरोधेन सङ्ग्रामवदनयोर्वर्त्तमानमस्तीति विज्ञेयम् (सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार०) प्रजाकामः परमेश्वर आस्येनाग्निपरमाणुमयात् कारणात् सूर्य्यादीन्प्रकाशवतो लोकान् मुख्यगुणकर्मभ्यो यानसृजत ते देवा अभवन् । दिवं प्रकाशं परमेश्वरप्रेरितमभिपद्य प्रकाशादिव्यवहारानसृज्यन्त । तदेव देवानां देवत्वं यतस्ते दिवि प्रकाशे रमन्ते । अथैत्यनन्तरमर्वाचीनो योयं प्राणो वायुः पृथिव्यादिलोकश्चेश्वरेण सृष्टस्ते नैवासुरान्प्रकाशरहितानसृजत सृष्टवानस्ति । ते पृथिवीमभिपद्यौषध्यादीन्पदार्थानसृज्यन्त । ते सर्वे सकाशगाः प्रकाशरहितास्तयोस्तमःप्रकाशवतोरन्योन्यं विरोधो युद्धमिव प्रवर्त्तते तस्मादिदमपि देवासुरं युद्धमिति विज्ञेयम् । तथैव पुण्यात्मा मनुष्यो देवोस्ति । पापात्मा ह्यसुरश्च । एतयोरपि परस्परविरुद्धस्वभावाद्युद्धमिव प्रतिदिनं भवति तस्मादेतयोरपि देवासुरसङ्ग्रामोस्तीति विज्ञेयम् । एवमेव दिनं देवो रात्रिरसुरः एतयोरपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्त्तते । त इमे उभये पूर्वोक्ताः प्रजापतेः परमेश्वरस्य पुत्रा इव वर्त्तन्ते अत एव ते परमेश्वरस्य पदार्थानुपेताः सन्ति । तेषां मध्येऽसुराः प्राणादयो ज्येष्ठाः सन्ति । वायोः पूर्वोत्पन्नत्वात्प्राणानां तन्मयत्वाच्च । तथैव जन्मतो मनुष्याः सर्वेऽविद्वांसो भवन्ति । पुनर्विद्वांसश्च । तथैव वायोः सकाशादग्नेरुत्पत्तिः प्रकृतेरिन्द्रियाणां च तस्मादसुरा ज्येष्ठा देवाश्च कनिष्ठाः । एकत्र देवाः सूर्यादयो ज्येष्ठाः पृथिव्यादयोऽसुराः कनिष्ठाश्च ते सर्वे प्रजापतेः सकाशादुत्पन्नत्वात्तस्यापत्यानीव सन्तीति विज्ञेयम् । एषामपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्त्तत इति ज्ञातव्यम् । ये प्राणपोषकाः स्वार्थसाधनतत्परा मायाविनः कपटिनो मनुष्यास्ते ह्यसुराः । ये च परोपकारकाः परदुःखभञ्जना निष्कपटिनो धार्मिका मनुष्यास्ते देवाश्च विज्ञेयाः एतयोरपि परस्परं विरोधात्सङ्ग्राम इव भवति । इत्यादिप्रकारकं देवासुरं युद्धमिति बोध्यम् । एवं परमोत्तमायां विद्याविज्ञापनार्थायां रूपकालङ्कारेणान्वितायां सत्यशास्त्रेषूक्तायां कथायां सत्यां व्यर्थपुराणसंज्ञकेषु नवीनेषु तन्त्रादिषु ग्रन्थेषु च या मिथ्यैव कथा वर्णिताः सन्ति विद्वद्भिर्नैवैताः कथाः कदाचिदपि सत्या मन्तव्या इति ॥

भाषार्थ ॥

जो चौथी देवासुर संग्राम की कथा रूपकालङ्कार की है इस को भी विना जाने प्रमादी लोगों ने बिगाड़ दिया है । जैसे एक दैत्यों की सेना थी कि जिन का शुक्राचार्य्य पुरोहित था और वे दक्षिण देश में रहे थे तथा दूसरी देवों की सेना थी कि जिन का राजा इन्द्र । सेनापति अग्नि और पुरोहित बृहस्पति था उन देवों के विजय कराने के लिये आर्य्यावर्त्त के राजा भी जाया करते थे असुर लोग तप करके ब्रह्मा विष्णु और महादेवादि से वर मांग लेते थे और उन के मारने के लिये विष्णु अवतार धारण करके पृथिवी का भार उतारा करते थे यह सब पुराणों की गप्पें व्यर्थ जानकर छोड़ देना और सत्य ग्रन्थों की कथा जो नीचे लिखते हैं उन का ग्रहण करना सब को उचित है तद्यथा (देवासुराः सं०) देव और असुर अपने २ थाने में सजकर सब दिन युद्ध किया करते हैं तथा इन्द्र और वृत्रासुर की जो कथा ऊपर लिख आये सो भी देवासुरसंग्रामरूप जानो क्योंकि सूर्य्य की किरण देवसंज्ञक और मेघ के अवयव अर्थात् बादल असुरसंज्ञक हैं उन का परस्पर युद्ध वर्णन पूर्व कर दिया है निघण्टु आदि सत्य शास्त्रों में सूर्य्य देव और मेघ असुर करके प्रसिद्ध है इन सब वचनों का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग देवासुर संग्राम का स्वरूप यथावत् जानलेवें जैसे जो लोग विद्वान् सत्यवादी सत्यमानी और सत्यकर्म करने वाले हैं वे तो देव और जो अविद्वान् झूंठ बोलने झूंठ मानने और मिथ्याचार करने वाले हैं वे असुर कहाते हैं उन का परस्पर नित्य विरोध होना यही उन के युद्ध के समान है । इसी प्रकार मनुष्य का मन और ज्ञान इन्द्रिय भी देव कहाते हैं इन में राजा मन और सेना इन्द्रिय हैं तथा सब प्राणों का नाम असुर है इन में राजा प्राण और अपानादि सेना है इन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हुआ करता है मन के विज्ञान बढ़ने से प्राणों का जय और प्राणों के बढ़ने से मन का विजय हो जाता है (सोऽहं०) सु अर्थात् प्रकाश के परमाणुओं से मन और पांच ज्ञानेन्द्रिय उनके परस्पर संयोग तथा सूर्य्य आदि को ईश्वर रचता है और (असो०) अन्धकाररूप परमाणुओं से पांच कर्मेन्द्रिय दश प्राण और पृथिवी आदि को रचता है जो कि प्रकाशरहित होने से असुर कहाते हैं प्रकाश और अप्रकाश के विरुद्ध गुण होने से इन की भी संग्राम संज्ञा मानी है । तथा पुण्यात्मा मनुष्य देव और पापात्मा दुष्ट लोग असुर कहाते हैं उन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध नित्य होता रहता है तथा दिन का नाम देव और रात्रि का नाम असुर है इनका भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है तथा शुक्लपक्ष का नाम देव और कृष्णपक्ष का

नाम असुर है तथा उत्तरायण की देवसंज्ञा और दक्षिणायन की असुर संज्ञा है इन सभों का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध होरहा है इसी प्रकार अन्यत्र भी जहां २ ऐसे लक्षण घट सकें वहां २ देवासुर संग्राम का रूपकालङ्कार जान लेना ये सब देव और असुर प्राजापत्य अर्थात् ईश्वर के पुत्र के समान कहे जाते हैं और संसार के सब पदार्थ इन्हीं के अधिकार में रहते हैं इन में से जो २ असुर अर्थात् प्राण आदि हैं वे ज्येष्ठ कहाते हैं क्योंकि वे प्रथम उत्पन्न हुए हैं तथा बाल्यावस्था में सब मनुष्य भी अविद्वान् होते हैं तथा सूर्य्य ज्ञानेन्द्रिय और विद्वान् आदि पश्चात् प्रकाश होने से कनिष्ठ बोले जाते हैं उन में से जो २ मनुष्य स्वार्थी और अपने प्राण को पुष्ट करने वाले तथा कपट छल आदि दोषों से युक्त हैं वे असुर और जो लोग परोपकारी परदुःखभञ्जन तथा धर्मात्मा हैं वे देव कहाते हैं इस सत्यविद्या के प्रकाश करने वाली कथा को प्रीतिपूर्वक ग्रहण करके सर्वत्र प्रचार करना और मिथ्या कथाओं का मन कर्म और वचन से त्याग करदेना सब को उचित है ॥

एवमेव कश्यपगयादितीर्थकथा अपि ब्रह्मवैवर्त्तादिषु ग्रन्थेषु वेदादिसत्यशास्त्रेभ्यो विरुद्धा उक्ताः सन्ति । तद्यथा । मरीचिपुत्रः कश्यप ऋषिरासीत्तस्मै त्रयोदश कन्या दक्षप्रजापतिना विवाहविधानेन दत्ताः । तत्सङ्गे दितेर्दैत्या अदितेरादित्याः दनोर्दानवाः । एवमेव कद्रुवाः सर्पाः । विनतायाः पक्षिणः । तथाऽन्यासां स काशाद्वानरर्क्षवृक्षघासादयउत्पन्ना इत्याद्या अन्धकारमय्यः प्रमाणयुक्तिविद्याविरुद्धा असम्भवग्रस्ताः कथा उक्तास्ता अपि मिथ्या एव सन्तीति विज्ञेयम् ॥ तद्यथा ॥

स यत्कूर्मो नाम । प्रजापतिः प्रजा असृजत यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्तस्मात्कूर्म्मः कश्यपो वै कूर्म्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति ॥ श० कां० ७ । अ० ५ । ब्रा० १ । कं० ५ ॥

भाष्यम् ॥

(स यत्कूर्म्मः) परमेश्वरेणेदं सकलं जगत् क्रियते तस्मात्तस्य कूर्म्म इति संज्ञा । कश्यपो वै कूर्म्म इत्यनेन परमेश्वरस्यैव कश्यप इति नामास्ति । तेनैवेमाः सर्वाः प्रजा उत्पादितास्तस्मात्सर्वा इमाः प्रजाः काश्यप्य इत्युच्यन्ते । कश्यपः कस्मात्पश्यको भवतीति निरुक्त्या पश्यतीति पश्यः सर्वज्ञतया सकलं जगद्विजानाति स पश्यः पश्य एव निर्भ्रमतयाऽतिसूक्ष्ममपि वस्तु यथार्थं जानात्येवातः पश्यक इति ।

आद्यन्ताक्षरविपर्ययाद्धिंसः सिंहः कृन्तस्तर्कुरित्यादिवत्कश्यप इति इय० इत्येत-स्योपरि महाभाष्यप्रमाणेन पदं सिध्यति । अतः मृत्युं विज्ञायते कश्यपः प्रजा इति ॥

भाषार्थ ॥

जो पांचवीं कश्यप और गया पुष्करतीर्थादि कथा लोगों ने बिगाड़ के प्रसिद्ध करी हैं जैसे देखो कि मरीचि के पुत्र एक कश्यप ऋषि हुए थे उन को दक्षप्रजापति ने विवाह विधान से तेरह कन्या दीं कि जिनसे सब संसार की उत्पत्ति हुई अर्थात् दिति से दैत्य, अदिति से आदित्य, दनु से दानव, कद्रू से सर्प और विनता से पक्षी तथा औरों से बानर ऋच्छ घास आदि पदार्थ भी उत्पन्न हुए इसी प्रकार चन्द्रमा को सत्ताईस कन्या दीं इत्यादि प्रमाण और युक्ति से विरुद्ध अनेक असंभव कथा लिख रक्खी हैं उनको मानना किसी मनुष्य को उचित नहीं इसलिये ये ही कथा सत्य शास्त्रों में किस प्रकार की उत्तम लिखी हैं (स यत्कूर्मो०) प्रजा को उत्पन्न करने से कूर्म्म तथा अपने ज्ञान से देखने के कारण उस परमेश्वर को कश्यप भी कहते हैं (कश्यप) यह शब्द (पश्यकः) इस शब्द के आद्यन्ताक्षर विपर्य्यय से बनता है । इस प्रकार की उत्तम कथा को समझ के उन मिथ्या कथाओं को सब लोग छोड़ देवें कि जिससे सब का कल्याण हो अब देखो गयादितीर्थों की कथाओं को ॥

प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलꣳसत्यादोजीय इत्येवं वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता ॥ सा हैषा गयांस्तत्रे ॥ प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे तद्यद्गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्रीनाम ॥ श० कां० १४ । अ० ८ । ब्रा० १ । कं० ६ । ७ ॥ तीर्थमेव प्रायणीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन हि प्रस्नान्ति ॥ तीर्थमेवोदयनीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन ह्युत्स्नान्ति ॥ श० कां० १२ । अ० २ । ब्रा० ५ । कं० १ । ५ ॥ गय इत्यपत्यनामसु पठितं ॥ निघं० अ० २ । खं० ४ ॥ अहिꣳसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्य इति छान्दोग्योपनि० । समानतीर्थे वासी । इत्यष्टाध्याय्याम् । अ० ४ । पा० ४ । सू० १०८ । सतीर्थ्यो ब्रह्मचारीत्युदाहरणम् । त्रयः स्नातका भवन्ति । विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति ॥ यो विद्यां समाप्य व्रतमसमाप्य समावर्त्तते स व्रतस्नातक इत्यादि पारस्करगृह्यसूत्रे । नमस्तीर्थ्याय च ॥ ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः । इति शुक्लयजुर्वेदसंहितायाम् ॥ अ० ११ ॥ एवमेव गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यमित्यप्रोच्यते । तद्यथा । प्राण एव बलमिति विज्ञायते बलमोजीयः । तत्रैव सत्यं

प्राणेऽध्यात्मं प्रतिष्ठितं तत्र च परमेश्वरः प्रतिष्ठितस्तद्वाचकत्वात् । गायत्र्यपि ब्रह्मविद्यायामध्यात्मं प्रतिष्ठिता तां गायत्रीं गयामाह प्राणानां गयेति संज्ञा । प्राणा वै गया इत्युक्तत्वात् । तत्र गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यम् । अर्थात् गयाख्येषु प्राणेषु श्रद्धया समाधिविधानेन परमेश्वरप्राप्तावत्यन्तश्रद्धधाना जीवा अनुतिष्ठेयुरित्येकं गयाश्राद्धविधानम् । गयान् प्राणान् त्रायते सा गायत्री इत्यभिधीयते । एवमेव गृहस्यापत्यस्य प्रजायाश्च गयेति नामास्ति । अत्रापि सर्वैर्मनुष्यैः श्रद्धातव्यम् । गृहकृत्येषु श्रद्धावश्यं विधेया । मातुः पितुराचार्यस्यातिथेश्चान्येषां मान्यानां च श्रद्धया सेवाकरणं गयाश्राद्धमित्युच्यते । तथैव स्वस्यापत्येषु प्रजायां चोत्तमशिक्षाकरणे ह्युपकारे च श्रद्धावश्यं सर्वैः कार्य्येति । अत्र श्रद्धाकरणेन विद्याप्राप्त्या मोक्षाख्यं विष्णुपदं लभ्यत इति निश्चीयते । अत्रैव भ्रान्त्या विष्णुगयेति च पदद्वयोरर्थविज्ञानाभावात् । मगधदेशैकदेशे पाषाणस्योपरि शिल्पिद्वारा मनुष्यपादचिह्नं कारयित्वा तस्यैव कैश्चित्स्वार्थसाधनतत्परैरुदरम्भरैर्विष्णुपदमिति नाम रचितम् । तस्य स्थलस्य गयेति च तद् व्यर्थमेव । कुतः । विष्णुपदं मोक्षस्य नामास्ति प्राणगृहप्रजानां चातोऽत्रेयं तेषां भ्रान्तिर्जातेति बोध्यम् । अत्र प्रमाणम् ॥

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पाᳬसुरे स्वाहा ॥ १ ॥ यजु० अ० ५ । मं० १५ ॥ यदिदं किञ्च तद्विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदम् । त्रेधा भावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः, समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः । समूढमस्य पांसुरेऽप्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यतेऽपि वोपमार्थे स्यात् समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति पांसवः पादैः सूयन्त इति वा पन्नाः शेरत इति वा पंसनीया भवन्तीति वा ॥ निरु० अ० १२ । खं० १८ ॥

अस्यार्थं यथावदविदित्वा भ्रमेणेयं कथा प्रचारिता । तद्यथा । विष्णुर्व्यापकः परमेश्वरः सर्वजगत्कर्त्ता तस्य पूर्वेति नाम । अत्राह निरुक्तकारः ॥

पूषेत्यथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा तस्यैषा भवति । इदं विष्णुरित्यृक् ॥ निरु० अ० १२ । खं० १७ ॥

भाष्यम् ॥

वेवेष्टि विशितः प्रविष्टोस्ति चराचरं जगत् व्यश्नुते व्याप्नोति वा स विष्णुर्निराकारत्वात्सर्वगत ईश्वरोस्ति । एतदर्थवाचिकेयमृक् । इदं सकलं जगत्त्रेधा त्रिप्रकारकं विचक्रमे विक्रान्तवान् । क्रमु पादविक्षेपे । पादैः प्रकृतिपरमाण्वादिभिः स्वसामर्थ्यांशैर्जगदिदं पदं प्राप्तव्यं सर्वं वस्तुजातं त्रिषु स्थानेषु (निधत्ते) निदधे स्थापितवान् । अर्थात् यावद् गुरुत्वादियुक्तं प्रकाशरहितं तत्सर्वं जगत् पृथिव्याम् । यल्लघुत्वादियुक्तं वायुपरमाण्वादिकं तत्सर्वमन्तरिक्षे । यच्च प्रकाशमयं सूर्य्यज्ञानेन्द्रियजीवादिकं च तत्सर्वं दिवि द्योतनात्मके प्रकाशमयेऽग्नौ वेति विज्ञेयम् । एवं त्रिविधं जगदीश्वरेण रचितमेषां मध्ये यत्समूढं मोहेन सह वर्त्तमानं ज्ञानवर्जितं जडं तत्पांसुरेऽन्तरिक्षे परमाणुमयं रचितवान् । सर्वे लोकाः अन्तरिक्षस्थाः सन्तीति बोध्यम् । तद्विदमस्य परमेश्वरस्य धन्यवादार्हं स्तोतव्यं कर्मास्तीति बोध्यम् । अयमेवार्थः (यदिदं किञ्च०) इत्यनेन यास्काचार्य्येण वर्णितः । यदिदं किञ्चिज्जगद्वर्त्तते तत्सर्वं विष्णुर्व्यापक ईश्वरो विक्रमते रचितवान् । (त्रिधा निधत्ते पदं) त्रेधा भावाय त्रिप्रकारकस्य जगतो भवनाय तदुक्तं पूर्वमेव तस्मिन् विष्णुपदे मोक्षाख्ये समारोहणे समारोढुमर्हे गयशिरसीति प्राणानां प्रजानां च यदुत्तमाङ्गं प्रकृत्यात्मकं शिरो यथा भवति तथैवेश्वरस्यापि सामर्थ्यं गयशिरः प्रजाप्राणयोरुपरिभागे वर्त्तते । यदीश्वरस्यानन्तं सामर्थ्यं वर्त्तते । तस्मिन् गयशिरसि विष्णुपदे हीश्वरसामर्थ्येस्तीति । कुतः । व्याप्यस्य सर्वस्य जगतो व्यापके परमेश्वरे वर्त्तमानत्वात् । पांसुरेप्यायनेऽन्तरिक्षे पदं पदनीयं परमाण्वाख्यं यज्जगत्तच्चक्षुषा न दृश्यते । ये च पांसवः परमाणुसङ्घाताः पादैस्तद्द्रव्यांशैः सूयन्त उत्पद्यन्ते । अत एवमुत्पन्नाः सर्वे पदार्थाः दृश्या भूत्वेश्वरे शेरत इति विज्ञायते । इममर्थमविज्ञाय मिथ्याकथाव्यवहारः पण्डिताभासैः प्रचारित इति बोद्धव्यम् । तथैव वेदाद्युक्तरीत्याऽऽर्यैश्चानुष्ठितानि तीर्थान्यन्यान्येव सन्ति । यानि सर्वदुःखेभ्यः पृथक्कृत्वा जीवेभ्यः सर्वसुखानि प्रापयन्ति तानि तीर्थानि मतानि । यानि च भ्रान्तैरचितपुस्तकेषु जलस्थलमयानि तीर्थसंज्ञान्युक्तानि तानि वेदार्थाभिमेतानि नैव सन्तीति मन्तव्यम् । तद्यथा ।

(तीर्थमेव प्राय०) यस्मायणीययज्ञस्याङ्गमतिरात्राख्यं व्रतं समाप्य स्नानं क्रियते तदेव तीर्थमिति वेद्यम् । येन तीर्थेन मनुष्याः प्रस्नाय शुद्धा भवन्ति । तथैव यदुदयनीयाख्यं यज्ञसम्बन्धि सर्वोपकारकं कर्म समाप्य स्नान्ति । तदेव दुःखसमुद्रात्तारकत्वात्तीर्थमिति मन्तव्यम् । एवमेव (अहिंसन्०) मनुष्यः सर्वाणि भूतान्यहिंसन् सर्वैर्भूतैर्वैरमकुर्वाणः सन् वर्त्तेत । परन्तु तीर्थेभ्यो वेदादिसत्यशास्त्रविहितेभ्योऽन्यत्राहिंसा धर्मो मन्तव्यः । तद्यथा । यत्र यत्रापराधिनामुपरि हिंसनं विहितं तत्तु कर्त्तव्यमेव । ये पाखण्डिनो वेदसत्यधर्मानुष्ठानशत्रवश्चोरादयश्च ते तु यथापराधं हिंसनीया एव अत्र वेदादिसत्यशास्त्राणां तीर्थसंज्ञास्ति । तेषामध्ययनाध्यापनेन तदुक्तधर्मकर्मविज्ञानानुष्ठानेन च दुःखसमुद्रात्तरन्त्येव । तेषु सम्यक् स्नात्वा मनुष्याः शुद्धा भवन्त्यतः ॥ तथैव समानतीर्थवासी त्यनेन समानो द्वयोर्विद्यार्थिनोरेक आचार्य्यः समानमेकशास्त्राध्ययनं चात्राचार्य्यशास्त्रयोस्तीर्थसंज्ञास्ति । मातापित्रतिथीनां सम्यक्सेवनेन सुशिक्षया विद्याप्राप्त्या दुःखसमुद्रान्मनुष्यास्तरन्त्येवातस्तानि तीर्थानि दुःखात्तारकत्वादेव मन्तव्यानि । एतेष्वपि स्नात्वा मनुष्यैः शुद्धिः सम्पादनीयेति । (त्रयः स्ना० त्रय एव तीर्थेषु कृतस्नानाः शुद्धा भवन्ति । तद्यथा । यः सुनियमेन पूर्णां विद्यां पठति स ब्रह्मचर्य्याश्रममसमाप्यापि विद्यातीर्थे स्नाति स शुद्धो भवति । यस्तु खलु द्वितीयः । यत्पूर्वोक्तं ब्रह्मचर्य्यं सुनियमाचरणेन समाप्य विद्यामसमाप्य समावर्त्तते स व्रतस्नातको भवति । यश्च सुनियमेन ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य वेदशास्त्रादिविद्यां च समावर्त्तते सोऽस्मिन्नुत्तमतीर्थे सम्यक् स्नात्वा यथावच्छुद्धात्मा शुद्धान्तःकरणः सत्यधर्माचारी परमविद्वान् सर्वोपकारको भवतीति विज्ञातव्यम् (नमस्तीर्थ्याय च तेषु माणवेदविज्ञानतीर्थेषु पूर्वोक्तेषु भवः स तीर्थ्यस्तस्मै तीर्थ्याय परमेश्वराय नमोऽस्तु । ये विद्वांसस्तीर्थानि वेदाध्ययनसत्यभाषणादीनि पूर्वोक्तानि प्रचरन्ति व्यवहरन्ति । ये च पूर्वोक्तब्रह्मचर्य्यसेविनो रुद्रा महाबलाः (सृकाहस्ताः) विद्याविज्ञाने हस्तौ येषां ते (निषङ्गिणः) निषङ्गः संशयच्छेदक उपदेशाख्यः खड्गो येषां ते सत्योपदेष्टारः । तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति ब्राह्मणवाक्यात् । उपनिषत्सु भवं प्रतिपाद्यं विज्ञापनीयं परमेश्वरमाहुः । अत एवोक्तस्तीर्थ्य इति । सर्वेषां तारकाणां तीर्थानामात्मकत्वात् परमतीर्थाख्यो धर्मात्मनां स्वभक्तानां सद्यस्तारकत्वात् परमेश्वर एवास्ति एतेनैतानि तीर्थानि व्याख्यातानि (प्रश्नः) यैस्तरन्ति नरास्तानि जलस्थलादीनि तीर्थानि

कुतो न भवन्ति । अत्रोच्यते नैव जलं स्थलं च तारकं कदाचिद्भवितुमर्हति तत्र सामर्थ्याभावात् करणकारकव्युत्पत्त्यभावाच्च ॥ जलस्थलादीनि नौकादिभिर्यानैः पद्भ्यां बाहुभ्यां च जनास्तरन्ति। तानि च कर्मकारकान्वितानि भवन्ति करणकारकान्वितानि तु नौकादीनि । यदि पद्भ्यां गमनं बाहुबलं न कुर्य्याच्च नौकादिषु निष्ठेच्चेदवश्यं तत्र मनुष्यो मज्जेन्महद्दुःखं च प्राप्नुयात् । तस्माद्वेदानुयायिनामार्य्याणां मते काशीप्रयागपुष्करगङ्गायमुनादिनदीनां सागराणां च नैव तीर्थसंज्ञा सिध्यति । किन्तु वेदविज्ञानरहितैरुदरम्भरैः सम्प्रदायस्थैर्जीविकाधीनैर्वेदमार्गविरोधिभिरल्पज्ञैर्जीविकार्थं स्वकीयरचितग्रन्थेषु तीर्थसंज्ञया प्रसिद्धीकृतानि सन्तीति । ननु । इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वतीति गङ्गादिनदीनां वेदेषु प्रतिपादनं कृतमस्ति त्वया कथं न मन्यते । अत्रोच्यते । मन्यते तु मया तासां नदीसंज्ञेति ता गङ्गादयो नद्यः सन्ति । ताभ्यो यथायोग्यं जलशुद्ध्यादिगुणैर्यावानुपकारो भवति तावत्तासां मान्यं करोमि । न च पापनाशकत्वं दुःखात्तारकत्वं च । कुतः । जलस्थलादीनां तत्सामर्थ्याभावात् । इदं सामर्थ्यं तु पूर्वोक्तेष्वेव तीर्थेषु गम्यते नान्यत्रेति । अन्यच्च । इडापिङ्गलासुषुम्णाकूर्मनाड्यादीनां गङ्गादिसंज्ञास्तीति । तासां योगसमाधौ परमेश्वरस्य ग्रहणात् । तस्य ध्यानं दुःखनाशकं मुक्तिप्रदं च भवत्येव । तासामिडादीनां धारणासिध्यर्थं चित्तस्य स्थिरीकरणार्थं स्वीकरणमस्तीति तत्र ग्रहणात् । एतन्मन्त्रप्रकरणे परमेश्वरस्यानुवर्त्तनात् । एवमेव । (सितासिते यत्र सङ्गथे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति०) एतेन परिशिष्टवचनेन केचिद् गङ्गायमुनयोर्ग्रहणं कुर्वन्ति । सङ्गथे इति पदेन गङ्गायमुनयोः संयोगस्य प्रयागतीर्थमिति संज्ञां कुर्वन्ति । तन्न सङ्गच्छते । कुतः । नैव तत्राप्लुत्य स्नानं कृत्वा दिवं द्योतनात्मकं परमेश्वरं सूर्य्यलोकं वोत्पतन्ति । गच्छन्ति किन्तु पुनः स्वकीयं स्वकीयं गृहमागच्छन्त्यतः । अत्रापि सितशब्देनेडायाः । असितशब्देन पिङ्गलायाश्च ग्रहणं यत्र तु खल्वेतयोर्नाड्योः सुषुम्णायां समागमो मेलनं भवति तत्र कृतस्नानाः परमयोगिनो दिवं परमेश्वरं प्रकाशमयं मोक्षाख्यं सत्यविज्ञानं चोत्पतन्ति सम्यग्गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति । अतोऽनयोरेवात्र ग्रहणं न च तयोः ॥ अत्र प्रमाणम् । सितासितमिति वर्णनाम तत्प्रतिषेधोऽसितम् ॥ निरु० अ० ६ । खं० २॥ सितं शुक्लवर्णमसितं तस्य निषेधः । तयोः प्रकाशान्धकारयोः सूर्य्यादिपृथिव्यादिपदार्थयोर्येन्मेश्वरसामर्थ्ये समागमोऽस्ति तत्र कृतस्नानास्तद्विज्ञानवन्तो । दिवं पूर्वोक्तं गच्छन्त्येव ॥

भावार्थ ॥

छठी यह कथा है कि जो गया को तीर्थ बना रक्खा है लोगों ने मगध देश में एक स्थान है वहां फल्गु नदी के तीर पाषाण पर मनुष्य के पग का चिन्ह बना के उसका विष्णुपद नाम रखदिया है और यह बात प्रसिद्ध कर दी है कि यहां श्राद्ध करने से पितरों की मुक्ति हो जाती है जो लोग आंख के अन्धे गांठ के पूरे उन के जाल में जा फंसते हैं उनको गयावाले उलटे उस्तरे खूब मूंडते हैं इत्यादि प्रमाद से उन के धन का नाश कराते हैं वह परधनहरण पेटपालक ठगों की लीला केवल झूठ ही की गठरी है जैसा कि सत्यशास्त्रों में लिखी हुई आगे की कथा देखने से सब को प्रकट हो जावेगा (प्राण एव बलं०) इन वचनों का अभिप्राय यह है कि अत्यन्त श्रद्धा से गयासंज्ञक प्राण आदि में परमेश्वर की उपासना करने से जीव की मुक्ति हो जाती है प्राण में बल और सत्य प्रतिष्ठित है क्योंकि परमेश्वर प्राण का भी प्राण है और उसका प्रतिपादन करनेवाला गायत्री मन्त्र है कि जिसको गया कहते हैं किसलिए कि उस का अर्थ जानके श्रद्धासहित परमेश्वर की भक्ति करने से जीव सब दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाताहै । तथा प्राण का भी नाम गया है उस को प्राणायाम की रीति से रोक के परमेश्वर की भक्ति के प्रताप से पितर अर्थात् ज्ञानी लोग सब दुःखों से रहित होकर मुक्त हो जाते हैं क्योंकि परमेश्वर प्राणों की रक्षा करने वाला है इसलिए ईश्वर का नाम गायत्री और गायत्री का नाम गया है तथा निघण्टु में घर सन्तान और प्रजा इन तीनों का नाम भी गया है मनुष्यों को इन में अत्यन्त श्रद्धा करनी चाहिए इसी प्रकार माता पिता आचार्य और अतिथि की सेवा तथा सब के उपकार और उन्नति के कामों की सिद्धि करने में जो अत्यन्त श्रद्धा करनी है उस का नाम गयाश्राद्ध है. तथा अपने सन्तानों को सुशिक्षा से विद्या देना और उन के पालन में अत्यन्त प्रीति करनी इस का नाम भी गयाश्राद्ध है तथा धर्म से प्रजा का पालन सुख की उन्नति विद्या का प्रचार श्रेष्ठों की रक्षा दुष्टों को दण्ड देना और सत्य की उन्नति आदि धर्म के काम करना ये सब मिलकर अथवा पृथक् २ भी गयाश्राद्ध कहाते हैं इस अत्यन्त श्रेष्ठ कथा को छोड़ के विद्याहीन पुरुषों ने जो मिथ्या कथा बना रक्खी है उस को कभी न मानना और जो वहां पाषाण के ऊपर मनुष्य के पग का चिन्ह बना कर उस का नाम विष्णुपद रक्खा है सो सब मूलसे ही मिथ्या है क्योंकि व्यापक परमेश्वर जो सब जगत् का करने वाला है उसी का नाम विष्णु है देखो यहां निरुक्तकार ने कहा है कि (पृषेत्यथ०) विष्लृ धातु का अर्थ व्यापक होने अर्थात् सब चराचर जगत् में प्रविष्ट रहना वा जगत् को अपने में

स्थापन करलेने का है इसलिये निराकार ईश्वर का नाम विष्णु है (क्रमु पादविक्षेपे) यह धातु दूसरी वस्तु को पगों से चलाना वा स्थापन करना इस अर्थ को बतलाता है इस का अभिप्राय यह है कि भगवान् अपने पाद अर्थात् प्रकृति परमाणु आदि सामर्थ्य के अंशों से सब जगत् को तीन स्थानों में स्थापन करके धारण कर रहा है अर्थात् भारसहित और प्रकाशरहित जगत् को पृथिवी में परमाणु आदि सूक्ष्म द्रव्यों को अन्तरिक्ष में तथा प्रकाशमान सूर्य्य और ज्ञानेन्द्रिय आदि को प्रकाश में इस रीति से तीन प्रकार के जगत् को ईश्वर ने रचा है फिर इन्हीं तीन भेदों में एक मूढ़ अर्थात् ज्ञानरहित जो जड़ जगत् है वह अन्तरिक्ष अर्थात् पोल के बीच में स्थित है सो यह केवल परमेश्वर ही की महिमा है कि जिसने ऐसे २ अद्भुत पदार्थ रच के सब को धारण कर रक्खा है (यदिदं किञ्च०) इस विष्णुपद के विषय में यास्कमुनिने भी इस प्रकार व्याख्यान किया है कि यह सब जगत् सर्वव्यापक परमेश्वर ने बनाकर (त्रिधा०) इस में तीन प्रकार की रचना दिखलाई है जिससे मोक्षपद को प्राप्त होते हैं वह समारोहण कहाता है सो विष्णुपद गयशिर अर्थात् प्राणों के परे है उस को मनुष्य लोग प्राण में स्थिर होके प्राण से प्रिय अन्तर्यामी परमेश्वर को प्राप्त होते हैं अन्य मार्ग से नहीं क्योंकि प्राण का भी प्राण और जीवात्मा में व्याप्त जो परमेश्वर है उससे दूर जीव वा जीव से दूर वह कभी नहीं हो सकता उसमें से सूक्ष्म जो जगत् का भाव है सो आंख से दीखने योग्य नहीं हो सक्ता किन्तु जब कोई पदार्थ परमाणुओं के संयोग से स्थूल होजाता है तभी वह नेत्रों से देखने में आता है यह दोनों प्रकार का जगत् जिस के बीच में ठहर रहा है और जो उस में परिपूर्ण हो रहा है ऐसे परमात्मा को विष्णुपद कहते हैं इस सत्य अर्थ को न जान के अविद्वान् लोगों ने पाषाण पर जो मनुष्य के पगका चिह्न बना कर उस का नाम विष्णुपद रख छोड़ा है सो सब मिथ्या बातें हैं तथा तीर्थ शब्द का अर्थ अन्यथा जान के अज्ञानियों ने जगत के लूटने और अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये मिथ्याचार कर रक्खा है सो ठीक नहीं क्योंकि जो २ सत्य तीर्थ हैं वे सब नीचे लिखे जाते हैं देखो तीर्थ नाम उन का है कि जिनसे जीव दुःखरूप समुद्र को तरके सुख को प्राप्त हों अर्थात् जो २ वेदादि शास्त्रप्रतिपादित तीर्थ हैं तथा जिन का आर्य्यों ने अनुष्ठान किया है जो कि जीवों के दुःखों से छुड़ाके उन के सुखों के साधन हैं उनही को तीर्थ कहते हैं वेदोक्त तीर्थ ये हैं (तीर्थमेव प्राय०) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्य्यन्त किसी यज्ञ की समाप्ति करके जो स्नान किया जाता है उस को तीर्थ कहते हैं क्योंकि उस कर्म से वायु और वृष्टिजल की शुद्धिद्वारा सब मनुष्यों को सुख प्राप्त होता है इसकारण उन कर्मों के

करने वाले मनुष्यों को भी सुख और शुद्धि प्राप्त होती है तथा (अहिंसन्०) सब मनुष्यों को इस तीर्थ का सेवन करना उचित है कि अपने मन से वैरभाव को छोड़ के सब के सुख करने में प्रवृत्त होना और किसी संसारी व्यवहार के वर्त्तावों में दुःख न देना परन्तु (अन्यत्र तीर्थेभ्यः०) जो २ व्यवहार वेदादि शास्त्रों में निषिद्ध माने हैं उन के करने में दण्ड का होना अवश्य है अर्थात् जो २ मनुष्य अपराधी पापण्डी अर्थात् वेदशास्त्रोक्त धर्मानुष्ठान के शत्रु अपने सुख में प्रवृत्त और परपीड़ा में प्रवर्त्तमान हैं वे सदैव दण्ड पाने के योग्य हैं इससे वेदादि सत्य शास्त्रों का नाम तीर्थ है कि जिनके पढ़ने पढ़ाने और उन में कहे हुए मार्गों में चलने से मनुष्य लोग दुःखसागर को तर के सुखों को प्राप्त होते हैं (समानतीर्थे०) इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि वेदादिशास्त्रों को पढ़ानेवाला जो आचार्य्य है उसका वेदादि शास्त्रों तथा माता पिता और अतिथि का भी नाम तीर्थ है क्योंकि उन की सेवा करने से जीवात्मा शुद्ध होकर दुःखों से पार हो जाता है इससे इन का भी तीर्थ नाम है (त्रयः स्नातका०) इन तीर्थों में स्नान करने के योग्य तीन पुरुष होते हैं एक तो वह कि जो उत्तम नियमों से वेदविद्या को पढ़ के ब्रह्मचर्य को विना समाप्त करे भी विद्या का पढ़ना पूरा कर के ज्ञानरूपी तीर्थ में स्नान कर के शुद्ध हो जाता है दूसरा जो कि पच्चीस तीस छत्तीस चवालीस अथवा अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त नियम के साथ पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य को समाप्त करके और विद्या को विना समाप्त किये भी विवाह करता है वह व्रतस्नातक अर्थात् उस ब्रह्मचर्य्यतीर्थ में स्नान करके शुद्ध हो जाता है और तीसरा यह है कि नियम से ब्रह्मचर्य्याश्रम तथा वेदादिशास्त्रविद्या को समाप्त करके समावर्त्तन अर्थात् इसीके फलरूपी उत्तम तीर्थ में भले प्रकार स्नान करके यथायोग्य पवित्रदेह शुद्ध अन्तःकरण श्रेष्ठविद्या बल और परोपकार को प्राप्त होता है (नमस्तीर्थ्याय०) उक्त तीर्थों से प्राप्त होने वाला परमेश्वर भी तीर्थ ही है उस तीर्थ को हमारा नमस्कार है जो विद्वान् लोग वेद का पढ़ना पढ़ाना और सत्यकथनरूप तीर्थों का प्रचार करते हैं तथा जो चवालीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्याश्रम सेवन करते हैं वे बड़े बलवाले होकर रुद्र कहाते हैं (सृकाहस्ता०) जिन के सृका अर्थात् विज्ञानरूप हस्त तथा निषङ्ग संशय की काटनेवाली उपदेशरूप तलवार है वे सत्य के उपदेशक भी रुद्र कहाते हैं तथा उपनिषदों से प्रतिपादन किया हुआ उपदेश करने योग्य जो परमेश्वर है उस को परमतीर्थ कहते हैं क्योंकि उसी की कृपा और प्राप्ति से जीव सब दुःखों से तर जाते हैं (प्रश्न) जिनसे मनुष्य लोग तर जाते हैं अर्थात् जल और स्थानविशेष वे क्या तीर्थ नहीं हो सकते (उत्तर) नहीं क्योंकि उन में तारने का सामर्थ्य ही नहीं और तीर्थ शब्द

करणकारकयुक्त लिया जाता है जो जल वा स्थानविशेष अधिकरण वा कर्मकारक होते हैं उन में नाव आदि अथवा हाथ और पग से तरते हैं इससे जल वा स्थल तारने वाले कभी नहीं हो सकते किसलिये कि जो जल में हाथ वा पग न चलावें वा नौका आदि पर न बैठें तो कभी नहीं तर सकते इस युक्ति से भी काशी प्रयाग गङ्गा यमुना समुद्र आदि तीर्थ सिद्ध नहीं हो सकते इस कारण से सत्यशास्त्रोक्त जो तीर्थ हैं उन्हीं को मानना चाहिये जल और स्थानविशेष को नहीं (प्रश्न) (इमं मे गङ्गे०) यह मन्त्र गङ्गा आदि नदियों को तीर्थ विधान करनेवाला है फिर इन को तीर्थ क्यों नहीं मानते (उत्तर) हम लोग उन को नदी मानते हैं और उन के जल में जो २ गुण हैं उन को भी मानते हैं परन्तु पाप छुड़ाना और दुःखों से तारना यह उन का सामर्थ्य नहीं किन्तु यह सामर्थ्य तो केवल पूर्वोक्त तीर्थों में ही है तथा इस मन्त्र में गङ्गा आदि नाम इडा पिङ्गला सुषुम्णा कूर्म्म और जाठराग्नि की नाड़ियों के हैं उन में योगाभ्यास से परमेश्वर की उपासना करने से मनुष्य लोग सब दुःखों से तर जाते हैं क्योंकि उपासना नाड़ियों ही के द्वारा धारण करनी होती है इस हेतु से इस मन्त्र में उनकी गणना की है इसलिये उक्त नामों से नाड़ियों का ही ग्रहण करना योग्य है (सितासिते०) सित इडा और असित पिङ्गला ये दोनों जहां मिली हैं उस को सुषुम्णा कहते हैं उस में योगाभ्यास से स्नान करके जीव शुद्ध हो जाते हैं फिर शुद्धरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं इस में निरुक्तकार का भी प्रमाण है कि सित और असित शब्द शुक्ल और कृष्ण अर्थ के वाची हैं इस अभिप्राय से विरुद्ध मिथ्या अर्थ करके लोगों ने नदी आदियों का तीर्थ नाम से ग्रहण कर लिया है ॥

तथैव यत्तन्त्रपुराणादिग्रन्थेषु मूर्त्तिपूजानामस्मरणादिविधानं कृतमस्ति तदपि मिथ्यैवास्तीति वेद्यम् । कुतः । वेदादिषु सत्येषु ग्रन्थेषु तस्य विधानाभावात् । तत्र तु प्रत्युत निषेधो वर्त्तत्यते । तद्यथा ।

न तस्य॑ प्रति॒मा अ॑स्ति॒ यस्य॒ नाम॑ म॒हद्यशः॑ । हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भ इत्ये॒ष मा मा॑ हिꣳसी॒दित्ये॒षा यस्मा॒न्न जा॒त इत्ये॒षः ॥ १ ॥ यजुः० अ० ३२ । मं० ३ ॥

भाष्यम् ॥

यस्य पूर्णस्य पुरुषस्याजस्य निराकारस्य परमेश्वरस्य (महद्यशः) य-

स्याज्ञापालनाख्यं महाकीर्त्तिकरं यस्य नामस्मरणादिकर्त्तुमर्हं कर्माचरणं नामस्मरणमस्ति । (हिरण्यगर्भः०) यो हिरण्यानां सूर्य्यादीनां तेजस्विनां गर्भ उत्पत्तिस्थानम् । यस्य सर्वैर्मनुष्यैर्मामाहिंसीदित्येषा प्रार्थना कार्य्या । (यस्मान्न०) यो यतः कारणान्नैव कस्यचिदन्यकारणात्कदाचिदुत्पन्नो नैव कदाचिच्छरीरधारणं करोति । नैव तस्य प्रतिमाऽर्थात् प्रतिनिधिः प्रतिकृतिः प्रतिमानं तोलनसाधनं परिमाणं मूर्त्यादिकल्पनं किञ्चिदप्यस्ति परमेश्वरस्यानुपमेयत्वादमूर्त्तत्वादपरिमेयत्वान्निराकारत्वात्सर्वेन्द्रियाविषयत्वाच्च । इत्यनेन प्रमाणेन मूर्त्तिपूजननिषेधः ॥

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ २ ॥ य० अ० ४० । मं० ८ ॥

भाष्यम् ॥

यः कविः सर्वज्ञः । मनीषी सर्वसाक्षी । परिभूः सर्वोपरिविराजमानः । स्वयम्भूरनादिस्वरूपः परमेश्वरः शाश्वतीभ्यो नित्याभ्यः समाभ्यः प्रजाभ्यो वेदद्वाराऽन्तर्यामितया च याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् विहितवानस्ति स पर्य्यगात्सर्वव्यापकोऽस्ति । यत् (शुक्रम्) वीर्य्यवत्तमम् (अकायम्) मूर्त्तिजन्मधारणरहितम् (अव्रणम्) छेदभेदरहितम् (अस्नाविरम्) नाडीबन्धनादिविरहम् (शुद्धम्) निर्दोषम् (अपापविद्धम्) पापात्पृथग्भूतं यदीदृशलक्षणं ब्रह्म सर्वैरुपासनीयमिति मन्यध्वम् । इत्यनेनापि शरीरजन्ममरणरहित ईश्वरः प्रतिपाद्यते तस्मादयं नैव केनापि मूर्त्तिपूजने योजयितुं शक्य इति । प्रश्नः । वेदेषु प्रतिमाशब्दोऽस्ति न वा । उत्तरम् । अस्ति । प्र० पुनः किमर्थो निषेधः । उ० नैव प्रतिमार्थेन मूर्त्तयो गृह्यन्ते । किं तर्हि परिमाणार्था गृह्यन्ते । अत्र प्रमाणानि ॥

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे । सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज ॥ ३ ॥ अथर्व० कां० ३ । व० १० । मं० ३ ॥

मुहूर्त्तानां प्रतिमा ता दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि भवन्त्येतावन्तो

हि संवत्सरस्य मुहूर्त्ताः ॥ श० कां० १० । प्र० ३ । ब्रा० २ । कं० २० ॥ यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ १ ॥ सामवेदीयतवलकारोपनिषदि । खण्ड० १ । मं० ४ ॥

भाष्यम् ॥

इत्यादिमन्त्रपञ्चकमूर्त्त्यादिनिषेधकमिति बोध्यम् । विद्वांसः संवत्सरस्य यां प्रतिमां परिमाणमुपासते वयमपि त्वां तामेवोपास्महे । अर्थ यथाः संवत्सरस्य त्रीणि शतानि षष्टिश्च रात्रयो भवन्ति । यत एताभिरेव संवत्सरः परिमीयते तस्माद्देवानां प्रतिमासंज्ञेति । यथा सेयं रात्रिर्नोऽस्माकं रायस्पोषेण धनपुष्टिभ्यामायुष्मतीं प्रजां संसृज सम्यक् सृजेत् । तथैव सर्वैर्मनुष्यैरनुष्ठेयमिति । (मुहूर्त्ता०) तथा ये संवत्सरस्य दशसहस्राण्यष्टौशतानि घटिकाद्वयात्मका मुहूर्ताः सन्ति तेऽपि प्रतिमाशब्दार्था विज्ञेयाः (यद्वाचा०) यदसंस्कृतवाण्या अविषयं येन वाणी विदितास्ति तद् ब्रह्म हे मनुष्य त्वं विद्धि यत इदं प्रत्यक्षं जगदस्ति नैवैतद् ब्रह्मास्ति । किन्तु विद्वांसो यन्निराकारं सर्वव्यापकमजं सर्वनियन्तृ सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्मोपासते त्वयापि तदेवोपासनीयं नेतरदिति । प्र० किञ्च भोः मनुस्मृतौ प्रतिमानां च भेदकः । दैवतान्यभिगच्छेत्तु । देवताऽभ्यर्चनं चैव । देवतानां च कुत्सनम् । देवतायतनानि च । देवतानां छायोल्लङ्घननिषेधः । प्रदक्षिणानि कुर्वीत । देवब्राह्मणसन्निधौ । देवतागारभेदकान् । उक्तानामेतेषां वचनानां का गतिरिति । उ० अत्र प्रतिमाशब्देन रक्तिकामाषसेटकादीनि तोलनसाधनानि गृह्यन्ते । तद्यथा । तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् ॥ मनु० अ० ८ । श्लोकः ४०३ ॥ इत्यनया मनूक्तरीत्यैव प्रतिमाप्रतीमानशब्दयोरेकार्थत्वात्तोलनसाधना गृह्यन्त इति बोध्यम् । अत एव प्रतिमानामधिकन्यूनकारिणे दण्डो देय इत्युक्तः । विद्वांसो देवास्ते यत्राधीयतेऽध्यापयन्ति निवसन्ति च तानि स्थानानि दैवतानीत्युच्यते देवा एव देवतास्तेषामिमानि स्थानानि दैवतानि देवतायतनानि च सन्तीति बोध्यम् । विदुषामेवाभ्यर्चनं सत्करणं कर्त्तव्यमिति । नैवैतेषां केनचिदपि निन्दाछायोल्लङ्घनं स्थानविनाशश्च कर्त्तव्यः । किन्तु सर्वैरेतेषां सामीप्यगमनं न्यायमार्गं दक्षिणपार्श्वे स्थापनं स्वेषां वामपार्श्वे स्थितिश्च कार्य्येति । एवमेव यत्र यत्रान्यत्रापि प्रतिमादेवदेवतायतनादिशब्दाः सन्ति तत्र तत्रैवमर्था विज्ञेयाः । ग्रन्थभूयस्त्वभिया नात्र ते लेखितुं शक्या इति । एतावतैव मूर्त्तिपूजनकण्ठीतिलकधारणादिनिषेधा बोध्याः ॥

पर्वों में त्याग इत्यादि लक्षणयुक्त परमात्मा है वही सबको उपासना के योग्य है ऐसा ही सब को मानना चाहिये क्योंकि इस मन्त्र से भी शरीर धारण करके जन्म मरण होना इत्यादि बातों का निषेध परमेश्वर विषय में पाया गया इससे इस को पत्थर आदि की मूर्ति बना के पूजना किसी प्रमाण वा युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता। (संवत्सरस्य०) विद्वान् लोग संवत्सर की जिस (प्रतिमां०) रूप आदि काल के विभाग करने वाली रात्रि की उपासना करते हैं हम लोग भी उसी का सेवन करें। जो एक वर्ष की ३६० तीनसौ साठ रात्रि होती हैं इन्हीं रात्रियों से संवत्सर का परिमाण किया है इसलिये इन रात्रियों की भी प्रतिमा संज्ञा है (सान आयु०) इन रात्रियों में परमात्मा की कृपा से हम लोग सत्कर्मों के अनुष्ठानपूर्वक संपूर्ण आयुयुक्त संतानों को उत्पन्न करें। इसी मन्त्र का भावार्थ कुछ शतपथ ब्राह्मण में भी है कि (मुहूर्त्ता०) एक संवत्सर के १०८०० मुहूर्त होते हैं ये भी प्रतिमा शब्द के अर्थ में समझने चाहिये क्योंकि इनसे भी वर्ष का परिमाण होता है (यद्वाचा) जो कि अविद्यायुक्त वाणी से प्रसिद्ध नहीं हो सकता जो सब की वाणियों को जानता है हे मनुष्यो तुम लोग उसी को परमेश्वर जानो और न कि मूर्तिमान् जगत् के पदार्थों को जो कि उस के रचे हुए हैं अर्थात निराकार व्यापक सब पदार्थों का नियम करने वाला और सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त ब्रह्म है उसी की उपासना तुम लोग करो यह उपनिषद्कारक ऋषियों का मत है (प्रश्न) क्यों जी मनुस्मृति में जो (प्रतिमानां०) इत्यादि वचन हैं उनसे तो यह बात मालूम होती है कि जो कोई प्रतिमा को तोड़े उस को राजा दण्ड देवे तथा देवताओं के पास जाना उनकी पूजा करना उनकी छाया का उल्लङ्घन नहीं करना और उनकी परिक्रमा करना इत्यादि प्रमाणों से तो मूर्त्तिपूजा बराबर सिद्ध होती है फिर आप कैसे नहीं मानते हैं (उत्तर) क्यों भ्रम में पड़े हुए हो होश में आओ और आंख खोल कर देखो कि प्रतिमा शब्द से जो तुम लोग पत्थर की मूर्त्ति लेते हो सो यह केवल तुम्हारी अज्ञानता अर्थात् कमसमझ है क्योंकि मनुस्मृति में तो प्रतिमाशब्द करके (तुलामानं ; रत्ती, छटांक, पाव, सेर और पसेरी आदि तोल के साधनों का ग्रहण किया है क्योंकि तुलामान अर्थात् तराजू और प्रतीमानं वा प्रतिमा अर्थात् बाट इन की परीक्षा राजा लोग छठे २ मास अर्थात् छः २ महीने में एक बार किया करें कि जिससे उन में कोई व्यवहारी किसी प्रकार की छल से घट बढ़ न कर सके और कदाचित् कोई करे तो उस को दण्ड देवें फिर (देवताभ्यर्चनं०) इत्यादि वचनों से यह बात समझनी चाहिये कि शतपथ ब्राह्मण में विद्वान्

मनुष्यों का नाम देव कहा है अर्थात् जिन स्थानों में विद्वान् लोग पढ़ते पढ़ाते और निवास करते हैं उन स्थानों को दैवत कहते हैं वहां जाना बैठना और उन लोगों का सत्कार करना इत्यादि काम सब को अवश्य करने चाहिये (देवतानां च कुत्सनं) उन विद्वानों की निन्दा उन का अपमान और उनके स्थानों में किसी प्रकार का बिगाड़ व उपद्रव आदि दोष की बातें कभी न करनी चाहिये किन्तु (दैवतान्यभि०) सब मनुष्यों को उचित है कि उन के समीप जाकर अच्छी २ बातों को सीखा करें (प्रदक्षिणा०) उन को मान्य के लिये दाहिनी दिशा में बैठाना क्योंकि यह नियम उनकी प्रतिष्ठा के लिये बांधा गया है ऐसे अन्यत्र भी जहां कहीं प्रतिमा और देवता अथवा उन के स्थानों का वर्णन हो-इसी प्रकार निर्भ्रमता से वहां समझ लेना चाहिये यहां सब का संग्रह इसलिये नहीं किया कि ग्रन्थ बहुत बढ़जाता । ऐसा ही सत्य शास्त्रों से विरुद्ध कण्ठी और तिलकधारणादि मिथ्या कल्पित विषयों को भी समझ कर मन कर्म वचन से त्याग कर देना अवश्य उचित है ॥

एवमेव सूर्य्यादिग्रहपीड़ाशान्तये बालबुद्धिभिराकृष्णेन रजसेत्यादि मन्त्रा गृह्यन्ते । अयमेषां भ्रम एवास्तीति । कुतस्तत्र तेषामर्थानामग्रहणात् । (तद्यथा) तत्राकृष्णेन रजसेति मन्त्रस्यार्थ आकर्षणानुकर्षणप्रकरण उक्तः । इमं देवा असपत्नमित्यस्य राजधर्मविषये चेति ॥

अ॒ग्निर्मू॒र्द्धा दि॒वः क॒कुत्पतिः॑ पृथि॒व्या अ॒यम् । अ॒पाᳬरेताᳬसि जिन्वति ॥ १ ॥ य० अ० ३ । मं० १२ ॥ उद्बु॑ध्यस्वाग्ने॒ प्रति॑जागृहि॒ त्वमि॑ष्टापू॒र्ते सᳬसृ॑जेथाम॒यं च॑ । अ॒स्मिन्त्स॒धस्थे॒ अध्युत्त॑रस्मि॒न् विश्वे॑ देवा॒ यज॑मानश्च सीदत ॥ २ ॥ य० अ० १५ । मं० ५४ ॥

भाष्यम् ॥

(अयमग्निः) परमेश्वरो भौतिको वा (दिवः) प्रकाशवल्लोकस्य (पृथिव्याः) प्रकाशरहितस्य च (पतिः) पालयितास्ति (मूर्द्धा) सर्वोपरि विराजमानः (ककुत्) तथा ककुभां दिशां च मध्ये व्यापकतया सर्वपदार्थानां पालयितास्ति । व्यत्ययो बहुलमिति सूत्रेण भकारस्थाने तकारः । (अपाᳬ रेताᳬसि)

अयमेव जगदीश्वरो भौतिकश्चापां प्राणानां जलानां च रेतांसि वीर्य्याणि (जिन्वति) पुष्णाति । एवं चाग्निर्विद्युद्रूपेण सूर्य्यरूपेण च पूर्वोक्तस्य रक्षकः पुष्टिकर्त्ता चास्ति ॥ ३ ॥ (उद्बुध्यस्वाग्ने) । हे अग्ने परमेश्वरास्माकं हृदये त्वमुद्बुध्यस्व प्रकाशितो भव (प्रतिजागृहि) अविद्यान्धकारनिद्रातस्सर्वान् जीवान् पृथक्कृत्य विद्यार्कप्रकाशे जागृतान् कुरु । (त्वमिष्टापूर्त्ते) हे भगवन् अयं जीवो मनुष्यदेहधारी धर्मार्थकाममोक्षसामग्र्याः पूर्त्तिं सृजेत् समुत्पादयेत् । त्वमस्येष्टं सुखं सृजेः । एवं परस्परं द्वयोः सहायपुरुषार्थाभ्यामिष्टापूर्त्ते संसृष्टे भवेताम् (अस्मिन्सधस्थे) अस्मिन् लोके शरीरे च (अध्युत्तरस्मिन् परलोके द्वितीये जन्मनि च (विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत) सर्वे विद्वांसो यजमानो विद्वत्सेवाकर्त्ता च कृपया सदा सीदन्तु वर्त्तन्ताम् । यतोऽस्माकं मध्ये सदैव सर्वा विद्याः प्रकाशिता भवेयुरिति । व्यत्ययो बहुलमित्यनेन सूत्रेण पुरुषव्यत्ययः ॥

भाषार्थ ॥

इसी प्रकार से अल्पबुद्धि मनुष्यों ने आकृष्णेन रजसा० इत्यादि मन्त्रों का सूर्यादिग्रहपीड़ा की शांति के लिये ग्रहण किया है सो उनको केवल भ्रममात्र हुआ है मूल अर्थ से कुछ सम्बन्ध नहीं क्योंकि उन मन्त्रों में ग्रहपीड़ा निवारण करना यह अर्थ ही नहीं है (आकृष्णेन०) इस मन्त्र का अर्थ आकर्षणानुकर्षण प्रकरण में तथा (इमं देवा०) इसका अर्थ राजधर्मविषय में लिख दिया है ॥ १ । २ ॥ (अग्निः) यह जो अग्निसंज्ञक परमेश्वर वा भौतिक है वह (दिवः) प्रकाश वाले और (पृथिव्याः) प्रकाशरहित लोकों का पालन करने वाला तथा (मूर्द्धा) सब पर विराजमान और (ककुत्पतिः) दिशाओं के मध्य में अपनी व्यापकता से सब पदार्थों का राजा है (व्यत्ययो बहुलम्) इस सूत्र से (ककुभ्) शब्द के भकार को तकारादेश हो गया है (अपाꣳरेताꣳसि जिन्वति) वही जगदीश्वर प्राण और जलों के वीर्य्यों को पुष्ट करता है इस प्रकार भूताग्नि भी विद्युत् और सूर्य्यरूप से पूर्वोक्त पदार्थों का पालन और पुष्टि करने वाला है ॥ ३ ॥ (उद्बुध्यस्वाग्ने) हे परमेश्वर हमारे हृदय में प्रकाशित हूजिये (प्रति जागृहि) अविद्या की अन्धकाररूप निद्रा से हम सब जीवों को अलग करके विद्यारूप सूर्य्य के प्रकाश से प्रकाशमान कीजिये कि जिस से (त्वमिष्टापूर्त्ते) हे भगवन् मनुष्यदेहधारण करने वाला जो जीव है जैसे वह धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सामग्री की पूर्त्ति कर सके वैसे आप इष्ट सिद्ध कीजिये (अस्मिन्सधस्थे) इस लोक और इस शरीर तथा (अध्युत्तरस्मिन्) परलोक और दूसरे जन्म में

(विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत) आप की कृपा से सब विद्वान् और यजमान अर्थात् विद्या के उपदेश का ग्रहण और सेवा करने वाले मनुष्य लोग सुख से वर्त्तमान सदा बने रहें कि जिस से हम लोग विद्यायुक्त होते रहें (व्यत्ययो बहुलम्) इस सूत्र से (संसृजेथाम्) (सीदत) इन पदों में पुरुषव्यत्यय अर्थात् प्रथमपुरुष की जगह मध्यम पुरुष हुआ है ॥ ४ ॥

बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद्द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु । यद्दीदयच्छवस ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम् ॥ ५ ॥ य० अ० २६ । मं० ३ ॥ अन्नात्परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत्क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः । ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ६ ॥ यजुः० अ० १९ । मं० ७५ ॥

भाष्यम् ॥

(बृहस्पते) हे बृहतां वेदानां पते पालक (ऋतप्रजात) वेदविद्याप्रतिपादित जगदीश्वर त्वं (जनेषु) यज्ञकारकेषु विद्वत्सु लोकलोकान्तरेषु वा (क्रतुमत्) भूयांसः क्रतवो भवन्ति यस्मिंस्तत् (द्युमत्) सत्यव्यवहारप्रकाशो विद्यते यस्मिंस्तत् (दीदयच्छवसः) दानयोग्यं शवसो बलस्य प्रापकं (यदर्यो अर्हात्) येन विद्यादिधनेन युक्तः सन् अर्यः स्वामी राजा वणिग्जनो वा धार्मिकेषु जनेषु (विभाति) प्रकाशते (चित्रं) यदद्भुतं (अस्मासु द्रविणं धेहि) तदस्मदधीनं द्रविणं धनं कृपया धेहीत्यनेन मन्त्रेणेश्वरः प्रार्थ्यते ॥ ५ ॥ (क्षत्रं) यत्र यद्राजकर्म क्षत्रियो वा (ब्रह्मणा) वेदविद्भिः सह (पयः) अमृतात्मकं (सोमं) सोमाद्योषधिसम्पादितं (रसं) बुद्ध्यानन्दशौर्यधैर्यबलपराक्रमादिसद्गुणप्रदं (व्यपिबत्) पानं करोति तत्र स सभाध्यक्षो राजन्यः (ऋतेन) यथार्थवेदविज्ञानेन (सत्यं) धर्मं राजव्यवहारं च (इन्द्रियं) शुद्धविद्यायुक्तं शान्तं मनः (विपानं) विविधराजधर्मरक्षणं (शुक्रं) आशु सुखकरं (अन्धसः) शुद्धान्नस्येच्छाहेतुं पयः सर्वपदार्थसारविज्ञानयुक्तं (अमृतं) मोक्षसाधकं (मधु) मधुरं सत्यशीलस्वभावयुक्तं (इन्द्रस्य) परमैश्वर्ययुक्तस्य सर्वव्यापकान्तर्यामिन ईश्वरस्य कृपया (इन्द्रियं) विज्ञानयुक्तं मनः प्राप्य (इदं) सर्वं व्यावहारिकं पारमार्थिकं सुखं प्राप्नोति । प्रजापतिः परमेश्वर एवमाज्ञापयति यः क्षत्रियः प्रजा-

पालनाधिकृतो भवेत् । य एवं प्रजापालनं कुर्यात् (अन्नात्परिस्रुतः) स चामृतात्मको रसोऽन्नाद्भोग्यात्पदार्थात्परितः सर्वतः सुतः च्युतो युक्तो वा कार्य्यः । यथा प्रजायामत्यन्तं सुखं सिध्येत्तथैव नित्यमेव कर्त्तव्यम् ॥

भाषार्थ ॥

(बृहस्पते) हे वेदविद्यारक्षक (ऋतप्रजात) वेदविद्या से प्रसिद्ध जगदीश्वर आप (तदस्मासु द्रविणं धेहि) जो सत्यविद्यारूप अनेक प्रकार का (चित्रं) अद्भुत धन है सो हमारे बीच में कृपा करके स्थापन कीजिये कैसा वह धन है कि (जनेषु) विद्वानों और लोकलोकान्तरों में (क्रतुमत्) जिस से बहुत से यज्ञ किये जायं (द्युमत्) जिस से सत्य व्यवहार के प्रकाश का विधान हो (शवसः) बल की रक्षा करने वाला और (दीदयत्) धर्म और सब के सुख का प्रकाश करने वाला तथा (यदर्य्यो०) जिस को धर्मयुक्त योग्य व्यवहार के द्वारा राजा और वैश्य प्राप्त हो कर (विभाति) धर्मव्यवहार अथवा धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों में प्रकाशमान होता है उस संपूर्णविद्यायुक्त धन को हमारे बीच में निरन्तर धारण कीजिये ऐसे इस मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है ॥ ५॥ (क्षत्रं) जो राजकर्म अथवा क्षत्रिय हैं वह सदा न्याय से (ब्रह्मणा) वेदवित् पुरुषों के साथ मिलकर ही राज्यपालन करें इसी प्रकार (पयः) जो अमृतरूप (सोमं) सोमलता आदि ओषधियों का सार तथा (रसं) जो बुद्धि आनन्द शूरता धीरज बल और पराक्रम आदि उत्तम गुणों का बढ़ाने वाला है उस को (व्यपिबत्) जो राजपुरुष अथवा प्रजास्थ लोग वैद्यकशास्त्र की रीति से पीते हैं वे सभासद् और प्रजास्थ मनुष्य लोग (ऋतेन) वेदविद्या को यथावत् जान के (सत्यं) धर्म अर्थ काम मोक्ष (इन्द्रियं) शुद्धविद्यायुक्त, शान्तस्वरूप मन (विपानं) यथावत् प्रजा का रक्षण (शुक्रम्) शीघ्र सुख करनेहारा (अन्धसः) शुद्ध अन्न की इच्छायुक्त (पयः) सब पदार्थों का सार विज्ञानसहित (अमृतं) मोक्ष के ज्ञानादि साधन (मधु) मधुरवाणी और शीलता आदि जो श्रेष्ठ गुण हैं (इदं) उन सब से परिपूर्ण होकर (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्त व्यापक ईश्वर की कृपा से (इन्द्रियं) विज्ञान को प्राप्त होते हैं (प्रजापतिः) इसलिये परमेश्वर सब मनुष्यों और राजपुरुषों को आज्ञा देता है कि तुम लोग पूर्वोक्त व्यवहार और विज्ञानविद्या को प्राप्त होके धर्म से प्रजा का पालन किया करो और (अन्नात्परिस्रुतः) उक्त अमृतस्वरूप रस को उत्तम भोजन के पदार्थों के साथ मिलाकर सेवन किया करो कि जिससे प्रजा में पूर्ण सुख की सिद्धि हो ॥ ६ ॥

शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शंयोरभि स्रवन्तु नः ॥ ७ ॥ य० अ० ३६ । मं० १२ ॥ कया नश्चित्र आभुवदूती सदावृधः सखा । कया शचिष्ठया वृता ॥ ८ ॥ य० अ० २७ । मं० ३९ ॥ केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुषद्भिरजायथाः ॥ ९ ॥ य० अ० २९ । मं० ३७ ॥

भाष्यम् ॥

(आप्लृ व्याप्तौ) अस्माद्धातोरप्छब्दः सिध्यति स नित्यस्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च । दिवुक्रीडाद्यर्थः (देवीः) देव्य आपः सर्वप्रकाशकः सर्वानन्दप्रदः सर्वव्यापक ईश्वरः (अभिष्टये) इष्टानन्दप्राप्तये (पीतये) पूर्णानन्दभोगेन तृप्तये (नः) अस्मभ्यं (शं) कल्याणकारिका भवन्तु स ईश्वरो नः कल्याणं भावयतु प्रयच्छतु । ता आपो देव्यः स एवेश्वरो नोऽस्माकमुपरि (शंयोः) शमभिस्रवन्तु अर्थात् सर्वतः सुखस्य वृष्टिं करोतु ॥ अत्र प्रमाणम् ॥

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः । असच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ अथर्व० कां० १० । अ० ४ । व० २२ । मं० १० ॥

भाष्यम् ॥

अनेन वेदमन्त्रप्रमाणेनाप्छब्देन परमात्मनो ग्रहणं क्रियते । तद्यथा । (आपो ब्रह्म जना विदुः) विद्वांस आपो ब्रह्मणो नामास्तीति जानन्ति । (यत्र लोकांश्च कोशांश्च) यस्मिन् परमेश्वरे सर्वान् भूगोलान्निधींश्च (असच्च यत्र सच्च) यस्मिंश्चानित्यं कार्य्यं जगदेतस्य कारणं च स्थितं जानन्ति । (स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) स जगद्धाता सर्वेषां पदार्थानां मध्ये कतमोऽस्ति विद्वंस्त्वं ब्रूहीति पृच्छ्यते । (अन्तः) स जगदीश्वरः सर्वेषां जीवादिपदार्थानामाभ्यन्तरेऽन्तर्य्यामिरूपेणावस्थितोऽस्तीति भवन्तो जानन्तु ॥ ७ ॥ (कया) उपासनारीत्या (शचिष्ठया) अतिशयेन सत्कर्मानुष्ठानप्रकारया (वृता) शुभगुणेषु वर्त्तमानया (कया) सर्वोत्तमगुणालङ्कृतया स्वभया प्रकाशितः । (चित्रः) अद्भुतानन्तशक्तिमान् (सदावृधः) सदानन्देन वर्धमान इन्द्रः परमेश्वरः (नः)

अस्माकं सखा मित्रः (आभुवत्) यथाभिमुखो भूत्वा (ऊती) स जगदीश्वरः कृपया सर्वदा सहायकरणेनास्माकं रक्षको भवेत् तथैनास्माभिः स सत्यप्रेमभक्त्या सेवनीय इति ॥ ८ ॥ हे मर्त्या मनुष्या उषद्भिः परमेश्वरं कामयमानैस्तदाज्ञायां वर्त्तमानैर्विद्वद्भिर्युष्माभिः सह समागमे कृते मर्त्येव (अकेतवे) अज्ञानविनाशाय केतुं प्रज्ञानम् । अपेशसे दारिद्र्यविनाशाय पेशः चक्रवर्त्तिराज्यादिसुखसम्पादकं धनं च कृण्वन् कुर्वन् सन् जगदीश्वरः (अजायथाः) प्रसिद्धो भवतीति वेदितव्यम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ ॥

(शन्नोदेवी०) आप्लृ व्याप्तौ, इस धातु से अप् शब्द सिद्ध होता है सो वह सदा स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त है तथा जिस दिवु धातु के क्रीड़ा आदि अर्थ हैं उस से देवी शब्द सिद्ध होता है (देवीः) अर्थात् जो ईश्वर सब का प्रकाश और सब को आनन्द देने वाला (आपः) सर्वव्यापक है (अभीष्टये) वह इष्ट आनन्द और (पीतये) पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिये (नः) हम को सुखी होने के लिये (शं) कल्याणकारी (भवन्तु) हो । वही परमेश्वर (नः) हम पर (शंयोः) सुख की (अभिस्रवन्तु) वृष्टि करे । इस मन्त्र में आप् शब्द से परमात्मा के ग्रहण होने में प्रमाण यह है कि (आपो ब्रह्म जना विदुः) अर्थात् विद्वान् लोग ऐसा जानते हैं कि आप् परमात्मा का नाम है (प्रश्न) (यत्र लोकांश्च कोशांश्च) सुनो जी जिसमें पृथिव्यादि सब लोक, सब पदार्थ स्थित (असच्च यत्र सच्च) तथा जिसमें अनित्य कार्य्य जगत् और सब वस्तुओं के कारण ये सब स्थित हो रहे हैं (स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) वह सब लोकों का धारण करने वाला कौन पदार्थ है (उत्तर) (अन्तः) जो सब पृथिवी आदि लोक और जीवों के बीच में अन्तर्यामिरूप से परिपूर्ण भर रहा है ऐसा जानकर आप लोग उस परमेश्वर को अपने ही अन्तःकरण में खोजो ॥ ७ ॥ (कया) जो किस उपासनारीति (शचिष्ठया) और सत्यधर्म के आचरण से सभासद् सहित (वृता) सत्यविद्यादि गुणों में प्रवर्तमान (कया) सुखरूपवृत्तिसहित सभा से प्रकाशित (चित्रः) अद्भुतस्वरूप (सदावृधः) आनन्दस्वरूप और आनन्द बढ़ाने वाला परमेश्वर है वह (नः) हमारे आत्माओं में (आभुवत्) प्रकाशित हो (ऊतिः) तथा किस प्रकार वह जगदीश्वर हमारा सदा सहायक होकर कृपा से नित्य रक्षा करे कि (उषद्भिः समजायथाः) हे अग्ने जगदीश्वर आप की आज्ञा में जो रमण करनेवाले हैं उन्हीं

पुरुषों से आप जाने जाते हैं और जिन धार्मिक पुरुषों के अन्तःकरणमें आप अच्छे प्रकार प्रकाशित होते रहो ॥ ८ ॥ हे विज्ञानस्वरूप अज्ञान के दूर करनेहारे जगदीश्वर आप (केतुं कृण्वन्) हम सब मनुष्यों के आत्माओं में ज्ञान का प्रकाश करते रहिये तथा (अकेतवे) अज्ञान और (अपेशसे) दरिद्रता के दूर करने के अर्थ विज्ञान धन और चक्रवर्त्ति राज्य धर्मात्माओं को देते रहिये कि जिस से (मर्याः) जो आप के उपासक लोग हैं वे कभी दुःख को न प्राप्त हों ॥ ९ ॥

अथाधिकारानधिकारविषयः संक्षेपतः ॥

वेदादिशास्त्रपठने सर्वेषामधिकारोस्त्याहोस्विन्नेति । सर्वेषामस्ति वेदानामीश्वरोक्तत्वात्सर्वमनुष्योपकारार्थत्वात्सत्यविद्याप्रकाशकत्वाच्च । यद्धि खलु परमेश्वररचितं वस्त्वस्ति तत्तत्सर्वं सर्वार्थमस्तीति विजानीमः । अत्र प्रमाणम् ॥

यथे॒मां वाचं॑ कल्या॒णीमा॒वदा॑नि॒ जने॑भ्यः । ब्र॒ह्म॒रा॒ज॒न्या᳖भ्या॑ᳬ शू॒द्राय॒ चार्या॑य च॒ स्वाय॒ चार॑णाय । प्रि॒यो दे॒वानां॒ दक्षि॑णायै दा॒तुरि॒ह भू॑यासम॒यं मे॒ कामः॒ समृ॑ध्यता॒मुप॑ मा॒दो न॑मतु ॥ १ ॥ य० अ० २६ । मन्त्र २ ॥

भाष्यम् ॥

अस्याभिप्रायः । परमेश्वरः सर्वमनुष्यैर्वेदाः पठनीयाः पाठ्या इत्याज्ञां ददाति । तद्यथा । (यथा) येन प्रकारेण (इमाम्) सत्यप्रभूतामृग्वेदादिवेदचतुष्टयीं (कल्याणीम्) कल्याणसाधिकां (वाचम्) वाणीं (जनेभ्यः) सर्वेभ्यो मनुष्येभ्योऽर्थात् सकलजीवोपकाराय (आवदानि) आ समन्तादुपदिशानि । तथैव सर्वैर्विद्वद्भिः सर्वमनुष्येभ्यो वेदचतुष्टयी वागुपदेष्टव्येति । अत्र कश्चिदेवं ब्रूयात् । जनेभ्यो द्विजेभ्य इत्यध्याहार्य्यं वेदाध्ययनाध्यापने तेषामेवाधिकारत्वात् नैवं शक्यम् । उत्तरमन्त्रभागार्थविरोधात् । तद्यथा । कस्य कस्य वेदाध्ययनश्रवणेऽधिकारोस्तीत्याकांक्षायामिदमुच्यते (ब्रह्मराजन्याभ्यां) ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां (अर्य्याय) वैश्याय (शूद्राय) (चारणाय) अतिशूद्रायान्त्यजाय स्वाय स्वात्मीयाय पुत्राय भृत्याय च सर्वैः सैषा वेदचतुष्टयी श्राव्येति । (प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह०) । यथाहमीश्वरः पक्षपातं विहाय

सर्वोपकारकरणेन सह वर्त्तमानः सन् देवानां विदुषां प्रियः दातुर्दक्षिणायै सर्वस्वदानाय प्रियश्च (भूयासम्) स्याम्। तथैव भवद्भिः सर्वैर्विद्वद्भिरपि सर्वोपकारं सर्वप्रियाचरणं मत्वा सर्वेभ्यो वेदवाणी श्राव्येति। यथायं मे मम कामः समृध्यते तथैवैवं कुर्वतां भवतां (अयं कामः समृध्यताम्) इयमिष्टसुखेच्छा समृध्यतां सम्यग्वर्धतां यथादः सर्वमिष्टसुखं मामुपनमति। (उप मादो नमतु) तथैव भवतोऽपि सर्वमिष्टसुखमुपनमतु सम्यक् प्राप्नोत्विति। मया युष्मभ्यमयमाशीर्वादो दीयत इति निश्चेतव्यं यथा मया वेदविद्या सर्वार्था प्रकाशिता तथैव युष्माभिरपि सर्वार्थोपकर्त्तव्या नात्र वैषम्यं किञ्चित् कर्त्तव्यमिति। कुतः। यथा मम सर्वप्रियार्था पक्षपातरहिता च प्रवृत्तिरस्ति। तथैव युष्माभिराचरणे कृते मम प्रसन्नता भवति नान्यथेति अस्य मन्त्रस्यायमेवार्थोऽस्ति। कुतः। बृहस्पते अतियदर्य इत्युत्तरस्मिन्मन्त्रे हीश्वरार्थस्यैव प्रतिपादनात् ॥

भाषार्थ ॥

(प्रश्न) वेदादि शास्त्रों के पढ़ने पढ़ाने सुनने और सुनाने में सब मनुष्यों का अधिकार है वा नहीं (उत्तर) सब का है। क्योंकि जो ईश्वर की सृष्टि है उसमें किसी का अनधिकार नहीं हो सकता। देखिये कि जो २ पदार्थ ईश्वर से प्रकाशित हुए हैं सो २ सब के उपकारार्थ हैं (प्रश्न) वेदों के पढ़ने का अधिकार केवल तीन वर्णों को ही है क्योंकि शूद्रादि को वेदादि शास्त्र पढ़ने का निषेध किया है और द्विजों के पढ़ाने में भी केवल ब्राह्मण ही को अधिकार है (उत्तर) यह बात सब मिथ्या है। इस का विवेक और उत्तर वर्णविभाग विषय में कह आये हैं वहां यही निर्णय हुआ है कि मूर्ख का नाम शूद्र और अतिमूर्ख का नाम अतिशूद्र है उन के पढ़ने पढ़ाने का निषेध इसलिये किया है कि उनको विद्याग्रहण करने की बुद्धि नहीं होती है। (प्र०) परन्तु क्या सब स्त्री पुरुषों को वेदादि शास्त्र पढ़ने सुनने का अधिकार है। (उ०) सबको है। देखो इस में यजुर्वेद ही का यह प्रमाण लिखते हैं (यथेमां वाचं कल्याणीं०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि वेदों के पढ़ने पढ़ाने का सब मनुष्यों को अधिकार है और विद्वानों को उन के पढ़ने का। इसलिये ईश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्य लोगो जिस प्रकार मैं तुमको चारों वेदों का उपदेश करता हूं उसी प्रकार से तुम भी उन को पढ़ के सब मनुष्यों को पढ़ाया और सुनाया करो क्योंकि यह चारों वेदरूप वाणी सब की कल्याण करने वाली है तथा (आवदानि जनेभ्यः) जैसे सब मनुष्यों के लिये

मैं वेदों का उपदेश करता हूं वैसे ही सदा तुम भी किया करो (प्रश्न) (जनेभ्यः) इस पद से द्विजों ही का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि जहां कहीं सूत्र और स्मृतियों में पढ़ने का अधिकार लिखा है वहां केवल द्विजों ही का ग्रहण किया है (उत्तर) यह बात ठीक नहीं है क्योंकि जो ईश्वर का अभिप्राय द्विजों ही के ग्रहण करने का होता तो मनुष्यमात्र को उन के पढ़ने का अधिकार कभी न देता। जैसा कि इस मन्त्र में प्रत्यक्ष विधान है (ब्रह्मराजन्याभ्यांॅ शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय) अर्थात् वेदाधिकार जैसा ब्राह्मणवर्ण के लिये है वैसा ही क्षत्रिय, अर्य्य, वैश्य, शूद्र, पुत्र, भृत्य और अतिशूद्र के लिये भी बराबर है क्योंकि वेद ईश्वरप्रकाशित है। जो विद्या का पुस्तक होता है वह सब का हितकारक है. और ईश्वररचित पदार्थों के दायभागी सब मनुष्य अवश्य होते हैं इसलिये उस का जानना सब मनुष्यों को उचित है क्योंकि वह माल सब के पिता का सब पुत्रों के लिये है. किसी वर्णविशेष के लिये नहीं (प्रियो देवानाम्) जैसे मैं इस वेदरूप सत्यविद्या का उपदेश करके विद्वानों के आत्माओं में प्रिय हो रहा तथा (दक्षिणायै दातुरिह भूयासं) जैसे दानी वा शीलमान् पुरुष को प्रिय होता हूं वैसे ही तुम लोग भी पक्षपातरहित होकर वेदविद्या को सुना कर सब को प्रिय हो (अयं मे कामः समृध्यताम्) जैसे यह वेदों का प्रचाररूप मेरा काम संसार के बीच में यथावत् प्रचरित होता है इसी प्रकार की इच्छा तुम लोग भी करो कि जिससे उक्त विद्या आगे को भी सब मनुष्यों में प्रकाशित होती रहे (उप मादो नमतु) जैसे मुझ में अनन्तविद्या से सब सुख हैं वैसे जो कोई विद्या का ग्रहण और प्रचार करेगा उस को भी मोक्ष तथा संसार का सुख प्राप्त होगा यही इस मन्त्र का अर्थ ठीक है क्योंकि इस से अगले मन्त्र में भी (बृहस्पते अतियदर्य्य०) परमेश्वर ही का ग्रहण किया है। सब के लिये वेदाधिकार है ॥ १ ॥

वर्णाश्रमा अपि गुणकर्माचारतो हि भवन्ति। अत्राह मनुः ॥–

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ १ ॥ मनु० अ० १० । श्लो० ६५ ॥

भाष्यम् ॥

शूद्रः पूर्णविद्यासुशीलतादिब्राह्मणगुणयुक्तश्चेद् ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणभावं प्राप्नोति योस्ति ब्राह्मणस्याधिकारस्तं सर्वं प्राप्नोत्येव। एवमेव कुचर्य्या-

ऽधर्माचरणनिर्बुद्धिमूर्खत्वपराधीनतापरसेवादिशूद्रगुणैर्युक्तो ब्राह्मणश्चेत् स शूद्रतामेति । शूद्राधिकारं प्राप्नोत्येव । एवमेव क्षत्रियाज्जातं क्षत्रियादुत्पन्नं वैश्यादुत्पन्नं प्रति च योजनीयम् । अर्थाद्यस्य वर्णस्य गुणैर्युक्तो यो वर्णः स तत्तदधिकारं प्राप्नोत्येव । एवमेवापस्तम्बसूत्रेप्यस्ति ॥

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥ अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ २ ॥ प्रपाठक २ । पटल० ५ । सू० १० । ११ ॥

भाष्यम् ॥

सत्यधर्माचरणेनैव शूद्रो वैश्यं क्षत्रियं ब्राह्मणं च वर्णमापद्यते समन्तात्प्राप्नोति सर्वाधिकारमित्यर्थः । जातिपरिवृत्तावित्युक्ते जातेर्वर्णस्य परितः सर्वतो या वृत्तिराचरणं तत्सर्वं प्राप्नोति ॥ १ ॥ एवमेव स लक्षणेनाधर्माचरणेन पूर्वो वर्णो ब्राह्मणो जघन्यं स्वस्मादधःस्थितं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ चेति पूर्ववत् । अर्थाद् धर्माचरणमेवोत्तमवर्णाधिकारे कारणमस्ति एवमेवाधर्माचरणं कनिष्ठवर्णाधिकारप्राप्तेश्चेति । यत्र यत्र शूद्रो नाध्यापनीयो न श्रावणीयश्चेत्युक्तं तत्रायमभिप्रायः । शूद्रस्य प्रज्ञाविरहत्वात् विद्यापठनधारणविचारासमर्थत्वात्तस्याध्यापनं श्रावणं व्यर्थमेवास्ति निष्फलत्वाच्चेति ॥

भाषार्थ ॥

वर्णाश्रमव्यवस्था भी गुणकर्मों के आचारविभाग से होती है इस में मनुस्मृति का भी प्रमाण है कि (शूद्रो ब्राह्मणता०) शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है अर्थात् गुण कर्मों के अनुकूल ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण रहता है तथा जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुणवाला हो तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है वैसे शूद्र भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता और जो उत्तम गुणयुक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य हो जाता है वैसे ही क्षत्रिय और वैश्य के विषय में भी जान लेना जो शूद्र को वेदादि पढ़ने का अधिकार न होता तो वह ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य के अधिकार को कैसे प्राप्त हो सकता इससे यह निश्चित जाना जाता है कि पचीसवें वर्ष वर्णों का अधिकार ठीक २ होता है क्योंकि पच्चीस वर्ष तक बुद्धि बढ़ती

है इसलिये उसी समय गुण कर्मों की ठीक २ परीक्षा करके वर्णाधिकार होना उचित है ॥ १ ॥ तथा आपस्तम्बसूत्र में भी ऐसा लिखा है (धर्मचर्य्यया०) अर्थात् धर्माचरण करने से नीचे के वर्ण पूर्व २ वर्ण के अधिकार को प्राप्त हो जाते हैं सो केवल कहने ही मात्र को नहीं किन्तु जिस २ वर्ण को जिन २ कर्मों का अधिकार है उन्हीं के अनुसार (आपद्यते जातिपरिवृत्तौ) वे यथावत् प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥ (अधर्मचर्य्यया०) तथा अधर्माचरण करके पूर्व २ वर्ण नीचे २ के वर्णों के अधिकारों को प्राप्त होते हैं इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों के पढ़ने सुनने का अधिकार सब मनुष्यों को बराबर है ॥

इति संक्षेपतोऽधिकारानधिकारविषयः ॥

अथ पठनपाठनविषयः संक्षेपतः ॥

तत्रादौ पठनस्यारम्भे शिक्षारीत्या स्थानप्रयत्नस्वरज्ञानायाक्षरोच्चारणोपदेशः कर्त्तव्यः । येन नैव स्वरवर्णोच्चारणाज्ञानविरोधः स्यात् । तद्यथा । प इत्यस्योच्चारणमोष्ठौ संयोज्यैव कार्य्यम् । अस्यौष्ठौ स्थानं स्पृष्टः प्रयत्न इति बोध्यम् । एवमेव सर्वत्र । अत्र महाभाष्यकारः पतञ्जलिमहामुनिराह ॥

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह । स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥ १ ॥ महाभा० अ० १ । पा० १ । आ० १ ॥

भाष्यम् ॥

नैव स्थानप्रयत्नयोगेन विनोच्चारणे कृतेऽक्षराणां यथावत्प्रकाशः पदानां लालित्यं च भवति । यथा गानकर्त्ता षड्जादिस्वराज्ञानेऽन्यथोच्चारणं कुर्य्याच्चेत्तस्य तस्यैवापराधो भवेत् । तद्वद्वेदेऽपि प्रयत्नेन सह स्वस्वस्थाने खलु स्वरवर्णोच्चारणं कर्त्तव्यम् । अन्यथा दुष्टः शब्दो दुःखदोऽनर्थकश्च भवति । यथावदुच्चारणमकृत्वोच्चारिते शब्दे वक्तुरपराध एव विज्ञायते । त्वं मिथ्याप्रयोगं कृतवानिति । नैव स मिथ्याप्रयुक्तः शब्दस्तमभिप्रेतमर्थमाह । तद्यथा । सकलम् । शकलम् । सकृत् । शकृदिति । सकल इत्ययं सम्पूर्णार्थवाची । शकल इति खण्डवाची च । एवं सकृदित्येकवारार्थवाची । शकृदिति मलार्थवाची चात्र । सकारोच्चारणं कर्त्तव्ये शकारोच्चारणं क्रियते चेदर्थं शकारोच्चारणे कर्त्तव्ये सकारोच्चा-

रणं च । तद्यथा स दुष्टः शब्दः स्वरविषयं नाभिधत्ते, स वाग्वज्रो भवति । यमर्थमभिप्रेत्योच्चारणं क्रियते स शब्दस्तदभिप्रायमनाश्रितो भवति । दुष्टः शब्दो यजमानं तदधिष्ठातारं च हिनस्ति । तेनार्थेन हीनं करोति । यथेन्द्रशत्रुरयं शब्दः स्वरस्यापराधाद्विपरीतफलो जातः । तद्यथा । इन्द्रः सूर्यलोकस्तस्य शत्रुरिव मेघः । अत्र इन्द्रशत्रुशब्दे तत्पुरुषसमासार्थमन्तोदात्ते कर्त्तव्ये आद्युदात्तस्वरणाद् बहुव्रीहिः समासः कृतो भवति । अस्मिन् विषये तुल्ययोगितालङ्कारेण मेघसूर्ययोर्वर्णनं कृतमिति ततोऽर्थवैपरीत्यं जायते । उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषोऽन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः समासो भवति । तत्र यस्येच्छा सूर्यस्य ग्रहणेऽस्ति तेनेन्द्रशत्रुशब्दः कर्मधारयसमासेनान्तोदात्त उच्चारणीयः । यस्य च मेघस्य तेन बहुव्रीहिसमासमाश्रित्याद्युदात्तस्वरश्चेति नियमोऽस्ति । अत्रान्यथात्वे कृते मनुष्यस्य दोष एव गण्यते । अतः कारणात् स्वरोच्चारणं वर्णोच्चारणं च यथावदेव कर्त्तव्यमिति ॥ १ ॥

भाषार्थ ॥

पठनपाठन की आदि में लड़कों और लड़कियों को ऐसी शिक्षा करनी चाहिये कि वे स्थान प्रयत्न के योग से वर्णों का ऐसा उच्चारण कर सकें कि जिससे सब को प्रिय लगें जैसे (प) इसके उच्चारण में दो प्रकार का ज्ञान होना चाहिये एक स्थान और दूसरा प्रयत्न का पकार का उच्चारण ओठों से होता है परन्तु दो ओठों को ठीक २ मिला ही के पकार बोला जाता है इसका ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न है और जो किसी अक्षर के स्थान में कोई स्वर वा व्यञ्जन मिला हो तो उस को भी उसी २ के स्थान में प्रयत्न से उच्चारण करना उचित है इस का सब विधान व्याकरण और शिक्षाग्रन्थ में लिखा है फिर इस विषय में पतञ्जलि महाभाष्यकार ने भी कहा है कि स्वर और वर्णों के उच्चारण में विपरीत होने से शब्द दुष्ट कहाता है अर्थात् वह मूल अर्थ को नहीं जनाता यथा (स वाग्वज्रो०) जैसे स्थान और प्रयत्न के योग के विना शब्द का उच्चारण प्रसन्नता कारनेहारा नहीं होता वैसे ही स्वर से विपरीत उच्चारण और गानविद्या भी सुन्दर नहीं होती किन्तु गान का करने वाला षड्जादि स्वरों के उच्चारण को उलटा कर देवे तो वह अपराध उसी का समझा जाता है इसी प्रकार वेदादि ग्रन्थों में भी स्वर और वर्णों का उच्चारण यत्न से होना चाहिये और जो उलटा उच्चारण किया जाता है वह (दुष्टः शब्दः) दुःख देने वाला और मूढ

समझा जाता है जिस शब्द का यथावत् उच्चारण न हो किन्तु उससे विपरीत किया जाय तो वह दोष बोलने वाले का गिना जाता है और विद्वान् लोग बोलनेवाले से कहते हैं कि तूने इस शब्द का अच्छा उच्चारण नहीं किया इससे यह तेरे अभिप्राय को यथार्थ नहीं कह सकता जैसे (सकल) और (शकल) देख लो अर्थात् (सकल) शब्द सम्पूर्ण का बोधक और जो उस में तालव्य शकार का उच्चारण किया जाय तो वही फिर खण्ड का वाचक हो जाता है ॥ ऐसे ही सकृत् और शकृत् में दन्त्य सकार के उच्चारण से प्रथम क्रिया और उसी को तालव्य उच्चारण करने से विष्ठा का बोध होता है इसलिये शब्दों का उच्चारण यथावत् करने से ही ठीक २ अर्थ का बोध होता है क्योंकि विपरीत उचारण से वह वज्र के समान वक्ता के अभिप्राय का नाश करने वाला होता है सो यह दोष बोलने वाले का ही गिना जाता है जैसे (इन्द्रशत्रुः) यहां इकार में उदात्तस्वर बोलने से बहुव्रीहि समास और अन्य पदार्थ का बोध होता है तथा अन्तोदात्त बोलने से तत्पुरुष समास और उत्तर पदार्थ का बोध हो जाता है सूर्य्य का इन्द्र और मेघ का वृत्रासुर नाम है । इस के सम्बन्ध में वृत्रासुर अर्थात् मेघ का वर्णन तुल्ययोगिताऽलङ्कार से किया है जो इन्द्र अर्थात् सूर्य्य की उत्तमता चाहे वह समस्त पद के स्थान में अन्तोदात्त उचारण करे और जो मेघ की वृद्धि चाहे वह आद्युदात्त उचारण करे इसलिये स्वर का उचारण भी यथावत् करना चाहिये ॥

भाष्यम् ॥

तथा भाषणश्रवणासनगमनोत्थानभोजनाध्ययनविचारार्थयोजनादीनामपि शिक्षा कर्त्तव्यैव । अर्थज्ञानेन सहैव पठने कृते परमोत्तमं फलं प्राप्नोति । परन्तु यो न पठति तस्मात्त्वयं पाठमात्रकार्य्यप्युत्तमो भवति । यस्तु खलु शब्दार्थसम्बन्धविज्ञानपुरस्सरमधीते स उत्तमतरः । यश्चैवं वेदान् पठित्वा विज्ञाय च शुभगुणकर्माचरणेन सर्वोपकारी भवति स उत्तमतमः । अत्र प्रमाणानि ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ २ ॥ ऋ॰ मण्डल १ । सू॰ १६४ । मं॰ ३९ ॥ स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् । योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥ ३ ॥ यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।

अनंगनाविर्थ शुष्कैभ्यो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥ ४ ॥ निरु० अ० १ । खं० १८ ॥

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् । उतो त्वस्मै तन्वं१ विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ ५ ॥ उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु । अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम् ॥ ६ ॥ ऋ० मण्ड० १० । सू० ७१ । मं० ४ । ५ ॥

भाष्यम् ॥

अभि०–अत्रार्थज्ञानेन विनाऽध्ययनस्य निषेधः क्रियत इति (ऋचो अक्षरे०) यस्मिन् विनाशरहिते परमोत्कृष्टे व्योमवद्व्यापके ब्रह्मणि । चत्वारो वेदाः पर्य्यवसितार्थाः सन्ति ऋगुपलक्षणं चतुर्णां वेदानां ग्रहणार्थम् । तत् किं ब्रह्मेत्यत्राह । यस्मिन् विश्वे देवाः सर्वे विद्वांसो मनुष्या इन्द्रियाणि च । सूर्यादयश्च सर्वे लोका अधिनिषेदुर्यदाऽऽधारेण निषण्णाः स्थितास्तद्ब्रह्म विज्ञेयम् (यस्तं न वेद०) यः खलु तं न जानाति सर्वोपकारकरणार्थायामीश्वराज्ञायां यथावन्न वर्त्तते स पठितयाऽपि ऋचा वेदेन किं करिष्यति नैवायं कदाचिद्वेदार्थविज्ञानजातं किमपि फलं प्राप्नोतीत्यर्थः । (य इत्तद्विदुस्त इमे समासते) ये चैवं तद्ब्रह्म विदुस्त एव धर्मार्थकाममोक्षाख्यं फलं सम्यक् प्राप्नुवन्ति । तस्मात्सार्थकमेव वेदादीनामध्ययनं कर्त्तव्यम् ॥ १ ॥ (स्थाणुरयं०) यः पुरुषो वेदमधीत्य पाठमात्रं पठित्वाऽर्थं न जानाति तं विज्ञायाऽपि धर्मं नाचरति स मनुष्यः स्थाणुः काष्ठस्तम्भवद्भवति । अर्थाज्जडवद्विज्ञेयो भारवाहश्च । यथा कश्चिन्मनुष्यः पशुश्च भारमात्रं वहंस्तन्न भुङ्क्ते । किन्तु तेनोढघृतमिष्टकस्तूरीकेशरादिकं कश्चिद्भाग्यवानन्यो मनुष्यो भुङ्क्ते । योऽर्थविज्ञानशून्यमध्ययनं करोति स भारवाहवत् । (किलाभूत्) भवतीति मन्तव्यम् । (योऽर्थज्ञ०) योऽर्थस्य ज्ञाता वेदानां शब्दार्थसम्बन्धविद् भूत्वा धर्माचरणे भवति । स वेदार्थज्ञानेन (विधूतपाप्मा) पापरहितः सन् मरणात् प्रागेव (सकलं) सम्पूर्णं (भद्रं) भजनीयं सुखं (अश्नुते) प्राप्नोति पुनश्च शरीरं त्यक्त्वा (नाकमेति) सर्वदुःखरहितं मोक्षाख्यं ब्रह्मपदं प्राप्नोति । तस्माद्वेदानामर्थज्ञानधर्मानुष्ठा-

नपूर्वकमेवाध्ययनं कर्त्तव्यम् ॥ ३ ॥ (यदगृहीतमविज्ञातं) येन मनुष्येण यद-र्थज्ञानशून्यं वेदाद्यध्ययनं क्रियते । किन्तु (निगदेन) पाठमात्रेणैव (शब्द्य-ते) कथ्यते ननु (कर्हिचित्) कदाचिदपि (न ज्वलति) न प्रकाशते । कस्मि-न् किमिव (अनग्नाविव शुष्कैधः) अविद्यमानाग्निके स्थले शुष्कं साम्मतं प्रज्वलनमिन्धनमिव । यथाऽनग्नौ शुष्काणां काष्ठानां स्थापनेनापि दाहप्रकाशा न जायन्ते तादृशमेव तदध्ययनमिति ॥ ४ ॥ (उत त्वः पश्यन्न ददर्श०) अपि खल्वेको वाचं शब्दं पश्यन्नर्थं न पश्यति (उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्) च इति वितर्के कश्चिन्मनुष्यो वाचं शब्दमुच्चारयन्नपि न शृणोति तदर्थं न जा-नाति । यथा तेनोच्चारिता श्रुताऽपि वाक् अविदिता भवति तथैवाऽर्थज्ञानविरह-मध्ययनमिति मन्त्राऽर्द्धेनाविद्वल्लक्षणमुक्तम् । (उतो त्वस्मै) यो मनुष्योऽर्थज्ञा-नपूर्वकं वेदानामध्ययनं करोति तस्मै (वाक्) विद्या (तन्वं) शरीरं स्वस्वरूपं (विसस्रे) विविधतया प्रकाशयति कस्मै का किं कुर्वतीव (जायेव पत्य उश-ती सुवासाः) यथा शोभनानि वासांसि वस्त्राणि धारयन्ती पतिं कामयमाना स्त्री स्वस्वामिने स्वमात्मानं शरीरं प्रकाशयति । तथैवाऽर्थज्ञानपूर्वकाध्ययनकर्त्रे मनुष्याय विद्या स्वमात्मानं स्वस्वरूपमीश्वरमारभ्य पृथिवीपर्य्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानमयं प्रकाशयतीत्यर्थः ॥ ५ ॥ (सख्ये) यथा सर्वेषां प्राणिनां मित्रभाव-कर्मणि (उत त्वं) अन्यमनूचानं पूर्णविद्यायुक्तं (स्थिरपीतं) धर्मानुष्ठानेश्व-रप्राप्तिरूपं मोक्षफलं पीतं प्राप्तं येन तं विद्वांसं परमसुखप्रदं मित्रं (आहुः) वदन्ति । (नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु) ईदृशं विद्वांसं कस्मिंश्चिद् व्यवहारे केऽपि न हिंसन्ति तस्य सर्वप्रियकारकत्वात् । तथैव नैव केचित्प्रश्नोत्तरादयो व्यव-हारा वाजिनेषु विरुद्धवादिषु शत्रुभूतेष्वपि मनुष्येष्वेनमर्थविज्ञानसहितस्याध्येतारं मनुष्यं हिन्वन्ति तस्य सत्यविद्यान्वितया कामदुघा वाचा सह वर्त्तमानत्वेन सत्यविद्याशुभलक्षणान्वितत्वात् । इत्यनेन मन्त्रपूर्वार्धेन विद्वत्प्रशंसोच्यते । अथैतन्मन्त्रोत्तरार्द्धेनाविद्वल्लक्षणमाह (अधेन्वाऽऽचरति) यतो योऽविद्वान् (अपुष्पाम्) कर्मोपासनानुष्ठानाचारविद्यारहितां (अफलां) धर्मेश्वरविज्ञाना-चारविरहां वाचं शुश्रुवान् श्रुतवान् तयाऽर्थशिक्षारहितया भ्रमसहितया (माय-या) कपटयुक्तया वाचाऽस्मिंल्लोके चरति । नैव स मनुष्यजन्मनि स्वार्थपरो-पकाराख्यं च फलं किञ्चिदपि प्राप्नोति । तस्मादर्थज्ञानपूर्वकमेवाध्ययनमुत्तमं भवतीति ॥ ६ ॥

भाषार्थ ॥

ऐसे लड़कों और लड़कियों को बोलने सुनने चलने बैठने उठने खाने पीने पढ़ने विचारने तथा पदार्थों के जानने और जोड़ने आदि की शिक्षा भी करनी चाहिये क्योंकि अर्थज्ञान के विना पढ़े कोई भी उत्तम फल को प्राप्त नहीं हो सकता परन्तु कुछ भी नहीं पढ़ने वालों से तो पाठमात्र जानने वाला ही श्रेष्ठ है जो वेदों को अर्थसहित यथावत् पढ़ के शुभ गुणों का ग्रहण और उत्तम कर्मों को करता है वही सब से उत्तम होता है इस विषय में वेदमन्त्रों के बहुत प्रमाण हैं जैसें (ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्) यहां इन मन्त्रों से अर्थज्ञान के विना पढ़ने का निषेध किया जाता है (प्र०) जिस का विनाश कभी नहीं होता और जो सबसे श्रेष्ठ आकाशवत् व्यापक सब में रहने वाला परमेश्वर है जिसने अर्थसहित चारों वेद विद्यमान तथा जिसका उत्पन्न किया हुआ सब जगत् है वह ब्रह्म क्या वस्तु है (उ०) (यस्मिन्देवा०) जिस में संपूर्ण विद्वान् लोग सब इन्द्रियां सब मनुष्य और सब सूर्य्यादिलोक स्थित हैं वह परमेश्वर कहाता है जो मनुष्य वेदों को पढ़ के ईश्वर को न जाने तो क्या वेदार्थ जानने का फल उस को प्राप्त हो सकता है। कभी नहीं इसलिये जैसा वेदविषय में लिख आये हैं वैसा व्यवहार करने वाले मनुष्य अत्यन्त आनन्द को प्राप्त होते हैं परन्तु जो कोई पाठ मात्र ही पढ़ता है वह उत्तम सुख को प्राप्त कभी नहीं हो सकता इस कारण से जो कुछ पढ़ें सो अर्थ ज्ञानपूर्वक ही पढ़ें ॥ २ ॥ (स्थाणु०) जो मनुष्य वेदों को पढ़ के उन के अर्थों को नहीं जानता वह उनके सुख को न पाकर भार उठाने वाले पशु अथवा वृक्ष के समान है जो कि अपने फल फूल डाली आदि को विना गुणबोध के उठा रहे हैं किन्तु जैसे उनके सुख को भोगने वाला कोई दूसरा भाग्यवान् मनुष्य होता है वैसे ही पाठ के पढ़ने वाले भी परिश्रमरूप भार को उठाते हैं परन्तु उन के अर्थज्ञान से आनन्दस्वरूप फल को नहीं भोग सकते (योऽर्थज्ञ:) और जो अर्थ का जानने वाला है वह अधर्म से बचकर धर्मात्मा होके जन्म मरणरूप दुःख का त्याग करके संपूर्ण सुख को प्राप्त होता है क्योंकि जो ज्ञान से पवित्रात्मा होता है वह (नाकमेति) सर्वदुःखरहित होके मोक्षसुख को प्राप्त होता है इसी कारण वेदादिशास्त्रों को अर्थज्ञानसहित पढ़ना चाहिये ॥ ३ ॥ (यद्गृहीत०) जो मनुष्य केवल पाठमात्र ही पठन किया करता है उसका वह पढ़ना अन्धकाररूप होता है (अनग्नाविव शुष्कैधो०) जैसे अग्नि के विना सूखे ईंधन में दाह और प्रकाश नहीं होता वैसे ही अर्थज्ञान के विना अध्ययन भी ज्ञानप्रकाशरहित रहता है वह पढ़ना अविद्यारूप अन्धकार का नाश कभी नहीं कर सकता ॥ ४ ॥ (उत त्वः पश्यन्न ददर्श ।च०)

विद्वान् और अविद्वान् का यही लक्षण है कि जिस किसी को पढ़ सुन के भी शब्द अर्थ और सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान न हो वह मूर्ख अर्थात् अविद्वान् है (उतो त्वस्मै०) और जो मनुष्य शब्द अर्थ संबन्ध तथा विद्या के प्रयोजन को यथावत् जान ले वह पूर्ण विद्वान् कहाता है ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष को विद्या के स्वरूप के ज्ञान से परमानन्द-रूप फल भी होता है (जायेव पत्य उशती सुवासाः) अर्थात् जैसे पतिव्रता स्त्री अपने ही पति को अपना शरीर दिखलाती है वैसे ही अर्थ जाननेवाले विद्वान् ही को विद्या भी अपने रूप का प्रकाश करती है ॥ ५ ॥ (उतत्वं सख्ये०) सब मनुष्यों को उचित है कि विद्वानों के साथ प्रीति करें अर्थात् जैसे संपूर्ण मनुष्यों के मैत्री करने योग्य मनुष्य को सब लोग सुख देते हैं वैसे ही तू भी जो वेदादि विद्या और विज्ञानयुक्त पुरुष है उस को अच्छी प्रकार सुख दे कि जिससे तुझे विद्यारूप लाभ सदा होता रहे विद्वान् नाम उस का है जोकि अर्थसहित विद्या को पढ़ के वैसा ही आचरण करे कि जिससे धर्म अर्थ काम मोक्ष और परमेश्वर की प्राप्ति यथावत् हो-सके इसी को स्थिरपीत कहते हैं ऐसा जो विद्वान् है वह संसार को सुखदेनेवाला होता है (नैनं हि०) उस को कोई भी मनुष्य दुःख नहीं दे सकता क्योंकि जिसके हृदय में विद्यारूप सूर्य्य प्रकाशित हो रहा है उस को दुःखरूप चोर दुःख कभी नहीं दे सकते (अधेन्वाच०) और जो कोई अविद्यारूप अर्थात् अर्थ और अभिप्रायरहित वाणी को सुनता और कहता है उस को कभी कुछ भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता किन्तु शोकरूप शत्रु उस को सब दिन दुःख ही देते रहते हैं क्योंकि विद्या-हीन होने से वह उन शत्रुओं को जीतने में समर्थ नहीं हो सकता इसलिये अर्थज्ञान-सहित ही पढ़ने से मनचाहा सुखलाभ होता है ॥ ६ ॥

भाष्यम् ॥

मनुष्यैर्वेदार्थविज्ञानाय व्याकरणाष्टाध्यायीमहाभाष्याध्ययनम् । ततो निघ-ण्टुनिरुक्तछन्दोज्योतिषां वेदाङ्गानाम् । ततो मीमांसावैशेषिकन्याययोगसाङ्ख्य-वेदान्तानां वेदोपाङ्गानां षण्णां शास्त्राणाम् । तत ऐतरेयशतपथसामगोपथब्रा-ह्मणानामध्ययनं च कृत्वा वेदार्थपठनं कर्त्तव्यम् । यद्वा एतत्सर्वमधीतवद्भिः कृतं वेदव्याख्यानं दृष्ट्वा च वेदार्थज्ञानं सर्वैः कर्त्तव्यमिति । कुतः । नावेदवि-न्मनुते तं बृहन्तमिति यो मनुष्यो वेदार्थान्न वेत्ति स नैव तं बृहन्तं परमेश्वरं धर्मं विद्यासमूहं वा वेत्तुमर्हति । कुतः सर्वासां विद्यानां वेद एवाधिकरणमस्त्यतः । नहि तमविज्ञाय कस्यचित्सत्यविद्याप्राप्तिर्भवितुमर्हति । यद्यत् किञ्चिद्भूगोलमध्ये पुस्तकान्तरेषु हृदयान्तरेषु वा सत्यविद्याविज्ञानमभूत् भवति भविष्यति च तद्

सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम् । कुतः । यद्यद्यथार्थं विज्ञानं तत्तदीश्वरेण वेदेष्वधिकृतमस्ति । तद्द्वारैवाऽन्यत्र कुत्रचित्सत्यप्रकाशो भवितुं योग्यः । अतो वेदार्थविज्ञानाय सर्वैर्मनुष्यैः प्रयत्नोऽनुष्ठेय इति ॥

भाषार्थ ॥

मनुष्य लोग वेदार्थ जानने के लिये अर्थयोजनासहित व्याकरण अष्टाध्यायी, धातुपाठ, उणादिगण, गणपाठ और महाभाष्य, शिक्षा, कल्प, निघण्टु, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष् । ये छः वेदों के अंग, मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त ये छः शास्त्र, जो वेदों के उपांग । अर्थात् जिन से वेदार्थ ठीक २ जाना जाता है । तथा ऐतरेय शतपथ साम और गोपथ । ये चार ब्राह्मण, इन सब ग्रन्थों को क्रम से पढ़के अथवा जिन्हों ने उन संपूर्ण ग्रंथों को पढ़ के जो सत्य २ वेद व्याख्यान किये हों उन को देख के वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें क्योंकि (नावेदवित्०) वेदों को नहीं जाननेवाला मनुष्य परमेश्वरादि सब पदार्थविद्याओं को अच्छी प्रकार से नहीं जान सकता और जो २ जहां २ भूगोलों वा पुस्तकों अथवा मन में सत्यज्ञान प्रकाशित हुआ है और होगा वह सब वेदों में से हीं हुआ है क्योंकि जो २ सत्यविज्ञान है सो २ ईश्वर ने वेदों में धर रक्खा है इसी के द्वारा अन्य स्थानों में भी प्रकाश होता है और विद्या के विना पुरुष अंधे के समान होता है इस से संपूर्ण विद्याओं के मूल वेदों को विना पढ़े किसी मनुष्य को यथावत् ज्ञान नहीं हो सकता इसलिये सब मनुष्यों को वेदादि शास्त्र अर्थज्ञानसहित अवश्य पढ़ने चाहिये ॥

इति पठनपाठनविषयः संक्षेपतः ॥

अथ संक्षेपतो भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः ॥

(प्रश्नः) किञ्च भो नवीनं भाष्यं त्वया क्रियत आहोस्वित्पूर्वाचार्य्यैः कृतमेव प्रकाश्यते । यदि पूर्वैः कृतमेव प्रकाश्यते तर्हि तत् पिष्टपेषणदोषेण दूषितत्वान्न केनापि ग्राह्यं भवतीति । (उत्तरम्) पूर्वाचार्यैः कृतं प्रकाश्यते । तद्यथा । यानि पूर्वैर्देवैर्विद्वद्भिर्ब्रह्माणमारभ्य याज्ञवल्क्यवात्स्यायनजैमिन्यन्तैर्ऋषिभिश्चैतरेयशतपथादीनि भाष्याणि रचितान्यासन् । तथा । यानि पाणिनिपतञ्जलियास्कादिमहर्षिभिश्च वेदव्याख्यानानि वेदाङ्गाख्यानि कृतानि । एवमेव जैमिन्यादिभिर्वेदोपाङ्गाख्यानि षट्शास्त्राणि । एवमुपवेदाख्यानि । तथैव

वेदशाखाख्यानि च रचितानि सन्ति । एतेषां सङ्ग्रहकरणेनैव मन्त्रार्थः प्रकाश्यते । न चात्र किञ्चिदप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया रच्यत इति । (प्रश्नः) किमनेन फलं भविष्यतीति (उ०) यानि रावणोवटसायणमहीधरादिभिर्वेदार्थविरुद्धानि भाष्याणि कृतानि यानि चैतदनुसारेणाङ्गलखण्डशार्मण्यदेशोत्पन्नैर्यूरोपखण्डदेशनिवासिभिः स्वदेशभाषया स्वल्पानि व्याख्यानानि कृतानि । तथैवार्य्यावर्त्तदेशस्थैः कैश्चित्तदनुसारेण प्राकृतभाषया व्याख्यानानि कृतानि वा क्रियन्ते च तानि सर्वाण्यनर्थगर्भाणि सन्तीति । सज्जनानां हृदयेषु यथावत् प्रकाशो भविष्यति टीकानामधिकदोषप्रसिद्ध्या त्यागश्च । परन्त्ववकाशाभावात्तेषां दोषाणामत्र स्थालीपुलाकन्यायवत् प्रकाशः क्रियते । तद्यथा । यत् सायणाचार्य्येण वेदानां परममर्थमविज्ञाय सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डतत्पराः सन्तीत्युक्तम् । तदन्यथास्ति । कुतः । तेषां सर्वविद्यान्वितत्वात् । तच्च पूर्वं संक्षेपतो लिखितमस्ति । एतावतैवास्य कथनं व्यर्थमस्तीत्यवगन्तव्यम् । (इन्द्रं मित्रं०) अस्य मन्त्रस्याऽर्थोऽप्यन्यथैव वर्णितः । तद्यथा । तेनाऽत्रेन्द्रशब्दो विशेष्यतया गृहीतो मित्रादीनि च विशेषणतया । अत्र खलु विशेष्योऽग्निशब्द इन्द्रादीनां विशेषणानां सङ्गेऽन्वितो भूत्वा पुनः स एव सद्वस्तु ब्रह्मविशेषणं भवत्येवमेव विशेष्यं प्रति विशेषणं पुनः पुनरन्वितं भवतीति । न चैवं विशेषणम् । एवमेव यत्र शतं सहस्रं चैकस्य विशेष्यस्य विशेषणानि भवेयुः । तत्र विशेष्यस्य पुनः पुनरुच्चारणं भवति विशेषणस्यैकवारमेवेति तथैवात्र मन्त्रे परमेश्वरेणाऽग्निशब्दो द्विरुच्चारितो विशेष्यविशेषणाऽभिप्रायात् । इदं सायणाचार्य्येण नैव बुद्धमतस्तस्य भ्रान्तिरेव जातेति वेद्यम् । निरुक्तकारेणाप्यग्निशब्दो विशेष्यविशेषणत्वेनैव वर्णितः । तद्यथा । इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादि० ॥ नि० अ० ७ । खं० १८ ॥ स चैकस्य सद्वस्तुनो ब्रह्मणो नामास्ति । तस्मादग्न्यादीनीश्वरस्य नामानि सन्तीति बोध्यम् । तथा च । तस्मात्सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते । यथा राज्ञः पुरोहितः सदभीष्टं सम्पादयति यद्वा यज्ञस्य । सम्बन्धिनि पूर्वभागे आहवनीयरूपेणावस्थितमित्युक्तमिदमपि पूर्वापरविरुद्धमस्ति । तद्यथा । सर्वैर्नामभिः परमेश्वर एव हूयते चेत्पुनस्तेन होमसाधक आहवनीयरूपेणावस्थितो भौतिकोऽग्निः किमर्थो गृहीतः । तस्येदमपि वचनं भ्रममूलमेव । कोऽपि ब्रूयात्सायणाचार्य्येण यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः ॥

इत्युक्तत्वाददोष इति एवं प्राप्ते ब्रूमः । यदीन्द्रादिभिर्नामभिः परमेश्वर एवोच्यते तर्हि परमेश्वरस्येन्द्रादिरूपावस्थितिरनुचिता । तद्यथा । अज एकपात् । स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमित्यादिमन्त्रार्थेन परमेश्वरस्य जन्मरूपवत्त्वशरीरधारणादिनिषेधात्तत्कथनमसङ्गतमस्ति । एवमेव सायणाचार्य्यकृतभाष्यदोषा बहवः सन्ति । अग्रे यत्र यत्र यस्य यस्य मन्त्रस्य व्याख्यानं करिष्यामस्तत्र तत्र तद्भाष्यदोषान् प्रकाशयिष्याम इति ॥

भाषार्थ ॥

(प्रश्न) क्यों जी जो तुम यह वेदों का भाष्य बनाते हो सो पूर्व आचार्य्यों के भाष्य के समान बनाते हो वा नवीन, जो पूर्वरचित भाष्यों के समान है तब तो बनाना व्यर्थ है क्योंकि वे तो पहिले ही से बने बनाये हैं और जो नया बनाते हो तो उस को कोई भी न मानेगा क्योंकि जो विना प्रमाण के केवल अपने ही कल्पना से बनाना है यह बात कब ठीक हो सकती है (उत्तर) यह भाष्य प्राचीन आचार्य्यों के भाष्यों के अनुकूल बनाया जाता है परन्तु जो रावण उवट सायण और महीधर आदि ने भाष्य बनाये हैं वे सब मूलमन्त्र और ऋषिकृत व्याख्यानों से विरुद्ध हैं मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता क्योंकि उन्होंने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ भी नहीं जानी । और जो यह मेरा भाष्य बनता है सो तो वेद वेदाङ्ग ऐतरेय शतपथब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार होता है । क्योंकि जो २ वेदों के सनातन व्याख्यान हैं उनके प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है यही इस में अपूर्वता है क्योंकि जो २ प्रामाण्याप्रामाण्यविषय में वेदों से भिन्न शास्त्र गिन आये हैं वे सब वेदों के ही व्याख्यान हैं वैसे ही ग्यारहसौ सत्ताईस (११२७) वेदों की शाखा भी उन के व्याख्यान ही हैं उन सब ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त यह भाष्य बनाया जाता है और दूसरा इस के अपूर्व होने का कारण यह भी है कि इस में कोई बात अप्रमाण वा अपनी रीति से नहीं लिखी जाती और जो २ भाष्य उवट सायण महीधरादि ने बनाये हैं वे सब मूलार्थ और सनातन वेदव्याख्यानों से विरुद्ध हैं तथा जो २ इन नवीन भाष्यों के अनुसार अंग्रेजी जर्मनी दक्षिणी और बंगाली आदि भाषाओं में वेदव्याख्यान बने हैं वे भी अशुद्ध हैं जैसे देखो सायणाचार्य्य ने वेदों के श्रेष्ठ अर्थों को नहीं जान कर कहा है कि सब वेद क्रियाकाण्ड का ही प्रतिपादन करते हैं यह उनकी बात मिथ्या है इस के उत्तर में जैसा कुछ इसी भूमिका के पूर्व प्रकरणों में संक्षेप से लिख चुके हैं सो देख लेना ऐसे ही (इन्द्रं मित्रं०) सायणाचार्य्य ने इस मन्त्र का अर्थ भी भ्रान्ति से विगाड़ा है क्योंकि उन से इस मन्त्र में विशेष्य विशेषण को अच्छी रीति से नहीं समझ कर इन्द्र शब्द को तो विशेष्य करके वर्णन किया और मित्रादि शब्द उस के विशे-

षण ठहराये हैं यह उन को बड़ा भ्रम हो गया क्योंकि इस मन्त्र में अग्नि शब्द वि· शेष्य और इन्द्रादि शब्द उस के ही विशेषण हैं इसलिये विशेषणों का विशेष्य के साथ अन्वय होकर पुनः दूसरे विशेषण के साथ विशेष्य का अन्वय कराना होता और विशेषण का एक वार विशेष्य के साथ अन्वय होता है इसी प्रकार जहां २ एक के सैकड़ों वा हजारों विशेषण होते हैं वहां २ भी विशेष्य का सैकड़ों वा हजारों वार उच्चारण होता है वैसे ही इस मन्त्र में विशेष्य की इच्छा से ईश्वर ने अग्नि शब्द का दो वार उच्चारण किया और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम कहे हैं यह बात सायणाचार्य्य ने नहीं जानी इससे उन को यह भ्रान्तिसिद्ध है इसी प्रकार निरुक्तकार ने भी अग्नि शब्द को विशेष्य ही वर्णन किया है (इममेवाग्नि०) यहां अग्नि और इन्द्रादि नाम एक सद् वस्तु ब्रह्म ही के हैं क्योंकि इन्द्रादि शब्द अग्नि के विशेषण और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम हैं ऐसे ही सायणाचार्य्य ने और भी बहुत मन्त्रों की व्याख्याओं में शब्दों के अर्थ उलटे किये हैं तथा उनने सब मन्त्रों से परमेश्वर का ग्रहण कर रक्खा है जैसे राजा का पुरोहित राजा ही के हित का काम सिद्ध करता है अथवा जो अग्नि यज्ञ के सम्बन्धी प्रथम भाग में हवन करने के लिये है उसी रूप से ईश्वर स्थित है यह सायणाचार्य्य का कथन अयोग्य और पूर्वापर विरोधी होकर आगे पीछे के स- म्बन्ध को तोड़ता है क्योंकि जब सब नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण करते हैं तो फिर जिस अग्नि में हवन करते हैं उस को किसलिये ग्रहण किया है और कदाचित् कोई कहे कि जो सायणाचार्य्य ने वहां इन्द्रादि देवताओं का ही ग्रहण किया हो तो उससे कुछ भी विरोध नहीं आ सक्ता इस का उत्तर यह है कि जब इन्द्रादि नामों से पर- मेश्वर ही का ग्रहण है तो वह निराकार सर्वशक्तिमान् व्यापक और अखण्ड होने से जन्म लेकर भिन्न २ व्यक्ति वाला कभी नहीं हो सकता क्योंकि वेदों में परमेश्वरका एक अज और अकायं अर्थात् शरीरसम्बन्ध रहित आदि गुणों के साथ वर्णन किया है इस से सायणाचार्य्य का कथन सत्य नहीं हो सकता इसी प्रकार सायणाचार्य्य ने जिस २ मन्त्र का अन्यथा व्याख्यान किया है सो सब क्रमपूर्वक आगे उन मन्त्रों के व्याख्यान में लिख दिया जायगा ॥

भाष्यम् ॥

एवमेव महीधरेण महानर्थरूपं वेदार्थदूषकं वेददीपाख्यं विवरणं कृतं तस्या- पीह दोषा दिग्दर्शनवत्प्रदर्श्यन्ते ॥

इसी प्रकार महीधर ने भी यजुर्वेद पर मूल से अत्यन्त विरुद्ध व्याख्यान किया है उसमें से सत्यासत्य की परीक्षा के लिये उन के कुछ दोष यहां भी दिखलाते हैं ॥

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम ॥ आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम् ॥ १ ॥ यजु० अ० २३ । मं० १९ ॥

भाष्यम् ॥

अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने तेनोक्तमस्मिन्मन्त्रे गणपतिशब्दादश्वो वाजी ग्रहीतव्य इति । तद्यथा । महिषी यजमानस्य पत्नी यज्ञशालायां पश्यतां सर्वेषामृत्विजामश्वसमीपे शेते शयाना सत्याह हे अश्व गर्भधं गर्भं दधाति गर्भधं गर्भधारकं रेतः अहं आ आजानि आकृष्य क्षिपामि त्वं च गर्भधं रेतः आ अजासि आकृष्य क्षिपसि ॥

भाषार्थ ॥

(गणानां त्वा) इस मन्त्र में महीधर ने कहा है कि गणपति शब्द से घोड़े का ग्रहण है सो देखो महीधर का उलटा अर्थ कि सब ऋत्विजों के सामने यजमान की स्त्री घोड़े के पास सोवे और सोती हुई घोड़े से कहे कि अश्व जिससे गर्भधारण होता है ऐसा जो तेरा वीर्य्य है उस को मैं खैंच के अपनी योनि में डालूं तथा तू उस वीर्य्य को मुझ में स्थापन करने वाला है ॥

अथ सत्यार्थः ॥

गणानां त्वा गणपतिं हवामह इति । ब्राह्मणस्पत्यं ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मणैवैनं तद्भिषज्यति प्रथश्च यस्य स प्रथश्च नामेति ॥ ऐत० पं० १ । कं० २१ ॥ प्रजापतिर्वै जमदग्निः सोऽश्वमेधः । क्षत्रं वाऽश्वो विडितरे पशवः । क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यं ज्योतिर्वै हिरण्यम् ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ११ । कं० १४ । १५ । १६ । १७ ॥ न वै मनुष्यः स्वर्गं लोकमञ्जसा वेदाश्वो वै स्वर्गं लोकमञ्जसा वेद ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० १२ । कं० १ ॥ राष्ट्रमश्वमेधो ज्योतिरेव तद्राष्ट्रे दधाति क्षत्रायैव तद्विशं कृतानु-

करामनुवर्त्समानं करोति । अथो क्षत्रं वा अश्वः क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिर-
ण्यं क्षत्रमेव तत्क्षत्रेण समर्धयति विशमेव तद्विशा समर्धयति ॥ श० कां०
१३ । अ० २ । ब्रा० ११ । कं० १५ । १६ । १७ ॥ गणानां त्वा गणपतिं
हवामह इति । पत्न्यः परियन्त्यपह्नुवत एवास्मा एतद्दतोऽन्येभ्योऽस्मै-
ह्नुवतेऽथो धुवत एवैनं त्रिः परियन्ति त्रयो वा इमे लोका एभिरेवैनं
लोकैर्धुवते त्रिः पुनः परियन्ति षट् सम्पद्यन्ते षड्वा ऋतव ऋतुभिरे-
वैनं धुवते अप वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति ये यज्ञे धुवनं तन्वते नव-
कृत्वः परियन्ति नव वै प्राणाः प्राणानेवात्मं धत्ते । नैभ्यः प्राणा अ-
पक्रामन्त्याहमजानि गर्भधमात्वमजासि गर्भधमिति । प्रजा वै पशवो
गर्भः प्रजामेव पशूनात्मं धत्ते ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० २ ।
कं० ४ । ५ ॥

भाष्यम् ॥

(गणानां त्वा०) वयं गणानां गणनीयानां पदार्थसमूहानां गणपतिं पालकं स्वामिनं (त्वा) त्वां परमेश्वरं (हवामहे) गृह्णीमः । तथैव सर्वेषां प्रियाणामिष्टमित्रादीनां मोक्षादीनां च प्रियपतिं त्वेति पूर्ववत् । एवमेव निधीनां विद्यारत्नादिकोशानां निधिपतिं त्वेति पूर्ववत् । वसन्त्यस्मिन् सर्वं जगद्वा यत्र वसति स वसुः परमेश्वरः । तत्सम्बुद्धौ हे वसो परमेश्वर त्वं । सर्वान् का-र्य्यान् भूगोलान्स्वसामर्थ्ये गर्भवद्दधातीति स गर्भधस्तं त्वामहं भवत्कृपया आजानि सर्वथा जानीयाम् (आ त्वमजासि) हे भगवन् त्वन्त्वामन्तादज्ञातासि । पुनर्गर्भधमित्युक्तथा वयं प्रकृतिपरमाण्वादीनां गर्भधानामपि गर्भधं त्वां मन्या-महे । नैवातो भिन्नः कश्चिद् गर्भधारकोऽस्तीति । एवमेवैतरेयशतपथब्राह्मणे गणपतिशब्दार्थो वर्णितः । ब्राह्मणस्पत्यमस्मिन्मन्त्रे ब्रह्मणो वेदस्य एतेऽर्थो वर्णितः । ब्रह्म वै बृहस्पतिरित्युक्तत्वात् । तेन ब्रह्मोपदेशेनैवैनं जीवं यजमानं वा सत्योपदेष्टा विद्वान् भिषज्यति रोगरहितं करोति । आत्मनो भिषजं वैद्यमिच्छ-

तीति । यस्य परमेश्वरस्य प्रथः सर्वत्र व्याप्तो विस्तृतः सप्रथश्च प्रकृत्याकाशादिना प्रथेन स्वसामर्थ्येन वा सह वर्त्तते स सप्रथस्तदिदं नामद्वयं तस्यैवास्तीति । प्रजापतिः परमेश्वरो वै इति निश्चयेन जमदग्निसंज्ञोऽस्ति । अत्र प्रमाणम् ॥

जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा तैरभिहुतो भवति ॥ निरु० अ० ७ । खं० २४ ॥

भाष्यम् ॥

इमे सूर्य्यादयः प्रकाशकाः पदार्थास्तस्य सामर्थ्यादेव प्रज्वलिता भवन्ति । तैः सूर्य्यादिभिः कार्य्यैस्तन्नियमैश्च कारणाख्य ईश्वरोऽभिहुतश्चाभिमुख्येन पूजितो भवतीति यः स जमदग्निः परमेश्वरः (सोऽश्वमेधः) स एव परमेश्वरोऽश्वमेधाख्य इति प्रथमोर्थः । अथापरः । क्षत्रं वाश्वो विडितरे पशव इत्यादि । यथाऽश्वस्योपक्षय इतरइमेऽजादयः । पशवो न्यूनबलवेगा भवन्ति । तथा राज्ञः सभासमीपे विट् प्रजा निर्बलैव भवति । तस्य राज्यस्य यद्धिरण्यं सुवर्णादिवस्तु ज्योतिः प्रकाशो वा न्यायकरणमेतत्स्वरूपं भवति । यथा राजप्रजालङ्कारेण राजप्रजाधर्मो वर्णितः । तथैव जीवेश्वरयोः स्वस्वामिसम्बन्धो वर्ण्यते । नैव मनुष्यः केवलेन स्वसामर्थ्येन सरलतया स्वर्गं परमेश्वराख्यं लोकं वेद किन्त्वीश्वरानुग्रहेणैव जानाति ॥

अश्वो यत ईश्वरो वा अश्वः ॥ श० कां० १३ । अ० ३ । ब्रा० ८ । कं० ८ ॥ अश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगत्सोऽश्व ईश्वरः ॥

भाष्यम् ॥

इत्युक्तत्वादीश्वरस्यैवात्राश्वसंज्ञास्तीति । अन्यच्च (राष्ट्रं वा०) राज्यमश्वमेधसंज्ञं भवति तद्राष्ट्रं राज्यकर्मणि ज्योतिर्दधाति तत्कर्मफलं क्षत्राय राजपुरुषाय भवति । तच्च स्वसुखायैव विशं प्रजां कृतानुकरां स्ववर्त्तमानामनुकूलां करोति । अथो इत्यनन्तरं क्षत्रमेवाश्वमेधसंज्ञकं भवति । तस्य यद्धिरण्यमेतदेवरूपं भवति । तेन हिरण्याद्यन्वितेन क्षत्रेण राज्यमेव सम्यग्वर्धते नच प्रजाः । सा तु स्वतन्त्रस्वभावान्वितया विशा समर्धयति । अतो यत्रैको राजा भवति तत्र प्रजा पीडिता जायते । तस्मात्प्रजासत्तयैव राज्यप्रबन्धः कार्य्य इति । (गणानां) त्वियोक्तेनं राज्यपालनाय विद्यामयं सन्तानशिक्षाकरणाख्यं यज्ञं परितः सर्वतः प्राप्नुयुः प्राज्ञाः सत्योऽस्य सिद्धये यदध्ययनाख्यं कर्माचरन्ति । अतः कारणा-

देतदेतासामन्ये विद्वांसो दूरीकुर्वन्ति । अथो इत्यनन्तरं य एनं विचालयन्ति तानप्यन्ये च दूरीकुर्य्युः । एवमस्य त्रिवारं रक्षणं सर्वथा कुर्य्युः । एवं प्रतिदिनमेतस्य शिक्षया रक्षणेन चात्मशरीरबलानि सम्पादयेयुः । ये नराः पूर्वोक्तं गर्भधं परमेश्वरं जानन्ति नैव तेभ्यः प्राया बलपराक्रमादयोऽपक्रामन्ति । तस्मान्मनुष्यस्तं गर्भधं परमेश्वरमहमाजानि समन्ताज्जानीयामितीच्छेत् । (प्रजा वै पशवः०) ईश्वरसामर्थ्यगर्भात्सर्वे पदार्था जाता इति योजनीयम् । यश्च पशूनां प्रजानां मध्ये विज्ञानवान् भवति स इमां सर्वां प्रजामात्मानि प्रतति सर्वत्र व्याप्नोति तस्मिन् जगदीश्वरे वर्त्तत इति धारयति । संक्षेपतो गणानां त्वेतिमन्त्रस्यार्थो वर्णितः । अस्मान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्ध एवास्तीति मन्तव्यम् ॥

भाषार्थ ॥

(गणानां त्वा०) ऐतरेय ब्राह्मण में गणपति शब्द की ऐसी व्याख्या की है कि यह मन्त्र ईश्वरार्थ का प्रतिपादन करता है जैसे ब्रह्म का नाम बृहस्पति ईश्वर तथा वेद का नाम भी ब्रह्म है जैसे अच्छा वैद्य रोगी को औषध देके दुःखों से अलग कर देता है वैसे ही परमेश्वर भी वेदोपदेश करके मनुष्य को विज्ञानरूप औषधि देके अविद्यारूप दुःखों से छुड़ा देता है जो कि प्रथ अर्थात् विस्तृत सब में व्याप्त और सप्रथ अर्थात् आकाशादि विस्तृत पदार्थों के साथ भी व्यापक हो रहा है इसी प्रकार से यह मन्त्र ईश्वर के नामों को यथावत् प्रतिपादन कर रहा है ऐसे ही शतपथ ब्राह्मण में भी राज्यपालन का नाम अश्वमेध राजा का नाम अश्व और प्रजा का नाम घोड़े से भिन्न पशु रक्खा है राज्य की शोभा धन है और ज्योति का नाम हिरण्य है तथा अश्व नाम परमेश्वर का भी है क्योंकि कोई मनुष्य स्वर्गलोक को अपने सहज सामर्थ्य से नहीं जान सकता किन्तु अश्व अर्थात् जो ईश्वर है वही उन के लिये स्वर्गसुख को बनाता और जो मनुष्य प्रेमी धर्मात्मा हैं उन को सब स्वर्गसुख देता है तथा (राष्ट्रमश्वमेधः) राज्य के प्रकाश का धारण करना सभा ही का काम और उसी सभा का नाम राजा है वही अपनी ओर से प्रजा पर कर लगाती है क्योंकि राज ही से राज्य और प्रजा ही से प्रजा की वृद्धि होती है (गणानां त्वा०) स्त्री लोग भी राज्यपालन के लिये विद्या की शिक्षा सन्तानों को करती रहें जो इस यज्ञ को प्राप्त होके भी सन्तानोत्पत्ति आदि कर्म्म में मिथ्याचरण करती हैं उन के इस कर्म को विद्वान् लोग प्रसन्न नहीं करते और जो पुरुष संतानादि की शिक्षा में आलस्य करते हैं अन्य लोग उनको बांध कर ताड़ना देते हैं इस प्रकार तीन छः वा नव वार इस की रक्षा से आत्मा शरीर और बल को सिद्ध करें, जो मनुष्य परमेश्वर की उपासना करते हैं उनके बलादि गुण कभी नष्ट नहीं होते (आहमजानि०) प्रजा के कारण का नाम गर्भ है उस

के समतुल्य वह सभा प्रजा और प्रजा के पशुओं को अपने आत्मा में धारण करे अर्थात् जिस प्रकार अपना सुख चाहे वैसे ही प्रजा और उस के पशुओं का भी सुख चाहे (गणानां त्वा०) जो परमात्मा गणनीय पदार्थों का पति अर्थात् पालन करने हारा है (त्वा०) उस को (हवामहे) हम लोग पूज्यबुद्धि से ग्रहण करते हैं (प्रियाणां०) जो कि हमारे इष्ट मित्र और मोक्षसुखादि का प्रियपति तथा हम को आनन्द में रख कर सदा पालन करने वाला है उसी को हम लोग अपना उपास्यदेव मान के ग्रहण करते हैं (निधीनां त्वा०) जो कि विद्या और सुखादि का निधि अर्थात् हमारे कोशों का पति है उसी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को हम अपना राजा और स्वामी मानते हैं तथा जो कि व्यापक होके सब जगत में और सब जगत् उसमें बस रहा है इस कारण से उस को वसु कहते हैं हे वसु परमेश्वर जो आप अपने सामर्थ्य से जगत् के अनादि कारण में गर्भधारण करते हैं अर्थात् सब मूर्त्तिमान द्रव्यों को आप ही रचते हैं इसी हेतु से आप का नाम गर्भध है (आहमजानि) मैं ऐसे गुणसहित आपको जानूं (आत्व०) जैसे आप सब प्रकार से सब को जानते हैं वैसे ही मुझ को भी सब प्रकार से ज्ञानयुक्त कीजिये (गर्भधं) दूसरी वेर गर्भध शब्द का पाठ इसलिये है कि जो २ प्रकृति और परमाणु आदि कार्यद्रव्यों के गर्भरूप हैं उन में भी सब जगत् के गर्भरूप बीज को धारण करनेवाले ईश्वर से भिन्न दूसरा कार्य्य जगत की उत्पत्ति स्थिति और लय करनेवाला कोई भी नहीं है यही अर्थ ऐतरेय शतपथ ब्राह्मण में कहा है विचारना चाहिये कि इस सत्य अर्थ के गुप्त होने और मिथ्या नवीन अर्थों के प्रचार होने से मनुष्यों को भ्रान्त करके वेदों का कितना अपमान कराया है जैसे यह दोष खण्डित हुआ वैसे इस भाष्य की प्रवृत्ति से इन सब मिथ्या दोषों की निवृत्ति हो जायगी ॥

ता उ॒भौ च॒तुरः॑ प॒दः स॒म्प्रसा॑रयाव स्व॒र्गे लो॒के प्रोर्णु॑वाथां॒ वृषा॑ वा॒जी रे॑तो॒धा रेतो॑ दधातु ॥ २ ॥ य० अ० २३ । मं० २० ॥

महीधरस्यार्थः ॥ अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति । महिषी स्वयमेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति ॥

महीधर का अर्थ ।

भाषार्थ ॥

यजमान की स्त्री घोड़े के लिङ्ग को पकड़ कर आप ही अपनी योनि में डाल देवे ॥

सत्योऽर्थः ॥

ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयावेति मिथुनस्यावरुद्ध्यै स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथामित्येष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुꣳ संज्ञपयन्ति तस्मा-देवमाह वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधात्विति मिथुनस्यैवावरुद्ध्यै ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० २ । कं० ५ ॥

भाष्यम् ॥

आवां राजप्रजे धर्मार्थकाममोक्षान् चतुरः पदानि सदैव मिलित्वा भूत्वा सम्यक् विस्तारयेवहि । कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह । स्वर्गे सुखविशेषे लोके द्रष्टव्ये भोक्तव्ये प्रियानन्दस्य स्थिरत्वाय येन सर्वान्प्राणिनः सुखैराच्छादयेवहि ॥ यस्मिन् राज्ये पशुं पशुस्वभावमन्यायेन परपदार्थानां द्रष्टारं जीवं विद्योपदेश-दण्डदानेन सम्यगवबोधयन्ति सैष एव सुखयुक्तो देशो हि स्वर्गो भवति । त-स्मात्कारणादुभयस्य सुखायोभये विद्यादिसद्गुणानामभिवर्षकं वाजिनं विज्ञा-नवन्तं जनं प्रति विद्याबले सततमेव दधात्वित्याहायं मन्त्रः ॥

भाषार्थ ॥

(ता उभौ०) राजा और प्रजा हम दोनों मिल के धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि के प्रचार करने में सदा प्रवृत्त रहें किस प्रयोजन के लिये कि दोनों की अत्यन्त सुखरूप स्वर्गलोक में प्रिय आनन्द की स्थिति के लिये जिससे हम दोनों परस्पर तथा सब प्राणियों को सुख से परिपूर्ण कर देवें जिस राज्य में मनुष्य लोग अच्छी प्रकार ईश्वर को जानते हैं वही देश सुखयुक्त होता है इससे राजा और प्रजा परस्पर सुख के लिये सद्गुणों के उपदेशक पुरुष की सदा सेवा करें और विद्या तथा बल को सदा बढ़ावें इस अर्थ का कहनेवाला (ता उभौ०) यह मन्त्र है इस अर्थ से महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है ॥

यकासकौ शकुन्तिका हलगिति वञ्चति । आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका ॥ य० अ० २३ । मं० २२ ॥

महीधरो वदति ॥

अध्वर्य्वादयः कुमारीपत्नीभिः सह सोपहासं संवदन्ते । अङ्गुल्या योनिं

प्रवेशयन्नाह स्त्रीणां शीघ्रगमने योनौ हलहलाशब्दो भवतीत्यर्थः । भगे योनौ शकुनिसदृशायां यदा पसो लिङ्गमाहन्ति आगच्छति । पुंस्प्रजननस्य नाम हन्ति-गेत्यर्थः । यदा भगं शिश्नमागच्छति तदा धारका धरति लिङ्गमिति धारका योनिर्निगल्गलीति नितरां गलति वीर्यं क्षरति यद्वा शब्दानुकरणं गल्गलेति शब्दं करोति (यकासकौ०) कुमारी अध्वर्युं प्रत्याह । अङ्गुल्या लिङ्गं प्रदेशयन्त्याह । अग्रभागे सच्छिद्रं लिङ्गं तव मुखमिव भासते ॥

महीधर का अर्थ ।

भाषार्थ ॥

यज्ञशाला में अध्वर्यु आदि ऋत्विज् लोग कुमारी और स्त्रियों के साथ उपहास-पूर्वक संवाद करते हैं इस प्रकार से कि अङ्गुली से योनि को दिखला के हंसते हैं (आहलगिति०) जब स्त्री लोग जल्दी २ चलती हैं तब उन की योनि में हलहला शब्द और जब भग लिङ्ग का संयोग होता है तब भी हलहला शब्द होता और योनि और लिङ्ग से वीर्य झरता है (यकासकौ०) कुमारी अध्वर्यु का उपहास करती है कि जो यह छिद्रसहित तेरे लिङ्ग का अग्रभाग है सो तेरे मुख के समान दीख पड़ता है ॥

अथ सत्यार्थः ॥

यकासकौ शकुन्तिकेति विड्वै शकुन्तिका हलगिति वञ्चतीति विशो वै राष्ट्राय वञ्चन्त्याहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारकेति विड्वै गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्या हन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ३ । कं० ६ ॥

भाष्यम् ॥

(विड्वै०) यथा श्येनस्य समीपेऽल्पापक्षिणी निर्बला भवति तथैव राज्ञः समीपे (विट्) प्रजा निर्बला भवति (आहलगिति वञ्चतीति) राजानो विशः प्रजाः (वै) इति निश्चयेन राष्ट्राय राजकुलस्योपभोगाय सदैव वञ्चन्तीति (आहन्ति०) विशो गभसंज्ञा भवति पसाख्यं राष्ट्रं राज्यं प्रजया स्पर्शनीयं भवति यस्माद्राष्ट्रं तां प्रजां प्रविश्याहन्ति समन्ताद्धननं पीडां करोति । यस्माद्राष्ट्री एको

राजा मतश्चेत्तर्हि विशं प्रजां घातुको भवति तस्मात्कारणादेको मनुष्यो राजा कदाचिन्नैव मन्तव्यः किन्तु सभाध्यक्षः सभाधीनो यः सदाचारी शुभलक्षणान्वितो विद्वान्स प्रजार्भी राजा मन्तव्यः । अस्मादपि सत्यादर्थान्महीधरस्यातीव दुष्टोऽर्थोऽस्तीति विचारणीयम् ॥

भाषार्थ ॥

(यकासकौ०) प्रजा का नाम शकुन्तिका है कि जैसे बाज के सामने छोटी २ चिड़ियाओं की दुर्दशा होती है वैसे ही राजा के सामने प्रजा की (आहलगिति०) जहां एक मनुष्य राजा होता है वहां प्रजा ठगी जाती है (आहन्तिगभे पसो०) तथा प्रजा का नाम गभ और राज्य का नाम पस है जहां एक मनुष्य राजा होता है वहां वह अपने लोभ से प्रजा के पदार्थों की हानि ही करता चला जाता है इसलिये राजा को प्रजा का घातुक अर्थात् हनन करने वाला भी कहते हैं इस कारण से एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये किन्तु धार्मिक विद्वानों की सभा के आधीन ही राज्यप्रबन्ध होना चाहिये (यकासकौ०) इत्यादि मन्त्रों के शतपथप्रतिपादित अर्थों से महीधर आदि अल्पज्ञ लोगों के बनाये हुए अर्थों का अत्यन्त विरोध है ॥

माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः । प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतꣳसयत् ॥ य० अ० २३ । मं० २४ ॥

महीधरस्यार्थः ॥

ब्रह्मा महिषीमाह महिषि हये हये महिषि ते तव माता च पुनस्ते तव पिता यदा वृक्षस्य वृक्षजस्य काष्ठमयस्य मञ्चकस्याग्रमुपरिभागं रोहतः आरोहतः तदा ते पिता गभे गभे मुष्टिं मुष्टितुल्यं लिङ्गमतंसयत्तं सयति प्रक्षिपति एवं तवोत्पत्तिरित्युपहसतीत्यर्थः । लिङ्गमुत्थानेनालङ्करोति वा तव भोगेन स्निह्यामीति वदन्नेवं तवोत्पत्तिः ॥

महीधर का अर्थ ।

भाषार्थ ॥

अब ब्रह्मा हास करता हुआ यजमान की स्त्री से कहता है कि जब तेरी माता और पिता पलंग के ऊपर चढ़ के तेरे पिता ने मुष्टितुल्य लिङ्ग को तेरी माता के भग में

डाला तब तेरी उत्पत्ति हुई उसने ब्रह्मा से कहा कि तेरी भी उत्पत्ति ऐसे ही हुई है इस से दोनों की उत्पत्ति तुल्य है ॥

अथ सत्यार्थः ॥

माता च ते पिता च त इति । इयं वै माताऽसौ पिताभ्यामेवैनं स्वर्गं लोकं गमयत्यग्रं वृक्षस्य रोहत इति । श्रीर्वै राष्ट्रस्याग्रꣳ श्रियमेवैनꣳ राष्ट्रस्याग्रं गमयति । प्रातिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतꣳसयादिति । विड्वै गभो राष्ट्रं मुष्टी राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ३ । कं० ७ ॥

भाष्यम् ॥

(माता च ते०) हे मनुष्य इयं पृथिवी विद्या च ते तव मातृवदस्ति । ओषध्याद्यनेकपदार्थदानेन विज्ञानोत्पत्त्या च मान्यहेतुत्वात् । असौ द्यौः प्रकाशो विद्वानीश्वरश्च तव पितृवदस्ति । सर्वपुरुषार्थानुष्ठानस्य सर्वसुखप्रदानस्य च हेतुत्वेन पालकत्वात् विद्वान् ताभ्यामेवैनं जीवं स्वर्गं सुखरूपं लोकं गमयति (अग्रं वृक्षस्य०) या श्रीर्विद्या शुभगुणरत्नादिशोभान्विता च लक्ष्मीः सा राष्ट्रस्याग्रमुत्तमाङ्गं भवति सैवैनं जीवं श्रियं शोभां गमयति । यद्राष्ट्रस्याग्रमग्र्यं मुख्यं सुखं च (प्रातिलामीति०) विट् प्रजा गभाख्याऽर्थादैश्वर्यप्रदा (राष्ट्रं मुष्टीः०) राजकर्म मुष्टिर्यथा मुष्टिना मनुष्यो धनं गृह्णाति तथैवैको राजा चेच्चर्हि पक्षपातेन प्रजाभ्यः स्वसुखाय सर्वां श्रेष्ठां श्रियं हरत्येव । यस्माद्राष्ट्रं विशि प्रजायां प्रविश्य आहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशंघातुको भवति । अस्मादर्थान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्धोऽस्ति तस्मात्स नैव केनापि मन्तव्यः ॥

भाषार्थ ॥

सत्य अर्थ ॥

(माता च ते०) सब प्राणियों की पृथिवी और विद्या माता के समान सब प्रकार के मान्य कराने वाली और सूर्यलोक विद्वान् तथा परमेश्वर पिता के समान हैं

महीधर का अर्थ ।

भाषार्थ ॥

पुरुष लोग स्त्री की योनि को दोनों हाथ से खैंच के बड़ा लेवें (यदस्या अंहु०) परिवृक्ता अर्थात् जिस स्त्री का वीर्य्य निकल जाता है जब छोटा वा बड़ा लिङ्ग उस की योनि में डाला जाता है तब योनि के ऊपर दोनों अंडकोश नाचा करते हैं क्योंकि योनि छोटी और लिङ्ग बड़ा होता है इस में महीधर दृष्टान्त देता है कि जैसे गाय के खुर के बने हुए गढ़े के जल में दो मच्छी नाचें तथा जैसे खेती करने वाला मनुष्य अन्न और भुस अलग २ करने के लिये चलते वायु में एक पात्र में भर के ऊपर को उठा के कंपाया करता है वैसे ही योनि के ऊपर अंडकोश नाचा करते हैं ॥

अथ सत्योऽर्थः ॥

। ऊर्ध्वमेनामुच्छ्रापयेति । श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधः श्रियमेवास्मै राष्ट्रमूर्ध्वमुच्छ्रयति । गिरौ भारꣳ हरन्निवेति । श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः श्रियमेवास्मै राष्ट्रꣳ सन्नह्यत्यथो श्रियमेवास्मिन् राष्ट्रमधिनिदधाति अथास्यै मध्यमेधतामिति । श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यꣳ श्रियमेव राष्ट्रे मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति शीते वाते पुनन्निवेति क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतं क्षेममेवास्मै करोति ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ३ । कं० १ । २ । ३ । ४ ॥

भाष्यम् ॥

(ऊर्ध्वमेना०) हे नर त्वं श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधो यज्ञश्चास्मै राष्ट्राय श्रियमुच्छ्रापय सेव्यामुत्कृष्टां कुरु । एवं सभया राज्यपालने कृते राष्ट्रं राज्यमूर्ध्वं सर्वोत्कृष्टगुणमुच्छ्रयितुं शक्यम् । (गिरौ भारꣳ हर०) कश्चिन्मनुष्य इव गिरिशिखरे प्राप्त्यर्थं भारमुद्धृत्योपस्थापयन्निव । कोऽस्ति राष्ट्रस्य भार इत्यत्राह । श्रीर्वै राष्ट्रस्य भार इति । सभाव्यवस्थयास्मै राष्ट्राय श्रियं सन्नह्य सम्बध्य राष्ट्रमुत्तमं कुर्यात् । अथो इत्यनन्तरमेवं कुर्वन् जनोऽस्मिन्संसारे राष्ट्रं श्रीयुक्तमधि-

निदधाति सर्वोपरि नित्यं धारयतीत्यर्थः । (अथास्यै०) किमस्य राष्ट्रस्य मध्यमित्याकाङ्क्षायामुच्यते । श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यं तस्मादिमां पूर्वोक्तां श्रियमन्नाद्यं भोक्तव्यं वस्तु च राष्ट्रे राज्ये महतो राज्यस्याऽभ्यन्तरे दधाति सुसभया सर्वां प्रजां सुभोगयुक्तां करोति । कस्मिन् किं कुर्वन्निव शीते वाते पुनन्निवेति राष्ट्रस्य क्षेमो रक्षणं शीतं भवत्यस्मै राष्ट्राय क्षेमं सुसभया रक्षणं कुर्यात् । अस्मादपि सत्यादर्थान्महीधरस्य व्याख्यानमत्यन्तं विरुद्धमस्तीति ॥

भाषार्थ ॥

श्री नाम विद्या और धन का तथा राष्ट्रपालन का नाम अश्वमेध है ये ही श्री और राज्य की उन्नति कराते हैं (गिरौ भारं हरन्निव०) राज्य का भार श्री है क्योंकि इसीसे राज्य की वृद्धि होती है इसलिये राज्य में विद्या और धन की अच्छी प्रकार वृद्धि होने के अर्थ उसका भार अर्थात् प्रबन्ध श्रेष्ठपुरुषों की सभा के ऊपर धरना चाहिये कि (अथास्यै०) श्री राज्य का आधार और वही राज्य में शोभा को धारण करके उत्तम पदार्थों को प्राप्त कर देती है इस में दृष्टान्त यह है कि (शीते वाते०) अर्थात् राज्य की रक्षा करने का नाम शीत है क्योंकि जब सभा से राज्य की रक्षा होती है तभी उस की उन्नति होती है (प्र०) राज्य का भार कौन है (उ०) (श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः) श्री, क्योंकि वही धन के भार से युक्त करके राज्य को उत्तमता को पहुंचाती है (अथो) इसके अनन्तर उक्त प्रकार से राज्य करते हुए पुरुष देश अथवा संसार में श्रीयुक्त राज्य के प्रबन्ध को सब में स्थापन कर देते हैं (अथास्यै०) (प्र०) उस राज्य का मध्य क्या है (उ०) प्रजा की ठीक २ रक्षा अर्थात् उसका नियमपूर्वक पालन करना यही उसकी रक्षा में मध्यस्थ है (गिरौभारं हरन्निव) जैसे कोई मनुष्य बोझ उठाके पर्वत पर ले जाता है वैसे ही सभा भी राज्य को उत्तम सुख को प्राप्त कर देती है ॥

यद्देवासो ललामगुं प्रविंष्टीमिनमाविंषुः । सुकथ्ना दें दिश्यते नारीं सुत्यस्याक्षिभुवो यथा ॥ य० अ० २३ । मं० २९ ॥

महीधरस्यार्थः ॥

यत् यदा देवासः देवाः दीव्यन्ति क्रीडन्ति देवाः होत्रादयः ऋत्विजो ललामगुं लिङ्गं प्राविशुः योनौ प्रवेशयन्ति ललामेति सुखनाम ललाम सुखं गच्छति प्राप्नोति ललामगुः शिश्नः । यद्वा ललाम पुण्ड्रं गच्छति ललामगः लिङ्गं

योनिं प्रविशदुत्थितं पुण्ड्राकारं भवतीत्यर्थः । कीदृशं ललामगुं विष्टीमिनं शिश्नस्य योनिप्रदेशे क्रन्दनं भवतीत्यर्थः । यदा देवाः शिश्नक्रीडिनो भवन्ति ललामगुं योनौ प्रवेशयन्ति । तदा नारीसक्थना ऊरुणा ऊरुभ्यां देदिश्यते निर्दिश्यते अत्यन्तं लक्ष्यते । भोगसमये सर्वस्य नार्यङ्गस्य नरेण व्याप्तत्वादूरुमात्रं लक्ष्यते । इयं नारीतीत्यर्थः ॥

महीधर का अर्थ ।

भाषार्थ ॥

(यद्देवासो०) जब तक यज्ञशाला में ऋत्विज् लोग ऐसा हंसते और अंडकोश नाचा करते हैं तब तक घोड़े का लिङ्ग महिषी की योनि में काम करता है और उन ऋत्विजों के भी लिङ्ग स्त्रियों की योनियों में प्रवेश करते हैं और जब लिङ्ग खड़ा होता है तब कमल के समान हो जाता है जब स्त्री पुरुष का समागम होता है तब पुरुष ऊपर और स्त्री पुरुष के नीचे होने से थक जाती है ॥

अथ सत्योऽर्थः ॥

(यद्देवासो०) यथा देवा विद्वांसः प्रत्यक्षोद्भवस्य सत्यज्ञानस्य प्राप्तिं कृत्वेमं (विष्टीमिनं) विविधतया आर्द्रीभावगुणवन्तं (ललामगुं) सुखप्रापकं विद्यानन्दं प्राविशुः प्रकृष्टतया समन्ताद्व्याप्नुवन्ति तथैव तैस्तेन सह वर्त्तमानेयं प्रजा देदिश्यते । यथा नारी वस्त्रैराच्छाद्यमानेन सक्थना वर्त्तते तथैव विद्वद्भिः सुखैरियं प्रजा सम्यगाच्छादनीयेति ॥

भाषार्थ ॥

जैसे विद्वान् लोग प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त होके जिस शुभगुणयुक्त सुखदायक विद्या के आनन्द में प्रवेश करते हैं वैसे ही उसी आनन्द से प्रजा को भी युक्त करते हैं विद्वान् लोगों को चाहिये कि जैसे स्त्री अपने जङ्घा आदि अङ्गों को वस्त्रों से सदा ढाँप रखती है इसी प्रकार अपने सत्योपदेश विद्या धर्म और सुखों से प्रजा को सदा आच्छादित करें ॥

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यते । शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति ॥ य० अ० २३ । मं० ३० ॥

महीधरस्यार्थः ॥

भाष्यम् ॥

क्षत्ता पालागलीमाह । शूद्रा शूद्रजातिः स्त्री यदा अर्य्यजारा भवति वैश्यो यदा शूद्रां गच्छति तदा शूद्रः पोषाय न धनायते पुष्टिं न इच्छति मद्भार्य्या वैश्येन भुक्ता सती पुष्टा जातेति न मन्यते किन्तु व्यभिचारिणी जातेति दुःखितो भवतीत्यर्थः । (यद्धरिणो०) पालागली क्षत्तारमाह । यत् यदा शूद्रः अर्य्यायै अर्य्यायाः वैश्यायाः जारो भवति तदा वैश्यः पोषं पुष्टिं नानुमन्यते मम स्त्री पुष्टा जातेति नानुमन्यते किन्तु शूद्रेण नीचेन भुक्तेति क्लिश्यतीत्यर्थः ॥

महीधर का अर्थ ।

भाषार्थ ॥

(यद्धरिणो०) क्षत्ता सेवक पुरुष शूद्र दासी से कहता है कि जब शूद्र की स्त्री के साथ वैश्य व्यभिचार कर लेता है तब वह इस बात को तो नहीं विचारता कि मेरी स्त्री वैश्य के साथ व्यभिचार कराने से पुष्ट हो गई किन्तु वह इस बात को विचार के दुःख मानता है कि मेरी स्त्री व्यभिचारिणी हो गई (यद्धरिणो०) अब वह दासी क्षत्ता को उत्तर देती है कि जब शूद्र वैश्य की स्त्री के साथ व्यभिचार कर लेता है तब वैश्य भी इस बात का अनुमान नहीं करता कि मेरी स्त्री पुष्ट हो गई किन्तु नीच ने समागम कर लिया इस बात को विचार के क्लेश मानता है ॥

सत्योऽर्थः ॥

यद्धरिणो यवमत्तीति । विड्वै यवो राष्ट्रं हरिणो विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति । न पुष्टं पशुमन्यत इति । तस्माद्राजा पशून्न पुष्यति । शूद्रा यदर्य्यजारा न पोषाय धनायतीति । तस्माद्वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चति ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ९ । कं० ८ ॥

भाष्यम् ॥

(यद्धरिणो०) विट् प्रजैव यवोऽस्ति । राज्यसम्बन्ध्येको राजा हरिण इव

उत्तमपदार्थहर्त्ता भवति । यथा मृगः क्षेत्रस्थं शस्यं भुक्त्वा प्रसन्नो भवति तथै-वैको राजापि नित्यं स्वकीयमेव सुखमिच्छति । अतः स राष्ट्राय स्वसुखप्रयोज-नाय विशं प्रजाधाद्यां भक्षयामिव करोति । यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा तन्मांसभक्षणेच्छां करोति नैव स पुष्टं पशुं वर्धयितुं जीवितुं वा मन्यते । तथैव स्वसुखसम्पादनाय प्रजायां कश्चिन् मत्तोऽधिको न भवेदितीच्छां सदैव रक्षति तस्मादेको राजा प्रजां न पोषयति नैव रक्षयितुं समर्थो भवतीति । यथा च यदा शूद्रा अर्यजारा भवति तदा न स शूद्रः पोषाय धनायति पुष्टो न भव-ति तथैको राजापि प्रजां यदा न पोषयति तदा सा नैव पोषाय धनायति पुष्टा न भवति । तस्मात्कारणादेशीपुत्रं भीरुं शूद्रीपुत्रं मूर्खं च नाभिषिञ्चति नैवैतं राज्याधिकारे स्थापयतीत्यर्थः । अस्माच्छतपथब्राह्मणोक्तादर्थान्महीधरकृतोऽर्थो-ऽतीव विरुद्धोऽस्ति ॥

भाषार्थ ॥

(यद्धरिणो०) यहां प्रजा का यव और राष्ट्र का नाम हरिण है क्योंकि जैसे मृग पशु पराये खेत में यवों को खाकर आनन्दित होते हैं वैसे ही स्वतन्त्र एक पुरुष राजा होने से प्रजा के उत्तम पदार्थों को ग्रहण कर लेता है अथवा (न पुष्टं पशुम-न्यत०) जैसे मांसाहारी मनुष्य पुष्ट पशु को मार के उस का मांस खा जाता है वैसे ही एक मनुष्य राजा हो के प्रजा का नाश करनेहारा होता है क्योंकि वह सदा अपनी ही उन्नति चाहता रहता है और शूद्र तथा वैश्य का अभिषेक करने से व्यभिचार और प्रजा का धनहरण अधिक होता है इसलिये किसी एक मूर्ख वा लोभी को भी सभा-ध्यक्षादि उत्तम अधिकार न देना चाहिये इस सत्य अर्थ से महीधर उलटा ही चला है ॥

उत्सक्थ्या अवगुदं धेहि समञ्जिं चारया वृषन् । यः स्त्रीणां जीवभो-जनः ॥ य० अ० २३ । मं० २१ ॥

महीधरस्यार्थः ॥

यजमानोऽश्वमभिमन्त्रयते । हे वृषन् सेक्तः अश्व उत् ऊर्ध्वे सक्थिनी ऊरू यस्यास्तस्या महिष्या गुदमव गुदोपरि रेतो धेहि वीर्यं धारय । कथं तदाह अञ्जिं लिङ्गं सञ्चारय योनौ प्रवेशय । योऽञ्जिः

स्त्रीणां जीवभोजनः । यस्मिन् लिङ्गे योनौ प्रविष्टे स्त्रियो जीवन्ति भोगांश्च लभन्ते तं प्रवेशय ॥

भाषार्थ ॥

(उत्सक्थ्या०) इस मन्त्र पर महीधर ने टीका की है कि यजमान घोड़े से कहता है हे वीर्य्य के सेचन करनेवाले अश्व तू मेरी स्त्री के जंघा ऊपर को करके उस की गुदा के ऊपर वीर्य डालदे अर्थात् उसकी योनि में लिङ्ग चलादे वह लिङ्ग किस प्रकार का है कि जिस समय योनि में जाता है उस समय उसी लिङ्ग से स्त्रियों का जीवन होता है और उसीसे वे भोग को प्राप्त होती हैं इससे तू उस लिङ्ग को मेरी स्त्री की योनि में डालदे ॥

अथ सत्योऽर्थः ॥

(उत्सक्थ्या०) हे वृषन् सर्वकामानां वर्षयितः प्रापक सभाध्यक्ष विद्वन् त्वमस्यां प्रजायामञ्जि ज्ञानसुखन्यायप्रकाशं सञ्चारय सम्यक् प्रकाशय (यः स्त्रीणां जीवभोजनः) कामुकः सन् नाशमाचरति तं त्वमवगुदमधःशिरसं कृत्वा ताडयित्वा कारागृहे धेहि यथा स्त्रीणां मध्ये या काचित् उत्सक्थी व्यभिचारिणी स्त्री भवति तस्यै सम्यग्दण्डं ददाति तथैव त्वं तं जीवभोजनं परप्राणनाशकं दुष्टं दस्युं दण्डेन समुच्चारय ॥

भाषार्थ ॥

(उत्सक्थ्या०) परमेश्वर कहता है कि हे कामना की वृष्टि करने वाले और उसको प्राप्त करानेवाले सभाध्यक्षसहित विद्वान् लोगो तुम सब एकसंमति होकर इस प्रजा में ज्ञान को बढ़ाके न्यायपूर्वक सबको सुख दिया करो तथा जो कोई दुष्ट (जीवभोजनः) स्त्रियों में व्यभिचार करनेवाला चोरों में चोर ठगों में ठग डाकुओं में डाकू प्रसिद्ध दूसरों को बुरे काम सिखानेवाला इत्यादि दोषयुक्त पुरुष तथा व्यभिचार आदि

दोषयुक्त स्त्री को ऊपर पग और नीचे शिर करके उसको टांगदेना इत्यादि अत्यन्त दु-र्दशा करके मारडालना चाहिये क्योंकि इससे अत्यन्त सुख का लाभ प्रजा में होगा ॥

एतावतैव खण्डनेन महीधरकृतस्य वेददीपाख्यस्य खण्डनं सर्वैर्जनैर्बोद्ध-व्यमिति । यदा मन्त्रभाष्यं मया विधास्यते तत्रास्य महीधरकृतस्य भाष्यस्या-न्येपि दोषाः प्रकाशयिष्यन्ते । यदि ह्यार्यदेशनिवासिनां सायणमहीधरप्रभृतीनां व्याख्यास्वेतादृशी मिथ्यागतिरस्ति तर्हि यूरोपखण्डनिवासिनामेतदनुसारेण स्वदेशभाषया वेदार्थव्याख्यानानामनर्थगतेस्तु का कथा । एवं जाते सति ये ह्येतदाश्रयेण देशभाषया यूरोपदेशभाषया कृतस्य व्याख्यानस्याशुद्धेस्तु खलु का गणनास्ति । इति सज्जनैर्विचारणीयम् । नैवैतेषां व्याख्यानानामाश्रयं कर्त्तुमार्य्याणां लेशमात्रापि योग्यता दृश्यते । तदाश्रयेण वेदानां सत्यार्थस्य हानिरनर्थप्रकाशश्च । तस्मादेतद्व्याख्यानेषु सत्या बुद्धिः केनापि नैव कर्त्तव्या । किन्तु वेदाः सर्वैर्विद्याभिः पूर्णाः सन्ति नैव किञ्चित्तेषु मिथ्यात्वमस्ति । तदे-तच्च सर्वे मनुष्यास्तदा ज्ञास्यन्ति । यदा चतुर्णां वेदानां निर्मितं भाष्यं यन्त्रितं च भूत्वा सर्वबुद्धिमतां ज्ञानगोचरं भविष्यति एवं जाते खलु नैव परमेश्वरकृ-तया वेदविद्यया तुल्या द्वितीया विद्याऽस्तीति सर्वे विज्ञास्यन्तीति बोध्यम् ॥

आगे कहांतक लिखें इतने ही से सज्जन पुरुष अर्थ और अनर्थ की परीक्षा कर लेवें परन्तु मन्त्रभाष्य में महीधर आदि के और भी दोष प्रकाश किये जायंगे और जब इन्हीं लोगों के व्याख्यान अशुद्ध हैं तब यूरोपखण्डवासी लोगों ने जो उन्हीं की सहायता लेकर अपनी देशभाषा में वेदों के व्याख्यान किये हैं उनके अनर्थ का तो क्या ही कहना है तथा जिन्होंने उन्हीं के अनुसारी व्याख्यान किये हैं इन विरुद्ध व्याख्या-नों से कुछ लाभ तो नहीं देख पड़ता किन्तु वेदों के सत्य अर्थ की हानि प्रत्यक्ष ही होती है परन्तु जिस समय चारों वेद का भाष्य बन और छपकर सब बुद्धिमानों के ज्ञानगोचर होगा तब सब किसी को सत्यविद्यापुस्तक वेद का परमेश्वररचित होना भूगोल भर में विदित हो जावेगा और यह भी प्रगट हो जावेगा कि ईश्वरकृत सत्यपु-स्तक वेद ही है वा कोई दूसरा भी हो सकता है ऐसा निश्चय जान के सब मनुष्यों की वेदों में परमप्रीति होगी इत्यादि अनेक उत्तम प्रयोजन इस वेदभाष्य के बनाने में जानलेना ॥

इति भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः समाप्तः ॥

अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते ॥

अथ प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः ॥

परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राऽग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते । कुतः । कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात् । पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तापिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति । तस्माद्युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योस्ति । तथैवोपासनाकाण्डस्यापि प्रकरणशब्दानुसारतो हि प्रकाशः करिष्यते । कुतोऽस्यैकत्र विशेषस्तु पातञ्जलयोगशास्त्रादिभिर्विज्ञेयोस्तीत्यतः । एवमेव ज्ञानकाण्डस्यापि । कुतः । अस्य विशेषस्तु साङ्ख्यवेदान्तोपनिषदादिशास्त्रानुगतो द्रष्टव्यः । एवं काण्डत्रयेण बोधाभिप्रायस्तूपकारो गृह्येत तच्च विज्ञानकाण्डम् । परन्त्वेतत्काण्डचतुष्टयस्य वेदानुसारेण विस्तरस्तद्व्याख्यानेषु ग्रन्थेष्वस्ति । स एव सम्यक् परीक्ष्याविरुद्धोर्थो ग्रहीतव्यः । कुतः । मूलाभावे शाखादीनामप्रवृत्तेः । एवमेव व्याकरणादिभिर्वेदाङ्गैर्वैदिकशब्दानामुदात्तादिस्वरविज्ञानं यथार्थं कर्त्तव्यमुच्चारणं च । तत्र यथार्थमुक्तत्वादत्र न वर्ण्यते । एवं पिङ्गलसूत्रछन्दोग्रन्थे यथालिखितं छन्दोलक्षणं विज्ञातव्यम् । स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः ॥ १ ॥ पिङ्गलशास्त्रे अ० ३ । सू० ६४ ॥ इति पिङ्गलाचार्यकृतसूत्रानुसारेण प्रतिछन्दः स्वरा लेखिष्यन्ते । कुतः । इदानीं यच्छन्दोन्वितो यो मन्त्रस्तस्य स्वस्वरेणैव त्रादिवादनपूर्वकगानव्यवहारप्रसिद्धेः । एवमेव वेदानामुपवेदैरायुर्वेदादिभिर्वैद्यकविद्यादयो विशेषा विज्ञेयाः । तथैते सर्वे विशेषार्था अपि वेदमन्त्रार्थभाष्ये बहुधा प्रकाशयिष्यन्ते । एवं वेदार्थप्रकाशेन विज्ञानेन सयुक्तिदृढेन जातेनैव सर्वमनुष्याणां सकलसन्देहनिवृत्तिर्भविष्यति । अत्र वेदमन्त्राणां संस्कृतप्राकृतभाषाभ्यां सप्रमाणः पदशोऽर्थो लेखिष्यते यत्र यत्र व्याकरणादिप्रमाणावश्यकत्वमस्ति तत्तदपि तत्र तत्र लेखिष्यते येनेदानीन्तनानां वेदार्थविरुद्धानां सनातनव्याख्यानग्रन्थप्रातिकूलानामनर्थकानां वेदव्याख्यानानां निवृत्त्या सर्वेषां मनुष्याणां वेदानां सत्यार्थदर्शनेन तेष्वत्यन्ता प्रीतिर्भविष्यतीति बोध्यम् । संहितामन्त्राणां यथाशास्त्रं यथाबुद्धि च सत्यार्थप्रकाशेन परमायणाचार्यादिभिः स्वेच्छानुसारतो लोकप्रवृत्त्यनुकूलतश्च लोके प्रतिष्ठार्थं भाष्यं लिखित्वा प्रसिद्धीकृतमनेनात्रानर्थो महान्

जातः । तद्द्वारा यूरोपखण्डवासिनामपि देदेषु भ्रमो जात इति । यदस्मिन्नी-श्वरानुग्रहेणर्षिमुनिमहर्षिमहामुनिभिरार्य्यैर्वेदार्थगर्भितैश्चैतरेयब्राह्मणादिपुस्तकप्रमाणान्विते मया कृते भाष्ये प्रसिद्धे जाते सति सर्वमनुष्याणां महान् सुखलाभो भविष्यतीति विज्ञायते । अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सम्भवोऽस्ति तस्य तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति । कुतः । निमित्तकारणस्येश्वरस्यास्मिन् कार्य्ये जगति सर्वाङ्गव्याप्तिमत्वात् । कार्य्यस्येश्वरेण सहान्वयाच्च । यत्र खलु व्यावहारिकोऽर्थो भवति तत्रापीश्वररचनानुकूलतयैव सर्वेषां पृथिव्यादिद्रव्याणां सद्भावाच्च । एवमेव पारमार्थिकेऽर्थे कृते तस्मिन्कार्य्यार्थसम्बन्धात्सोऽप्यर्थ आगच्छतीति ॥

भाषार्थ ॥

इस वेदभाष्य में शब्द और उनके अर्थद्वारा कर्मकाण्ड का वर्णन करेंगे परन्तु लोगों के कर्मकाण्ड में लगाये हुए वेदमन्त्रों में से जहां जहां जो जो कर्म अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध के अन्तपर्य्यन्त करने चाहिये उनका वर्णन यहां नहीं किया जायगा क्योंकि उनके अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मण पूर्वमीमांसा श्रौत और गृह्यसूत्रादिकों में कहा हुआ है उसी को फिर कहने से पिसे को पीसने के समतुल्य अल्पज्ञ पुरुषों के लेखके समान दोष इस भाष्य में भी आ जा सकता है इसलिये जो जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल युक्तिप्रमाणसिद्ध है उसी को मानना योग्य है अयुक्त को नहीं ऐसे ही उपासनाकाण्डविषयक मन्त्रों के विषय में भी पातञ्जल सांख्य वेदान्तशास्त्र और उपनिषदों की रीति से ईश्वर की उपासना जान लेना परन्तु केवल मूलमन्त्रों ही के अर्थानुकूलका अनुष्ठान और प्रतिकूलका परित्याग करना चाहिये क्योंकि जो जो मन्त्रार्थ वेदोक्त हैं सो सब स्वतःप्रमाणरूप और ईश्वर के कहे हुए हैं और जो जो ग्रन्थ वेदों से भिन्न हैं वे केवल वेदार्थ के अनुकूल होने से ही प्रामाणिक हैं ऐसे न हों तो नहीं ॥ ऐसे ही व्याकरणादि शास्त्रों के बोध से उदात्त अनुदात्त स्वरित एकश्रुति आदि स्वरोंका ज्ञान और उच्चारण तथा पिङ्गल सूत्र से छन्दों और षड्जादि स्वरों का ज्ञान अवश्य करना चाहिये जैसे अ॒ग्निमी॑ळे॰ यहां अकार के नीचे अनुदात्त का चिह्न, (ग्नि) उदात्त है इसलिये उसपर चिह्न नहीं लगाया गया है । मी के ऊपर स्वरित का चिह्न है (ळे) में प्रचय और एकश्रुति स्वर है यह बात ध्यान में रखना ॥ इसी प्रकार जो जो व्याकरणादि के विषय लिखने के योग्य होंगे वे सब संक्षेप से आगे लिखे जायंगे

क्योंकि मनुष्यों को उनके समझने में कठिनता होती है इसलिये उनके साथ में अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों के भी विषय लिखे जायंगे कि जिनके सहाय से वेदों का अर्थ अच्छी प्रकार विदित होसके इस भाष्य में पदपदका अर्थ पृथक् पृथक् क्रम से लिखा जायगा कि जिससे नवीन टीकाकारों के लेख से जो वेदों में अनेक दोषों की कल्पना की गई है उन सब की निवृत्ति होकर उनके सत्य अर्थों का प्रकाश हो जायगा तथा जो जो सायण माधव महीधर और अंग्रेजी वा अन्यभाषा में उलथे वा भाष्य किये जाते वा गये हैं तथा जो जो देशान्तरभाषाओं में टीका हैं उन अनर्थव्याख्यानों का निवारण होकर मनुष्यों को वेदों के सत्य अर्थों के देखने से अत्यन्त सुखलाभ पहुंचेगा क्योंकि विना सत्यार्थप्रकाश के देखे मनुष्यों की भ्रमनिवृत्ति कभी नहीं हो सकती जैसे प्रामाण्याप्रामाण्य विषय में सत्य और असत्य कथाओं के देखने से भ्रम की निवृत्ति हो सकती है ऐसे ही यहां भी समझ लेना चाहिये इत्यादि प्रयोजनों के लिये इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ किया है ॥

इति प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः ॥

अथ प्रश्नोत्तर-विषयः संक्षेपतः ॥

(प्रश्नः) अथ किमर्था वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति । (उत्तरम्) भिन्नभिन्नविद्याज्ञापनाय । (प्र०) कारणः । (उ०) त्रिधा गानविद्या भवति गानोच्चारणविद्याया द्रुतमध्यमविलम्बितभेदयुक्तत्वात् । यावता कालेन ह्रस्वस्वरोच्चारणं क्रियते ततो दीर्घोच्चारणे द्विगुणः प्लुतोच्चारणे त्रिगुणश्च कालो गच्छतीति । अत एवैकस्यापि मन्त्रस्य चतसृषु संहितासु पाठः कृतोऽस्ति । तद्यथा । ऋग्भिस्स्तुवन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिर्गायन्ति । ऋग्वेदे सर्वेषां पदार्थानां गुणप्रकाशः कृतोऽस्ति । तथा यजुर्वेदे विदितगुणानां पदार्थानां सकाशात् क्रिययाऽनेकविद्योपकारग्रहणाय विधानं कृतमस्ति । तथा सामवेदे ज्ञानक्रियाविद्ययोर्दीर्घविचारेण फलावधिपर्य्यन्तं विद्याविचारः । एवमथर्ववेदेऽपि त्रयाणां वेदानां मध्ये यो विद्याफलविचारो विहितोऽस्ति तस्य पूर्त्तिकरणेन रक्षणोन्नती विहिते स्तः । एतदाद्यर्थं वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति । (प्रश्नः) वेदानां चतुःसंहिताकरणे किं प्रयोजनमस्तीति । (उत्तरम्) यतो विद्याविधायकानां मन्त्राणां प्रकरणशः पूर्वापरसन्धानेन सुगमतया तत्रस्था विद्या विदिता भवेयुरेतदर्थं संहिताकरणम् ॥ (प्र०) वेदेष्वष्टकमण्डलाध्यायसूक्तषट्कककाण्डवर्गदशतित्रिकप्रपाठकानुवाकविधानं किमर्थं कृतमस्तीत्यत्र ब्रूमः । (उ०) अत्राष्टकादीनां विधानमेतदर्थमस्ति यथा सुगमतया पठनपाठनमन्त्रपरिगणनं प्रतिविद्यं विद्याप्रकरणबोधश्च भवेदेतदर्थमेतद्विधानं कृतमस्तीति (प्र०) किमर्था ऋग्यजुः सामा-

वर्गाणः प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थसङ्ख्यया क्रमेण परिगणिताः सन्तीत्यत्रोच्यते। (उ०) न यावद्गुणिनो साक्षाज्ज्ञानं भवति नैव तावत्संस्कारः प्रीतिश्च। नचाभ्यां विना प्रवृत्तिर्भवति तया विना सुखाभावश्चेति। एतद्विद्याविधायकत्वादृग्वेदः प्रथमं परिगणितुं योग्योऽस्ति। एवं च यथा पदार्थगुणज्ञानानन्तरं क्रियोपकारेण सर्वजगद्धितसम्पादनं कार्य्यं भवति। यजुर्वेद एतद्विद्याप्रतिपादकत्वाद्द्वितीयः परिगणितोऽस्तीति बोध्यम्। तथा ज्ञानकर्मकाण्डयोरुपासनायाश्च कियत्युन्नतिर्भवितुमर्हति किञ्चैतेषां फलं भवति सामवेद एतद्विधायकत्वात्तृतीयो गण्यत इति। एवमेवाथर्ववेदश्चयन्तर्गविद्यानां परिशेषरक्षणविधायकत्वाच्चतुर्थः परिगण्यत इति। अतो गुणज्ञानक्रियाविज्ञानोन्नतिशेषविचाररक्षणानां पूर्वापरसम्भावे संयुक्तत्वात्कर्मेणार्ग्यजुस्सामाथर्वाण इति चतस्रः संहिताः परिगणिताः संज्ञाश्च कृताः सन्ति। ऋच स्तुतौ। यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु। साम सान्त्वने। षो अन्तकर्मणि। थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः॥ निरु० अ० ११। खं० १८। चर संशये। अनेनाथर्वशब्दः संशयनिवारणार्थो गृह्यते। एवं धात्वर्थोक्तप्रमाणेभ्यः क्रमेण वेदाः परिगण्यन्ते चेति वेदितव्यम्॥

भाषार्थ॥

(प्र०) वेदोंके चार विभाग क्यों किये हैं। (उ०) भिन्न भिन्न विद्या जनाने के लिये अर्थात् जो तीन प्रकार की गानविद्या है एक तो यह कि उदात्त और षड्जादि स्वरों का उच्चारण ऐसी शीघ्रता से करना जैसा कि ऋग्वेद के स्वरोंका उच्चारण द्रुत अर्थात् शीघ्रवृत्ति में होता है, दूसरी मध्यमवृत्ति जैसे कि यजुर्वेद के स्वरों का उच्चारण ऋग्वेद के मन्त्रों से दूने काल में होता है, तीसरी विलम्बित वृत्ति है जिसमें प्रथमवृत्ति से तिगुना काल लगता है जैसा कि सामवेद के स्वरों के उच्चारण वा गान में, फिर उन्हीं तीनों वृत्तियों के मिलाने से अथर्ववेद का भी उच्चारण होता है परन्तु इसका द्रुतवृत्ति में उच्चारण अधिक होता है इसलिये वेदों के चार विभाग हुए हैं तथा कहीं कहीं एक मन्त्र का चार वेदों में पाठ करने का यही प्रयोजन है कि वह पूर्वोक्त चारों प्रकार की गानविद्या में गाया जावे तथा प्रकरणभेद से कुछ कुछ अर्थभेद भी होता है इसलिये कितने ही मन्त्रों का पाठ चारों वेदों में किया जाता है ऐसे ही (ऋग्भिस्तु०) ऋग्वेद में सब पदार्थों के गुणों का प्रकाश किया है जिससे उनमें प्रीति बढ़कर उपकार लेने का ज्ञान प्राप्त होसके क्योंकि विना प्रत्यक्ष ज्ञान के संस्कार और प्रवृत्तिका आरम्भ नहीं हो सकता और आरम्भ के विना यह मनुष्यजन्म व्यर्थ ही चला जाता है इसलिये

ऋग्वेद की गणना प्रथम ही की है तथा यजुर्वेद में क्रियाकाण्ड का विधान लिखा है सो ज्ञान के पश्चात् ही कर्त्ता की प्रवृत्ति यथावत् हो सकती है क्योंकि जैसा ऋग्वेद में गुणों का कथन किया है वैसा ही यजुर्वेद में अनेक विद्याओं के ठीक ठीक विचार करने से संसार में व्यवहारी पदार्थों से उपयोग सिद्ध करना होता है जिनसे लोगों को नाना प्रकारका सुख मिले क्योंकि जबतक कोई क्रिया विधिपूर्वक न कीजाय तबतक उस-का अच्छीप्रकार भेद नहीं खुल सकता इसलिये जैसा कुछ जानना वा कहना वैसा ही करना भी चाहिये तभी ज्ञानका फल और ज्ञानी की शोभा होती है तथा यह भी जा-नना अवश्य है कि जगत् का उपकार मुख्य करके दो ही प्रकार का होता है एक आत्मा और दूसरा शरीर का अर्थात् विद्यादान से आत्मा और श्रेष्ठ नियमों से उत्तम पदार्थों की प्राप्ति करके शरीर का उपकार होता है इसलिये ईश्वर ने ऋग्वेदादि का उपदेश किया है कि जिनसे मनुष्य लोग ज्ञान और क्रियाकाण्ड को पूर्ण रीति से जानलेवें तथा सा-मवेद से ज्ञान और आनन्द की उन्नति और अथर्ववेद से सर्व संशयों की निवृत्ति होती है इसलिये इनके चार विभाग किये हैं। (प्र०) प्रथम ऋग्, दूसरा यजुः, तीसरा साम और चौथा अथर्ववेद इस क्रम से चार वेद क्यों गिने हैं। (उ०) जबतक गुण और गुणी का ज्ञान मनुष्यों को नहीं होता तब पर्य्यन्त उन में प्रीति से प्रवृत्ति नहीं हो सकती और इसके विना शुद्ध क्रियादि के अभाव से मनुष्यों को सुख भी नहीं हो सकता था इसलिये वेदों के चार विभाग किये हैं कि जिससे प्रवृत्ति होसके क्योंकि जैसे इस गुणज्ञान विद्या को जनाने से पहिले ऋग्वेद की गणना योग्य है वैसे ही पदार्थों के गुण-ज्ञान के अनन्तर क्रियारूप उपकार करके सब जगत् का अच्छी प्रकार से हित भी सिद्ध हो सके इस विद्या के जनाने के लिये यजुर्वेद की गिनती दूसरी बार की है ऐसे ही ज्ञान कर्म और उपासनाकाण्ड की वृद्धि वा फल कितना और कहांतक होना चा-हिये इस का विधान सामवेद में लिखा है इसलिये उस को तीसरा गिना है ऐसे ही तीन वेदों में जो जो विद्या हैं उन सबके शेष भाग की पूर्त्ति विधान सब विद्याओं की रक्षा और संशयनिवृत्ति के लिये अथर्ववेद को चौथा गिना है सो गुणज्ञान क्रियाविज्ञान इनकी उन्नति तथा रक्षा को पूर्वापर क्रमसे जानलेना अर्थात् ज्ञानकाण्ड के लिये ऋग्वेद क्रियाकाण्ड के लिये यजुर्वेद इनकी उन्नति के लिये सामवेद और शेष अन्य रक्षाओं के प्रकाश करने के लिये अथर्ववेद की प्रथम दूसरी तीसरी और चौथी करके संख्या बांधी है क्योंकि (ऋच स्तुतौ) (यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु) (षोन्त-कर्मणि) और (साम सान्त्वप्रयोगे) (थर्वतिश्चरतिकर्मा) इन अर्थों के विद्यमान होने से चार वेदों अर्थात् ऋग् यजुः साम और अथर्व की ये चार संज्ञा रक्खी हैं तथा

अथर्ववेद का प्रकाश ईश्वर ने इसलिये किया है कि जिससे तीनों वेदों की अनेक विद्याओं के सब विघ्नों का निवारण और उनकी गणना अच्छी प्रकार से होसके। (प्र०) वेदों की चार संहिता करने का क्या प्रयोजन है। (उ०) विद्या के जनानेवाले मन्त्रों के प्रकरण से जो पूर्वापर का ज्ञान होना है उससे वेदों में कही हुई सब विद्या सुगमता से जानली जाय। इत्यादि प्रयोजन संहिताओं के करने में हैं। (प्र०) अच्छा अब आप यह तो कहिये कि वेदों में जो अष्टक अध्याय मण्डल सूक्त षट्क काण्ड वर्ग दशति त्रिक और अनुवाक रक्खे हैं ये किसलिये हैं। (उ०) इनका विधान इसलिये है कि जिससे पठनपाठन और मन्त्रों की गिनती विना कठिनता के जानली जाय तथा सब विद्याओं के पृथक् पृथक् प्रकरण निर्भ्रमता के साथ विदित होकर सब विद्याव्यवहारों में गुण और गुणी के ज्ञानद्वारा मनन और पूर्वापर स्मरण होने से अनुवृत्तिपूर्वक आकाङ्क्षा योग्यता आसत्ति और तात्पर्य सबको विदित हो सके इत्यादि प्रयोजन के लिये अष्टकादि किये हैं॥

भाष्यम् ॥

(प्रश्नः) प्रत्येकमन्त्रस्योपरि ऋषिदेवताछन्दः स्वराः किमर्था लिख्यन्ते। (उत्तरम्) यतो वेदानामीश्वरोक्त्यनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थो यथावद्विदितस्तस्मात्तस्य तस्योपरि तत्तदृषेर्नामोल्लेखनं कृतमस्ति। कुतः। यैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य प्रकाशितत्वात्। तत्कृतमहोपकारस्मरणार्थं तन्नामलेखनं प्रतिमन्त्रस्योपरि कर्त्तुं योग्यमस्त्यतः॥ अत्र प्रमाणम्। यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामित्यफलास्मा अपुष्पा वाग्भवतीति वा किञ्चित्पुष्पफलेति वार्थं वाचः पुष्पफलमाह याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मेवासाक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुरुपदेशाय ग्लायन्तो वरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च बिल्मं भिल्मं भासनमिति वैतावन्तः समानकर्माणो धातवो धातुर्दधातेरेतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयान्येतावतामर्थानामिदमभिधानं नैघण्टुकमिदं देवतानामप्राधान्येनेदमिति तद्यदन्यदैवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत्॥ निरु० अ० १। खं० २०॥ (यो वाचं) यो मनुष्योऽर्थविज्ञानेन विना श्रवणाध्ययने करोति तदफलं भवति। (प्रश्नः) वाचो वाण्याः किं फलं भवतीत्यत्राह। (उत्तरम्) विज्ञानं तथा तज्ज्ञानानुसारेण कर्मानुष्ठानम्। य एवं ज्ञात्वा कुर्वन्ति त ऋषयो भवन्ति कीदृशास्ते साक्षात्कृतधर्माणः॥ यैः सर्वा विद्या यथावद्विदितास्त ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतवेदेभ्यो मनुष्येभ्य

उपदेशेन वेदमन्त्रान्सम्यगाहुः मन्त्रार्थांश्च प्रकाशितवन्तः । कस्मै प्रयोजनाय । उत्तरोत्तरं वेदार्थप्रचाराय । ये चावरेऽध्ययनायोपदेशाय च ग्लायन्ति तान् वेदार्थविज्ञापनायेमं नैघण्टुकं निरुक्ताख्यं ग्रन्थं त ऋषयः समाम्नासिषुः सम्यगभ्यासं कारितवन्तः । येन वेदं वेदाङ्गानि यथार्थविज्ञानतया सर्वे मनुष्या जानीयुः । ये समानार्थाः समानकर्माणो धातवो भवन्ति तदर्थप्रकाशो यत्र क्रियते । अस्यार्थस्यैतावन्ति नामधेयान्येतावतामर्थानामिदमभिधानार्थमेकं नाम । अर्थादेकस्यार्थस्यानेकानि नामान्यनेकेषामेकं नामेति तन्नैघण्टुकं व्याख्यानं विज्ञेयम् । यत्रार्थानां द्योत्यानां पदार्थानां प्राधान्येन स्तुतिः क्रियते तत्र सैवेयं मन्त्रमयी देवता विज्ञेया । यच्च मन्त्राद्विज्ञार्थस्यैव सङ्केतः प्रकाश्यते तदपि नैघण्टुकं व्याख्यानमिति । अतो नैव कश्चिन्मनुष्यो मन्त्रनिर्मातेति विज्ञेयम् । एवं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थः प्रकाशितोऽस्ति तस्य तस्य ऋषेरेकैकमन्त्रस्य सम्बन्धे नामोल्लेखः कृतोऽस्ति । तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोऽस्ति स सोऽर्थस्तस्य तस्य देवताशब्देनाभिप्रायार्थविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते । एतदर्थं देवताशब्दल्लेखनं कृतम् । एवं च यस्य यस्य मन्त्रस्य गायत्र्यादिछन्दोऽस्ति तत्तद्विज्ञानार्थं छन्दोल्लेखनम् । तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य येन येन स्वरेण वादित्रवादनपूर्वकं गानं कर्तुं योग्यमस्ति तत्तदर्थं षड्जादिस्वरोल्लेखनं कृतमस्तीति सर्वमेतद्विज्ञेयम् ॥

भाषार्थ ॥

(प्र०) प्रतिमन्त्र के साथ ऋषि देवता छन्द और स्वर किसलिये लिखते हैं । (उ०) ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेदमन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे फिर उन में से जिस जिस मन्त्र का अर्थ जिस जिस ऋषि ने प्रकाशित किया उस उसका नाम उसी उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिये लिखा गया है इसी कारण से उन का ऋषि नाम भी हुआ है और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े बड़े प्रयत्न के साथ वेदमन्त्रों के अर्थों को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिये पूर्ण उपकार किया है इसलिये विद्वान् लोग वेद मन्त्रों के साथ उनको स्मरण रखते हैं इस विषय में अर्थ सहित प्रमाण लिखते हैं (यो वाचं०) जो मनुष्य अर्थ को समझे विना अध्ययन वा श्रवण करते हैं उनका सब परिश्रम निष्फल होता है । (प्र०) वाणी का फल क्या है । (उ०) अर्थको ठीक ठीक जान के उसी के अनुसार व्यवहारों में प्रवृत्त होना वाणी का फल है । और जो लोग इस नियम पर चलते हैं वे साक्षात् धर्मात्मा अर्थात् ऋषि कहलाते हैं इसलिये

जिन्होंने सब विद्याओं को यथावत् जाना था वे ही ऋषि हुए थे जिन्होंने अपने उपदेश से अवर अर्थात् अल्पबुद्धि मनुष्यों को वेदमन्त्रों के अर्थों का प्रकाश कर दिया है। (प्र०) किस प्रयोजन के लिये (उ०) वेदार्थप्रचार की परंपरा स्थिर रहने के लिये तथा जो लोग वेदशास्त्रादि पढ़ने को कम समर्थ हैं वे जिससे सुगमता से वेदार्थ जान लेवें इसलिये निघण्टु और निरुक्त आदि ग्रन्थ भी बना दिये हैं कि जिन के सहाय से सब मनुष्य वेद और वेदाङ्गों को ज्ञानपूर्वक पढ़कर उन के सत्य अर्थों का प्रकाश करें। निघण्टु उसको कहते हैं कि जिसमें तुल्य अर्थ और तुल्य कर्म वाले धातुओं की व्याख्या एक पदार्थ को अनेकार्थ तथा अनेक अर्थों का एक नाम है प्रकाश और मन्त्रों से भिन्न अर्थों का संकेत है और निरुक्त उसका नाम है कि जिस में वेदमन्त्रों की व्याख्या है और जिन जिन मन्त्रों में जिन जिन पदार्थों की प्रधानता से स्तुति की है उनके मन्त्रमय देवता जानने चाहिये अर्थात् जिस जिस मन्त्र का जो जो अर्थ होता है वही उसका देवता कहाता है सो यह इसलिये है कि जिससे मन्त्रों को देखके उनके अभिप्रायार्थ का यथार्थज्ञान हो जाय इत्यादि प्रयोजन के लिये देवता शब्द मन्त्र के साथ में लिखाजाता है ऐसे ही जिस जिस मन्त्र का जो जो छन्द है सो भी उसके साथ इसलिये लिख दिया गया है कि उनसे मनुष्यों को छन्दों का ज्ञान भी यथावत् होता रहे तथा कौन कौन सा छन्द किस किस स्वर में गाना चाहिये इस बात को जनाने के लिये उनके साथ में षड्जादि स्वर लिखे जाते हैं जैसे गायत्री छन्दवाले मन्त्रों को षड्ज स्वर में गाना चाहिये ऐसे ही और और भी बता दिये हैं कि जिससे मनुष्य लोग गानविद्या में भी प्रवीण हों इसीलिये वेदमें प्रत्येक मन्त्रों के साथ उन के षड्ज आदि स्वर लिखे जाते हैं ॥

भाष्यम् ॥

(प्र०) वेदेष्वग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां क्रमेण पाठः किमर्थः कृतोस्ति। (उ०) पूर्वापरविद्याविज्ञापनार्थं विद्यासङ्गत्यनुषङ्गिभतिविद्यानुषङ्गिबोधार्थं चेति। तद्यथा। अग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्ग्रहणं भवति। यथाऽनेनेश्वरस्य ज्ञानव्यापकत्वादयो गुणा विज्ञातव्या भवन्ति। यथेश्वररचितस्य भौतिकस्याग्नेः शिल्पविद्याया मुख्यहेतुत्वात्प्रथमं गृह्यते। तथेश्वरस्य सर्वाधारकत्वानन्तबलवत्त्वादिगुणा वायुशब्देन प्रकाश्यन्ते। यथा शिल्पविद्यायां भौतिकाग्नेः सहायकारित्वान्मूर्त्तद्रव्याधारकत्वाच्चतदनुषङ्गित्वाच्च भौतिकस्य वायोर्ग्रहणं कृतमस्ति तथैव वाय्वादीनामाधारकत्वादीश्वरस्यापीति। यथेश्वरस्येन्द्रशब्देन परमैश्वर्यवत्त्वादिगुणा विदिता भवन्ति। यथा भौतिकेन

वायुनाप्युत्तमैश्वर्यप्राप्तिर्मनुष्यैः क्रियते । एतदर्थमिन्द्रशब्दस्य ग्रहणं कृतमस्ति । अश्विशब्देन शिल्पविद्यायां यानचालनादिविद्याव्यवहारे जलाग्निपृथिवीप्रकाशादयो हेतवः प्रतिहेतवश्च सन्त्येतदर्थमग्निवायुग्रहणानन्तरमश्विशब्दप्रयोगो वेदेषु कृतोऽस्ति । एवं च सरस्वतीशब्देनेश्वरस्यानन्तविद्यावत्त्वशब्दार्थसम्बन्धरूपवेदोपदेष्टृत्वादिगुणा वेदेषु प्रकाशिता भवन्ति वाग्व्यवहाराश्च । इत्यादिप्रयोजनायाग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां ग्रहणं कृतमस्ति । एवमेव सर्वत्रैव वैदिकशब्दार्थव्यवहारज्ञानं सर्वैर्मनुष्यैर्बोध्यमस्तीति विज्ञाप्यते ॥

भाषार्थ ॥

(प्र०) वेदों में अनेकवार अग्नि वायु इन्द्र सरस्वती आदि शब्दों का प्रयोग किस लिये किया है । (उ०) पूर्वापर विद्याओं के जनाने के लिये अर्थात् जिस जिस विद्यामें जो जो मुख्य और गौण हेतु हैं उनके प्रकाश के लिये ईश्वर ने अग्नि आदि शब्दों का प्रयोग पूर्वापर सम्बन्ध से किया है क्योंकि अग्नि शब्द से ईश्वर और भौतिक आदि कितने ही अर्थों का ग्रहण होता है इस प्रयोजन से कि उसका अनन्त ज्ञान अर्थात् उसकी व्यापकता आदि गुणों का बोध मनुष्यों को यथावत् हो सके फिर इसी अग्निशब्द से पृथिव्यादि भूतों के बीच में जो प्रत्यक्ष अग्नि तत्त्व है वह शिल्पविद्या का मुख्य हेतु होने के कारण उसका ग्रहण प्रथम ही किया है तथा ईश्वर के सबको धारण करने और उसके अनन्तबल आदि गुणों का प्रकाश जनाने के लिये वायुशब्द का ग्रहण किया गया है तथा शिल्पविद्या में अग्नि का सहायकारी और मूर्त्तद्रव्य का धारण करनेवाला मुख्य वायु ही है इसलिये प्रथम सूक्त में अग्नि का और दूसरे में वायु का ग्रहण किया है तथा ईश्वर के अनन्त गुण विदित होने और भौतिक वायुसे योगाभ्यास करके विज्ञान तथा शिल्पविद्या से उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति करने के लिये इन्द्र शब्द का ग्रहण तीसरे स्थान में किया है क्योंकि अग्नि और वायु की विद्या से मनुष्यों को अद्भुत अद्भुत कलाकौशलादि बनाने की युक्ति ठीक ठीक जान पड़ती है तथा अश्विशब्द का ग्रहण तीसरे सूक्त और चौथे स्थान में इसलिये किया है कि उस से ईश्वर की अनन्त क्रियाशक्ति विदित हो क्योंकि शिल्पविद्या में विमान आदि यान चलाने के लिये जल अग्नि पृथिवी और प्रकाश आदि पदार्थ ही मुख्य होते हैं अर्थात् जितने कलायन्त्र विमान नौका और रथ आदि यान होते हैं वे सब पूर्वोक्त प्रकार से पृथिव्यादि पदार्थों से ही बनते हैं इसलिये अश्विशब्द का पाठ तीसरे सूक्त और चौथे स्थान में किया है तथा सरस्वती नाम परमेश्वर की अनन्त वाणी का है कि जिससे उसकी अनन्तविद्या जानी जाती है तथा जिस करके उसने सब मनुष्यों के हित के लिये अपनी अनन्तविद्यायुक्त वेदों का उपदेश भी

वहां उसी का ग्रहण करते कि जिससे कभी किसी को भ्रम न होता अथवा आरम्भ में उन शब्दों की जगह ईश्वर परमेश्वरादि शब्दों ही का ग्रहण करना था। (उ०) यूं तो ऐसा करने से भी भ्रम हो सकता है परन्तु जब कि व्याख्यानों के द्वारा मन्त्रों के पद पद का अर्थ खोल दियागया है तब उनके देखने से सब संदेह आप से आप ही निवृत्त हो जाते हैं क्योंकि शिक्षा आदि अङ्ग वेदमन्त्रों के पद पद का अर्थ ऐसी रीति से खोलते हैं कि जिससे वैदिक शब्दार्थों में किसी प्रकार का संदेह शेष नहीं रह सकता और जो कदाचित् ईश्वर शब्द का प्रयोग करते तो भी विना व्याख्यान के संदेह की निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि ईश्वर नाम उत्तम सामर्थ्य वाले राजादि मनुष्यों को भी हो सकता है और किसी किसी की ईश्वरसंज्ञा ही होती है तहां जो सब ठिकाने एकार्थवाची शब्दों का ही प्रयोग करते तो भी अनेक कोटि श्लोक और हजारह ग्रन्थ वेदों के बन जाने का संभव था परन्तु विद्याका पारावार फिर भी नहीं आता और न उनको मनुष्य लोग कभी पढ़पढ़ा सकते इस प्रयोजन अर्थात् सुगमता के लिये ईश्वर ने अग्न्यादि शब्दों का प्रयोग करके व्यवहार और परमार्थ इन दोनों बातों को सिद्ध करने-वाली विद्याओं का प्रकाश किया है कि जिससे मनुष्य लोग थोड़े ही काल में मूल विद्याओं को जान लें इसी मुख्य हेतु से सब के सुखार्थ परमकरुणामय परमेश्वर ने अग्न्यादि सुगम शब्दों के द्वारा वेदों का उपदेश किया है इसलिये अग्न्यादि शब्दों के अर्थ जो संसार में प्रसिद्ध हैं उनसे भी ईश्वर का ग्रहण होता है क्योंकि ये सब दृष्टान्त परमेश्वर ही के जानने और जनाने के लिये हैं इस प्रकार चार वेदों में जो जो विद्या हैं उनमें से कोई कोई विद्या तो इस वेदभाष्य की भूमिका में संक्षेप से लिख दी है शेष सब इसके आगे जब मन्त्रभाष्य में जिस जिस मन्त्र में जिस जिस विद्या का उप-देश है सो सो उसी उसी मन्त्र के व्याख्यान में यथावत् प्रकाशित कर देंगे ॥

भाष्यम् ॥

अथ निरुक्तकारः संक्षेपतो वैदिकशब्दानां विशेषनियमानाह ॥

तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य । अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना । अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि । अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना ॥ निरु० अ० ७ । खं० १ । २ ॥ अयं नियमः वेदेषु सर्वत्र सङ्गच्छते । तद्यथा । सर्वे मन्त्रास्त्रिविधानामर्थानां वाचका भवन्ति । केचित्प-

रोक्षाणां केचित्प्रत्यक्षाणां केचिदध्यात्मं वक्तुमर्हाः । तत्राद्येषु प्रथमपुरुषस्य प्रयोगा भवन्ति । अपरेषु मध्यमस्य तृतीयेषूत्तमपुरुषस्य च । तत्र मध्यमपुरुषप्रयोगार्थौ द्वौ भेदौ स्तः । यत्रार्थाः प्रत्यक्षाः सन्ति तत्र मध्यमपुरुषप्रयोगा भवन्ति । यत्र च स्तोतव्या अर्थाः परोक्षाः स्तोतारश्च खलु प्रत्यक्षास्तत्रापि मध्यमपुरुषप्रयोगो भवतीति । अस्यायमभिप्रायः । व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति तत्र जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव । चेतनेषु मध्यमोत्तमौ च । अयं लौकिकवैदिकशब्दयोः सार्वत्रिको नियमः । परन्तु वैदिकव्यवहारे जडेपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषप्रयोगाः सन्ति । तत्रेदं बोध्यं जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरणमात्रमेव प्रयोजनमिति । इमं नियममबुद्ध्वा वेदभाष्यकारैः सायणाचार्यादिभिस्तदनुसारतया स्वदेशभाषयाऽनुवादकारकैर्यूरोपाख्यदेशनिवास्यादिभिर्मनुष्यैर्वेदेषु जडपदार्थानां पूजास्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः ॥

भाषार्थ ॥

अब इसके आगे वेदस्थ प्रयोगों के विशेष नियम संक्षेप से कहते हैं । जो जो नियम निरुक्तकारादि ने कहे हैं वे बराबर वेदों के सब प्रयोगों में लगते हैं (तास्त्रिविधा ऋचः) वेदों के सब मन्त्र तीन प्रकार के अर्थों को कहते हैं कोई परोक्ष अर्थात् अदृश्य अर्थों को कोई प्रत्यक्ष अर्थात् दृश्य अर्थों को और कोई अध्यात्म अर्थात् ज्ञानगोचर आत्मा और परमात्मा को उन में से परोक्ष अर्थ के कहने वाले मन्त्रों में प्रथमपुरुष अर्थात् अपने और दूसरे के कहने वाले जो सो और वह आदि शब्द हैं तथा इनकी क्रियाओं के अस्ति । भवति । करोति । पचतीत्यादि प्रयोग हैं । एवं प्रत्यक्ष अर्थ के कहने वालों में मध्यमपुरुष अर्थात् तू तुम आदि शब्द और उनकी क्रिया के असि । भवसि । करोषि । पचसीत्यादि प्रयोग हैं तथा अध्यात्म अर्थ के कहने वाले मन्त्रों में उत्तमपुरुष अर्थात् मैं हम आदि शब्द और उनकी अस्मि । भवामि । करोमि । पचामीत्यादि क्रिया आती हैं तथा जहां स्तुति करने के योग्य परोक्ष और स्तुति करने वाले प्रत्यक्ष हों वहां भी मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है यहां यह अभिप्राय समझना चाहिये कि व्याकरण की रीति से प्रथम मध्यम और उत्तम अपनी अपनी जगह होते हैं अर्थात् जड पदार्थों में प्रथम चेतन में मध्यम वा उत्तम होते हैं सो यह तो लोक और वेद के शब्दों में साधारण नियम है परन्तु वेद के प्रयोगों में इतनी विशेषता होती है कि जड पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों तो वहां निरुक्तकार के उक्त नियम से मध्यम पुरुष का प्रयोग

होता है। और इससे यह भी जानना अवश्य है कि ईश्वर ने संसारी जड़ पदार्थों को प्रत्यक्ष कराके केवल उनसे अनेक उपकार लेना जनाया है। दूसरा प्रयोजन नहीं है, परन्तु इस नियम को नहीं जानकर सायणाचार्य आदि वेदों के भाष्यकारों तथा उन्होंके बनाये हुए भाष्यों के अवलम्ब से यूरोपदेशवासी विद्वानों ने भी जो वेदों के अर्थों को अन्यथा कर दिया है सो यह उनकी भूल है और इसीसे वे ऐसा लिखते हैं कि वेदों में जड़ पदार्थों की पूजा पाई जाती है जिसका कि कहीं चिह्न भी नहीं है

भाष्यम् ॥

अथ वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते। ते स्वरा द्विधा। उदात्तषड्जादिभेदात्सप्त सप्तैव सन्ति। तत्रोदात्तादीनां लक्षणानि व्याकरणमहाभाष्यकारपतञ्जलिप्रदर्शितानि लिख्यन्ते। स्वयं राजन्त इति स्वराः। आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैः कराणि शब्दस्य। आयामो गात्राणां निग्रहः। दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रूक्षता। अणुता कण्ठस्य। कण्ठस्य संवृतता। उच्चैः कराणि* शब्दस्य। अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैः† कराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता। मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता। उरुता खस्य। महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य॥ त्रैस्वर्येणाधीमहे त्रिप्रकारैरज्भिरधीमहे कैश्चिदुदात्तगुणैः कैश्चिदनुदात्तगुणैः कैश्चिदुभयगुणैः। तद्यथा। शुक्लगुणः शुक्लः कृष्णगुणः कृष्णः। य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते कल्माष इति वा सारङ्ग इति वा। एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः। अनुदात्तोऽनुदात्तगुणः। य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते स्वरित इति। ते ‡ एते तप्रेतरनिर्देशे सप्त स्वरा भवन्ति। उदात्तः। उदात्ततरः। अनुदात्तः। अनुदात्ततरः। स्वरितः। स्वरिते यः उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः। एकश्रुतिः सप्तमः। अ० १। पा० २। उच्चैरुदात्त इत्याद्युपरि॥ तथा षड्जादयः सप्त। षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः॥ १॥ पिङ्गलसूत्रे। अ० ३। सू० ६४॥ एषां लक्षणव्यवस्था गान्धर्ववेदप्रसिद्धा ग्राह्या। अत्र तु ग्रन्थभूयस्त्वभिया लेखितुमशक्या॥

भाषार्थ ॥

अब वेदार्थ के उपयोगहेतु से कुछ स्वरों की व्यवस्था कहते हैं जो कि उदात्त और

---

*उदात्तविधायकानीति यावत्। † अनुदात्तविधायकानीति यावत्॥
‡ अतिशयार्थद्योतकतरपप्रत्ययस्य निर्देशे॥

षड्ज आदि भेद से चौदह १४ प्रकार के हैं अर्थात् सात उदात्तादि और सात षड्जादि उनमें से उदात्तादिकों के लक्षण जो कि महाभाष्यकार पतञ्जलि महामुनिजी ने दिखलाए हैं उनको कहते हैं (स्वयं राजन्त०) आप ही अर्थात् जो कि विना सहाय दूसरे के प्रकाशमान हैं वे स्वर कहाते हैं (आयामः०) अङ्गों का रोकना (दारुण्यं) वाणी को रूखा करना अर्थात् ऊंचे स्वर से बोलना और (अणुता०) कण्ठ को भी कुछ रोक देना ये सब यत्न शब्द के उदात्त विधान करने वाले होते हैं अर्थात् उदात्त स्वर इन्हीं नियमों के अनुकूल बोला जाता है तथा (अन्वव) गात्रों का ढीलापन (मार्दव०) स्वर की कोमलता (उरुता०) कण्ठ को फैला देना ये सब यत्न शब्द के अनुदात्त करनेवाले हैं (त्रैस्वर्येण०) हम सब लोग तीन प्रकार के स्वरों से बोलते हैं अर्थात् कहीं उदात्त कहीं अनुदात्त और कहीं उदात्तानुदात्त अर्थात् स्वरित गुणवाले स्वरों से यथायोग्य नियमानुसार अक्षरों का उच्चारण करते हैं। जैसे श्वेत और काला रङ्ग अलग अलग हैं परन्तु इन दोनों को मिला कर जो रङ्ग उत्पन्न हो उसका नाम तीसरा होता है अर्थात् खाकी वा आसमानी, इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त गुण अलग अलग हैं परन्तु इन दोनों के मिलाने से जो उत्पन्न हो उसको स्वरित कहते हैं विशेष अर्थ के दिखाने वाले (तरप्) प्रत्यय के संयोग से वे उदात्त आदि सात स्वर होते हैं अर्थात् उदात्त उदात्ततर अनुदात्त अनुदात्ततर स्वरित स्वरितोदात्त और एकश्रुति। उक्त रीति से इन सातों स्वरों को ठीक ठीक समझ लेना चाहिये अब षड्जादि स्वरों को लिखते हैं जो कि गानविद्या के भेद हैं। (स्वराः षड्जऋषभ०) अर्थात् षड्ज। ऋषभ। गान्धार। मध्यम। पंचम। धैवत और निषाद। इनके लक्षण व्यवस्थासहित जो कि गन्धर्ववेद अर्थात् गानविद्या के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं उनको देख लेना चाहिये यहां ग्रन्थ बढ़जाने के कारण नहीं लिखते ॥

भाष्यम् ॥

अथात्र चतुर्षु वेदेषु व्याकरणस्य ये सामान्यतो नियमाः सन्ति त इदानीं प्रदर्श्यन्ते। तद्यथा। वृद्धिरादैच् ॥ १ ॥ अ० १। १। १ ॥ उभयसंज्ञान्यपि छन्दांसि दृश्यन्ते। तद्यथा। सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन। पदत्वात्कुत्वं भत्वाज्जश्त्वं न भवति। इति भाष्यवचनम्। अनेनैकस्मिन् शब्दे भपदसंज्ञाकार्यद्वयं वेदेष्वेव भवति। नाऽन्यत्र स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥ २ ॥ अ० १। १। ५६ ॥ प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति। न काञ्चित्प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति। यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या। इति भाष्यम्।

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥ ६ ॥ अ० २।३।६२ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या। या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते तिस्रो रात्रीरिति। तस्या इति प्राप्ते। एवमन्यत्रापि। अनेन चतुर्थ्यर्थे षष्ठी षष्ठ्यर्थे चतुर्थी द्वे एव भवतः। महाभाष्यकारेण छन्दोवन्मत्वा ब्राह्मणानामुदाहरणानि प्रयुक्तानि। अन्यथा ब्राह्मणग्रन्थस्य अकृतत्वाच्छन्दोग्रहणमनर्थकं स्यात्। बहुलं छन्दसि ॥ ७ ॥ अ० २।४।३९। अनेन अदधातोः स्थाने घस्लृ आदेशो बहुलं भवति। घस्तान्नूनम्। सग्धिश्च मे। अत्तामद्य मध्यतो मेद उद्भृतम्। इत्याद्युदाहरणं ज्ञेयम्॥ बहुलं छन्दसि ॥ ८ ॥ अ० २।४।७३। वेदविषये शपो बहुलं लुग्भवति। वृत्रं हनति। अहिः शयते। अन्येभ्यश्च भवति। त्राध्वं नो देवाः। बहुलं छन्दसि ॥ ९ ॥ अ० २।४।७६। वेदेषु शपः स्थाने श्लुर्बहुलं भवति। दाति प्रियाणि धाति प्रियाणि। अन्येभ्यश्च भवति। पूर्णां विवष्टि। जनिमा विवक्ति। इत्यादीन्युदाहरणानि सन्तीति बोध्यम्॥

भाषार्थ ॥

(या खर्वेण०) इत्यादि पाठ से यही प्रयोजन है कि वेदों में षष्ठीविभक्ति के स्थान में चतुर्थी हो जाती है लौकिक ग्रन्थों में नहीं इस में ब्राह्मणों के उदाहरण इसलिये दिये हैं कि महाभाष्यकार ने ब्राह्मणों को वेदों के तुल्य मानके अर्थात् इन में जो व्याकरण के कार्य्य होते हैं वे ब्राह्मणों में भी हो जाते हैं और जो ऐसा न मानें तो (द्वितीया ब्राह्मणे) इस सूत्र में से ब्राह्मण शब्द की अनुवृत्ति हो जाती फिर (चतुर्थ्यर्थे०) इस सूत्र में (छन्दः) शब्द का ग्रहण व्यर्थ हो जाय (बहुलं०) इस सूत्र से (अद) धातु के स्थान में घस्लृ आदेश बहुल अर्थात् बहुधा होता है (बहुलं०) वेदों में शप् प्रत्यय का लुक् बहुल करके होता है और कहीं नहीं भी होता जैसे (वृत्रं हनति) यहां शप् का लुक् प्राप्त था सो भी न हुआ तथा (त्राध्वं०) यहां त्रैङ् धातु से प्राप्त नहीं था परन्तु हो गया महाभाष्यकार के नियम से शप् के लुक् करने में श्यनादि का लुक् होता है क्योंकि शप् के स्थान में श्यनादि का आदेश किया जाता है। शप् सामान्य होने से सब धातुओं से होता है जब शप् का लुक् हो गया तो श्यनादि प्राप्त ही नहीं होते। ऐसे ही श्लु के विषय में भी समझ लेना। (बहुलं) वेदों में शप् प्रत्यय के स्थान में श्लु आदेश बहुल करके होता है अर्थात् उक्त से भी नहीं होता और अनुक्त से भी हो जाता है जैसे (दाति०) यहां शप् के स्थान में श्लु प्राप्त था परन्तु न हुआ और (विवष्टि) यहां प्राप्त नहीं फिर हो गया ॥

भाष्यम् ॥

सिब् बहुलं लेटि ॥ १० ॥ अ० ३ । १ । ३४ । सिब्बहुलं छन्दसि णिद्वक्तव्यः । सविता धर्मसाविषत् । प्राण आयूंषि तारिषत् । अयं लेटि विशिष्टो नियमः । छन्दसि शायजपि ॥ ११ ॥ अ० ३ । १ । ८४ ॥ शायच्छन्दसि सर्वत्रेति वक्तव्यम् । क्व सर्वत्र । हौ चाहौ च । किं प्रयोजनम् । महीः अस्कभायत् । यो अस्कभायत् । उद्गृभायत् । उन्मथायतेत्येवमर्थम् । अयं लोटि मध्यमपुरुषस्यैकवचने परस्मैपदे विशिष्टो नियमः ॥ व्यत्ययो बहुलम् ॥ १२ ॥ अ० ३ । १ । ८५ । सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च ॥ व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥ १ ॥ व्यत्ययो भवति स्यादीनामिति । अनेन विकरणव्यत्ययः । सुपां व्यत्ययः । तिङां व्यत्ययः । वर्णव्यत्ययः । लिङ्गव्यत्ययः । पुरुषव्यत्ययः । कालव्यत्ययः । आत्मनेपदव्यत्ययः । परस्मैपदव्यत्ययः । स्वरव्यत्ययः । कर्तृव्यत्ययः । यङ्व्यत्ययश्च । एषां क्रमेणोदाहरणानि । युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणायाः । दक्षिणायामिति प्राप्ते । चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति । तक्षन्तीति प्राप्ते । त्रिष्टुभौजः शुभितमुग्रवीरम् । शुंभितमिति प्राप्ते । मधोस्तृप्ता इवासते । मधुन इति प्राप्ते । अधा सवीरैर्दशभिर्वियूयाः । वियूयादिति प्राप्ते । श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन । आधाता यष्टेति प्राप्ते । ब्रह्मचारिणमिच्छते । इच्छतीति प्राप्ते । प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति । युध्यत इति । आधाता यष्टेति लुट् प्रथमपुरुषस्यैकवचने प्रयोगौ । व्यत्ययो भवति स्यादीनामित्यस्योदाहरणं । तासि प्राप्ते स्यो विहितः ॥ बहुलं छन्दसि ॥ १३ ॥ अ० ३ । २ । ८८ । अनेन क्विप्प्रत्ययो वेदेषु बहुलं विधीयते । मातृहा । मातृघातः । इत्यादीनि ॥ छन्दसि लिट् ॥ १४ ॥ अ० ३ । २ । १०५ । वेदेषु सामान्यभूते लिट् विधीयते । अहं द्यावापृथिवी आततान ॥ लिटः कानज् वा ॥ १५ ॥ अ० ३ । २ । १०६ ॥ वेदविषये लिटः स्थाने कानजादेशो वा भवति । अग्निं चिक्यानः । अहं सूर्यमुभयतो ददर्श । प्रकृतेपि लिटि पुनर्ग्रहणात्परोक्षार्थस्यापि ग्रहणं भवति । क्वसुश्च ॥ १६ ॥ अ० ३ । २ । १०७ । वेदे लिटः स्थाने क्वसुरादेशो वा भवति । पपिवान् जग्मिवान् । न च भवति । अहं सूर्यमुभयतो ददर्श ॥ क्याच्छन्दसि ॥ १७ ॥ अ० ३ । २ । १७० । क्यप्रत्ययान्ताद्धातोश्छन्दसि विषये तच्छीलादिषु कर्तृषु उकारप्रत्ययो भवति । मित्रयुः । संस्वेदयुः । सुम्नयुः । निरनुबन्धकग्रहणे सानुबन्धकस्यापि ग्रहणं भवतीत्यनया परिभाषया क्यच्क्यङ्क्यषां सामान्येन ग्रहणं भवति ॥

भाषार्थ ॥

सिब्बहुलं०) लेट् लकार में जो सिप् प्रत्यय होता है वह वेदों में बहुल करके णित् संज्ञक होता है कि जिससे वृद्धि आदि कार्य होसकें जैसे (साविषत्) यहां सिप् को णित् मान के वृद्धि हुई है यह लेट् में वेदविषयक विशेष नियम है । शायच्छन्दसि०) वेद में (हि) प्रत्यय के परे श्ना प्रत्यय के स्थान में जो शायच् आदेश विधान किया है वह (हि) से अन्यत्र भी होता है (व्यत्ययो०) वेदों में जो व्यत्यय अर्थात् विपरीतभाव बहुधा होता है वह भाष्यकार पतञ्जलिजी ने नव प्रकार से माना है वे सुप् आदि ये हैं सुप्, तिङ्, वर्ण (लिंग) पुल्लिंग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग (पुरुष) प्रथम, मध्यम और उत्तम, (काल) भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान, आत्मनेपद और परस्मैपद, (वर्ण) वेदों में अचों के स्थान में हल् और हलों के स्थान में अच् के आदेश होजाते हैं स्वर । उदात्तादि का व्यत्यय । कर्ता का व्यत्यय और यङ् का व्यत्यय होते हैं । इन सब के उदाहरण संस्कृत में लिखे हैं वहां देख लेना (बहुलम्०) इस से क्विप् प्रत्यय वेदों में बहुल करके होता है (छन्दसि०) इस सूत्र से लिट् लकार वेदों में सामान्य भूतकाल में भी होता है (लिटः का०) इस सूत्र से वेदों में लिट् लकार के स्थान में कानच् आदेश विकल्प करके होता है इस के (आततान) इत्यादि उदाहरण बनते हैं (छन्दसि०) इस सूत्र में से लिट् की अनुवृत्ति हो जाती फिर लिट्ग्रहण इसलिये है कि (परोक्षे लिट्) इस लिट् के स्थान में भी कानच् आदेश होजावे (क्वसुश्च) इस सूत्र से वेदों में लिट् के स्थान में क्वसु आदेश हो जाता है (क्या) इस सूत्र से वेदों में क्यप्रत्ययान्त धातु से (उ) प्रत्यय हो जाता है ॥

भाष्यम् ॥

कृत्यल्युटो बहुलम् ॥ १८ ॥ अ० ३ । ३ । ११३ । कृल्ल्युट इति वक्तव्यम् । कृतो बहुलमिति वा । पादहारकाद्यर्थम् । पादाभ्यां ह्रियते पादहारकः । अनेन धातोर्विहिताः कृत्संज्ञकाः प्रत्ययाः कारकमात्रे वेदादिषु द्रष्टव्याः । अयं लौकिकवैदिकशब्दानां सार्वत्रिको नियमोऽस्तीति वेद्यम् ॥ छन्दसि गत्यर्थेभ्यः ॥ १९ ॥ अ० ३ । ३ । १२९ । ईषदादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषूपपदेषु सत्सु गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये युच्प्रत्ययो भवति । उ० सूपसदनोऽग्निः ॥ अन्येभ्योपि दृश्यते ॥ २० ॥ अ० ३ । ३ । १३० । अन्येभ्यश्च धातुभ्यो युच्प्रत्ययो दृश्यते । उ० सुदोहनमाकृणोद्ब्रह्मणे गाम् ॥ छन्दसि लुङ्लङ्लिटः

॥ २१ ॥ अ० ३ । ४ । ६ । वेदविषये धातुसम्बन्धे सर्वेषु कालेषु लुङ्लङ्-लिटः प्रत्यया विकल्पेन भवन्ति । उ० लुङ् । अहं तेभ्योऽकरं नमः । लङ् । अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः । लिट् । अद्य ममार ॥ लिङर्थे लेट् ॥ २२ ॥ अ० ३ । ४ । ७ । यत्र विध्यादिषु हेतुहेतुमतोः शक्तीच्छार्थेपूर्ध्वमौहूर्तिकार्थेषु लिङ् विधीयते । तत्र वेदेष्वेव लेट्लकारो वा भवति । उ० जीवाति शरदः शतमित्यादीनि । उपसंवादाशङ्कयोश्च ॥ २३ ॥ अ० ३ । ४ । ८ । उपसंवादे आशङ्कायां च गम्यमानायां वेदेषु लेट्प्रत्ययो भवति । उ० (उपसंवादे) अहमेव पशूनामीशै । आशङ्कायां । नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम । मिथ्याचरणेन नरकपात आशङ्क्यते ॥ लेटो ऽडाटौ ॥ २४ ॥ अ० ३ । ४ । ९४ । लेटः पर्यायेण अट्आट्आगमौ भवतः । आत ऐ ॥ २५ ॥ अ० ३ । ४ । ९५ । छन्दस्यनेनात्मनेपदे विहितस्य लेडादेशस्य द्विवचनस्थस्याकारस्य स्थाने ऐकारादेशो भवति । उ० मन्त्रयैते । मन्त्रयैथे । वैतोऽन्यत्र ॥ २६ ॥ अ० ३ । ४ । ९६ । आत ऐ इत्येतस्य विषयं वर्जयित्वा लेट एकारस्य स्थाने ऐकारादेशो वा भवति । उ० अहमेव पशूनामीशै ईशे वा ॥ इतश्च लोपः परस्मैपदेषु ॥ २७ ॥ अ० ३ । ४ । ९७ । लेटः स्थाने आदिष्टस्य तिबादिस्थस्य परस्मैपदविषयस्येकारस्य विकल्पेन लोपो भवति । उ० तरति, तराति, तरत्, तरात्, तरिषति, तरिषाति, तरिषत्, तरिषात्, तारिषति, तारिषाति, तारिषत्, तारिषात्, तरसि, तरासि, तरः, तराः, तरिषसि, तारिषासि, तरिषः, तरिषाः, तारिषसि, तारिषासि, तारिषः, तारिषाः, तरामि, तराम्, तरिषामि, तरिषाम्, तारिषामि, तारिषाम्, एवमेव सर्वेषां धातूनां प्रयोगेषु लेड्विषये बोध्यम् । स उत्तमस्य ॥ २८ ॥ अ० ३ । ४ । ९८ । लेट उत्तमपुरुषस्य सकारस्य लोपो वा भवति । करवाव, करवावः, करवाम, करवामः ॥

भावार्थ ॥

(छन्दसि०) इस सूत्र से ईषत् दुर् सु ये पूर्वपद लगे हों तो गत्यर्थक धातुओं से वेदों में युच् प्रत्यय होता है (अन्येभ्यो०) और धातुओं से भी वेदों में युच् प्रत्यय देखने में आता है जैसे (सुदोहनं) यहां सुपूर्वक दुह धातु से युच् प्रत्यय हुआ है (छन्दसि०) जो तीन लकार लोक में भिन्न भिन्न कालों में होते हैं वे वेदों में

लुङ् लङ् और लिट् लकार ये सब कालों में विकल्प करके होते हैं (लिङर्थे०) अब लेट् लकार के विषय के जो सामान्यसूत्र हैं उन को यहां लिखते हैं यह लेट् लकार वेदों में ही होता है सो वह लिङ् लकार के जितने अर्थ हैं उन में तथा उपसंवाद और आशङ्का इन अर्थों में लेट् लकार होता है (लेटो०) लेट् को क्रम से अट् और आट् आगम होते हैं अर्थात् जहां अट् होता है वहां आट् नहीं होता जहां आट् होता है वहां अट् नहीं होता (आत ऐ) लेट् लकार में प्रथम और मध्यम पुरुष के (आतां) के आकार को ऐकार आदेश हो जाता है जैसे (मन्त्रयैते) यहां आ के स्थान में ऐ हो गया है (वैतोऽन्यत्र) यहां लेट् लकार के स्थान में जो एकार होता है उस के स्थान में ऐकार आदेश हो जाता है (इतश्च०) यहां लेट् के तिप् सिप् और मिप् के इकार का लोप विकल्प से हो जाता है (स उत्त०) इस सूत्र से लेट् लकार के उत्तम पुरुष के वस्मस् के सकार का विकल्प करके लोप हो जाता है यह लेट् का विषय थोड़ासा लिखा आगे किसी को सब जानना हो तो वह अष्टाध्यायी पढ़ के जान सकता है, अन्यथा नहीं ॥

भाष्यम् ॥

तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः ॥ २९ ॥ अ० ३ । ४ । ९ ॥ धातुमात्रात्तुमुन्प्रत्ययस्यार्थे । से, सेन, असे, असेन्, क्से, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ्, तवेन्, इत्येते पञ्चदश प्रत्यया वेदेष्वेव भवन्ति, कृन्मेजन्त इति सर्वेषामव्ययत्वम्, सर्वेषु नकारोऽनुबन्धः स्वरार्थः, ककारो गुणवृद्धिनिषेधार्थः, ङकारोपि, शकारः शिदर्थः (से) वक्षे रायः (सेन्) ताबामेषे रथानाम् (असे असेन्) क्रत्वे दक्षाय जीवसे (क्से कसेन्) श्रियसे (अध्यै अध्यैन्) कर्मण्युपाचरध्यै (कध्यै) इन्द्राग्नी आहुवध्यै (कध्यैन्) श्रियध्यै (शध्यै शध्यैन्) पिबध्यै । सह मादयध्यै । अत्र शित्वात् पिबादेशः । (तवै) सोममिन्द्राय पातवै (तवेङ्) दशमे मासि सूतवे (तवेन्) स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ शकि णमुल्कमुलौ ॥ ३० ॥ अ० ३ । ४ । १२ ॥ शक्नोतौ धातावुपपदे धातुमात्रात्तुमर्थे वेदेषु णमुल्कमुलौ प्रत्ययौ भवतः । णकारो वृद्ध्यर्थः । ककारो गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थः । लकारः स्वरार्थः । अग्निं वै देवा विभाजं नाशक्नुवन् । विभक्तुमित्यर्थः ॥ ईश्वरे तोसुन्कसुनौ ॥ ३१ ॥ अ० ३ । ४ । १३ ॥ ईश्वरशब्द

उपपदे वेदे तुमर्थे वर्त्तमानाद्धातोस्तोसुन्कसुनौ प्रत्ययौ भवतः । ईश्वरोभिचरितोः । कसुन् । ईश्वरो विलिखः ॥ कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः ॥ ३२ ॥ अ० ३ । ४ । १४ ॥ कृत्यानां मुख्यतया भावकर्म्मणी द्वावर्थौ स्तोऽर्हादयश्च । तत्र वेदविषये तवै । केन् । केन्य । त्वन् । इत्येते प्रत्यया भवन्ति । तवै । परिधातवै (केन्) नावगाहे । केन्य दिदृक्षेण्यः । शुश्रूषेण्यः (त्वन्) कर्त्वं हविः ॥

भाषार्थ ॥

(तुमर्थे०) इस सूत्र से वेदों में (से) इत्यादि १५ पंद्रह प्रत्यय सब धातुओं से हो जाते हैं (शकि०) शक धातु का प्रयोग उपपद हो तो धातुमात्र से (णमुल्) (कमुल्) ये दोनों प्रत्यय वेदों में हो जाते हैं इस के होने से (विभाजं) इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं (ईश्वरे०) वेदों में ईश्वर शब्दपूर्वक धातु से (तोसुन्) (कसुन्) ये प्रत्यय होते हैं (कृत्यार्थे०) इस सूत्र से वेदों में भावकर्मवाचक (तवै) (केन्) (केन्य) (त्वन्) ये प्रत्यय होते हैं इससे (परिधातवै) इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं ॥

भाष्यम् ॥

नित्यं संज्ञाछन्दसोः ॥ ३३ ॥ अ० ४ । १ । २६ ॥ अन्नन्ताद्बहुव्रीहेरुपधालोपिनः प्रातिपदिकात्संज्ञायां विषये छन्दसि च नित्यं स्त्रियां ङीप्प्रत्ययो भवति । गौः पञ्चदाम्नी, एकदाम्नी ॥ नित्यं छन्दसि ॥ ३४ ॥ अ० ४ । १ । ४६ ॥ बह्वादिभ्यो वेदेषु स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति, बह्वीषु हित्वा प्रपिबन् ॥ भवे छन्दसि ॥ ३५ ॥ अ० ४ । ४ । ११० ॥ सप्तमीसमर्थात्प्रातिपदिकात्तत्र भव इत्येतस्मिन्नर्थे छन्दसि विषये यत्प्रत्ययो भवति, अयमणादीनां घादीनां चापवादः, सति दर्शने तेपि भवन्ति, मेघ्याय च विद्युत्याय च नमः, इतः सूत्रादारभ्य यानि प्रकृतिप्रत्ययार्थविशेषविधायकानि पादपर्य्यन्तानि वेदविषयकाणि सूत्राणि सन्ति, तान्यत्र न लिख्यन्ते कुतस्तेषामुदाहरणानि यत्र यत्र मन्त्रेष्वागमिष्यन्ति तत्र तत्र तानि लेखिष्यामः ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ३६ ॥ अ० ५ । २ । १२२ ॥ वेदेषु समर्थानां प्रथमात्प्रातिपदिकमात्राद्भूमादिष्वर्थेषु विनिः प्रत्ययो बहुलं विधीयते, तद्यथा भूमादयः ॥ तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ॥ ३७ ॥ अ० ५ । २ । ९४ ॥ भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥ १ ॥ अस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनादेतेषु

समस्तर्थेषु ते प्रत्यया वेदे लोके चैते मतुबादयो भवन्तीति बोध्यम्, (बहुलं) अस्मिन्सूत्रे प्रकृतिप्रत्ययरूपविशेषविधायकानि बहूनि वार्तिकानि सन्ति, तानि तत्तद्विषयेषु प्रकाशयिष्यामः ॥ अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि ॥ ३८ ॥ अ० ५ । ४ । १०३ ॥ अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि वेति वक्तव्यम्, ब्रह्म साम ब्रह्म साम, देवच्छन्दसं । देवच्छन्दः ॥ सन्यङोः ॥ अ० ६ । १ । ६ ॥ बहवर्था अपि धातवो भवन्ति । तद्यथा । वपिः प्रकरणे दृष्टश्छेदने चापि वर्त्तते केशान्वपति । ईडिः, स्तुतिचोदनायां चाप्युद्दष्ट ईरणे चापि वर्त्तते, अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टेमरुतोमुतश्च्यावयन्ति, करोतिरयमभूतप्रादुर्भावे दृष्टः, निर्मूलीकरणे चापि वर्त्तते, पृष्ठं कुरुपादौ कुरु उन्मृदानेति गम्यते, निक्षेपणेपि वर्त्तते, कटे कुरु घटे कुरु, अश्मानमितः कुरु, स्थापयेति गम्यते, एतन्महाभाष्यवचनेनैतद्विज्ञातव्यम्, धातुपाठे येऽर्था निर्दिष्टास्तेभ्योऽन्येपि बहवोऽर्था भवन्ति, तेषामुपलक्षणमात्रस्य दर्शितत्वात् ॥ शेश्छन्दसि बहुलम् ॥ ३९ ॥ अ० ६ । १ । ७० ॥ वेदेषु नपुंसके वर्तमानस्य शेर्लोपो बहुलं भवति, यथा विश्वानि भुवनानीति प्राप्ते विश्वाभुवनानीति भवति ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ४० ॥ अ० ६ । १ । ३४ ॥ अस्मिन्सूत्रे वेदेषु एषां धातूनामप्राप्तमपि सम्प्रसारणं बहुलं विधीयते, यथा हूमहे इत्यादिषु ॥ इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ॥ ४१ ॥ अ० ६ । १ । १२७ ॥ ईषा अक्षादिषु च छन्दसि प्रकृतिभावमात्रं द्रष्टव्यम् ॥ ईषा अक्षा ईमिरे, इत्याद्यप्राप्तः प्रकृतिभावो विहितः, देवताद्वन्द्वे च ॥ अ० ६ । ३ । २६ ॥ देवतयोर्द्वन्द्वसमासे पूर्वपदस्य आनङ् इत्यादेशो विधीयते ङित्त्वादन्त्यस्य स्थाने भवति, उ० सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्, इन्द्राबृहस्पती इत्यादीनि, अस्य सूत्रस्योपरि द्वे वार्तिके स्तः, तद्यथा । देवताद्वन्द्वे उभयत्र वायोः प्रतिषेधः, अग्निवायू, वाय्वग्नी ॥ ब्रह्मप्रजापत्यादीनां च । ब्रह्मप्रजापती शिववैश्रवणौ स्कन्दविशाखौ, सूत्रेण विहित आनङादेशो वार्तिकद्वयेन प्रतिषिध्यते, सार्वत्रिको नियमः ॥ बहुलं छन्दसि० ॥ अ० ७ । १ । ८ ॥ अनेनात्मनेपदसंज्ञस्य झकारप्रत्ययस्य रुडागमो विधीयते, उ०, देवा अदुह्र ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ४२ ॥ अ० ७ । १ ॥ १० ॥ अनेन वेदेषु भिसः स्थाने ऐस् बहुलं विधीयते, यथा देवेभिर्मानुषे जने ॥ सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः ॥ ४३ ॥ अ० ७ । १ । ३९ ॥ सुपां च सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्, तिङां च तिङो भवन्तीति वक्तव्यम्, इयाडियाजीकाराणामुपसङ्ख्यानम्, इया, दार्विया परिज्मन्, डियाच्, सुमित्रिया न आप०, सुक्षेत्रिया, सुगात्रिया, ईकार, दृतिं न शुष्कं सरसीशयानम्, आङ्याजयारां चोपसङ्ख्यानम्,

आङ्, प्रवाहवा, अयाच्, स्वप्नयात्वसेचनम्, अयार्, स नः सिन्धुमिव नाव-या, सुप्, लुक्, पूर्वसवर्ण, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच्, आल्, इया, डियाच्, ई, आङ्, अयाच्, अयार्, वैदिकेषु शब्देषु ह्येव सुपां स्थाने सुवाधयारान्ताः षोडशादेशा विधीयन्ते, तिङां च तिङिति पृथङ् नियमः, (सुप्) ऋजवः सन्तु पन्था, पन्थान इति प्राप्ते, (लुक्) परमे व्योमन्, व्योम्नीति प्राप्ते (पूर्वसवर्ण) धीती, मती, धीत्या, मत्या इति प्राप्ते, (आत्) उभा यन्तारा, उभौ यन्तारौ इति प्राप्ते (शे) न युष्मे वाजबन्धवः, यूयमिति प्राप्ते (या) उरुया, उरुणा इति प्राप्ते (डा) नाभा पृथिव्याः, नाभौ इति प्राप्ते (ड्या) अनुष्टुया, अनुष्टुभा इति प्राप्ते (याच्) साधुया, साधु इति प्राप्ते (आल्) वसन्ता यजेत, वसन्ते इति प्राप्ते ॥ आज्जसेरसुक् ॥ अ० ७ । १ । ५० ॥ अनेन प्रथमाया बहुवचने जसः पूर्वं असुक् इत्ययमागमो विहितः, उ०, विश्वेदेवास आगत, विश्वेदेवा इति प्राप्ते, एवं देव्यासः तथैवान्यान्यपि ज्ञातव्यानि ॥

भाषार्थ ॥

(नित्यं संज्ञा०) इस सूत्र से वेदों में अनन्त प्रातिपादिक से ङीप् प्रत्यय होता है (नित्यं) इस सूत्र में बह्वादि प्रातिपादिकों से वेदों में ङीप् प्रत्यय नित्य होता है । (भवे०) इस सूत्र से भव अर्थ में प्रातिपदिक मात्र से वेदों में यत् प्रत्यय होता है इस सूत्र से आगे पादपर्यन्त सब सूत्र वेदों ही में लगते हैं सो यहां इसलिये नहीं लिखे कि वे एक एक बात के विशेष हैं सो जिस जिस मन्त्र में विषय आवेंगे वहां वहां लिखे जायंगे (बहुलं०) इस सूत्र से प्रातिपदिकमात्र से विन् प्रत्यय वेदों में मतुप् के अर्थ में बहुल करके होता है इस सूत्र के ऊपर वैदिक शब्दों के लिये वार्तिक बहुत हैं परन्तु विशेष हैं इसलिये नहीं लिखे (अवसन्ता०) इस सूत्र से वेदों में समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प करके होता है (बहुधा अपि०) इस महाभाष्यकार के वचन से यह बात समझना चाहिये कि धातुपाठ में धातुओं के जितने अर्थ लिखे हैं उन से अधिक और भी बहुत अर्थ होते हैं जैसे (ईड) धातु का स्तुति करना तो धातुपाठ में अर्थ पढ़ा है और चोदना आदि भी समझे जाते हैं इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये (बहुलं०) इस से धातुओं को अप्राप्त संप्रसारण होता है (शेश्छ०) इस से प्रथमा विभक्ति जो जस् के स्थान में नपुंसकलिङ्ग में (शि) आदेश होता है इसका लोप वेदों में बहुल से हो जाता है (ईषा०) इस नियम से अप्राप्त भी प्रकृतिभाव वेदों में होता है (देवताद्व०) इस सूत्र से दो देवताओं के द्वन्द्वसमास में

पूर्वपद को दीर्घ हो जाता है जैसे (सूर्याचन्द्रमसौ०) यहां सूर्या शब्द दीर्घ होगया है और इस सूत्र से जिस कार्य का विधान है उसका प्रतिषेध महाभाष्यकार दो वार्तिकों से विशेष शब्दों में दिखाते हैं जैसे (इन्द्रवायू) यहां इन्द्र शब्द को दीर्घ नहीं हुआ यह नियम लोक और वेद में सर्वत्र घटता है (बहुलं०) इस सूत्र से प्रथम पुरुष के बहुवचन आत्मनेपद में ऊ प्रत्यय को रुट् का आगम होता है (बहुलं०) इससे भिस् के स्थान में ऐस्भाव बहुल करके होता है (सुपां सु०) इससे सब विभक्तियों के सब वचनों के स्थान में (सु) आदि १६ आदेश होते हैं (आज्जसे०) इस सूत्र से वेदों में प्रथमाविभक्ति का बहुवचन जो जस् है उसको असुक् का आगम होता है जैसे (देवाः) ऐसा होना चाहिये वहां (देवासः) ऐसा हो जाता है इत्यादि जान लेना चाहिये ॥

भाष्यम् ॥

बहुलं छन्दसि ॥ ४४ ॥ अ० ७ । ३ । ६७ ॥ वेदेषु यत्र क्वचिदीडागमो दृश्यते तत्रानेनैव भवतीति वेद्यम् ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ४५ ॥ अ० ७।४।७८॥ अनेनाभ्यासस्य इत् इत्ययमादेशः श्लौ वेदेषु बहुलं विधीयते ॥ छन्दसीरः ॥ ॥४६॥ अ० ८ । २ । १५॥ अनेन मतुपो मकारस्यामासं वत्त्वं विधीयते । उ० रेवान् । इत्यादि । कृपो रो लः ॥ ४७ ॥ अ० ८ । २ । १८ ॥ संज्ञाछन्दसोर्वा कपिलकादीनामिति वक्तव्यम् । कपिलका । कपरिका । इत्यादीनि ॥ विच ॥४८॥ अ० ८ । २ । २५ ॥ घसिभसोर्न सिध्येत्तु तस्मात् सिज्ग्रहणं न तत् ॥ छान्दसो वर्णलोपो वा यथेष्कर्तारमध्वरे ॥ १ ॥ उ० निष्कर्तारमध्वरस्येति प्राप्ते । अनेन वेदेषु वर्णलोपो विकल्प्यतेऽप्राप्तविभाषेयम् ॥ दादेर्धातोर्घः ॥ ४९ ॥ अ० ८ । २ । ३२ ॥ हुग्रहोश्छन्दसि हस्य भत्वं वक्तव्यम् । उ० गर्दभेन संभरति । मरुद्रस्य गृभ्णाति ॥ मतुवसो रुः सम्बुद्धौ छन्दसि ॥ ५० ॥ अ० ८ । ३ । १ ॥ वेदविषये मत्वन्तस्य वस्वन्तस्य च सम्बुद्धौ गम्यमानायां रुर्भवति । गोमः । हरिवः । मीढ्वः ॥ वा शरि ॥ ५१ ॥ अ० ८ । ३ । ३६ ॥ वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपो वक्तव्यः । वृक्षा स्थातारः । वृक्षाः स्थातारः । अनेन वायवस्थ इत्यादीनि वेदेष्वपि दृश्यन्ते । अतः सामान्येनायं सार्वत्रिको नियमः ॥

भाषार्थ ॥

(बहुलं०) इस सूत्र से वेदों में ईट् का आगम होता है (बहुलं०) इस सूत्र से वेदों में धातु के अभ्यास को इकारादेश हो जाता है (छन्दसीरः) इससे वेदों में

मतुप् प्रत्य के मकार को वकारादेश हो जाता है (संज्ञा०) इससे वेदों में रेफ को बकार विकल्प करके होता है (पथि०) इससे वेदों में किसी किसी अक्षर का कहीं कहीं लोप हो जाता है (हृग्रहो०) इससे वेदों में हृ और ग्रह धातु के हकार को भकार होजाता है (मतु०) इससे वेदों में मतुप् और वसु के नकार को रु होता है ॥

भाष्यम् ॥

उणादयो बहुलम् ॥ अ० ३ । ३ । १ ॥ बहुलवचनं किमर्थम् । बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः । तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते न सर्वाभ्यो दृश्यन्ते । प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम् । प्रायेण खल्वपि ते समुच्चिता न सर्वे समुच्चिताः । कार्य्यसशेषविधेश्च तदुक्तम् । कार्य्याणि खल्वपि सशेषाणि कृतानि न सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि । किं पुनः कारणं तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते न सर्वाभ्यः । किञ्च कारणं प्रायेण समुच्चिता न सर्वे समुच्चिताः । किञ्च कारणं कार्य्याणि सशेषाणि कृतानि न पुनः सर्वाणि लक्षणं न परिसमाप्तानि । नैगमरूढिभवं हि सुसाधु । नैगमाश्च रूढिशब्दाश्चावैदिकास्ते सुष्ठु साधवः कथं स्युः । नाम च धातुजमाह निरुक्ते । नाम खल्वपि धातुजमाहुर्नैरुक्ताः ॥ व्याकरणे शकटस्य च तोकम् । वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति । अथ यस्य विशेषपदार्थो न समुत्थितः कथं तत्र भवितव्यम् । यत्र विशेषपदार्थसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् । प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः प्रत्ययं दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या । संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ॥ कार्य्याद्विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥ २ ॥ (बाहुलकं०) उणादिपाठे अल्पाभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयः प्रत्यया विहितास्तत्र बहुलवचनादविहिताभ्योपि भवन्ति । एवं प्रत्यया अपि न सर्वे एकीकृताः किन्तु प्रायेण सूक्ष्मतया प्रत्ययविधानं कृतं तत्रापि बहुलवचनादेवाविहिता अपि प्रत्यया भवन्ति यथा फिडफिड्डौ भवतः । तथा सूत्रैर्विहितानि कार्य्याणि न भवन्त्यविहितानि च भवन्ति । यथा दण्ड इत्यत्र डप्रत्ययस्य डकारस्य इत्संज्ञा न भवति । एतदपि बाहुलकादेव । (किंपुनः०) अनेनैतच्छङ्क्यते उणादौ यावत्यः प्रकृतयो यावन्तः प्रत्यया यावन्ति च सूत्रे कार्य्याणि विहितानि तावन्त्येव कथं न स्युः । अत्रोच्यते (नैगम०) नैगमा वैदिकाः शब्दा रूढयो लौकिकाश्च सुष्ठु साधवो

यथा स्युः ।-एवं कृतेन विना नैव ते सुष्ठु सेत्स्यन्ति (नाम०) संज्ञाशब्दान् निरुक्तकारा धातुजानाहुः (व्याकरणे०) शकटस्य तोकमपत्यं शाकटायनः, तोकमित्यस्यापत्यनामसु पठितत्वात् । (यन्न०) यत् विशेषात्पदार्थाच्च सम्यगुत्थितमर्थात्प्रकृतिप्रत्ययविधानेन न व्युत्पन्नं तत्र प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊह्यः प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिः । एतदूहनं क कथं च कर्त्तव्यमित्यत्राह । संज्ञाशब्देषु । धातुरूपाणि पूर्वमूह्यानि परे च प्रत्ययाः (कार्य्याद्वि०) कार्य्यमाश्रित्य धातुप्रत्ययानुबन्धान् जानीयात् एतत्सर्वं कार्य्यमुणादिषु बोध्यम् ॥

भावार्थ ॥

(उणादयो०) इस सूत्र के ऊपर महाभाष्यकार पतञ्जलिमुनि उणादिपाठ की व्यवस्था बांधते हैं कि (बाहुलकं०) उणादिपाठ में थोड़े से धातुओं से प्रत्ययविधान किया है सो बहुल के होने से वे प्रत्यय अन्य धातुओं से भी होते हैं इसी प्रकार प्रत्यय भी उस ग्रन्थ में थोड़े से नमूना के लिये पढ़े हैं इन से अन्य भी नवीन प्रत्यय शब्दों में देखकर समझ लेना चाहिये जैसे (ऋफिडः) इस शब्द में ऋ धातु से फिड प्रत्यय समझा जाता है इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये तथा जितने शब्द उणादिगण से सिद्ध होते हैं उन में जितने कार्य्य सूत्रों करके होने चाहियें वे सब नहीं होते हैं सो भी बहुल ही का प्रताप है (किंपुनः) इस में जो कोई ऐसी शंका करे कि उणादिपाठ में जितने धातुओं से जितने प्रत्यय विधान किये और जितने कार्य्य शब्दों की सिद्धि में सूत्रों से हो सकते हैं उन से अधिक क्यों होते हैं तो इसका उत्तर यह है कि (नैगम०) वेदों में जितने शब्द हैं तथा संसार में असंख्य संज्ञाशब्द हैं ये सब अच्छी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकते इसलिये पूर्वोक्त तीन प्रकार के कार्य्य बहुलवचन से उणादि में होते हैं जिसके होने से अनेक प्रकार के हजारह शब्द सिद्ध होते हैं (नाम०) अब इस विषय में निरुक्तकारों का ऐसा मत है कि संज्ञाशब्द जितने हैं वे सब धातु और प्रत्ययों से बराबर सिद्ध होने चाहियें तथा वैयाकरण जितने ऋषि हैं उन में से शाकटायन ऋषि का मत निरुक्तकारों के समान है और इन से भिन्न ऋषियों का मत यह है कि संज्ञाशब्द जितने हैं वे रूढी हैं । अब इस बात का विचार करते हैं कि जिन शब्दों में धातु प्रत्यय मालूम कुछ भी नहीं होता वहां क्या करना चाहिये उन शब्दों में इस प्रकार विचार करना चाहिये कि व्याकरणशास्त्र में जितने धातु और प्रत्यय हैं इन में से जो धातु मालूम पड़ जाय तो नवीन प्रत्यय की

कल्पना कर लेनी और जो प्रत्यय जाना जाय तो नवीन धातुकी कल्पना कर लेनी इस प्रकार उन शब्दों का अर्थ विचार लेना चाहिये और दूसरी कल्पना यह भी है कि उन शब्दों में जिस अनुबन्ध का कार्य्य दीखे वैसा ही धातु वा प्रत्यय अनुबन्ध के सहित कल्पना करनी जैसे कोई आद्युदात्त शब्द हो उस में (ञ्) अथवा (न्) अनुबन्ध के सहित प्रत्यय समझना यह कल्पना सर्वत्र नहीं करने लगना किन्तु जो संज्ञाशब्द लोक वेद से प्रसिद्ध हों उन के अर्थ जानने के लिये शब्द के आदि के अक्षरों में धात्वर्थ की और अन्त में प्रत्ययार्थ की कल्पना करनी चाहिये ये सब ऋषियों का प्रबन्ध इसलिये है कि शब्दसागर अथाह है इस की थाह व्याकरण से नहीं मिल सकती जो कहें कि ऐसा व्याकरण क्यों नहीं बनाया कि जिससे शब्दसागर के पार पहुंच जाते तो यह समझना कि कितने ही पोथा बनाते और जन्मजन्मान्तरों भर पढ़ते तो भी पार होना दुर्लभ हो जाता इसलिये यह सब पूर्वोक्त प्रबन्ध ऋषियों ने किया है जिससे शब्दों की व्यवस्था मालूम हो जाय ॥

भाष्यम् ॥

अथालङ्कारभेदाः संक्षेपतो लिख्यन्ते । तत्र तावदुपमालङ्कारो व्याख्यायते । पूर्णोपमा चतुर्भिरुपमेयोपमानवाचकसाधारणधर्मैर्भवति ॥ अस्योदाहरणम् । स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ॥ १ ॥ उक्तानामेकैकशोऽनुपादानेऽष्टधा लुप्तोपमा । तत्र वाचकलुप्तोदाहरणम् । भीम इव वली भीमवली । धर्मलुप्तोदाहरणम् । कमलनेत्रः ॥ २ ॥ धर्मवाचकलुप्तोदाहरणम् । व्याघ्र इव पुरुषः पुरुषव्याघ्रः ॥ ३ ॥ वाचकोपमेयलुप्तोदाहरणम् । विद्यया पण्डितायन्ते ॥ ४ ॥ उपमानलुप्ता ॥ ५ ॥ वाचकोपमानलुप्ता ॥ ६ ॥ धर्मोपमानलुप्ता ॥ ७ ॥ धर्मोपमानवाचकलुप्ता ॥ ८ ॥ आसामुदाहरणम् । काकतालीयो गुरुशिष्यसमागमः । एवमष्टविधा ॥ १ ॥ अतोऽग्रे रूपकालङ्कारः । स चोपमानस्याभेदताद्रूप्याभ्यामधिकन्यूनोभयगुणैरुपमेयस्य प्रकाशनं रूपकालङ्कारः । स च षड्धा तत्राधिकाभेदरूपकोदाहरणम् । अयं हि सविता साक्षाद्येन ध्वान्तं विनाश्यते । पूर्णविध इति शेषः ॥ १ ॥ न्यूनभेदरूपकोदाहरणम् । अयं पतञ्जलिः साक्षाद्भाष्यस्य कृतिना विना ॥ २ ॥ अनुभयाभेदरूपकोदाहरणम् । ईशः प्रजामवत्यद्य स्वीकृत्य समनीतिताम् ॥ ३ ॥ अधिकताद्रूप्यरूपकोदाहरणम् । विद्यानन्दे हि सम्प्राप्ते राज्यानन्देन किं तदा ॥ ४ ॥ न्यूनताद्रूप्यरूपकोदाहरणम् । साध्वीयं सुखदा नीतिरसूर्य्यप्रभवा मता ॥ ५ ॥ अनुभयताद्रूप्यरूपकोदाहरणम् । अयं घनावृतात्सूर्य्याद्द्विधासूर्य्यो विभज्यते ॥ ६ ॥ अनेकार्थशब्दविन्यासः श्लेषः स

च त्रिविधः। प्रकृतानेकविषयः। अप्रकृतानेकविषयः। प्रकृताप्रकृतानेकविषयश्च। तत्र प्रकृतविषयस्योदाहरणम् ॥ यथा नवकम्बलोऽयं मनुष्यः। अत्र नव कम्बला यस्य नवो नूतनो वा कम्बलो यस्येति द्वावर्थौ भवतः। यथा च श्वेतो धावति। अलंबुसानां यातेति। तथैव अग्निमीडे इत्यादि। अप्रकृतविषयस्योदाहरणम्। हरिणा त्वद्बलं तुल्यं कृतिना हितशक्तिना। अथ प्रकृताप्रकृतविषयोदाहरणम्। उच्चरन्भूरियानाढ्यः शुशुभे वाहिनीपतिः। एवंविधा अन्येपि बहवोऽलङ्काराः सन्ति ते सर्वे नात्र लिख्यन्ते। यत्र यत्र त आगमिष्यन्ति तत्र तत्र व्याख्यायिष्यन्ते ॥

भाषार्थ ॥

अब कुछ अलङ्कारों का विषय संक्षेप से लिखते हैं उन में से पहिले उपमालङ्कार के आठ (८) भेद हैं। वाचकलुप्ता १ धर्मलुप्ता २ धर्मवाचकलुप्ता ३ वाचकोपमेय लुप्ता ४ उपमानलुप्ता ५ वाचकोपमानलुप्ता ६ धर्मोपमानलुप्ता ७ और धर्मोपमानवाचकलुप्ता ८ ॥ इन आठों से पूर्णोपमालङ्कार पृथक् है जिस में ये सब बने रहते हैं उसका लक्षण यह है कि वह चार पदार्थों से बनता है एक तो उपमान दूसरा उपमेय तीसरा उपमावाचक और चौथा साधारणधर्म। इन में से उपमान उसको कहते हैं कि जिस पदार्थ की उपमा दी जाती है। उपमेय वह कहाता है कि जिसको उपमान के तुल्य वर्णन करते हैं। उपमावाचक उस को कहते हैं कि जो तुल्य, समान, सदृश, इव, वत् इत्यादि शब्दों के बीच में आने से किसी दूसरे पदार्थ के समान बोध करावे। साधारणधर्म वह होता है कि जो कर्म उपमान और उपमेय इन दोनों में बराबर वर्तमान रहता है इन चारों के वर्तमान होने से पूर्णोपमा और इन में से एक एक के लोप हो जाने से पूर्वोक्त आठ भेद हो जाते हैं। पूर्णोपमा का उदाहरण यह है कि (स नः पितेव०) जैसे पिता अपने पुत्रकी सब प्रकार से रक्षा करता है वैसे ही परमेश्वर भी सब का पिता अर्थात् पालन करनेवाला है इसके आगे दूसरे रूपकालङ्कार के छः भेद हैं। अधिकाभेदरूपक १ न्यूनाभेदरूपक २ अनुभयाभेदरूपक ३ अधिकताद्रूप्यरूपक ४ न्यूनताद्रूप्यरूपक ५ और अनुभयताद्रूप्यरूपक ६ ॥ इसका लक्षण यह है कि उपमेय को उपमान बना देना और उस में भेद नहीं रखना जैसे यह मनुष्य साक्षात् सूर्य है क्योंकि अपने विद्यारूप प्रकाश से अविद्यारूप अन्धकार का नाश नित्य करता है इत्यादि ॥ तीसरा श्लेषालङ्कार कहाता है उस के तीन भेद हैं प्रकृत १ अप्रकृत २

और प्रकृताप्रकृतविषय ३, जिस का लक्षण यह है कि किसी एक वाक्य वा शब्द से अनेक अर्थ निकलें वह श्लेष कहाता है जैसे नवकम्बल इस शब्द से दो अर्थ निकलते हैं एक नव हैं कम्बल जिस के दूसरा नवीन है कम्बल जिस का इसी प्रकार वेदों में अग्नि आदि शब्दों के कई कई अर्थ होते हैं सो श्लेषालंकार का ही विषय है इस प्रकार के और भी बहुत अलंकार हैं सो जहां जहां वेदभाष्य में आवेंगे वहां वहां लिखे जायंगे ॥

भाष्यम् ॥

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः ॥ विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥ १ ॥ ऋ० मं० १ । सू० ८९ । मं० १० ॥ अस्मिन्मन्त्रे अदितिशब्दार्था द्यौरित्यादयः सन्ति तेऽपि वेदभाष्येऽदितिशब्देन ग्राहिष्यन्ते । नैवास्य मन्त्रस्य लेखनं सर्वत्र भविष्यतीति मत्वाऽत्र लिखितम् ॥

भाषार्थ ॥

(अदिति०) इस मन्त्र में अदिति शब्द के बहुत अर्थ और बहुतेरे अर्थ इस शब्द के हैं परन्तु इस मन्त्र में जितने हैं वे सब वेदभाष्य में अवश्य लिये जायंगे इस मन्त्र को वारंवार न लिखेंगे किन्तु वे सब अर्थ तो लिख दिये जायंगे । वे अर्थ ये हैं— द्यौः । अन्तरिक्ष । माता । पिता । पुत्र । विश्वेदेवा । पञ्चजना । जात और जनित्व ॥

भाष्यम् ॥

अथ वेदभाष्ये ये सङ्केताः करिष्यन्ते त इदानीं प्रदर्श्यन्ते । ऋग्वेदादीनां वेदचतुष्टयानां षट्शास्त्राणां षडङ्गानां चतुर्णां ब्राह्मणानां तैत्तिरीयारण्यकस्य च यत्र यत्र प्रमाणानि लेखिष्यन्ते तत्र तत्रैते सङ्केता विज्ञेयाः । ऋग्वेदस्य ऋ० मण्डलस्य प्रथमाङ्को द्वितीयः सूक्तस्य तृतीयो मन्त्रस्य विज्ञेयः । तद्यथा । ऋ० १ । १ । १ ॥ यजुर्वेदस्य य० प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य द्वितीयो मन्त्रस्य । तद्यथा । य० १ । १ ॥ सामवेदस्य साम० पूर्वार्चिकस्य पू० प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य द्वितीयो दशतेस्तृतीयो मन्त्रस्य । तद्यथा । साम० पू० १ । १ । १ ॥ पूर्वार्चिकस्यायं नियमः । उत्तरार्चिकस्य खलु साम० उ० प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य द्वितीयो मन्त्रस्य । अत्रायं विशेषोऽस्ति उत्तरार्चिके दशतयो न सन्ति परन्त्वर्द्धप्रपाठके मन्त्रसंख्या पूर्णा भवति तेन प्रथमः पूर्वार्द्धप्रपाठको द्वितीय उत्तरार्द्धप्रपाठकश्चेत्ययमपि सङ्केत

उत्तरार्चिके ज्ञेयः । तद्यथा । साम० उ० १ । पू० १ । साम उ० १ । उ० १ ।
अत्र द्वौ सङ्केतौ भविष्यतः । उकारेणोत्तरार्चिकं ज्ञेयं प्रथमाङ्केन प्रथमः प्रपाठकः
पू० इत्यनेन पूर्वार्द्धः प्रथमः प्रपाठकः । द्वितीयाङ्केन मन्त्रसंख्या ज्ञेया पुनर्द्वितीये
सङ्केते द्वितीय उकारेण उत्तरार्द्धः प्रथमः प्रपाठकः । द्वितीयाङ्केन तदेव । अथर्ववेदे ।
अथर्व० प्रथमाङ्कः काण्डस्य द्वितीयो वर्गस्य तृतीयो मन्त्रस्य । तद्यथा ।
अथर्व० १ । १ । १ ॥

भाषार्थ ॥

अब वेदभाष्य में चारों वेदों के जहां जहां प्रमाण लिखे जावेंगे उन के संकेत दिखलाते हैं देखो ऋग्वेद का जहां प्रमाण लिखेंगे वह ऋग्वेद का ऋ० और अष्टक १ । सूक्त १ । मन्त्र १ । इन का पहिला दूसरा तीसरा क्रम से संकेत जानना चाहिये, जैसे ऋ० १ । १ । १ । इसी प्रकार यजुर्वेद का य० पहिला अङ्क अध्याय का दूसरा मन्त्र का जान लेना जैसे य० १ । १ । सामवेद का नियम यह है कि साम० पूर्वार्चिक का पू० पहिला प्रपाठक का दूसरा दशति का और तीसरा मन्त्र का जानना चाहिये, जैसे साम० पू० १ । १ । १ । यह नियम पूर्वार्चिक में है उत्तरार्चिक में प्रपाठकों के भी पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध होते हैं अर्द्धप्रपाठकपर्यन्त मन्त्रसंख्या चलती है इसलिये प्रपाठक के अङ्क के आगे पू० वा उ० धरा जायगा उस पू० से पूर्वार्द्ध प्रपाठक और उ० से उत्तरार्द्ध प्रपाठक जान लेना होगा इस प्रकार उत्तरार्चिक में दो संकेत होंगे साम० उ० १ । पू० १ । साम० उ० १ । उ० १ ॥ इसी प्रकार अथर्ववेद में अथर्व० पहिला अङ्क काण्ड का दूसरा वर्ग का तीसरा मन्त्र का जान लेना, जैसे अथर्व० १ । १ । १ ॥

भाष्यम् ॥

एवं ब्राह्मणस्याद्यस्यैतरेयस्य ऐ० प्रथमाङ्कः पञ्चिकाया द्वितीयः कण्डिकायाः । तद्यथा । ऐ० १ । १ । शतपथब्राह्मणं श० प्रथमाङ्कः काण्डस्य द्वितीयः प्रपाठकस्य तृतीयो ब्राह्मणस्य चतुर्थः कण्डिकायाः । तद्यथा । श० १ । १ । १ । १ ॥ एवमेव सामब्राह्मणानि बहूनि सन्ति तेषां मध्यात् यस्य यस्य प्रमाणमत्र लेखिष्यते तस्य तस्य सङ्केतस्तत्रैव करिष्यते तेष्वेकं छान्दोग्याख्यं तस्य छां० प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य द्वितीयः खण्डस्य तृतीयो मन्त्रस्य । तद्यथा । छां० १ । १ । १ । एवं गोपथब्राह्मणस्य गो० प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य द्वितीयो ब्राह्मणस्य । यथा

गो० १ । १ । एवं षट्शास्त्रेषु प्रथमं मीमांसाशास्त्रम् । तस्य मी० प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य द्वितीयः पादस्य तृतीयः सूत्रस्य । तद्यथा । मी० १ । १ । १ ॥ द्वितीयं वैशेषिकशास्त्रं तस्य वै० प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य द्वितीय आह्निकस्य तृतीयः सूत्रस्य । तद्यथा । वै० १ । १ । १ ॥ तृतीयं न्यायशास्त्रं तस्य न्या० अन्यद्वैशेषिकवत् । चतुर्थं योगशास्त्रं तस्य यो० प्रथमाङ्कः पादस्य द्वितीयः सूत्रस्य । यो० १ । १ । पञ्चमं सांख्यशास्त्रं तस्य सां० प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य द्वितीयः सूत्रस्य । सां० १ । १ । षष्ठं वेदान्तशास्त्रमुत्तरमीमांसाख्यं तस्य वे० प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य द्वितीयः पादस्य तृतीयः सूत्रस्य । वे० १ । १ । १ ॥ तथाङ्गेषु प्रथमं व्याकरणं तत्राष्टाध्यायी तस्या अ० प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य द्वितीयः पादस्य तृतीयः सूत्रस्य । तद्यथा । अ० १ । १ । १ ॥ एतेनैव कृतेन सूत्रसङ्केतेन व्याकरणमहाभाष्यस्य सङ्केतो विज्ञेयः । यस्य सूत्रस्योपरि तद्भाष्यमस्ति तद्व्याख्यानं लिखित्वा तत्सूत्रसङ्केतो धरिष्यते । तथा निघण्टुनिरुक्तयोः प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य द्वितीयः खण्डस्य । निघण्टौ १ । १ । निरुक्ते १ । १ । खण्डाध्यायौ द्वयोः समानौ । तथा तैत्तिरीयारण्यके तै० प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य द्वितीयोऽनुवाकस्य तै० १ । १ ॥ इत्थं सर्वेषां प्रमाणानां तेषु तेषु ग्रन्थेषु दर्शनार्थं सङ्केताः कृतास्तेन येषां मनुष्याणां द्रष्टुमिच्छा भवेदेतैस्सङ्केतैस्तेषु ग्रन्थेषु लिखितसङ्केतेन द्रष्टव्यम् । यत्रोक्तेभ्यो ग्रन्थेभ्यो भिन्नानां ग्रन्थानां प्रमाणं लेखिष्यते तत्रैकवारं समग्रं दर्शयित्वा पुनरेवमेव सङ्केतेन लेखिष्यत इति ज्ञातव्यम् ॥

भाषार्थ ॥

इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रथम ऐतरेय ब्राह्मण का ऐ० पहिला अङ्क पञ्चिका का दूसरा कण्डिका का ऐ० १ । १ । शतपथ ब्राह्मण का श० पहिला अङ्क काण्ड का दूसरा प्रपाठक का तीसरा ब्राह्मण का चौथा कण्डिका का श० १ । १ । १ । १ ॥ सामब्राह्मण बहुत हैं उन में से जिस जिस का प्रमाण जहां २ लिखेंगे उस उस का ठिकाना वहां धर देंगे जैसे एक छान्दोग्य कहाता है उसका छां० पहिला अङ्क प्रपाठक का दूसरा खण्ड का तीसरा मन्त्र का जैसे छां० १ । १ । १ ॥ चौथा गोपथ ब्राह्मण कहाता है उसका गो० पहिला अङ्क प्रपाठक का दूसरा ब्राह्मण का जैसे गो० १ । १ ॥ इस प्रकार का संकेत चारों ब्राह्मण में जानना होगा । ऐसे ही छः शास्त्रों में प्रथम मीमांसा शास्त्र उसका मी० अध्याय पाद और सूत्रके तीन अङ्क क्रम से जानो जैसे मी० १ । १ । १ ॥ दूसरा वैशेषिक का वै० पहिला अङ्क अध्याय का दूसरा

आह्निक का तीसरा सूत्र का जैसे वै० १ । १ १ ॥ तीसरे न्यायशास्त्र का न्या० और तीन अङ्क वैशेषिक के समान जानो । चौथे योगशास्त्र का यो० प्रथम अङ्क पाद का दूसरा सूत्र का यो० १ । १ ॥ पांचवें सांख्यशास्त्र का सां० अध्याय और सूत्र के दो अङ्क क्रम से जानो जैसे सां० १ । १ ॥ छठे वेदान्त का वे० अध्याय पाद और सूत्र के तीन अङ्क क्रम से वे० १ । १ । १ । तथा अङ्कों में अष्टाध्यायी व्याकरण का अङ्क अध्याय पाद सूत्र के तीन अङ्क क्रम से जानो जैसे अ० १ । १ । १ ॥ इसी प्रकार जिस सूत्र के ऊपर महाभाष्य हुआ करेगा उस सूत्र का पता लिख के महाभाष्य का वचन लिखा करेंगे उसी से उस का पता जान लेना चाहिये तथा निघण्टु और निरुक्त में दो दो अङ्क अध्याय और खण्ड के लिखेंगे तथा तैत्तिरीय आरण्यक में तै० लिख के प्रपाठक और अनुवाक के दो अङ्क लिखेंगे ये संकेत इसलिये लिखे हैं कि वारंवार ठिकाना न लिखने पड़ें थोड़े से ही काम चला जाय जिस किसी को देखना पड़े वह उन ग्रन्थों में देख ले और जिन ग्रन्थों के संकेत यहां नहीं लिखे उन के प्रमाणों का जहां कहीं काम पड़ेगा तो लिख दिया जायगा परन्तु इन सब ग्रन्थों के संकेतों को याद रखना सब को योग्य है कि जिससे देखने में परिश्रम न पड़े ॥

वेदार्थाभिप्रकाशप्रणयसुगमिका कामदा मान्यहेतुः ।
संक्षेपाद्भूमिकेयं विमलविधिनिधिः सत्यशास्त्रार्थयुक्ता ।
सम्पूर्णाकार्य्यथेदं भवति सुरुचि यन्मन्त्रभाष्यं मयातः ।
पश्चादीशानभक्त्या सुमतिसहितया तन्यते सुप्रमाणम् ॥ १ ॥
मन्त्रार्थभूमिका ह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च ॥
पदार्थान्वयभावार्थाः क्रमाद्बोध्या विचक्षणैः ॥ २ ॥

यह भूमिका जो वेदों के प्रयोजन अर्थात् वेद किसलिये और किस ने बनाये उन में क्या क्या विषय हैं इत्यादि बातों की अच्छी प्रकार प्राप्ति कराने वाली है इस को जो लोग ठीक ठीक परिश्रम से पढ़ें और विचारेंगे उन का व्यवहार और परमार्थ का प्रकाश संसार में मान्य और कामनासिद्धि अवश्य होगी इस प्रकार जो निर्मल विषयों के विधान का कोश अर्थात् खज़ाना और सत्यशास्त्रों के प्रमाणों से युक्त जो भूमिका है इस को मैंने संक्षेप से पूर्ण किया अब इस के आगे जो उत्तम बुद्धि देनेवाली परमात्मा की भक्ति में अपनी बुद्धि को दृढ़ करके प्रीति के बढ़ानेवाले मन्त्रभाष्य का प्रमाणपूर्वक विस्तार करता हूं ॥ १ ॥

इस मन्त्रभाष्य में इस प्रकार का क्रम रहेगा कि प्रथम तो मन्त्र में परमेश्वर ने जिस बात का प्रकाश किया है फिर मूल मन्त्र । उसका पदच्छेद । क्रम से प्रमाणसहित मन्त्र के पदों का अर्थ । अन्वय अर्थात् पदों की सम्बन्धपूर्वक योजना और छठा भावार्थ अर्थात् मन्त्र का जो मुख्य प्रयोजन है इस क्रम से मन्त्रभाष्य बनाया जाता है ॥ २ ॥

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑सुव ।
यद्भ॒द्रं तन्न॒ आसु॑व ॥ १ ॥ य० ३० । ३ ॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्येण श्रीयुतदयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिता संस्कृतभाषार्य्यभाषाभ्यां सुभूषिता सुप्रमाणयुक्तऋग्वेदादिचतुर्वेदभाष्यभूमिका समाप्तिमगमत् ॥

* ओ३म् *

आर्य्यसमाज के नियम ॥

(१)-सब सत्यविद्या और जो पदार्थविद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि-मूल परमेश्वर है ॥

(२)-ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है उसी की उपासना करनी योग्य है ॥

(३)-वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है । वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्य्यों का परमधर्म है ॥

(४)-सत्य ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये ॥

(५)-सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें ॥

(६)-संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना ॥

(७)-सब से प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार यथायोग्य वर्त्तना चाहिये ॥

(८)-अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये ॥

(९)-प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये ॥

(१०)-सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें ॥

विज्ञापन ॥

पहिले कमीशन में पुस्तकें मिलती थीं अब नक़द रुपया मिलेगा ।
डाकमहसूल सबका मूल्य से अलग देना होगा ॥

विक्रयार्थ पुस्तकें	मूल्य	विक्रयार्थ पुस्तकें	मूल्य
ऋग्वेदभाष्य (९ भाग)	५०)	आर्याभिविनय गुटका	।≠)
यजुर्वेदभाष्य सम्पूर्ण	२५)	सत्यार्थप्रकाश नागरी	२।।)
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	१।।।)	संस्कारविधि	१।)
,, केवल संस्कृत	१)	विवाहपद्धति	।=)
वेदाङ्गप्रकाश १४ भाग	७)	शास्त्रार्थ फ़ीरोज़ाबाद	।)
अष्टाध्यायी मूल	।=)	आ० स० के नियमोपनियम	)।।
पंचमहायज्ञविधि	≈)	वेदविरुद्धमतखण्डन	≠)।।
,, बढ़िया	।)	वेदान्तिध्वान्तनिवारण (नागरी)	≠)
निरुक्त	।।।=)	,, (अंग्रेज़ी)	=)
शतपथ (१ काण्ड)	।=)	भ्रान्तिनिवारण	≈)
संस्कृतवाक्यप्रबोध	≈)	शास्त्रार्थ काशी	≠)
व्यवहारभानु	≡)	स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश (नागरी)	)।।
भ्रमोच्छेदन	-)।।	तथा (अंग्रेज़ी)	)।।
अनुभ्रमोच्छेदन	-)।।	मूलवेद साधारण	७)
सत्यधर्मविचार (मेला चांदापुर नागरी)	=)।।	अनुक्रमणिका	३)
,, (उर्दू)	-)	शतपथब्राह्मण पूरा	७)
आर्योद्देश्यरत्नमाला (नागरी)	)।	ईशादिदशोपनिषद् मूल	१।।)
,, (मरहठी)	≠)	छान्दोग्योपनिषद् संस्कृत तथा हिन्दी भाष्य	३।।)
,, (अंग्रेज़ी)	-)	यजुर्वेदभाषाभाष्य	४।।)
गोकरुणानिधि	=)	बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य	५।)
स्वामीनारायणमतखण्डन	-)।।	नित्यकर्मविधि	)।
हवनमंत्र	)।		
आर्याभिविनय बड़े अक्षरों का	।।≈)		

नोट–ऋग्वेद भाष्य १ से लेकर ५ भाग और ९ भाग तय्यार हैं बाक़ी नहीं हैं, यजुर्वेदभाषाभाष्य बिलकुल नहीं है ।

पुस्तक मिलने का पता—
प्रबन्धकर्त्ता, वैदिकपुस्तकालय, अजमेर ।